CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमदाचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित

लघुतत्त्वस्फोट

अनुवादक-सम्पादक
पण्डित डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
(सागर, म० प्र०)

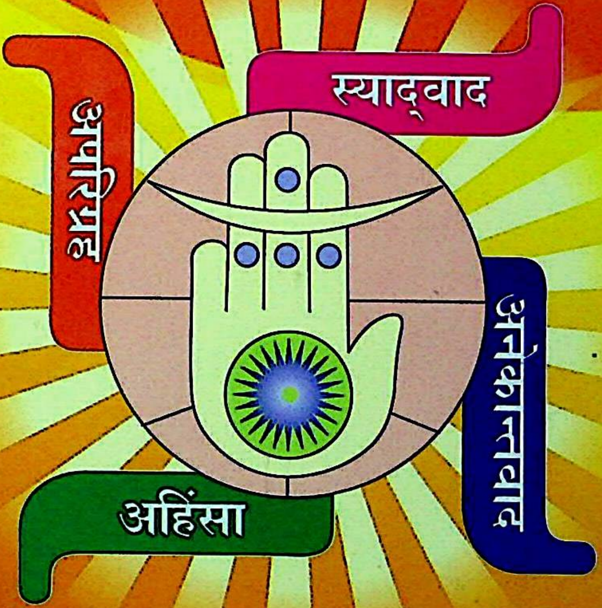

5642

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी
अरिहंत सहित्य सदन, मुज्जफ्फर नगर, उ.प्र. के सहयोग से प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5542

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमदाचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित

लघुतत्त्वस्फोट

अनुवादक-सम्पादक
पण्डित श्री पन्नालाल साहित्याचार्य
सागर म.प्र

5542

प्रकाशक
श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि. जैन संस्थान
वाराणसी

सहयोगी प्रकाशक
अरिहंत साहित्य सदन
रेनवो विहार, मुजफ्फरनगर (उ.प्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :
श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला
वाराणसी

संस्करण : 1000 प्रति (द्वितीय)
महावीर जयन्ती 2016

मूल्य : 300.00 रुपये (पुनः प्रकाशन हेतु)

मुद्रक : एन. एस. एन्टरप्राईजिज
H2/16, II फ्लोर, अंसारी रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 9811725356, 9810035356

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरिहंत साहित्य सदनः मुजफ्फरनगर, एक झलक

अरिहंत साहित्य सदन लाला श्री श्रीचंद जी जैन (चावल वाले) का जिनवाणी व जिन साहित्य के प्रति भक्ति व रुचि का प्रतिवाद है। लालाजी ने अरिहंत साहित्य सदन की स्थापना 1985 में की। साहित्य सदन की स्थापना में लालाजी का उद्देश्य न केवल जिनवाणी का प्रचार-प्रसार था अपितु जिन साहित्य से समाज को आत्मज्ञ करना भी था।

लाला श्री श्रीचंद जी जैन दिल्ली के निवासी थे। दिल्ली में ही उनका चावल का बड़ा व्यापार था जोकि मुगलकालीन बादशाह बहादुरशाह जफर के समय से चला आ रहा था। लाला जी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। जिनवाणी के प्रति उनका विशेष अनुराग था। समस्त परिवार साहित्य सदन के संचालन के साथ-साथ अन्य धर्मिक कार्यों में सामाजिक कार्यों में संलग्न रहता है। लालाजी भी सामाघ्न्य श्रावक की भांति धार्मिक प्रवृति रखते हुए समस्त धार्मिक क्रियाओं व आचरणों का पालन करते थे। उनका सक्रिय रूप से धर्मिक व समाजिक क्षेत्र में प्रवृत्त होना उनकी सुलक्षणा धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला देवी के अनन्य प्रयासों का ही सुफल हैं। वह भी अपने नाम के अनुरूप सुशील व धार्मिक महिला थी। लालाजी एवं उनके इस परिवार की जिनभक्ति व साहित्य सेवा स्तुल्य व अनुकरणीय है एवं हमेशा रहेगी। लालाजी दिल्ली की समस्त धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं में सक्रिय सदस्य थे व सभी के द्वारा समादरित थे। कालान्तर में व्यापार के प्रसार के उद्देश्य से लालाजी वर्ष 1972 में मुजफ्फरनगर गए परन्तु रेनवो विहार के पास कोई जिन मंदिर न होने के कारण अपनी धार्मिक चर्या को पालने हेतु आपने वहाँ पर वर्ष 1984 में समीपस्थ रेनवो विहार में एक जिनमंदिर की स्थापना व मूर्तियों की प्राण प्रतिष्ठा करवाई। साथ ही जिनवाणी के प्रति श्रद्धा व आदर रखते हुए उसके प्रचार-प्रसार हेतु 'अरिंहत साहित्य सदन' की भी स्थापना की। साहित्य प्रेमी सब जगह हमेशा सुखी रहता है। सो लालाजी भी धर्मानुसार प्रवृत्ति रखते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। लालाजी ने वर्ष 1992 में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ व मानस्तंभ की स्थापना भी करवाई। जिसमें लालाजी की जैनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति का प्रमाण स्वतः दिखता है। भक्ति केवल अभिरुचि का विषय नहीं अपितु आस्था व समर्पण का भी विषय है जो कि लालाजी में जैन धर्म के प्रति अकूल थी।

स्व. श्री नरेशचंद जी, स्व. श्री रमेशचंद जी, सुरेश चन्द जी एवं अनिल जैन नाम के लालाजी के चार पुत्र थे। जो उनके ही समान धर्मवत्सल/जिनभक्त होने के साथ व्यापार में भी कुशल थे। इन के पुत्र स्व. श्री नरेशचंद जी, स्व. श्री रमेशचंद जी दोनों पुत्रों ने लालाजी के कार्य को बड़ी ही कुशलता से संभाला और वृद्धिंगत किया। स्व. नरेशचंद जी के वर्तमान में तीन पुत्र क्रमशः अरुण, संजीव, राजीव एवं पौत्र-अक्षय व सम्यक् अत्यंत धार्मिक हैं। साथ ही स्व.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रमेशचंद के पुत्र राजेश एवं पौत्र ऋषभ व सनत भी धार्मिकता को लिए हुए है। समस्त परिवार लालाजी द्वारा संस्थापित जिन मंदिर जी व अरिहंत साहित्य सदन का संचालन पूर्ण धार्मिक अभिरुचि के साथ करते हैं साहित्य सदन के संचालकों ने वर्तमान में श्री गणेशप्रसाद वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान द्वारा प्रकाशीत इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी करवाया है। साथ ही व त्रुटि रहित दुर्लभ जैन ग्रन्थ व साहित्य का प्रकाशन करते हैं। ये सभी प्रतिवर्ष 2 अक्टूबर को अतिशय क्षेत्र बहेलना जी के वार्षिक मेले में अरिहंत साहित्य सदन का स्टॉल भी लगाते हैं जिसमें पूरे परिवार का सहयोग तत्परता के साथ रहता है।

नीरज जैन, 'दिगम्बर'

गजेन्द्र ग्रन्थमाला

दिल्ली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराजके संघसे मेरे पास इस ग्रन्थके प्रारम्भकी तीन पच्चीसिकाएँ हिन्दी अनुवाद करनेके लिये आईं। रचना प्रौढ़ थी और पाण्डुलिपिके अतिरिक्त कोई मूल प्रति प्राप्त नहीं थी अतः अनुवाद करनेमें कठिनता दिखी। फिर भी प्रयत्न कर इनका अनुवाद मैंने संघमें भेज दिया। संघस्थ मुनि श्री अजितसागर जी महाराज संस्कृतके प्रबुद्ध विद्वान् हैं। उन्हें अनुवाद पसंद आया और टाईप कराकर उसकी प्रतिलिपि उन्होंने आदरणीय ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरे कारंजाके पास भिजवा दी। कुछ समय बाद चवरे जी ने पूरा ग्रन्थ मेरे पास भेज कर अनुवाद करनेका अनुरोध किया।

पच्चीस पच्चीस श्लोकोंकी पच्चीस पच्चीसिकाओंमें ६२५ श्लोक थे, भाषा और विषय-दोनों की अपेक्षा रचना दुरूह दिखी। दैनिक कार्यक्रमोंकी व्यस्तताके कारण अनुवाद करनेमें लगभग एक वर्षका समय लग गया। चवरे जी की इच्छा थी कि इस अनुवादकी एक बार आचार्य समन्तभद्र जी बाहुबलीके संनिधानमें वाचना हो जाय। फलतः वाचनाके लिये श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्र जी वाराणसी तथा हमने स्वीकृति दे दी, स्वीकृति ही नहीं दी, हम दोनों अपने अपने स्थानोंसे चलकर बीना पहुँच गये। परन्तु दादर एक्स-प्रेसमें स्थान नहीं मिला अतः उस समय हम लोगोंका जाना न हो सका। मैं बीनासे सागर वापिस आ गया और पण्डित जी कटनी होते हुए वाराणसी चले गये। एक वर्षके लिये वाचना रुक गई। हम लोगोंका वापिस चला आना भी अच्छा हुआ क्योंकि तब तक चवरे जी के पास हमने जिस प्रतिके आधार पर अनुवाद किया था उसके सिवाय कोई दूसरी प्रति नहीं थी। उस प्रतिके आधार पर वाचना करनेसे कोई विशेष लाभकी सम्भावना नहीं थी। परन्तु इस एक वर्षके भीतर उनके पास मूल प्रतिकी फोटो कापी आ गई। द्वितीय वर्ष मईके प्रारम्भमें श्री पण्डित कैलाशचन्द्र जी और डा० दरबारीलाल जी के साथ मुझे पुनः आमन्त्रित किया, फलतः हम तीनों विद्वान् बम्बईमें काका बालचन्द्र जी शहाका आतिथ्य स्वीकृत कर कुम्भोज बाहुबली पहुँच गये। वहाँकी रचनाएँ और प्राकृतिक वातावरण देखकर चित्तमें बड़ा आह्लाद हुआ। १८ दिन मैं वहाँ रहा। अनुवादकी एक प्रति मैंने और दूसरी प्रति डा० दरबारीलाल जी कोठियाने अपने सामने रक्खी। पण्डित कैलाशचन्द्र जीने फोटो कापी हाथ में ली। मैं स्वयं वाचना करता था। संशयास्पद पाठोंके शुद्धरूप फोटो कापीमें मिले अतः अनुवाद में परिमार्जन किया। चवरे जी भी साथ बैठते थे। ऊहापोह होता था। सुबह मध्याह्न और रात्रि में तीन बार बैठते थे। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग चलता था। प्रातः पूजा आदिसे निवृत्त हो आचार्य श्री समन्तभद्र जीके पास १५ मिनटके लिये बैठते थे और पण्डित कैलाशचन्द्र जी उन्हें अवगत कराते थे कि आज अमुक विषय बड़े महत्त्व का निकला। दार्शनिक विषयको डा० दरबारीलाल जी कोठिया व्यवस्थित करते थे। इस तरह तीन विद्वानोंके सहयोगसे यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। ग्रीष्ममासकी दुपहरियोंमें भी पण्डित कैलाशचन्द्र जी कितना परिश्रम कर लेते हैं तथा बारीकीसे देखकर शुद्ध पाठ पकड़ लेते हैं यह देख मुझे आश्चर्य होता था। मेरे मनमें आता था कि महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ यदि इसी प्रकारकी वाचनाके द्वारा परिमार्जित कर प्रकाशित किये जावें तो विसंवादकी स्थिति उत्पन्न न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अठारह दिनमें वाचना समाप्त कर मैं सपत्नीक श्रवणवेलगोल तथा मूडबिद्रीकी यात्राके लिये चला गया और कोठिया जी तथा पण्डित कैलाशचन्द्र जी गंजा बहिनको धवलाका स्वाध्याय करानेके लिये वहीं रह गये। एक वर्षमें प्रेसकापी तैयार हो सकी। पश्चात् श्री गणेश वर्णी शोधसंस्थान वाराणसीसे उसके प्रकाशित करनेका निश्चय हुआ। श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने लिखकर ग्रन्थका हार्दको प्रकट किया है तथा श्री ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरेंने अवान्तर भूमिका का निर्वाह तत्परतासे किया है।

ग्रन्थ का नाम

इस ग्रन्थका नाम लघुतत्त्वस्फोट अथवा शक्तिमणित कोष है। लघुतत्त्वस्फोटका अर्थ है तत्त्वोंका लघुप्रकाश और शक्तिमणित कोषका अर्थ है—शक्तिरूपी मणियोंसे युक्त खजाना। एक कल्पना यह भी उठती है कि ग्रन्थका नाम शक्तिभणित कोष है अर्थात् आत्म शक्तियोंके कथन का कोष। लिपि कर्त्ताने म और भ के अन्तरको नहीं समझा। इस कल्पनाका समर्थन ग्रन्थके अन्तमें समागत निम्न श्लोकसे मिलता है—

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः
संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्यमृतचन्द्रकवीन्द्र एष
हृष्यन् बहूनि भणितानि मुहुः स्वशक्तेः॥

अर्थात् स्वयं वेगसे अच्छी तरह निपीडित और सम्यग्ज्ञानके विकास रूप रसकी तरङ्गोंसे समुल्लसित आत्मशक्तिके विविध कथनोंका यह अमृतचन्द्र कवीन्द्र हर्षित होता हुआ बार बार आस्वादन करता है।

शक्तिमणित और शक्तिभणितका स्पष्ट निर्णय न होनेके कारण 'लघुतत्त्वस्फोट' इस नाम से ही प्रकाशन किया जा रहा है। 'इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः शक्तिमणितकोषो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः' इस पुष्पिका वाक्यमें दोनों नामोंका उल्लेख है।

ग्रन्थके कर्त्ता

ग्रन्थके कर्त्ता समयसार प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायके संस्कृत टीकाकार तथा तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्ध्युपायके रचयिता अमृतचन्द्र सूरि ही हैं क्योंकि पुष्पिका वाक्यके स्पष्ट उल्लेखके साथ समयसार और प्रवचनसारके अनेक गाथाओंका भावानुसरण इसमें पाया जाता है। भावानुसरण ही नहीं निम्न श्लोकमें समयसारके कलशका पूर्णरूपसे शब्दानुसरण भी पाया जाता है—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर॥

समयसारमें यह १४१ वाँ कलश काव्य है। विशेषता इतनी ही है कि वहाँ मन्येके स्थानमें यस्या पाठ है। इसके सिवाय 'लवणखिल्यलीलायते' आदि अनेक कलशोंका भी इसमें रूपान्तरण है। समयसारकी टीकामें एक जगह अमृतचन्द्र स्वामीने 'झटिति' अर्थमें 'टसिति' शब्दका प्रयोग किया है वह इसमें २३ वीं पच्चीसिकामें उपलब्ध है। १८ वीं पच्चीसिकाके २ श्लोकमें 'तवैषो विषयः स्यात्' यहाँ एतद् शब्द सम्बन्धी सु का लोप नहीं किया है जब कि अन्यत्र श्लोकोंमें किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे जान पड़ता है कि आचार्यको एतत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप विकल्पसे इष्ट है। इसी प्रकार का एक प्रयोग इन्होंने 'नैष: कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी किया है।

तुलनात्मक टिप्पणमें समयसार, प्रवचनसार आदिकी गाथाओं तथा समानार्थक कलश काव्यों के मैंने उद्धरण दिये हैं।

लघुतत्त्वस्फोटमें समन्तभद्र स्वामीकी पद्धतिका अनुसरण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार उन्होंने युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्रमें दार्शनिक तत्त्वोंका समावेश किया है उसी प्रकार इसमें भी दार्शनिक तत्त्वोंका समावेश किया है। विशेषता यह है कि अनेकान्त पद्धतिसे भिन्न दर्शनोंकी मान्यताओंको जैन मान्यताओंके रूपमें स्वीकृत किया गया है। वर्तमानमें चल रही कितनी ही समस्याओंका समाधान इसमें किया गया है। व्यवहार चारित्रको सर्वप्रथम स्वीकृत करनेको बात कहकर उसकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्तका निरूपण, निश्चय और व्यवहारकी चर्चा भी जहाँ तहाँ उपलब्ध है।

ग्रन्थकी भाषा

ग्रन्थकी भाषा प्रौढ़ संस्कृत है। अमृतचन्द्राचार्य संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड विद्वान् थे, यह हम समयसारादि ग्रन्थोंकी टोकाओंके माध्यमसे जानते हैं। समयसारादि जैसे अध्यात्म ग्रन्थोंकी टीका में भी जब उन्होंने भाषाकी प्रौढ़ताको नहीं छोड़ा है तब इस स्वतन्त्र ग्रन्थमें कैसे छोड़ सकते थे। प्रथम पच्चीसिका तथा अन्तकी चार पच्चीसिकाएँ भाषाकी दृष्टिसे प्रौढ़तम कही जा सकती हैं।

इन पच्चीसिकाओंमें वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, मञ्जुभाषिणी, तोटक, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, हरिणी और शार्दूलविक्रीडित छन्दोंका प्रयोग हुआ है। अमृतचन्द्र सूरि कवि ही नहीं कवीन्द्र थे, अतः भावानुकूल पदोंके चयनमें उन्हें कठिनाई प्रतीत नहीं होती। उनकी वाग्धारा गङ्गाके प्रवाहके समान अखण्ड गतिसे प्रवाहित हुई है। प्रथम पच्चीसिकामें वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोंका स्तवन है। ग्रन्थमें भावकी गरिमाके साथ भाषाकी प्रौढ़ता भी ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्रके वैशिष्ट्यको प्रकाशित करती है। दृष्टान्तके लिये अभिनन्दन स्वामीका स्तवन देखिये—

यद् भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति
नाभाति भाति स च भाति न भात्यभाति।
भा (या) भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

श्लोकका अन्वयार्थ तथा पाद टिप्पण ग्रन्थ में देखिए।

विज्ञानकी महिमा

आत्मरसमें प्रवृत्त विज्ञानतन्तुओंकी महिमा देखिए—

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे भगवन् ! यदि ये विज्ञानतन्तु स्वरस-आत्मरसमें प्रवृत्त हो अन्य द्रव्योंके संयोजन-कर्तृत्व से च्युत हो जावें तो अत्यधिक मलसे व्याप्त यह कषायरूपी मलिन कन्था (कथरी) आज ही विघट जाय। तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी स्वमुखी प्रवृत्ति ही कषायको नष्ट करती है।

द्रव्यसंयम और भावसंयमकी उपयोगिता

द्रव्यसंयम और भावसंयमकी प्रभुताका प्रतिपादन करते हुए अमृतचन्द्र सूरि द्रव्यमंयमको प्रथम धारण करनेकी बात कितनी दृढ़तासे करते हैं देखिये—

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
स्वं द्रव्यभावमहिमानमवाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्युङ्क्थाः ॥२०॥ (८)

हे भगवन् ! यद्यपि आप परस्पर अत्यन्त सापेक्ष द्रव्यसंयम और भावसंयमको वाधित नहीं करते थे अर्थात् किसी एककी प्रभुता बताकर अन्यको तुच्छ नहीं बताते थे। और भावसंयमके वैभवको ¦स्वेच्छासे हृदयमें धारण करते थे तथापि अपने आपको प्रथम द्रव्यसंयमके मार्गमें लगाया था।

भक्तकी भावना

हे भगवन् ! कषायरूपी कषण पट्टिका पर घिसनेसे मेरे ज्ञानकी एक ही कला शेष रही है। उस ज्ञानकी एक कलाके द्वारा ही मैं आपका स्तवन करनेके लिये उद्युक्त हुआ हूँ। आपकी विभूति के प्रकट करनेमें उस कलासे कितना प्रकाश हो सकता है ? क्या कभी अलातचक्र भी¦सूर्य हुआ है?

स्तुतिकर्ता अपने आपको भगवत्स्वरूपमें किस प्रकार विलीन करता है, यह देखिये—

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे।
लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववत् विष्वग्विलीनात्मनः ॥२५॥ (२४)

हे भगवान् ! आपके भीतर छलकते हुए केवलज्ञानरूपी प्रशस्त जलके पूरमें जो स्नान कर रहा है, जो निरन्तर सावधान है, लीलासे चञ्चल चैतन्य विलासरूपी तरङ्ग समूहके प्रचण्ड आस्फालनकी क्रीडासे जो जर्जरित हो रहा है तथा शीत शिव—सेंधा नमकके समान जो सब ओरसे विलीन हो रहा है ऐसे मेरा उत्तार—उत्तरण—आपसे पृथक्भाव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पानी में बिलीन सेंधे नमककी डली उससे पृथक् नहीं हो सकती उसी प्रकार मैं भी आपसे पृथक् नहीं हो सकता। यह है भगवान्के साथ भक्तकी तन्मयताका सुन्दर निदर्शन।

इस प्रकार ग्रन्थका प्रत्येक श्लोक अद्भुत भावसे परिपूर्ण है। आत्माकी जो अनन्त शक्तियाँ मणियोंके समान देदीप्यमान हैं बे सब इस कोषमें देदीप्यमान हो रही हैं। समयसार और प्रवचनसारके अन्तमें आत्माकी जिन शक्तियोंका दिग्दर्शन कराया है उन्हीं शक्तियोंका नये परिवेशके साथ इस ग्रन्थमें प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकी उपलब्धि

इस ग्रन्थकी ताडपत्रपत्रीकी उपलब्धि अहमदाबादके देलाभण्डारमें हुई है। भण्डारके व्यवस्थापकोंने इस ग्रन्थको अबतक रक्षा की और उसे प्रकाशमें लानेकी उदारता दिखलाकर श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्यविजयजीने उदारतासे डा० पद्मनाभजीको प्रदान किया, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। डा० साहबने इसपर अंग्रेजी टीका लिखकर विस्तृत प्रस्तावना लिखी। ग्रन्थका प्रकाशन अहमदाबादसे हुआ है। यद्यपि अंग्रेजी टीकाके पूर्व ही मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जा चुकी थी और इसका सहकार डा० साहबको प्राप्त हो चुका था फिर भी इसका प्रकाशन कारणवश देरसे हो रहा है। ग्रन्थ दुरूह है अतः मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जानेमें त्रुटियाँ रहीं होंगी, उन सबके लिए मैं विद्वद्वर्गसे क्षमाप्रार्थी हूँ। अपने क्षयोपशमके अनुसार मैंने ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्राय प्रकट करनेका प्रयास किया है। इस ग्रन्थके संशोधन और संपादनमें बड़ा श्रम करना पड़ा है। दृष्टिकी मन्दता और शरीरकी शिथिलता देखते हुए लगता है कि यह मेरी अन्तिम रचना होगी। अमृतचन्द्र स्वामीके अद्यावधि अप्रकाशित इस ग्रन्थ पर कार्य करनेका मुझे सौभाग्य मिला, इसकी अत्यधिक प्रसन्नता है।

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजीने अपनी विस्तृत प्रस्तावनामें ग्रंथकर्त्ताके जीवन पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकी विशेषताओंका दिग्दर्शन कराया है। इसके लिये उनका आभारी हूँ। सहयोगी विद्वान् डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया वाराणसीने दर्शन विषयक कुछ श्लोकोंका अनुवाद और भावार्थ लिखकर भेजा तथा वाचनाके समय एक प्रतिको परिमार्जित किया। इसके लिये इनका आभारी हूँ।

आदरणीय तात्या जी बड़े धीरजके साथ लम्बे समय तक प्रतियोंकी पाण्डुलिपि कराने तथा उसे इधर-उधर भेजनेमें तत्परता दिखाते रहे, इसके लिये उनका आभारी हूँ।

मुद्रणमें प्रूफकी अशुद्धियाँ अधिक रह गई हैं उनका शुद्धिपत्रक अलगसे मुद्रित कराकर संलग्न करा दिया है। स्वाध्यायके पूर्व अपनी प्रतियोंका शोधन कर लेनेसे स्वाध्यायमें सुविधा होगी।

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायके आद्य टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रके नामसे प्रायः सभी अध्यात्मरसिक सुपरिचित हैं। यद्यपि जैन अध्यात्मके पुरस्कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द हुए; किन्तु अध्यात्मकी सरिता प्रवाहित करनेका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको ही प्राप्त है। आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रके मध्यमें लगभग एक हजार वर्षोंका अन्तराल है और इस अन्तरालमें प्रख्यात जैनाचार्य हुए हैं। उनमेंसे आचार्य पूज्यपाद तो कुन्दकुन्दसे प्रभावित हैं। उनके समाधितंत्र और इष्टोपदेश पर कुन्दकुन्दके पाहुडोंका प्रभाव है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें[1] भी पंच परावर्तनसम्बन्धी पाँच गाथाएँ कुन्दकुन्दके बारस अणुवेक्खासे संगृहीत हैं। आचार्य अकलंकने तत्त्वार्थवार्तिकमें[2] प्रवचनसारसे एक गाथा उद्धृत की है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीमें[3] पञ्चास्तिकायकी गाथा 'सत्ता' आदिका संस्कृत रूपान्तर दिया है। किन्तु कुन्दकुन्दके मौलिक ग्रन्थ समयसारको किसीने स्पर्श नहीं किया। यह श्रेय तो अमृतचन्द्रको ही प्राप्त है। उन्होंने ही सर्वप्रथम उसका मूल्याङ्कन किया और ऐसा किया कि आचार्य कुन्दकुन्द जैनाकाशमें सूर्यकी तरह प्रकाशित हो गये। कुन्दकुन्दको कुन्दनवत् प्रकट करनेका श्रेय अमृतचन्द्रको ही है। अतः उनकी वाणीके प्रकटन और प्रसारमें जो स्थिति भगवान् महावीर और गौतम गणधर की है वही स्थिति जैन अध्यात्मके प्रकटन और प्रसारमें आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रकी है। जैसे भगवान् महावीरकी वाणीको द्वादशाङ्ग श्रुतमें गौतम गणधरने निबद्ध करके प्रवाहित किया। उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा पुरस्कृत अध्यात्मको अपनी टीकाओंके द्वारा आचार्य अमृतचन्द्रने निबद्ध और प्रवाहित किया। उनके पश्चात् ही अन्य टीकाकारोंने भी उन पर अपनी टीका रची, इस तरह अध्यात्मरूपी कमलका सौरभ फैलाकर भी, आचार्य अमृतचन्द्र अपने सम्बन्धमें मूक हैं। उन्होंने अपनी कृतियोंमें अपना नामोल्लेख मात्र किया है। समयसार और पञ्चास्तिकायकी टीकाके अन्तमें वह लिखते हैं—

'स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥'

अर्थ—अपनी शक्तिसे वस्तु तत्त्वको सम्यक्‌रूपसे सूचित करनेवाले शब्दोंने यह समयकी व्याख्या की है। अपने स्वरूपमें लीन अमृतचन्द्र सूरिके लिये तो कुछ भी करनेको नहीं हैं। इसी तरह तत्त्वार्थसारके अन्तमें कहा है—

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम्॥

अर्थ—अक्षर पदोंके कर्त्ता है, पद वाक्योंके कर्त्ता हैं। वाक्य इस शास्त्रके कर्त्ता हैं, हम नहीं हैं।

---

१. सर्वा० २।१०। बारसअणु०, गा० २५ से २९ तक। २, तत्त्वा० पृ० ११६ पर।
३. अष्टस० पृ० ११३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अन्तमें भी यही भाव व्यक्त किया है। स्वकर्तृत्वका यह परिचय जैन अध्यात्मकी अमिट छापको व्यक्त करता है। यह बतलाता है कि आचार्य अमृतचन्द्र जैन अध्यात्मके कोरे व्याख्याता नहीं थे, उन्होंने उसे अपने जीवनमें उतार लिया था। उनका एक एक शब्द बहुमूल्य है, एक-एक वाक्यमें अमृत भरा है। जैन वस्तु विज्ञानके तो वे परम प्रवीण आचार्य हैं ही। अनेकान्त उनकी तुला है। उस तुलाके दो पलड़े हैं—निश्चय और व्यवहार। उनके द्वारा वह वस्तुतत्त्वकी मध्यस्थभावसे समीक्षा करते हैं। उनके अन्तस्तलमें न निश्चयके प्रति अनुराग है और न व्यवहारके प्रति द्वेष। दोनोंमें समभाव रखते हुए भी वे मोक्षमार्गमें उनकी उपयोगिताकी दृष्टिसे ही विचार करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने समयसारके प्रारम्भमें जो निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा है तथा शुद्धनयका जो स्वरूप कहा है, आचार्य अमृतचन्द्र सर्वत्र उसीका अनुगमन करते हैं। हमें खोजने पर भी ऐसे स्थल नहीं मिले जहाँ अमृतचन्द्रने कुन्दकुन्दका अतिक्रमण किया हो, या उनकी ओटमें अपना कोई स्वतंत्र मन्तव्य निर्दिष्ट किया हो। वे एकान्ततः कुन्दकुन्दके अनुगत हैं। कुन्दकुन्दने अपने समयसारके द्वारा अध्यात्मका जो वृक्षारोपण किया था, अमृतचन्द्रने उसे केवल समृद्ध करके पुष्पित और फलित किया है। जैसे वृक्षके पत्ते पुष्प फल सब उससे अनुप्राणित रहते हैं वही स्थिति अमृतचन्द्रके वचनोंकी है। उनका एक एक पद कुन्दकुन्दके अध्यात्मसे अनुप्राणित है।

समयसारकी व्याख्याका आरम्भ करते हुए तीसरे कलशमें वह जो भाव व्यक्त करते हैं उसे पढ़ कर किसका तन मन रोमाञ्चित नहीं होता। वह कहते हैं—'मैं शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। परन्तु मेरी परिणति मोहके उदयका निमित्त पाकर मलिन हो गई है—रागद्वेषरूप हो रही है। शुद्ध आत्माका कथन करनेरूप इस समयसार ग्रन्थकी व्याख्या करनेका यह फल चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादिसे रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो।'

कितनी पवित्र भावना है। उनकी यह भावना अवश्य ही समयसारके पठन, चिन्तन और मननका परिणाम है। उन्होंने अवश्य ही आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अध्ययन मनन और चिन्तन किया था और उससे उन्हें जो आत्मबोध हुआ था उससे उनकी अन्तर्दृष्टि अवश्य ही खुल गई थी और उसीके फलस्वरूप उन्हें कुन्दकुन्दके ग्रन्थरत्नोंकी इतनी सुन्दर समृद्ध टीकाएँ रचनेकी अन्तःप्रेरणा हुई थी। यह भक्तकी भगवान्के प्रति कुसुमाञ्जलि जैसी है।

पं० आशाधर जीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें[1] उनके नामके साथ ठक्कुर शब्दका प्रयोग किया है। ठक्कुर और ठाकुर एकार्थवाची हैं। प्रेमी जीने लिखा[2] है—ठक्कुर फेरु ओसवाल जैन थे। उनका शिल्पशास्त्र प्रकाशित हो गया है। जैनेतरोंमें आज भी ठाकुर शब्दका व्यवहार पाया जाता है। जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। जैनाचार्योंमें ऐसे भी आचार्य हुए हैं जो जन्मसे जैन नहीं थे। जैसे आचार्य विद्यानन्द, किन्तु उनकी कृतियाँ अनमोल हैं। आचार्य अमृतचन्द्र भी यदि ऐसे ही हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। जैसे समन्तभद्रके आप्तमीमांसाको सुनकर विद्यानन्द विद्यानन्द बन गये, संभव है उसी प्रकार समयसार आदिके अध्ययनने अमृतचन्द्रको अमृतचन्द्र बना दिया हो। हमें तो उनके तीसरे कलशमें उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।

---

१. एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम् पृ० ५८२। 'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमवादीत्' पृ० १६०। २. जै० सा० इ०, पृ० ३०९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु सबसे आश्चर्यजनक है उनकी टीकाओंमें ग्रन्थकार कुन्दकुन्दके किसी भी नामका निर्देश न होना। वे सूत्रकार शब्दका प्रयोग अवश्य करते हैं। समयसारकी प्रथम गाथाकी उत्थानिका 'अथ सूत्रावतार' मात्र है। कृतिके लिये सूत्र और उसके कर्त्ताके लिये सूत्रकार शब्दका प्रयोग अत्यन्त श्रद्धामूलक है। फिर भी सूत्रकारका नामोल्लेख न करना विस्मयकारक है। शायद उनकी अध्यात्मवृत्ति इसमें बाधक हो और जैसे वे अपनी टीकाको वर्ण समुदायरूप पद, और पद समुदायरूप वाक्यकृत मानते हैं स्वकृत नहीं मानते। उसी प्रकार समयसारादि ग्रन्थोंको भी उसी दृष्टिसे तौलते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्रके पूर्व न तो कुन्दकुन्द ही उतने प्रसिद्ध थे और न उनके ग्रन्थरत्न ही। और कुन्दकुन्दने इन ग्रन्थरत्नोंमें अपना किञ्चित् भी संकेत नहीं दिया है। अतः यह सम्भव है उपलब्ध मूल प्रतियोंके अध्ययनसे ही वे उनके भक्त बन गये हों और उन पर टीकाएँ लिखनेके लिये तत्पर हुए हों।

समयसारकी टीका रचते हुए जो उनकी भावना थी उसे उन्होंने तीसरे कलशमें व्यक्त किया है। प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमें वह कहते हैं कि परमानन्दरूपी अमृतको पीनेके इच्छुक जनोंके हितके लिये यह वृत्ति की जाती है। प्रवचनसारकी वृत्ति परहितके लिये रची है और समयसारकी टीका आत्महितके लिये रची है। इस प्रकार यहाँ भी निश्चय और व्यवहारकी सरणिके दर्शन होते हैं।

उनकी टीकाओंको पढ़कर ऐसी कल्पना होती है कि कुन्दकुन्दने ही अमृतचन्द्रके रूपमें अवतार लिया है। उनकी टीकाएँ मात्र शब्दार्थव्याख्या रूप नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक गाथासूत्रमें भरे हुए रहस्यको उद्घाटित करती हैं। अतः उसे टीका न कहकर भाष्य कहना ही उचित होगा। जिसमें सूत्रके अर्थके साथ उसके आधारसे अपनी भी बात कही जाती है उसे भाष्य कहते हैं। अमृतचन्द्र जी की टीका इसी रूप है। कहीं भी उसमें अतिक्रम या व्यतिक्रम नहीं हैं। और भाषा तो संस्कृत गद्यात्मक अतिमनोहर है। शब्दोंका चयन अध्यात्मके सर्वथा अनुरूप है। इस प्रकारकी अनुप्रासात्मक श्रुतिमधुर शब्दावली अन्य जैन टीकाओंमें नहीं पाई जाती। गद्य और पद्य दोनोंमें एकरूपता है। गद्यमें भी पद्यका आनन्द आता है।

उनका जो नवीन ग्रन्थ लघुतत्त्वस्फोट प्रकाशमें आया है उसके अन्तिम पद्यमें उन्होंने अपने नामके साथ 'कवीन्द्र' विशेषणका प्रयोग किया है। उनके इस ग्रन्थमें उनके कवीन्द्रत्वके स्पष्ट दर्शन पद-पदपर होते हैं। काव्यशास्त्रकी सब विशेषताएँ उनकी इस कृतिमें वर्तमान हैं। यों तो उनकी उपलब्ध रचनाएँ ही उनके वैदुष्य और रचनाचातुर्यकी गरिमाके लिए पर्याप्त थीं। किन्तु इस नवीन कृतिने तो उनकी उस गरिमापर कलशारोहण कर दिया है।

जैनतत्त्वज्ञानकी जिस निधिने अमृतचन्द्रको सर्वाधिक आकृष्ट किया है वह है अनेकान्त और ज्ञानज्योति। उन्होंने अपनी रचनाओंके प्रारम्भमें किसी तीर्थंकर आदि व्यक्तिको नमस्कार न करके आत्मज्योति और अनेकान्तको ही नमस्कार किया है। समयसारके प्रारम्भमें समयसारको नमस्कार करके अनेकान्तमयी मूर्तिका स्मरण किया है। प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमें ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको नमस्कार करके अनेकान्तमय तेजका जयकार किया है। पञ्चास्तिकायकी टीकामें उक्त प्रकारसे परमात्माको नमस्कार करके स्यात्कारजीविता जैनी सिद्धान्त पद्धतिका जयकार किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायके प्रारम्भमें परम ज्योतिका जयकार करके अनेकान्तको नमस्कार किया है। तत्त्वार्थसारके प्रारम्भमें भी जिनेशकी ज्ञानज्योतिका जयकार है। अनेकान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्तके प्रति इतनी अधिक भक्ति की व्यक्ति तो दर्शनशास्त्रके प्रतिष्ठाताओंकी कृतियोंमें भी नहीं मिलती।

तब क्या अमृतचन्द्रकी जैन तीर्थङ्करोंके प्रति भक्ति नहीं है ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसके समाधानके लिए प्रवचनसारकी प्रथम मंगल गाथाकी टीकाके अन्तिम शब्द ही पर्याप्त हैं—

'प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारक-महादेवाधिदेव-परमेश्वर-पूज्य-सुगृहीत-नामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि' श्रीवर्धमान स्वामीके लिए परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, पूज्य जैसे विशेषण व्यक्त करते हैं कि कितनी अधिक भक्ति भगवान् महावीरके प्रति थी। और क्यों न हो, अनेकान्त सिद्धान्त उन्हींकी तो देन है। वे ही स्यात्कारजीविता जैनी सिद्धान्तपद्धतिके या जैनी नीतिके पुरस्कर्ता हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायको प्रारम्भ करते हुये वे कहते हैं—'तीनों लोकोंको देखनेके लिए नेत्रस्वरूप परमागमका प्रयत्नपूर्वक आलोडन करके हम इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थका उद्धार करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि वे परमागमके गहरे अभ्यासी थे और उनको उसके प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थकारकी रचनाओंके सम्बन्धमें अन्यथा कल्पना करना सूरज पर धूल फेंकना जैसा है!

पञ्चास्तिकायकी टीकाके प्रारम्भमें वे उसकी व्याख्याको 'द्विनयाश्रया'—दो नयोंका आश्रय करनेवाली कहते हैं। इस प्रकार जिनागमकी व्याख्या निश्चय और व्यवहार नयका आश्रय लेकर करनेवाले वे ही आद्य टीकाकार हैं। उन्हींका प्रभाव उनके पश्चात् होनेवाले आध्यात्मिक टीकाकारों और ग्रन्थकारों पर देखनेमें आता है। इस प्रकार वे इस आध्यात्मिक युगके स्रष्टा हुए हैं।

अमृतचन्द्र और काष्ठासंघ

यह हम लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रने अपने सम्बन्धमें एक भी शब्द नहीं कहा। केवल आशाधर अपनी धर्मामृत टीकामें उन्हें ठक्कुर कहते हैं। अन्यत्रसे भी उनके सम्बन्धमें कोई संकेत नहीं मिलता।

स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारका सम्पादन किया था जों वि० सं० १९९१ (ई० सन् १९३४) में रायचन्द्रशास्त्र माला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसकी विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावनामें डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्रके सम्बन्धमें प्रकाश डालते हुए लिखा था—

'यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अमृतचन्द्रने प्राकृतमें भी कोई रचना की थी? सम्भवतया की थी, उसके कारण इस प्रकार हैं—उनकी टीकाएँ बतलाती हैं कि अमृतचन्द्र प्राकृतके गहरे अभ्यासी थे। समयसारकी टीकाकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें एक प्राकृत गाथा पाई जाती है जो सम्भवतया उन्हींके द्वारा रची गई थी। इसके सिवाय मेघविजयगणि कुछ प्राकृत गाथाओंको अमृतचन्द्रकी कहते हैं जो उनके प्राकृतमें रचे श्रावकाचारकी हैं। उन गाथाओंमेंसे एक गाथा ढाढसी गाथामें पाई जाती है। उस ढाढसी गाथाके रचयिताके सम्बन्धमें केवल इतना ज्ञात होता है कि वह काष्ठासंघी थे। यदि मेघविजयजीका कथन यथार्थ है तो अमृतचन्द्र ढाढसी गाथाके रचयिता हो सकते हैं। और ऐसी अवस्थामें वे काष्ठासंघी हो सकते हैं। यदि वे काष्ठासंघी हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो अमृतचन्द्रके द्वारा प्रयुक्त कुछ पदों और वाक्यांशोंपर तथा कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे कुछ प्रामाणिक गाथाओंको न लेने पर सुविधापूर्वक प्रकाश डाला जा सकता है। किन्तु यह सब पराश्रित कल्पना पर निर्भर है।'

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयगणिने अपने युक्तिप्रबोधमें दो पद्य प्राकृतके उद्धृत किये हैं।

१. यदुवाच अमृतचन्द्रः—

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णाऊण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥

२. श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह—

संघो को वि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा दु झायव्वो॥

इनमें पहली गाथा तो समयसारकी ३४ वीं गाथा है। यह अमृतचन्द्रकी नहीं है। दूसरी गाथा ढाढसी गाथा नामक ग्रन्थकी है अमृतचन्द्रकी नहीं। इस गाथामें काष्टासंघ मूलसंघ और निःपिच्छिक संघोंका उल्लेख हैं। इनमेंसे अन्तिम निःपिच्छिक या माथुरसंघकी उत्पत्ति दर्शनसारमें वि० सं० ९५३ के लगभग बतलाई है। स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमीने लिखा[1] है कि यदि यह सही है तो ढाढसी गाथा विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पहलेकी नहीं हो सकती।

प्रेमीजीने टिप्पणमें यह भी लिखा है कि ढाढसी गाथाकी एक प्रति संस्कृत टीका सहित (नं० १६१०) बम्बईकी रायल एशियाटिक सो ायटीके लाइब्रेरीमें है। उसके अन्तमें इतना ही लिखा है कि इति 'ढाढसीमुनीनां विरचिता गाथा सम्पूर्णा।'

इसका नाम ढाढसी गाथा अवश्य ही उसके रचयिताके नामपर ही पड़ा ज्ञात होता है, अन्यथा ढाढसी शब्दका कोई अर्थ नहीं होता। यद्यपि ढाढसी गाथा ध्यानसे सम्बद्ध है और उसमें आत्मध्यानकी चर्चा होनेसे उसका विषय अध्यात्म है फिर भी उसके अमृतचन्द्र रचित होनेका कोई प्रमाण नहीं है। तथा न वह श्रावकाचार ही है। गणिजीने किसी गलत आधारपरसे ही लिख दिया प्रतीत होता है।

किन्तु डाँ० उपाध्येने जो अमृतचन्द्रके द्वारा प्रयुक्त कुछ पदों और वाक्यांशोंके समाधान की बात कही है, तथा उनके द्वारा कुछ गाथाओंको अपनी टीकामें सम्मिलित न करना लिखा है वह विचारणीय है।

पञ्चास्तिकायमें अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या १७३ है और जयसेनके अनुसार १८१ है। समयसारमें अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या ४१५ है और जयसेनके अनुसार ४३९ है। तथा प्रवचनसारमें अमृतचन्द्रके अनुसार गाथा संख्या २७५ है तया जयसेनके अनुसार ३११ है।

गाथा संख्यामें इतना अन्तर पड़नेका कोई स्पष्ट कारण समझमें नहीं आता। अमृतचन्द्र आद्य टीकाकार हैं अतः उनके सन्मुख तो मूलग्रन्थ ही रहा है। किन्तु जयसेनके सन्मुख अमृतचन्द्र की टीकाएँ रही हैं। इनके सिवाय भी कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी मूल प्रतियाँ उनके सन्मुख होनी चाहिये जिनके आधारपर जयसेनने अतिरिक्त गाथाएँ सम्मिलित की हैं। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि कुछ गाथाएँ क्षेपक आदि रूपमें रही हों और उन्हें अमृतचन्द्रने मूलकी न मानकर छोड़ दिया हो। किन्तु दोनोंकी गाथा संख्यामें इतना अन्तर है कि क्षेपकवाली बात भी गले नहीं उतरती।

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ३१३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डाँ० उपाध्येने ठीक ही लिखा है कि यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि अमुक गाथाएँ ग्रन्थकी मूल गाथाएँ रही हैं या पीछेसे उसमें मिला दी गई हैं। उन्होंने प्रवचनसारकी गाथाओंके सम्बन्धमें अपनी प्रस्तावनामें विचार किया है।

वह लिखते हैं—अमृतचन्द्रकी टीकाका उद्देश्य गाथाओंकी शाब्दिक व्याख्या नहीं है। उनकी टीका एक भाष्यकी तरह है। (जैसा हम पूर्वमें लिख आये हैं) ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक है कि वह ऐसी गाथाओंकी परवाह न करें जो प्रवचनसारके विषयमें अपना ठोस और मौलिक आधार न रखती हों।

अमृतचन्द्रने अपने ग्रन्थोंमें अनेक प्राचीन गाथाओंका अनुसरण किया है यद्यपि ऐसी कुछ गाथाओंको उन्होंने प्रवचनसारकी अपनी टीकामें स्थान नहीं दिया है किन्तु उनका संस्कृत रूपान्तर उनके ग्रन्थोंमें वर्तमान है। यथा—

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं॥

यह प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारमें ४३ वीं गाथाकी जयसेनकृत टीकामें मूल गाथा रूपसे संगृहीत है। तत्त्वार्थसारके अजीवाधिकारमें इसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार पाया जाता है—

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः॥३-४॥

प्रवचनसारके तीसरे अधिकारमें गाथा २९ में युक्त आहार-विहारकी चर्चा है। जयसेनकी टीकामें उस प्रकरणमें दो गाथाएँ विशेष हैं—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।
संततियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं॥

इन दोनों गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर पुरुषार्थसिद्धयुपायमें है—

'आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोदानाम्॥६७॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटिनाम्॥६८॥

इस प्रकारकी गाथाओंकी संगति कुन्दकुन्दके प्रवचनसार जैसे संतुलित रचना प्रधान ग्रन्थ के साथ नहीं बैठती। प्रवचनसारके ही तीसरे अधिकारमें कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायके वस्त्र-पात्रवाद और स्त्रीमुक्ति पर प्रहार करती हैं वे अमृतचन्द्रकी टीकामें नहीं है।

तीसरे अधिकारकी २० वीं गाथामें कहा है—'परिग्रहकी अपेक्षासे रहित यदि परिग्रहका त्याग न हो तो मुनिके चित्तकी निर्मलता नहीं होती। और जिसका चित्त अविशुद्ध है वह कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है।

इसकी टीकामें जयसेनने लिखा है कि अमुक गाथाएँ अमृतचन्द्रकी टीकामें नहीं है। २१ वीं गाथामें कहा है—'उस परिग्रहके होने पर मूर्छा आरम्भ असंयम कैसे नहीं होगा। तथा जो पर द्रव्य परिग्रहमें रत है वह कैसे आत्मस्वरूपकी साधना कर सकता है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा २० और २१ दोनों परस्परमें सम्बद्ध है, दोनोंके मध्यमें किसी अन्य गाथाको स्थान नहीं है। यही प्रकरण आगे भी चलता है। गाथा २४ और पच्चीसमें भी परिग्रहका ही निषेध है और जिनमार्गमें यथाजातरूप (नग्न दिगम्बरत्व) गुरुके वचन, विनय और शास्त्राध्ययनको ही अपवाद परिग्रहके रूपमें स्वीकार किया है। इन्हीं २४-२५ गाथाओंके मध्यमें वे ग्यारह गाथाएँ आती हैं जो स्त्री की मुक्ति और दीक्षा के निषेधपरक हैं।

प्रवचनसारकी सुसम्बद्ध रचनाके प्रकाशमें कोई भी चिन्तक इन्हें ग्रन्थकारके द्वारा प्रवचनसारमें रची गई नहीं मान सकता। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने अन्य पाहुड़ोंमें इस विषय पर लिखा है। हो सकता है कि ये गाथाएँ कुन्दकुन्द रचित हों। किन्तु उन्हें प्रवचनसारमें रचा गया था, यह हम माननेके लिये तैयार नहीं हैं।

डा० उपाध्येने अपनी प्रस्तावनामें इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'यह सुझाव कि अमृतचन्द्र श्वेताम्बर थे अनेक कारणों से किसी भी तरह मान्य नहीं किया जा सकता। वे कारण इस प्रकार हैं—

१. अमृतचन्द्र २८ मूलगुण स्वीकार करते हैं जिनमें एक नग्नता भी है। (प्रव० ३।८-९ गा०)

२. वे प्रव० के तीसरे अधिकारकी गाथा ४, ५ और २५ में आये 'यथाजातरूप' पदको स्वीकार करते हैं।

३. वे अपने तत्त्वार्थसारमें विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तद् स्मृतम्॥ ५-६।

'सग्रन्थ भी निर्ग्रन्थ है; केवली कवलाहारी है जिसमें इस प्रकारकी श्रद्धा है वह विपरीत मिथ्यात्व है।' दोनों बातें श्वेताम्बर मान्य हैं।

दर्शनसारमें काष्ठासंघको जैनाभासोंमें गिनाया है' और उनकी मान्यताओंमें स्त्रीदीक्षा, क्षुल्लकोंकी वीरचर्या, मयूरपिच्छिकाके स्थानमें गोपुच्छकी पीछी रखना आदि कहा है। यतः अमृतचन्द्रने स्त्रीदीक्षाके निषेधवाली गाथाओंको स्थान नहीं दिया, इससे भी उन्हें काष्ठासंघी समझने का भ्रम हुआ है।

किन्तु समालोचकोंने दर्शनसारकी स्थितिको मान्य नहीं किया है (देखो—भट्टारक सं० पृ० २१२)। तथा काष्ठासंघसे सम्बद्ध माथुर, वागड़, लाडवागड़ आदिमें अनेक प्रख्यात आचार्य हुए हैं और उनका विपुल साहित्य वर्तमान है। उसमें इस तरहकी कोई बात नहीं पायी जाती। ग्रन्थकी प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है कि अग्रवाल दि० जैन जातिका सम्बन्ध काष्ठासंघसे विशेष था।

ऐसा प्रतीत होता है कि संघोंमें भी परस्परमें कुछ वैमनस्य जैसा चलता था। इसकी एक कथा प्रेमीजीने अपने जैन साहित्य और इतिहासमें (पृ० ३९१) दी है।

अतः काष्ठासंघको जैनाभास मानकर अमृतचन्द्रको भी बलात् उससे सम्बद्ध करना उचित नहीं है। मूलसंघके संस्थापक आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थों पर टीका रचनेवाले अतः जिनशासन प्रभावक और अध्यात्मकी सरिता प्रवाहित करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्रके सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। जिन्हें अध्यात्म सह्य नहीं है वे तो कुन्दकुन्द को भी नहीं छोड़ते। किन्तु कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन शासनके सूत्रधार हैं, अतः किसीकी कुछ चलती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। अमृतचन्द्र तो उन्हींके अनुगामी हैं। आगे हम उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे, इससे उनकी स्थिति और भी सुस्पष्ट होकर सामने आयेगी।

अमृतचन्द्रकी टीकाएँ

पञ्चास्तिकाय टीका

पञ्चास्तिकायको टीकाके प्रारम्भमें अमृतचन्द्रने कुछ श्लोकोंके द्वारा पञ्चास्तिकायकी मुख्य विषयसूची दी है कि पहले इस ग्रन्थमें सूत्रकार (कुन्दकुन्द) ने मूल पदार्थोंका पाँच अस्तिकाय और छह द्रव्यरूपसे कथन किया है। फिर जीव अजीवकी पर्याय नौ पदार्थोंका कथन किया है। उसके पश्चात् तत्त्वपरिज्ञानपूर्वक रत्नत्रयात्मक मार्गके द्वारा मोक्ष प्राप्तिका कथन किया है, इस प्रकारका विषय प्रतिपादन उनके अन्य टीका ग्रन्थोंमें नहीं है। इससे हमें लगा कि संभवतया अमृतचन्द्रने सर्वप्रथम पञ्चास्तिकाय पर टीका रची थी।

गाथाकी टीकामें उन्होंने गाथाके पूर्वार्द्ध 'समवाओ पंचण्हं समओ त्ति।' का व्याख्यान करते हुए शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय ये तीन भेद समयके करके लिखा है कि इस ग्रन्थमें ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके लिये शब्दसमयके द्वारा अर्थसमयका कथन करना इष्ट है। उस अर्थसमयके दो भेद हैं—लोक और अलोक। आगे पञ्चास्तिकायोंका वर्णन करते हुए उन्होंने नयके दो भेद किये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तथा लिखा है कि भगवान्की देशना दोनों नयोंके अधीन थी, एक नयके नहीं।

कुन्दकुन्दके इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम सत्ताका विवेचन है। उसका व्याख्यान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी महत्त्वपूर्ण यह गाथा है। एक तरहसे जैनाभिमत द्रव्य गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्यका विश्लेषण इसके द्वारा हो जाता है। यह उसकी आधारशिला है। इसमें सत्ताको सप्रतिपक्षा कहा है। अर्थात् सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है—

सत्ताके दो प्रकार हैं—महासत्ता और अवान्तरसत्ता। सब पदार्थसमूहमें रहनेवाली और उनमें सादृश्यरूप, अस्तित्वको सूचित करनेवाली महासत्ता है। और एक ही प्रतिनियत वस्तुमें रहनेवाली अवान्तर सत्ता है जो उसके स्वरूपास्तित्वकी सूचिका है, उसके बिना प्रत्येक वस्तुका प्रतिनियत स्वरूप नहीं हो सकता। उनमें महासत्ता अवान्तर सत्तारूपसे असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्तारूपसे असत्ता है। इस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है। एक ही वस्तुमें दृष्टि भेद से दोनों रहते हैं। महासत्ता सब पदार्थोंमें रहती है, अवान्तर सत्ता एक ही पदार्थमें रहती है। अतः महासत्ता एक है, अवान्तर सत्ता अनेक हैं, क्योंकि एक वस्तुकी स्वरूपसत्ता अन्य वस्तुकी स्वरूप सत्ता नहीं हो सकती। सत्ता उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेसे त्रिलक्षणा है। किन्तु जिस स्वरूपसे उत्पाद है उस स्वरूपसे उत्पाद ही है। जिस स्वरूपसे व्यय है उस स्वरूपसे व्यय ही है, और जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उस स्वरूपसे ध्रौव्य ही है। जैसे पिण्डरूपसे विनाश ही है, घट रूपसे उत्पाद ही है और मिट्टीरूपसे ध्रौव्य ही है। तो वस्तुका उत्पद्यमान स्वरूप घट, विनशमान रूप पिण्ड और स्थायी रूप मिट्टी ये तीनों उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणात्मक न होने से अत्रिलक्षणात्मक हैं। अतः सत्ता त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार इस गाथाकी व्याख्या-द्वारा अमृतचन्द्रने बड़ी सरलतासे समझाया है। इसे हृदयंगम कर लेनेसे जैन वस्तुव्यवस्था करतलवत् स्पष्ट हो जाती है।

आगे इस प्रकरणमें द्रव्योंके सामान्य स्वरूपका विवेचन करते हुए द्रव्य गुण पर्यायकी स्थिति को स्पष्ट किया है।

दूसरे प्रकरणमें प्रत्येक द्रव्यका विस्तारसे विवेचन है।

जीव द्रव्यका विवेचन करते हुए स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यने जीव और कर्मकी स्थितिको विस्तारसे स्पष्ट करते हुए यह स्थापित किया है कि निश्चयनयसे कर्म, अपना कर्ता है और व्यवहारसे जीवके भावका कर्ता है। जीव भी निश्चयसे अपने भावका कर्ता है, और व्यवहारसे कर्मका कर्ता है। अमृतचन्द्रने अपनी टीकाके द्वारा इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

आज कल जीव और कर्मका सम्बन्ध मुख्य विवादका विषय है। व्यवहारका अवलम्बन लेनेवाले जीवकी परतन्त्रताका मुख्य कारण जीवको न मानकर कर्मको मानते हैं। तथा कर्मका कर्ता जीवको मानते हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

कुव्वं सगं सभावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६२॥

'आत्मा अपने परिणामोंको करता हुआ अपने परिणामका कर्ता होता है, पुद्गल कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है, यह जिनवचन जानना चाहिए।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके सद्भावमें युक्ति देते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि उनके सद्भावसे लोक अलोककी स्थिति और गति स्थिति होती है। (गा० ८७)

इसकी टीकामें अमृतचन्द्रने लिखा है—

'धर्म और अधर्म द्रव्य विद्यमान हैं; क्योंकि उनके विना लोक अलोकका विभाग नहीं बन सकता। जीव और पुद्गल स्वभावसे ही गति और स्थितिरूप परिणाम करते हैं, स्वयं ही गतिरूप और गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणामको करते हुए जीव और पुद्गलोंके बाह्य कारण धर्म अधर्म न होते तो निर्बाध गति स्थिति परिणाम होनेसे जीव और पुद्गलका गमन अलोकमें भी हो जाता। तब लोक अलोक विभाग सिद्ध नहीं होता। किन्तु जीव और पुद्गलकी गति और गतिपूर्वक स्थितिका बाह्य कारणरूपसे धर्म और अधर्मका सद्भाव मानने पर लोक और अलोकका विभाग बन जाता है।'....किन्तु ये दोनों गति और स्थितिके मुख्य कारण नहीं हैं, उदासीन कारण हैं। निश्चयसे तो सब गति-स्थितिमान् पदार्थ स्वपरिणामसे ही गति और स्थिति करते हैं।'

इसके तीसरे प्रकरणमें मोक्षमार्गकी चर्चा करते हुए अमृतचन्द्रने गा० १५९ की टीकाके अन्तमें लिखा है—

'एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम्। यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद् विप्रतिसिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।'

अर्थात् मोक्षमार्गके कथनके दो प्रकार हैं—एक निश्चयनयनसे और एक व्यवहारनयसे। निश्चयनयाश्रित कथन शुद्धद्रव्याश्रित होता है और उसमें साध्य-साधनका भेद नहीं होता है। किन्तु व्यवहारनयाश्रित कथन स्वपरनिमित्तक पर्यायाश्रित होता है और उसमें साध्य साधनका

२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेद होता है। इसमें कोई विरोध नहीं हैं क्योंकि निश्चय और व्यवहारमें उसी प्रकार साध्य साधनभाव है जैसे सुवर्ण और सुवर्णपाषाणमें है।'

आगे गाथा १६० में निश्चय मोक्षमार्गके साधनरूपसे व्यवहार मोक्षमार्गका कथन है। और गाथा १६१ में व्यवहार मोक्षमार्गके साध्यरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका कथन है।

ग्रन्थके अन्तमें शास्त्रका तात्पर्य बतलाते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है—

'इस शास्त्रका तात्पर्य परमार्थसे वीतरागता है। यह वीतरागता व्यवहार और निश्चयके अविरोध पूर्वक जानने पर ही इष्ट सिद्धिके लिये होती है।

जिनकी बुद्धि अनादि कालीन भेदवासनासे ग्रस्त है ऐसे प्राथमिक जन व्यवहारनयसे भिन्न साध्य-साधनभावका अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक संसार समुद्रको पार करते हैं। वही कहते हैं—यह श्रद्धान करनेके योग्य और यह श्रद्धान करनेके योग्य नहीं है, यह श्रद्धान करनेवाला है, यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान है। यह जानने योग्य हैं, यह जाननेवाला है, यह ज्ञान है, यह ज्ञाता है, यह आचरण करने योग्य है, यह आचरण करने योग्य नहीं है, यह आचरण है, इस प्रकार कर्तव्य, अकर्तव्य, कर्ता और कर्मके विभागको जाननेसे उनका उत्साह बढ़ जाता है। वे धीरे धीरे मोहको उखाड़नेका प्रयत्न करते हैं। कभी कभी अज्ञानवश प्रमादी होकर अपने कर्तव्यमें शिथिल हो जाते हैं तो दोषके अनुसार प्रायश्चित लेते हैं। इस प्रकार साध्य आत्मा और साधन श्रद्धान ज्ञान चारित्रमें भेद करके थोड़ी थोड़ी विशुद्धिको प्राप्त होते हैं। जैसे धोबी मलिन वस्त्रको पत्थर पर पछाड़कर निर्मल जलसे धोता है। फिर निश्चयनयमें भिन्न साध्य-साधनभावका अभाव होनेसे दर्शन-ज्ञान-चरित्रमय आत्मामें लीन होते हैं उस समय समस्त क्रियाकाण्डका आडम्बर शान्त हो जाता है और आत्मा निर्विकल्प चैतन्यरूप हो जाता है। तब वे क्रमसे समरसीभावमें निमग्न होते हुए परम वीतराग भावको प्राप्त करके साक्षात् मोक्षका अनुभवन करते हैं।

आगे अमृतचन्द्रजी ने केवल व्यवहारावलम्बी और केवल निश्चयावलम्बीका चित्रण विस्तारसे किया हैं। उसका आशम यह है कि केवल व्यवहारावलम्बी बाह्य क्रियाकाण्डमें फँसा रहता है। वह कर्मचेतना प्रधान होता है अतः यद्यपि वह अशुभ कर्मकी प्रवृत्तियोंसे दूर रहता है, किन्तु शुभकर्मकी प्रवृत्तियोंमें रमा रहता है। उसके सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे रहित और दर्शन-ज्ञान-चरित्रकी ऐक्य परिणतिरूप ज्ञानचेतना किञ्चित् भी नहीं होती। उसकी चित्तवृत्ति प्रचुर पुण्यबन्धके भारसे भरी होती है। अतः चिरकाल तक संसार सागरमें भ्रमण करता है।'

जो केवल निश्चयावलम्बी होते हैं वे समस्त क्रियाकाण्डके आडम्बरसे विरक्त होकर आँखोंको अर्धनिमीलित करके सुख पूर्वक बैठे रहते हैं। वे भिन्न साध्य-साधनभावको तो तिरस्कृत कर देते हैं और अभिन्न साध्य साधनको प्राप्त करनेमें असमर्थ होते हैं। इस तरह व्यवहार और निश्चय दोनोंसे ही भ्रष्ट होकर प्रमादी हो जाते हैं। वे पुण्यबन्धके भयसे व्रतादिरूप मुनिधर्म सम्बन्धी कर्मचेतनाको अपनाते नहीं हैं और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतनाको प्राप्त नहीं कर सकते। अतः व्यक्त और अव्यक्त प्रमादके अधीन होकर कर्मफलचेतना प्रधानवृत्ति होनेसे केवल पापका ही बन्ध करते हैं।'

किन्तु जो महाभाग पुनर्जन्मके फन्देसे छूटनेके लिए नित्य उद्योगशील रहते हैं और निश्चय तथा व्यवहारमेंसे किसी एकका अवलम्बन न करके अत्यन्त मध्यस्थ रहते हैं तथा शुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वमें स्थिरताके लिए सावधान रहते हैं। जब प्रमाद सताता है तो उसको शास्त्र विहित क्रियाकाण्डरूप परिणतिसे दूर करते हुए भी अत्यन्त उदासीन रहते हैं। यथाशक्ति आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें अनुभवन करते हैं। वे स्वतत्त्वमें स्थिरताके अनुसार क्रमसे कर्मसंन्यास करते हुए अत्यन्त निष्प्रमादी होकर कर्मफलचेतनासे अत्यन्त दूर होते हैं, और कर्मचेतनाकी अनुभूतिसे उदासीन होते हैं, मात्र ज्ञानचेतनाकी अनुभूतिसे उत्पन्न वास्तविक आनन्दसे भरपूर होकर संसार समुद्रको पार करते हैं और इस तरह शाश्वत सुखके भोक्ता होते हैं।'

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीने पञ्चास्तिकायकी टीकाके अन्तमें निश्चय और व्यवहारके एकान्तका फल दिखाकर दोनोंमें मध्यस्थ भावसे ही मोक्षमार्गकी सार्थकता बतलाई है। उन्होंने जो यह उपपादन किया है वह उनसे पूर्व किसी भी ग्रन्थमें नहीं मिलता। मिले भी तो कैसे, सिद्धान्त ग्रन्थोंमें तो केवल भेद रत्नत्रयका ही कथन है। वहाँ रत्नत्रयकी दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं। यह तो केवल अध्यात्मका विषय है, क्योंकि सिद्धान्तका उद्देश्य मोक्षमार्गका ज्ञान कराना है और अध्यात्मका उद्देश्य मोक्षमार्ग प्राप्त कराना है। कोई भी मुमुक्षु जब मोक्षमार्गमें लगता है तो भेद रत्नत्रयकी उपासनासे ही लगता है। भेद व्यवहारनयका विषय है अतः वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें और आत्मामें भेद करके उनकी उपासना करता है, क्योंकि उसके बिना वह आत्माको समझ नहीं सकता। यही स्थिति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भी है। तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थका श्रद्धान होनेपर अंग पूर्वगत अर्थका जानना सम्यग्ज्ञान है। और आचार आदि सूत्र ग्रन्थोंमें वर्णित यतियोंके चारित्ररूप तपमें चेष्टा सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार रत्नत्रयका स्वरूप है।

इसमें अश्रद्धान, अज्ञान और अचारित्रको त्यागकर श्रद्धान, ज्ञान और चारित्रको ग्रहण करनेका विकल्प रहता है। धीरे-धीरे विशिष्ट भावनावश स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके एकमेक होते-होते जब त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य यह आत्मा तन्मय हो जाता है तब यह आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग कहा जाता है।

सारांश यह है कि व्यवहार मोक्षमार्ग स्व-पर प्रत्यय-पर्यायाश्रित होता है। और दर्शन, ज्ञान-चारित्रके साथ किञ्चित् भी परसमयप्रवृत्ति जबतक है तबतक निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है। जब पर समय प्रवृत्तिसे निवृत्तिरूप स्वसमय प्रवृत्ति होती है तभी दर्शन, ज्ञान, चारित्र साक्षात् मोक्षरूप होते हैं। अतः किञ्चित् भी पर समयरूप प्रवृत्ति हेय है।

गाथा १६५ की टीकामें कहा है—गाथामें शुद्ध संप्रयोग शब्द आया है। मोक्षके साधनभूत भगवान् अर्हन्त आदिमें भक्तिबलसे अनुरंजित चित्तवृत्तिको शुद्ध संप्रयोग कहा है। यदि ज्ञानी भी अज्ञानके किञ्चित् आवेशवश ऐसा मानता है कि शुद्ध संप्रयोगसे मोक्ष होता है तो उसे भी रागका अंश होनेसे 'पर समयमें रत' कहा जाता है। फिर जिनकी चित्तवृत्ति निरंकुश रागसे कलंकित है उनका तो कहना ही क्या है। अतः अर्हन्त आदि के सम्बन्धमें भी क्रमसे रागका कणमात्र भी दूर करना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अमृतचन्द्रजीने अर्हन्त आदि की भक्तिरूप पर समयप्रवृत्तिको परम्परासे मोक्षका कारण स्वीकार किया है। यद्यपि स्वयं कुन्दकुन्दने ऐसा नहीं कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवचनसार टीका

प्रवचनसारकी टीकाके प्रारम्भमें ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा तथा अनेकान्तमय तेजको नमस्कार करके अमृतचन्द्रने परमानन्दरूप सुधारसके पिपासु भव्योंके हितके लिए प्रवचनसारकी वृत्ति रचनेकी प्रतिज्ञा की है।

प्रवचनसार पञ्चास्तिकायसे सब दृष्टियोंसे महान् है, ग्रन्थरूपसे भी और अर्थरूपसे भी। इसमें तीन अधिकार हैं जिन्हें टीकाकारने ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार नाम दिया है। जैसे यह ग्रंथ महान् है उसी प्रकार इसकी टीका भी महान् है। इसकी शब्दरचना अति गहन है, विषय तो गहन है ही। अमृतचन्द्रका वैदुष्य इसमें पद-पदपर मुखरित है। शब्दोंका चयन भी अध्यात्मके अनुकूल है। कुछ शब्द और उपमाएँ तो एकदम नवीन जैसे प्रतीत होते हैं। पूरी टीका संस्कृत गद्यशैलीमें रचित है। जिसमें लम्बे-लम्बे समस्यन्त पद हैं। जैसे—

१. 'भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनविलीननिखिलस्वपरविभागतया। (१।५)
२. 'स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः। (२।१)
३. 'स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्व यौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्म-कत्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्व।' (३।३८)

वाक्य रचना सरस और प्रसाद गुणयुक्त है। साहित्य, दर्शन और अध्यात्मकी त्रिवेणी प्रवाहित है जिसमें अवगाहन करके सांसारिक तापसे तप्त प्राणियोंको आध्यात्मिक शान्ति मिलती है और उनके संसार परिभ्रमणका अन्त समीप आता है। अस्तु,

प्रवचनसारका प्रारम्भ एस (एषः) शब्दसे होता है। जिसका अर्थ अमृतचन्द्रने 'एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माहं' किया है अर्थात् 'स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष और दर्शन सामान्य तथा ज्ञान सामान्यस्वरूप मैं आत्मा' महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर सर्वसिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, मनुष्यलोकमें वर्तमान तीर्थंकर इन सबको एकसाथ तथा पृथक्-पृथक् भी नमस्कार करके उनके विशुद्ध ज्ञानदर्शनप्रधान आश्रमको प्राप्त करके 'वीतरागचारित्ररूप' साम्यभावको धारण करता हूँ जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रके कथनका सूत्रपात करके प्रथम अधिकारमें अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखका, दूसरेमें जैन तत्त्वव्यवस्थाका और तीसरे अधिकारमें मुनिके चारित्रका वर्णन किया है।

अमृतचन्द्रने उसकी उत्थानिकामें लिखा है—'जिसके संसारका अन्त निकट है, सातिशय विवेकज्ञान जाग्रत हुआ है, एकान्तवादसम्बन्धी अभिनिवेश दूर हो गए हैं, वह अनेकांत विद्याको जानकर समस्त पक्षपातको छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हो, मोक्षलक्ष्मीको उपादेयरूपसे निश्चय करके मोक्षमार्गको स्वीकार करनेकी प्रतिज्ञा करता है।

गाथा ६ में कुन्दकुन्दने कहा है कि 'दर्शनज्ञानप्रधान चारित्रसे सांसारिक विभवके साथ मोक्षकी प्राप्ति होती है।' इसपरसे टीकाकारने चारित्रके दो भेद किए हैं—सराग और वीतराग। और कषायका लेश होनेसे सराग चारित्रको पुण्यबन्धका हेतु अतएव हेय कहा है और समस्त कषायसे रहित वीतरागचारित्रको निर्वाणकी प्राप्तिका कारण होनेसे उपादेय कहा है। इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह गाथा ११ में कुन्दकुन्दने चारित्रधर्मरूप परिणत आत्माके दो भेद किये हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। एकका फल निर्वाण और दूसरेका फल स्वर्ग कहा है। इसकी व्याख्यामें अमृतचन्द्रने शुभोपयोगरूप चारित्रको अपना मोक्षरूप कार्य करनेमें असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला कहा है। तथा गाथा १२ की उत्थानिका और टीकामें अशुभोपयोगको अत्यन्त हेय कहा है, उसमें चारित्रका लेश भी नहीं कहा।

इस प्रकार अमृतचन्द्र जी शुभोपयोगरूप चारित्रको हेय तो कहते हैं किन्तु अशुभोपयोगकी तरह सर्वथा हेय नहीं कहते।

तीसरे चारित्राधिकारमें गाथा ४५ में स्वयं कुन्दकुन्दने श्रमणोंके दो भेद किये हैं। शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी आस्रव रहित होते हैं और शुभोपयोगी आस्रव सहित होते हैं।

इसकी टीकामें अमृतचन्द्रने लिखा है—

जो श्रामण्यरूप परिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी कषायांशका उदय होनेसे समस्त पर द्रव्योंसे निवृत्तिमें प्रवृत्त सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोगकी भूमिका पर आरोहण करनेमें समर्थ नहीं हैं वे श्रमण हो सकते हैं या नहीं? उसका उत्तर है कि 'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि गाथाके द्वारा ग्रन्थकारने स्वयं कहा है कि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है। अतः शुभोपयोगियोंके भी धर्मका सद्भाव होनेसे श्रमण हो सकते हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके बराबर नहीं होते।

आगे कहा है कि वे शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगी श्रमणोंमें अनुराग रखते हैं अतः वे उनकी नमस्कार आदि पूर्वक वैयावृत्ति आदि भी शुद्धात्मवृत्तिकी स्थिरताके लिये करते हैं। आगे आचार्य कुन्दकुन्दने ही शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्तियाँ इस प्रकार बतलाई हैं—पर कल्याणकी भावनासे ज्ञान और दर्शनका उपदेश देना, शिष्योंको स्वीकार करके उनका पोषण करना, जिनेन्द्रकी पूजा का उपदेश देना।

किन्तु दूसरे साधुओंकी शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षाके अभिप्रायसे वैयावृत्य करते हुए जो साधु अपने संयमकी विराधना करता है वह मुनि पदसे च्युत हो जाता है। अतः प्रवृत्ति संयमकी साधनाके लिये ही की जाती है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र दोनों ही शुभोपयोगको सर्वथा हेय नहीं कहते। गृहस्थ धर्ममें तो शुभोपयोगकी ही प्रधानता होती है। प्रवचनसारमें ही (२।६५) कहा है—जीवका अशुद्ध उपयोग पर द्रव्यके संयोगका कारण होता है। उसके दो भेद हैं—विशुद्धि रूप उपरागवश शुभोपयोग होता है और संक्लेशरूप उपरागवश अशुभोपयोग होता है। शुभोपयोग से पुण्यबंध और अशुभोपयोगसे पापबन्ध होता है। दोनोंके अभावमें शुद्धोपयोग होता है। जो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकी विशिष्ट क्षयोपशमरूप दशा होने पर देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध और साधुमें श्रद्धा भाव रखता, उनका पूजन आदि करता है, समस्त प्राणियोंमें कारुण्यभाव रखता है उसका उपयोग शुभ होता है, आदि।

शुभोपयोगका फल इन्द्रिय सुख बताकर इन्द्रिय सुखको दुःख ही बतलाया है। तथा शुभोपयोगसे होनेवाले पुण्यबन्धको दुःखका बीज बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है कि यदि शुभोपयोगरूप परिणामोंसे उत्पन्न पुण्य है तो वह देवता पर्यन्त सब जीवोंको विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न करता है और तृष्णासे आकुल होकर वे जीव मरणपर्यन्त विषय सुखमें ही रमे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहते हैं, उन्हींकी प्राप्ति और भोगमें उनका जीवन बीतता है। अतः पापकी तरह पुण्य भी दुःख का कारण है। जो ऐसा नहीं मानता कि पाप पुण्यमें कोई भेद नहीं है वह अपार घोर संसारमें भ्रमण करता है (१।७४-७७)। गाथा ७४ की टीकामें अमृतचन्द्र जीने लिखा है—

उक्त प्रकारसे शुभ और अशुभ उपयोगके युगलकी तरह तथा सुख और दुःखके युगलकी तरह परमार्थसे पुण्यपापका युगल भी नहीं ठहरता। दोनों ही आत्माके धर्म नहीं हैं। जो इन दोनोंमें सुवर्ण ओर लोहेकी बेड़ीके समान अहंकार बुद्धिसे भेद मानता है और अहमिन्द्र आदि पदोंका कारण मानकर धर्मानुराग करता है वह रागके वश होकर शुद्धोपयोगका तिरस्कार करता है और इस तरह जब तक संसारमें रहता है तब तक शारीरिक दुःख ही भोगता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने ही शुभोपयोग और तज्जन्य पुण्यकों हेय कहा है और उन्हीं का अनुसरण अमृतचन्द्रने भी किया है। तथा समस्त दुःखोंके क्षयके लिये शुद्धोपयोगको ही अपनाने पर जोर दिया हैं।

प्रवचनसारमें (१।१४) शुद्धोपयोगी श्रमणका लक्षण सुविदित पदार्थसूत्र, संयम-तपसंयुत, विगतराग और समसुख-दुख कहा है। अमृतचन्द्रने प्रत्येक पदकी व्याख्या अध्यात्मदृष्टिसे इस प्रकार की है—

सूत्रार्थके ज्ञानके बलसे स्व और पर द्रव्यके विभागके परिज्ञान श्रद्धान और विधानमें समर्थ होनेसे जो सुविदित पदार्थसूत्र है, समस्त षट्कायके जीवोंको मारनेके विकल्पसे तथा पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाके विकल्पसे हटकर अपने शुद्ध स्वरूपमें संयमित होनेसे और स्वरूपमें विश्रान्त निर्विकल्प चैतन्यमें तपन करनेसे संयम और तपसे सहित है, समस्त मोहनीयके उदयसे रहित भावनाकी सुष्ठुतासे निर्विकार आत्मस्वरूपके प्रकट होनेसे विगतराग है, सातावेदनीय और असातावेदनीयके उदयसे होनेवाले सुख दुःख जनित परिणामोंकी विषमता का अनुभव न करनेसे समसुख-दुःख है ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी होते हैं।

शुद्धोपयोगके प्रसादसे ही आत्मा स्वयं सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वयं ही होता है इस लिये उसे स्वयंभू कहते हैं यह आचार्य कुन्दकुन्दका कथन है। आचार्य समन्तभद्रने चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति रचते हुए प्रथम तीर्थंकरकी स्तुतिका प्रारम्भ 'स्वयं-भू' शब्दसे किया है। इसी से वह स्तोत्र स्वयं-भू स्तोत्र के नामसे ख्यात है। किन्तु स्वयं-भूका यथार्थ आध्यात्मिक अर्थ तो सम्भवतया आचार्य अमृतचन्द्रने ही किया है। वह कहते हैं—

लोकमें षट्कारक प्रसिद्ध हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। इन कारकोंके द्वारा कार्यकी निष्पत्ति लोकमें मानी जाती है। जैसे कुम्हार घटका कर्त्ता है, घट उसका कर्म है, दण्ड चक्र आदि करण हैं, पानी भरने आदिके लिये घट बनाया जाता है अतः यह सम्प्रदान है। मिट्टीकी पिण्ड पर्यायसे घट बनाया जाता है, अतः अपादान है। उसका भूमि आदि अधि-करण है। किन्तु आत्माकी स्वरूपोपलब्धिरूप कार्यकी निष्पत्तिमें षट्कारकरूपसे एक आत्मा ही है वही अपना कर्ता, कर्म, आदि है। यही निश्चय व्यवस्था है। तभी आत्माका यथार्थमें स्वयं-भू-पना बनता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने इस ग्रन्थमें मुनि या साधुके लिये श्रमण शब्दका प्रयोग किया है। इसीसे जैन संस्कृति श्रमण संस्कृति कही जाती है। भारतमें दो ही संस्कृतियाँ प्राचीन हैं—श्रमण और ब्राह्मण और भाष्यकार पतञ्जलिके अनुसार दोनोंमें शाश्वतिक विरोध रहा है क्योंकि सैद्धान्तिक भेद है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अमृतचन्द्रने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें एक बात बड़े महत्त्वकी लिखी है कि उपदेष्टाको सर्वप्रथम यति धर्मका उपदेश देना चाहिये। जो उसे स्वीकार करनेमें असमर्थ हो उसको गृहस्थ धर्मका उपदेश देना चाहिये। यह कथन बतलाता है कि मोक्षमार्गमें मुनि धर्मकी महत्ता है, क्योंकि मुनि ही मोक्ष प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। यही बात आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें भी परिलक्षित होती है। वे श्रमणको लक्ष्य करके ही लिखते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गृहस्थको उसे पढ़नेका अधिकार नहीं है या उसे उन ग्रन्थोंको पढ़ना नहीं चाहिये। यदि वह नहीं पढ़ेगा तो मुनि कैसे बनेगा। मुनि पद अज्ञानियोंके लिये नहीं है। यह बात प्रवचनसारकी मंगल गाथाओंकी उत्थानिकासे स्पष्ट है। अतः इस प्रकरणकी गाथा ९१ की व्याख्यामें अमृतचन्द्रने लिखा है—'जो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्योंको स्व और परके भेद सहित नहीं जानता या श्रद्धान नहीं करता और यों ही मुनि पद, धारण करके आत्माका दमन करता है वह मुनि नहीं है। जैसे जिसे धूलि और सोनेके कणोंका भेद ज्ञात नहीं है वह धूलिको धोकर सोनेके कण प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार उस अज्ञानी मुनिको भी राग रहित आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः इस अधिकारके आरम्भमें ग्रन्थकारने यह प्रतिज्ञा की है कि मैं साम्यभावरूप श्रामण्यको धारण करता हूँ जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। और प्रतिज्ञा करके साम्यभावको धर्म निश्चित करके साम्यभाव धर्मरूप परिणत आत्माको ही धर्म कहा है तथा उसकी सिद्धिके लिये निर्वाण सुखका साधन शुद्धोपयोगको कहा है। शुद्धोपयोगके विरोधी शुभ और अशुभ उपयोगका निराकरण करके शुद्धोपयोगका स्वरूप कहा है। उसीके प्रसादसे आत्माको स्वाभाविक ज्ञान और सुखकी प्राप्ति बतलाते हुए ज्ञान और सुखका स्वरूप कहा है।

श्री जयसेनाचार्यकी टीकामें दो गाथाएँ इस प्रकरणके अन्तमें अधिक हैं। उनमें कहा है कि जो उक्त प्रकारके श्रमणको देखकर उनका वन्दन नमस्कार आदिसे सत्कार करता है, उससे वह धर्मको ग्रहण करता है और उससे मनुष्य वा तिर्यञ्च भवान्तरमें देव या मनुष्यगति प्राप्त करके सदा सम्पूर्ण मनोरथ होते हैं।

गाथामें 'धम्ममादियदि' पद है और जयसेनने धर्मका अर्थ पुण्य किया है। कुन्दकुन्दने पुण्यके लिए धर्म शब्दका प्रयोग किया ही नहीं। अतः ये गाथाएँ कुन्दकुन्दकृत नहीं हो सकतीं। न यहाँ उनकी आवश्यकता है। इससे पूर्व भी जयसेनकी टीकामें इसी प्रकारकी नमस्कारात्मक गाथाएँ आई हैं। अमृतचन्द्रकी टीकामें आगत गाथा ८२ में तो निर्वाण प्राप्त अरहंतोंको नमस्कार किया ही है। वही इस प्रकरणके उपयुक्त है।

प्रवचनसारके ज्ञानाधिकारके अन्तमें अमृतचन्द्र लिखते हैं—'स्याद्वादकी मुद्रासे अंकित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म (द्रव्यश्रुत) जयवन्त होओ। उस शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वकी उपलब्धि जयवन्त होओ, जिस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके प्रसादसे अनादि संसारसे बद्ध मोहकी गाँठ तत्काल खुल जाती है। परम वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग जयवन्त होओ, जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयं धर्मरूप हो जाता हैं।

उक्त वाक्य बहुमूल्य है जो बतलाते हैं कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका मूल जिनागमका अभ्यास है और जिनागमके अभ्यासके लिए स्याद्वादका परिज्ञान होना जरूरी है। उस आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे ही अनादि संसार सान्त हो जाता है और तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके द्वारा आत्मा स्वयं धर्मरूप होकर शाश्वत सुखको भोगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवचनसारका दूसरा ज्ञेयाधिकार तो अमृतचन्द्रकी देनसे भरपूर है। द्रव्य, गुण, पर्यायके तो वह विचक्षण पण्डित थे। इस अधिकारकी प्रथम गाथाकी टीकामें वह द्रव्यको विस्तार सामान्य समुदायात्मक और आयत सामान्य समुदायात्मक कहते हैं तथा गुणको एकाश्रय विस्तार विशेषात्मक और पर्यायको आयत विशेषात्मक कहते हैं।

विस्तारका अर्थ है चौड़ाई और आयतका अर्थ है लम्बाई। गुण ओर पर्याय ये दोनों द्रव्यके विशेष हैं। गुण विस्तार विशेष है—द्रव्यके प्रत्येक अंशमें सदा रहता है। पर्याय आयत विशेष है अर्थात् एकके बाद एकरूपसे सदा प्रवाहित होती हैं। पर्याय द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी। अनेक द्रव्योंमें ऐक्यके बोधमें कारण द्रव्य पर्याय है। उसके दो भेद हैं—समानजातीय और असमानजातीय। अनेक पुद्गलोंके मेलसे निष्पन्न स्कन्ध समानजातीय द्रव्य पर्याय है। तथा जीव और पुद्गलके संयोगसे निष्पन्न देव मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय है।

गुणपर्यायके भी दो भेद हैं—स्वभाव पर्याय, विभाव पर्याय। समस्त द्रव्योंके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रकट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकताकी अनुभूति स्वभाव पर्याय है। तथा रूपादि या ज्ञानादिके स्व और पर कारणके द्वारा प्रवर्तमान पूर्व और उत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकताकी प्राप्ति विभावपर्याय है।

अमृतचन्द्रजीने मोहका लक्षण तत्त्वको न जानना कहा है। यह लक्षण बहुत ही उपयुक्त है। तत्त्वको न जाननेके कारण ही अज्ञानी प्राणी मोहमें पड़ता है। यदि तत्त्वको जान ले तो मोह दूर हो जाये।

गाथा ९५ में आचार्य कुन्दकुन्दने द्रव्यके लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा गुण-पर्याययुक्त कहे हैं। अमृतचन्द्रजीने उसकी व्याख्यामें इन्हें दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हुए गुणके दो भेद कहे हैं—सामान्य और विशेष। तथा अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदिको सामान्य गुण कहा है, तथा अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणता, वर्तनाहेतुता, रूपादिमत्ता, और चेतनत्वको विशेष गुण कहा है।

आचार्य देवसेनकी आलापपद्धतिमें गुणोंके भेदोंका विस्तारसे कथन होनेसे स्व०डा०ए०एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें यह सम्भावना व्यक्त की है कि अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे परिचित थे। किन्तु हमें यह नहीं जचता; क्योंकि अमृतचन्द्रने निश्चयनय और व्यवहारनयके किसी भी भेदका निर्देश नहीं किया जो आलाप पद्धतिमें वर्णित है। अमृतचन्द्रके उत्तरकालीन टीकाकार ब्रह्मदेव और जयसेनकी टीकाओंमें उनका प्रयोग पाया जाता है। ये दोनों टीकाकार आलापपद्धतिसे सुपरिचित थे।

अमृतचन्द्रजीने प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी टीकामें अस्तित्व या सत्ता, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और गुण-पर्यायका जो स्पष्ट विवेचन किया है जो अन्यत्र नहीं देखा जाता। अस्तित्वका वर्णन करते हुए वह कहते हैं—अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है और वह अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनन्त है। तथा द्रव्य गुण पर्यायका अस्तित्व एक ही है भिन्न भिन्न नहीं है, क्योंकि गुण पर्यायें द्रव्यसे ही निष्पन्न होती हैं, और द्रव्य गुण पर्यायोंसे निष्पन्न होता है। इसी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और द्रव्यका अस्तित्व भी एक ही है, क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यरूप हैं और द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है।

उन्होंने अस्तित्वके दो भेद किये हैं स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। उक्त कथन स्वरूपास्तित्वका है। गाथा ९८ की टीकामें वह लिखते हैं—

द्रव्योंसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि सब द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं। और स्वभाव सिद्ध इसलिये हैं कि अनादि-निधन है। जो अनादि अनन्त होता है वह अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखता। जो द्रव्योंसे उत्पन्न होता है वह तो पर्याय है। जैसे मनुष्य या स्कन्ध। द्रव्य तो त्रिकालस्थायी होता है। इस प्रकार उन्होंने द्रव्य गुण पर्याय तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यको खूब स्पष्ट किया है।

उत्पाद व्ययके विना नहीं होता। व्यय उत्पादके बिना नहीं होता और उत्पाद व्यय दोनों ध्रौव्यके बिना नहीं होते। तथा ध्रौव्य उत्पाद व्ययके विना नहीं होता। अतः जो उत्पाद है वही व्यय है। जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद व्यय है वही ध्रौव्य है। जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है। जैसे—जो घटका उत्पाद है वही मिट्टीके पिण्डका विनाश है क्योंकि मिट्टीकी पिण्ड पर्यायका विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नहीं होता। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है वही घट का उत्पाद है, क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभावरूप देखा जाता है। जो घटका उत्पाद और पिण्ड का विनाश है वही मिट्टीकी ध्रुवता है; क्योंकि पर्यायके बिना द्रव्यकी स्थिति नहीं हैं। जो मिट्टीकी ध्रुवता है वही घटकी उत्पत्ति और पिण्डका विनाश है, क्योंकि द्रव्यकी ध्रुवताके बिना पर्याय नहीं होती।

यदि ऐसा नहीं माना जाता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यको भिन्न-भिन्न मानना होगा और ऐसी स्थितिमें केवल उत्पाद मानने पर घटका उत्पाद नहीं होगा। होगा तो असत्का उत्पाद होगा; क्योंकि मिट्टीकी पिण्ड पर्यायके विनाशसे घटका उत्पाद होता था। वह आप मानते नहीं, उसके बिना घट उत्पन्न नहीं होगा। घटके उत्पन्न न होने पर सभी पदार्थोंका उत्पाद नहीं होगा। असत्का उत्पाद मानने पर आकाशके फूल आदि असंभव वस्तुओंका भी उत्पाद मानना होगा। तथा केवल विनाश मानने पर विनाशका कारण न होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश नहीं होगा। क्योंकि घटके उत्पन्न होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश होता था। यदि सत्का विनाश मानेंगे तो ज्ञानादिका भी नाश मानना होगा। तथा केवल ध्रौव्य मानने पर मिट्टीकी स्थिति नहीं रहेगी। क्योंकि पिण्डादि पर्यायके बिना मिट्टीकी स्थिति नहीं है। या फिर मिट्टीको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानना होगा। यही दशा अन्य सब पदार्थोंकी भी प्राप्त होगी। इसलिये उत्तरोत्तर पर्यायों के उत्पाद और पूर्व पूर्व पर्यायोंके विनाश तथा मूलवस्तुकी ध्रौव्यतारूप त्रैलक्षण्यसे युक्त द्रव्य मानना चाहिये।

किन्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायके आश्रित है और पर्याय द्रव्यके आश्रित है। ये सब मिलकर एक ही द्रव्य है। द्रव्य समुदायी है, अतः वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका समुदाय है। जैसे वृक्ष स्कन्ध मूल और शाखाका समुदायरूप है इसी प्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायोंका समुदायात्मक है। और पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप हैं। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायोंका न मानकर द्रव्यका ही माना जाये तो सब गड़बड़ा जाये। जैसे यदि द्रव्यका नाश माना जाये तो एक ही क्षणमें सब द्रव्योंका नाश होनेसे जगत् द्रव्यसे शून्य हो जाये। यदि द्रव्यका उत्पाद माना जाये तो प्रति समय द्रव्यके उत्पन्न होनेसे द्रव्योंकी संख्या अनन्त हो जावे तथा असत्की उत्पत्तिका प्रसंग आवे। इसी तरह द्रव्यको ध्रुव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानने पर क्रम-क्रमसे होनेवाली पर्यायोंका अभाव होनेसे द्रव्यका भी अभाव हो जाये। अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं और पर्याय द्रव्याश्रित है। तथा ये सब मिलकर एक द्रव्य होता है।

गाथा ९९ की टीका बहुत महत्त्वपूर्ण है जो प्रकारान्तरसे पर्यायोंकी क्रमबद्धता पर प्रकाश डालती है।

उन्होंने दो शब्दोंका प्रयोग किया है—द्रव्यवास्तु और द्रव्यवृत्ति। द्रव्यवास्तुसे उनका अभिप्राय है—द्रव्यका आश्रय अर्थात् उसके प्रदेशरूप स्वक्षेत्र। तो द्रव्य तो एक और अखण्ड है किन्तु उसका जो विस्तार है उस विस्तारके क्रममें वर्तमान जो सूक्ष्म अंश हैं वे कहलाते हैं प्रदेश। इन प्रदेशोंके ही कारण आकाश सर्वव्यापी और शेष द्रव्य अव्यापि कहे जाते हैं। तो जैसे एक भी द्रव्यके प्रदेश होते हैं वैसे ही द्रव्यका अस्तित्व एक होने पर भी उसमें जो प्रति समय परिवर्तन होता है उन्हें पर्याय कहते हैं। अमृतचन्द्रजीने प्रदेशोंको 'विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्ति' सूक्ष्म अंश कहा है। विष्कम्भ–विस्तार एकार्थक हैं। एक अखण्ड द्रव्यका जो एक प्रदेश है वह दूसरा नहीं है। जो दूसरा प्रदेश है, वह तीसरा नहीं है, ऐसा विचार करने पर द्रव्य अपने विस्तारक्रमसे बहु-प्रदेशी सिद्ध होता है। तथा एक द्रव्यकी एक समयकी पर्याय दूसरे समयवर्ती पर्याय नहीं है। दूसरे समयवर्ती पर्याय तीसरे समयवर्ती नहीं है। ये प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्म अंश है। पञ्चाध्यायीकारने द्रव्य द्रव्यांश, गुण गुणांशरूपमें इनका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

अमृतचन्द्रजीने इन्हें स्पष्ट करनेके लिये मोतियोंकी मालाका उदाहरण दिया है। जैसे मोतियोंकी मालामें सभी मोती अपने-अपने स्थानमें चमकते हैं। जब माला फेरते हैं तो आगे-आगेके मोती अपने अपने स्थान पर उदित होते जाते हैं और उनसे पूर्वके मोतो विलय होते जाते हैं। किन्तु उनमें पिरोया गया डोरा एकरूपसे अवस्थित रहता है। इसी प्रकार परिणमनशील नित्य द्रव्यमें सभी पर्यायें अपने-अपने समयमें प्रकाशित होते हुए उत्तरोत्तर परिणाम उत्पन्न होते हैं, पूर्व पूर्व परिणाम विलय होते हैं तथा सर्वत्र पर्यायोंमें अनुस्यूत प्रवाह अवस्थित रहता है। यही उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूपता है।

यहाँ जो विष्कम्भक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांशको प्रदेश तथा प्रवाहक्रम प्रवृत्तिवृत्ति सूक्ष्मांशको परिणाम या पर्याय कहा है, आगे गाथा १४१ की टीकामें इन्हीके समूहको तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय नाम दिया है। और प्रदेशोंके समूहको तिर्यक् प्रचय तथा समय-समयमें होनेवाली पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहा है। तथा कहा है कि सब बहुप्रदेशी द्रव्योंमें तिर्यक् प्रचय होता है। परन्तु काल द्रव्यमें नहीं होता, क्योंकि वह शक्तिरूपसे भी एक प्रदेशी है। ऊर्ध्व प्रचय तो सभी द्रव्योंमें अनिवार्य है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति त्रिकालवर्ती है। किन्तु इतना अन्तर है कि काल द्रव्यके सिवाय शेष द्रव्योंका ऊर्ध्व प्रचय समयविशिष्ट वृत्तियोंका प्रचय है और समयोंका प्रचय काल द्रव्यका प्रचय है। इस अन्तरका कारण यह है कि शेष द्रव्योंकी वृत्ति तो समयसे भिन्न है, इसलिए उसे समय विशिष्ट वृत्ति कहा है, किन्तु काल द्रव्यकी वृत्ति तो स्वयं समयरूप है, क्योंकि समय काल द्रव्यकी ही तो पर्याय है।

गाथा १४२ की टीकामें इसे और भी स्पष्ट किया है। यह सब कथन आचार्य अमृतचन्द्रकी ही देन है।

जैनदर्शनमें काल द्रव्यको एकप्रदेशी क्यों माना गया इसकी उपपत्ति भी गाथा १४४ की टीकामें अमृतचन्द्रने दी है जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पहले स्वरूपास्तित्व कहा था वह द्रव्यका स्वभाव ही है उसीसे स्व और परका भेद-ज्ञान होता है। अतः उसे ही पद पद पर जाननेकी प्रेरणा अमृतचन्द्र जी करते हैं। उसके होने पर ही मोह दूर होता है।

गाथा १५५ में आचार्य कुन्दकुन्दने उपयोगके शुभ अशुभ दो भेद किये हैं। अमृतचन्द्रजी ने उपयोगके शुद्धऔर अशुद्ध भेद करके अशुद्धके शुभ और अशुभ भेद किये हैं। यह उनका वैशिष्ट्य हैं। निरुपराग उपयोग शुद्ध होता है, सोपराग अशुद्ध होता है। उपरागके भी दो भेद हैं–एक विशुद्धि-रूप और एक संक्लेशरूप। विशुद्धिरूप राग शुभ है। संक्लेशरूप अशुभ है। यह शुभ अशुभरूप उपयोग ही पर द्रव्यके संयोगमें कारण होता हैं। शरीर वचन मन ये सब पर द्रव्य हैं। स्व और परका ज्ञान न होनेसे ही जीव पर द्रव्यमें प्रवृत्ति करता है, अतः स्व द्रव्यमें प्रवृत्तिके लिए भेद-ज्ञान आवश्यक है।

गाथा १८४-१८५ में कहा है कि पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म नहीं है, क्योंकि आत्मा पर द्रव्यके ग्रहण और त्यागसे रहित है। इन परसे प्रश्न हुआ तब आत्मा कैसे पुद्गल कर्मोंके द्वारा ग्रहण किया या छोड़ा जाता है। उत्तरमें कहा है कि संसार अवस्थामें जीव अपने परिणामोंको करता है। उनको निमित्त करके पुद्गल कर्म स्वयं ही जीवसे बँधते या छूटते हैं।

गाथा १८९ की टीकामें इस कथनका सार उपस्थित किया गया है— जो इस प्रकार है—

'राग परिणाम ही आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप है। राग परिणामका ही आत्मा कर्ता है, उसीका ग्रहण और त्याग करनेवाला है, यह शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले निश्चय-नयका कथन है। और पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप है, आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता, ग्रहण और त्याग करनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले व्यवहार-नयका कथन है। ये दोनों ही नय हैं, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपसे द्रव्यकी प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम होनेसे ग्रहण किया गया है, क्योंकि साध्य है, शुद्ध आत्मा और निश्चयनय द्रव्यकी शुद्धताका प्रकाशक है, अंतः वही साधकतम है, अशुद्ध आत्माका प्रकाशक व्यवहारनय साधकतम नहीं है।

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीने व्यवहारनयको स्वीकार करते हुए भी मोक्षमार्गमें निश्चयनयको ही साधकतम कहा है। आगे कहा है जो साधु शुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले निश्चयनयसे निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेवाले व्यवहारनयके मोहमें पड़कर परद्रव्यमें ममत्व करता है वह शुद्धात्म परिणतिरूप मुनिमार्गको दूरसे ही छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप कुमार्गमें जाता है।'

ज्ञेयाधिकारके अन्तमें और चरणानुयोग चूलिकाके प्रारम्भमें अमृतचन्द्रजीने दो पद्य बड़े महत्त्वके कहे हैं—

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥

अर्थ—चारित्र द्रव्यके अनुसार होता है और द्रव्य चारित्रके अनुसार होता है। ये दोनों सापेक्ष हैं। इसलिए या तो द्रव्यका आश्रय लेकर या चारित्रका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्माविरता परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥

अर्थ—द्रव्यकी सिद्धिमें चारित्रकी सिद्धि है। चारित्रकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है, यह जानकर कर्मोंसे अविरत दूसरे भी द्रव्यसे अविरुद्ध चारित्रका आचरण करो।

ये दो पद्य द्रव्य और चारित्रकी परस्पर सापेक्षता बतलाते हैं। यहाँ द्रव्यसे मतलब आत्मद्रव्यसे है। उसीके स्वरूपबोधके लिये प्रथम दो अधिकार कहे गये हैं। तदनन्तर चारित्रका कथन है। अतः चारित्रकी सिद्धिके लिए द्रव्यकी सिद्धि, उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानपूर्वक श्रद्धान आवश्यक है और चारित्रकी सिद्धिसे ही शुद्ध आत्मद्रव्यकी सिद्धि-प्राप्ति होती है। अतः चारित्रका पालन करना चाहिए। शुद्ध आत्मद्रव्यकी प्रतीतिके बिना चारित्रका पालन संसारका उच्छेद नहीं कर सकता। जो संसारका उच्छेद न करे वह चारित्र धर्म कैसे हो सकता है।

प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमें ४७ नयोंके द्वारा आत्माका कथन किया गया है। वे नय हैं—द्रव्यनय १, पर्यायनय २, अस्तित्वनय ३, नास्तित्वनय ४, अस्तित्वनास्तित्वनय ५, अवक्तव्यनय ६, अस्तित्वावक्तव्यनय ७, नास्तित्वावक्तव्यनय ८, अस्तित्व-नास्तित्वावक्तव्यनय ९, विकल्पनय १०, अविकल्पनय, ११, नामनय १२, स्थापनानय १३, द्रव्यनय १४, भावनय १५, सामान्यनय १६, विशेषनय १७, नित्यनय १८, अनित्यनय १९, सर्वगतनय २०, असर्वगतनय २१, शून्यनय २२, अशून्यनय २३, ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय २४, ज्ञानज्ञेयद्वैतनय २५, नियतिनय २६, अनियतिनय २७, स्वभावनय २८, अस्वभावनय २९, कालनय ३०, अकालनय ३१, पुरुषकारनय ३२, दैवनय ३३, ईश्वरनय ३४, अनीश्वरनय ३५, गुणिनय ३६, अगुणिनय ३७, कर्तृनय ३८, अकर्तृनय ३९ भोक्तृनय ४०, अभोक्तृनय ४१, क्रियानय ४२, ज्ञाननय ४३, व्यवहारनय ४४, निश्चयनय ४५, अशुद्धनय ४६, शुद्धनय ४७। इनमें प्रायः सभी मतवाद आ जाते हैं।

समयसार टीका—

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थको समयप्राभृत नाम दिया है। यथा—'वोच्छामि समयपाहुड'। किन्तु अमृतचन्द्रने अपनी टीकाके प्रथम मंगल श्लोकमें 'नमः समयसाराय' लिखा और ग्रन्थका नाम समयसार ही रूढ़ हो गया। उन्होंने अपनी टीकामें उपसंहारात्मक जो पद्य लिखे वे भी समयसार कलशके नामसे ख्यात हुए। अर्थात् वे पद्य समयसाररूपी मन्दिरके शिखर पर कलशके तुल्य हैं। उन पर आचार्य शुभचन्द्रने संस्कृत टीका रची। राजमल्लने ढुंढारी भाषामें उनकी टीका रची। उसे पढ़कर कविवर बनारसीदासने नाटक समयसार रचा जिसमें उन्होंने लिखा—

'नाटक सुनत हिय फाटक खुलत हैं'

अर्थात् समयसार नाटकको सुननेसे हृदयके फाटक खुल जाते हैं। समय सारको नाटकका रूप देनेका श्रेय भी अमृतचन्द्रको ही है। प्रथम गाथाकी उत्थानिका है—अथ सूत्रावतारः। जब नाटक प्रारम्भ होता है तो रंगमंच पर सूत्रधार आता है। यह सूत्रावतार भी उसीका प्रतिनिधि है। ३८वीं गाथाके अन्तमें लिखा है 'पूर्वरङ्गः समाप्तः'।

इसका मतलब है कि सूत्रधारका कार्य समाप्त हुआ। अब नाटक प्रारम्भ होता है। आगे लिखा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।' अर्थात् जीव और अजीव दोनों एकमेक होकर रंगमंचपर प्रवेश करते हैं। संसाररूपी नाटकका यही तो सूत्रपात है कि जीवने सोपाधि स्वरूपको ही अपना स्वरूप मान लिया है उसे जड़ और चेतनका बोध नहीं है। इसीका चित्रण छहढालाकी प्रथम ढालमें पं० दौलतराम जी ने किया है।

दूसरे कर्तृकर्माधिकारके प्रारम्भमें लिखते हैं—जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका वेष धारण करके प्रवेश करते हैं।

समयसारके दूसरे टीकाकार जयसेनने भी अमृतचन्द्रका ही अनुसरण करते हुए उसमें भी निश्चयनय और व्यवहारनयका प्रयोग किया है' यथा—

'इस प्रकार जीवाजीवाधिकाररूपी रंगभूमिमें श्रृंगार सहित पात्रके समान दोनों व्यवहारनयसे एकीभूत होकर प्रविष्ट हुए और निश्चयसे तो श्रृंगार रहित पात्रकी तरह जुदे होकर चले गये।'

तथा कर्तृकर्माधिकारके प्रारम्भमें जयसेन ने कहा है—

'पूर्वोक्त जीवाजीवाधिकारकी रंगभूमिमें जीव अजीव ही यद्यपि शुद्धनिश्चयसे कर्ता कर्म भावसे रहित हैं तथापि व्यवहारनयसे कर्ता कर्म के वेष से शृङ्गारसहित पात्र की तरह प्रवेश करते हैं।'

तीसरे पुण्यपापाधिकारके प्रारम्भमें कहा है—एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य और पापरूपसे प्रवेश करता है। अर्थात् पुण्य-पाप मूलमें एक ही हैं। इसीप्रकार आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष सबका प्रवेश और निकास कराकर अन्त में सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है। किन्तु इसे निकाला नहीं गया है। यही तो ज्ञानपुंज शुद्ध आत्मा है जो बन्ध मोक्ष आदि के कारणभूत परिणामों से रहित है। इसप्रकार समयसारको नाटकका रूप देकर आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी अपनी टीकाके द्वारा उसके हार्दको जिसरूपमें प्रस्पष्ट किया है उससे समयसार समयसार बन गया है। टीकाकी प्रत्येक पंक्तिमें अध्यात्मका रस भरा हुआ है। जिसका पान करके अन्तरात्मा प्रफुल्लित हो उठता है।

ग्रन्थका नाम समय प्राभृत होनेसे सबसे प्रथम समयका कथन है, जीव नामक पदार्थ समय है क्योंकि समयसे अर्थात् एकत्वरूपसे एक साथ जानता भी है और परिणमन भी करता है, सम-उपसर्ग पूर्वक अय् धातुका अर्थ गमन भी है जानना भी है। उसका प्रकाशक शास्त्र समयप्राभृत है।

आगे गाथा ३ की टीकामें समय शब्दसे सभी अर्थ-पदार्थ लिये हैं, क्योंकि समय से अर्थात् एकीभावसे अपने गुण-पर्यायोंको प्राप्त करते हैं। दोनों ही स्थानोंमें प्रत्येक द्रव्यके एकत्वको बतलाते हुए अमृतचन्द्रने लिखा है कि अनन्त द्रव्योंके हिले मिले समूहमें रहते हुए भी सभी द्रव्य अपने में निमग्न अनन्त धर्मोंके समूहको अपनाये हुए हैं, किन्तु परस्परमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्योंको अपनाये हुए नहीं है। अत्यन्त प्रत्यासत्ति होने परभी अपने स्वरूपसे च्युत न होकर पररूपसे परिणमन नहीं करते। अतः वे टांकीसे उकेरे हुएके समान सदा रहते हैं। द्रव्योंकी यह स्वतंत्रता ही अध्यात्मका प्राण है। इसी से अमृतचन्द्र जी ने अपनी टीकामें इसपर विशेष जोर दिया है।

गाथा ६ की टीकामें शुद्ध आत्माका कथन करते हुए कहा है—

संसार अवस्थामें अनादि बन्धपर्यायके कथनकी अपेक्षा यह आत्मा दूध और पानीकी तरह कर्मपुद्गलोंके साथ यद्यपि एकरूप हो रहा है तथापि द्रव्यस्वभावके कथनकी अपेक्षा कषायके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयवश होनेवाले शुभाशुभ भावोंके स्वभावरूप परिणमन नहीं करनेसे प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। वही आत्मा समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्नरूपसे उपासना किये जानेपर शुद्ध कहा जाता है। अर्थात् एक द्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप होता नहीं। परद्रव्यके संयोगसे मलिनता आती है, किन्तु द्रव्यदृष्टिसे तो द्रव्य शुद्ध ही अनुभवमें आता है, पर्यायदृष्टिसे तो वह मलिन ही है।

आत्माकी अशुद्धताका कारण केवल परद्रव्य संयोग ही नहीं है। अखण्ड आत्माका दर्शन ज्ञान चारित्ररूपसे भेदन करके कथन करने से भी अशुद्धता आती है। यह बात गाथा ७ में कही है, क्योंकि धर्म और धर्मीमें स्वभावसे अभेद है, किन्तु कथन द्वारा भेद उत्पन्न करके ऐसा कहा जाता है कि आत्मामें दर्शन ज्ञान चारित्र है। ऐसा करनेका कारण यह है कि उसके बिना आत्माका स्वरूप समझाया नहीं जा सकता। इसीलिये व्यवहारनयकी आवश्यकता होती है क्योंकि व्यवहारके बिना परमार्थका कथन नहीं हो सकता। फिर भी व्यवहार तो व्यवहार ही है, परमार्थका प्रतिपादक होनेपर भी वह परमार्थ नहीं है। इससे उसकी उपयोगिता परमार्थको समझनेके लिये है। गाथा १२ में यही स्पष्ट किया है—

'परम भावदर्शियोंके लिये शुद्धका कथन करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है, किन्तु जो अपरम भावमें स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करनेके योग्य हैं।'

अमृतचन्द्र जी ने परम भावको शुद्ध स्वर्णके समान कहा है और सोनेकी नीचेकी अशुद्ध दशाओंके समान अपरम भाव कहा है। और अपरम भावमें स्थितोंके लिये उस समय व्यवहारनयको ही उपयोगी कहा है।

इसके भावार्थमें पं० जयचन्दजी ने लिखा है—

जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो तब तक जिन वचनोंका सुनना, धारण करना, जिन वचनोंके उपदेशक गुरुकी भक्ति, जिन बिम्बदर्शन आदि व्यवहारमार्गमें लगना प्रयोजनवान् है। और जिनको ज्ञान श्रद्धान तो हुआ पर साक्षात्प्राप्ति नहीं हुई तब तक परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत, महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, आदि व्यवहारमार्गमें प्रवर्तन करना कराना आदि व्यवहारनयका उपदेश करना प्रयोजनवान् है। अमृतचन्द्र जी ने भी लिखा है—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥ ५ ॥

अर्थ—व्यवहारनयको यद्यपि इस प्रथम पदवीमें (जब तक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति न हो तब तक) जिन्होंने पैर रखा है ऐसे पुरुषोंके लिये हस्तावलम्ब कहा है। तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित परम अर्थको (जो शुद्धनयका विषयभूत है) अन्तरंगमें अवलोकन करते हैं उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूपमें लीनतारूप चारित्रको प्राप्त करते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।

इसके पश्चात् ही अमृतचन्द्र जी ने सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है—

आत्माको, जो शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है, अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण ज्ञानघन है, द्रव्यान्तरसे भिन्न देखना श्रद्धान करना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है।'

पं० जयचन्द्र जी इसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह लिखते हैं—'जब तक व्यवहारनयके विषयभूत जीवादि भेदरूप तत्त्वोंका केवल श्रद्धान रहता है तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता इसलिये सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे निश्चय सम्यक्त्व होता है।' यह निश्चय सम्यक्त्व वही है जिसके होनेपर अनादि मिथ्यादृष्टि जीवको चतुर्थ गुण-स्थानकी प्राप्ति होने के साथ उसका अनन्त संसार सान्त हो जाता है। किन्तु आचार्य जयसेन निश्चयचारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यथा-आर्त रौद्रध्यानोंका परित्यागरूप निर्विकल्प सामायिकमें स्थितको जो शुद्धात्मरूपका दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति होती है वही निश्चयनयसे निश्चयचारित्रका अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व है।

गाथा १३ में आचार्य कुन्दकुन्द भूतार्थनयसे जाने गये जीवादि नव तत्त्वोंको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रादिमें तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। समयसारमें भूतार्थनयसे जाने गए पद अधिक है।

अमृतचन्द्र जी इसकी टीकामें लिखते हैं—

'ये जीवादि नौ तत्त्व तीर्थ प्रवृत्तिके निमित्त अभूतार्थनयसे कहे गये हैं। इनमें एकत्वको प्रकट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व लाकर शुद्धनयसे व्यवस्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—होती है। अतः इन जीवादि नौ तत्त्वोंको भूतार्थनयसे जानने पर सम्यग्दर्शन होता ही है।'

इसी टीकामें आगे वे कहते हैं—'ये नौ तत्त्व जीव द्रव्यके स्वभावको दृष्टिसे ओझल करके स्वपर निमित्तक एक द्रव्यकी पर्यायरूपसे अनुभव करने पर भूतार्थ है। और सब कालोंमें कभी न डिगनेवाले एक जीव द्रव्य स्वभावका अनुभवन करनेपर अभूतार्थ हैं। अतः इन नौ तत्त्वोंमें भी भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार यह एकत्वरूपसे प्रकाशमान जीव शुद्धनयसे अनुभवमें आता ही है। यह अनुभव आत्मख्याति ही है और आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार सब कथन निर्दोष है।'

किन्तु आचार्य जयसेन यहाँ भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधिकालमें नौ पदार्थों-को अभूतार्थ कहते हैं। उसी परम समाधिकालमें नौ पदार्थोंमें शुद्ध निश्चयनयसे एक शुद्धात्मा ही प्रकाशित होता है, प्रतीत होता है अनुभूत होता है। वह अनुभूति प्रतीति शुद्ध आत्माकी उपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है।

यह ध्यानमें रखना चाहिए कि कुन्दकुन्द और उनके व्याख्याकार अमृतचन्द्र केवल सम्यक्त्व सामान्यका स्वरूप कहते हैं। उसके साथ निश्चय या व्यवहार पद नहीं लगाते।

इन दोनों टीकाकारोंके कथनोंमें यहाँ जो अन्तर पड़ता है उसका समाधान ब्रह्मदेवकी परमात्मप्रकाश (२।१७) की टीकासे होता है। उसे आगे दिया जाता है—

'सम्यक्त्व दो प्रकारका है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है वह सराग सम्यक्त्व है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। उसके विषयभूत परद्रव्य हैं। वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण निज शुद्धात्माकी अनुभूति है वह वीतराग चारित्रका अविनाभावी है। उसे ही निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ प्रभाकर भट्ट पूछते हैं—आपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहले अनेक बार कहा है कि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व होता है। यहाँ आप. वीतराग चारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। यह तो पूर्वापर विरोध है; क्योंकि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर परमदेव आदि के होता है। किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं है, अतः परस्पर विरोध है। इसका उत्तर देते हैं—उनके शुद्ध आत्मा उपादेय हैं ऐसी भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व तो है किन्तु चारित्र मोहके उदयसे स्थिरता नहीं है। शुद्धात्मभावनासे च्युत होनेपर भी भरतादि निर्दोष परमात्मा अरहन्त सिद्धोंका गुणस्तवन आदि करते हैं उनके चरित पुराण आदि सुनते हैं। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओंको दान पूजा आदि करते हैं। अतः शुभरागके योगसे सराग सम्यग्दृष्टि कहाते हैं। उनके सम्यक्त्वको जो निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं वह परम्परासे वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वका कारण होनेसे कहते हैं। वास्तवसे तो वह सराग सम्यक्त्व .नामक व्यवहार सम्यक्त्व ही है।" द्रव्यसंग्रहकी टीकामें 'जीवादिसद्दहणं सम्मतं' का व्याख्यान करते हुए ब्रह्मदेवजीने कहा है—वीतराग प्रणीत शुद्ध जीवादि तत्वके विषयमें चल मलिन अवगाढ रहित रूपसे जो श्रद्धान अर्थात् रुचि है, 'निश्चय अर्थात् यही है और इसी प्रकार हैं इसी प्रकारकी निश्चय बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन अभेदनयसे आत्मस्वरूपः है—आत्माका परिणाम है।'

पं० राजमल्लने अपनी पञ्चाध्यायी अमृतचन्द्रजीकी टीकाओंके आधारपर ही बनाई है और इसीसे उसे अमृतचन्द्रकी रचना भी समझ लिया गया था। उसके उत्तरार्द्धमें सम्यक्त्वका बड़ा विशद पाण्डित्यपूर्ण वर्णन है। वह सम्यक्त्वको स्वानुभूतिमूलक ही मानते हैं। अमृतचन्द्रजी भी यही कहते हैं। आत्माका परिणामरूप सम्यग्दर्शन द्रव्यान्तरसे भिन्न आत्माकी झलकके विना कैसे हो सकता है?

जयसेनाचार्यने भी गाथा ३२० की अपनी टीकामें इसे स्वीकार किया है। लिखा है—

'जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध परिणामिकभाव लक्षणरूप निज परमात्म द्रव्यके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुचरण पर्यायसे परिणमन करता है। इस परिणमनको आगम भाषामें औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। अध्यात्मकी भाषामें शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि कहते हैं।' जयसेनाचार्यके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानमें भी शुद्धोपयोग होता है, किन्तु उस शुद्धोपयोगका अर्थ शुद्ध उपयोग न होकर शुद्धकी ओर उपयोग होता है। शुद्धकी ओर उपयोग शुद्धनयका अवलम्बन लिए विना नहीं हो सकता; क्योंकि व्यवहारनयसे तो आत्माके रिले मिले अशुद्ध स्वरूपका ही दर्शन होता है। इसीसे आगे समयसारमें शुद्धनयका लक्षण कहा है। जो आत्माको द्रव्यकर्म नोकर्मसे अस्पृष्ट, नर नारक आदि पर्यायोंमें एकरूप, अवस्थित, भेदरहित, असंयुक्त देखता है वह शुद्धनय है। इस शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी श्रद्धाके बिना सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कुछ विद्वानोंको भी यह भ्रम है कि शुद्ध आत्माकी श्रद्धा मुनिको ही होती है। किन्तु यह ठीक नहीं है।

समयसारके निर्जराधिकारमें सम्यग्दृष्टीका विशेष वर्णन है। गाथा १९३ में उसके उपभोगको निर्जराका कारण कहा है। इसकी टीकामें अमृतचन्द्रजीने कहा है—

'विरागीका उपभोग निर्जराके लिए होता है। और मिथ्यादृष्टिके रागादि भावोंके सद्भावसे चेतन अचेतन द्रव्यका उपभोग बन्धके निमित्त ही होता है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके विपक्षमें मिथ्यादृष्टिका निर्देश है। जयसेनने भी ऐसा ही अर्थ किया है--मिथ्यादृष्टि जीवके राग द्वेष मोहका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे समस्त भोग भी निर्जराका कारण होता है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है--राग द्वेष मोहके अभाव होनेपर निर्जराका कारण कहा है। सम्यग्दृष्टिके तो रागादि हैं तब निर्जराका कारण कैसे है? इसका उत्तर देते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं 'इस ग्रन्थमें वास्तविक रूपमें वीतराग सम्यग्दृष्टिका ग्रहण है जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि है उसका गौणरूपसे ग्रहण है। मिथ्यादृष्टिसे असंयत सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न रागादि नहीं हैं। श्रावकके अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ जनित रागादि नहीं हैं। तथा सम्यग्दृष्टिके संवरपूर्वक निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टिके बन्धपूर्वक निर्जरा होती है। इस कारणसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबन्धक है।'

गाथा १७३-१७६ की टीकामें भी जयसेनाचार्यने विस्तारसे उक्त बातको कहा है।

भाषा टीकाकार जयचन्दजीने लिखा है कि यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धीका राग प्रधान है। मिथ्यात्वके बिना चारित्रमोहसम्बन्धी उदयके परिणामको यहाँ राग नहीं कहा। इसलिए अमृतचन्द्रजीने सम्यग्दृष्टिके ज्ञान वैराग्य शक्तिका अवश्य होना कहा है। अमृतचन्द्रजीके कथनको दृष्टिमें रखते हुए पं० जयचन्दजीका कथन सम्यक् प्रतीत होता है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्दने भी सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको ही भ्रष्ट कहा है। समयसार भी उसीकी पुष्टि करता है।

गाथा ७ में जो ज्ञानीके दर्शन ज्ञान चारित्रका निषेध करके उसे शुद्ध ज्ञायक कहा है उससे ज्ञानकी प्रधानताका सूत्रपात होता है। और वह पूरे समयसारमें अनुस्यूत होता हुआ अन्तिम सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारमें ही समाप्त होता है। समयसारका ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है उसका श्रावक या मुनि होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि वही व्रतादि धारण करके श्रावक और मुनि होता है। गा० १५१-१५३ इसपर प्रकाश डालती हैं। गाथा १५१ में कहा है परमार्थ अथवा आत्मा समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है। उसमें स्थित मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं; किन्तु जो परमार्थभूत आत्माके ज्ञानसे शून्य हैं और तप व्रत करते हैं उन्हें सर्वज्ञ बालतप बालव्रत कहते हैं।

आगे कहा है--जो परमार्थसे बाह्य हैं वे अज्ञानवश पुण्यकी इच्छा करते हैं। यद्यपि पुण्य संसारका कारण है, किन्तु वे मोक्षका कारण जो आत्मा है उसे नहीं जानते। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकामें इसे खूब स्पष्ट किया है।

समयसारकी गाथाओंमें निबद्ध अध्यात्मके रहस्यके खोलनेका श्रेय अमृतचन्द्रजीको ही है। उन्होंने जो 'कुछ प्रतिफलित किया है उसीके आधार पर किया है। कर्ताकर्माधिकार समयसारका सारभूत है। जो आत्माको पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता। अमृतचन्द्रजीने अपने 'व्याप्यव्यापकता' आदि कलशके द्वारा उसे खूब प्रस्पष्ट किया है। यह कलश गाथा ७५ की टीकामें है जिसमें ज्ञानीका स्वरूप कहा है।

जीव और पुद्गलके परिणामोंमें परस्परमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमात्र है तथापि कर्ता कर्म भाव नहीं है।

४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकरणमें आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चयनय और व्यवहारनयके पक्षोंको स्पष्ट करके कहा है कि समयसार पक्षातिक्रान्त है। इस गाथा १४२ को स्पष्ट करनेके लिए अमृतचन्द्रजीने जो कलश रचे हैं उनमें अमृत भर दिया है। व्यवहार या निश्चयका पक्ष लेकर व्यर्थ ही परस्परमें झगड़ते हैं। दोनों समकक्ष नहीं हो सकते। व्यवहार असत्यार्थ है, किन्तु सर्वथा असत्यार्थ नहीं है। जीवाजीवाधिकारमें इसे स्पष्ट किया है। किन्तु जैसे व्यवहार हेय है वैसे शुद्धनय हेय नहीं है यद्यपि अन्तमें वह भी छूट जाता है। अमृतचन्द्रजीने कहा है—

'इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद् बन्ध एव हि ॥'

'यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय हेय नहीं है, क्योंकि शुद्धनयमें स्थित रहनेसे कर्मबन्ध नहीं होता। किन्तु उसे छोड़ देनेसे बन्ध अवश्य होता है।'

निर्जराधिकारमें अमृतचन्द्रजीने अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर अबन्धक माननेवालोंको कलश १३७ द्वारा अच्छी फटकार दी है—इसी निर्जराधिकारमें आचार्य कुन्कुन्दने गाथा २०१-२०२ में कहा है—'जिस जीवके रागादिका लेशमात्र भी पाया जाता है वह सर्व आगमोंका ज्ञाता होने पर भी आत्माको नहीं जानता। आत्माको नहीं जानते हुए वह अनात्माको भी नहीं जानता। इस तरह जो जीव-अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

इसकी टीकामें अमृतचन्द्रजीने रागादिका अर्थ अज्ञानमय भाव किया है। उसीको लेकर पं० जयचन्द्रजीने अपनी टीकामें जो भावार्थ दिया है उसे नीचे उद्धृत करते हैं—

'यहाँ राग कहनेसे अज्ञानमय राग द्वेष मोह भाव लिये गये हैं। उसमें भी अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादि समझना। मिथ्यात्वके बिना चारित्र मोहके उदयका राग' नहीं लेना। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहके उदय-सम्बन्धी राग है। वह ज्ञानसहित है, उसको रोगके समान जानता है, उस राग के साथ राग नहीं है, कर्मोदयसे जो राग हुआ है उसे मेटना चाहता है। और जो रागका लेशमात्र उसके नहीं कहा, सो ज्ञानीके अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है, परन्तु शुभराग होता है। उस शुभ रागको अच्छा समझ लेशमात्र भी उस रागसे राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ़ लिये, मुनि भी होकर व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिए कि उसने अपने आत्माका परमार्थस्वरूप नहीं जाना, कर्मोदयजनित भावको ही अच्छा समझा है उसीसे अपना मोक्ष होना मानता है। ऐसा माननेसे अज्ञानी है अपने और परके परमार्थ रूपको नहीं जाना। तत्र, जीव अजीव पदार्थका ही परमार्थ स्वरूप नहीं जाना और जब जीव अजीवको ही नहीं जाना तब कैसा सम्यग्दृष्टि।''

जयसेनाचार्यने तो अपनी टीकामें पूर्वोक्त कथन ही दोहराया है कि इस ग्रन्थमें पञ्चम गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका मुख्य रूपसे ग्रहण है। आदि।

इसी निर्जराधिकारमें कहा है कि ज्ञानी आगामी भोगोंकी इच्छा नहीं करता। इसी प्रसंगको लेकर अमृतचन्द्रजीने कलश १५३ में कहा है कि जो फलकी इच्छा न करके कर्म करता है वह कर्म नहीं करता। उनके इस कथनमें गीताके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की झलक दृष्टिगोचर होती है। किन्तु है दोनोंमें बहुत अन्तर। गीताधर्मके अनुसार तो कर्मका फल भगवान्के हाथमें है इसलिये कर्तासे फलकी इच्छा न करनेको कहा जाता है। किन्तु जैनधर्ममें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा नहीं है। ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टि ज्ञानी फलकी इच्छाको भी फल प्राप्तिमें बाधा मानकर फलकी इच्छा नहीं करता। इच्छा करनेसे बन्ध है और न करनेसे निर्जरा है।

पुण्यपापाधिकारमें कलश १०९ में अमृतचन्द्र कहते हैं कि मोक्षार्थीको समस्त कर्म ही त्याज्य हैं तब पुण्य और पापकी बात क्या है अर्थात् पाप कर्मकी तरह पुण्य कर्म भी त्याज्य हैं।

इस परसे यह शंका उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जब तक कर्मका उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है? इस परसे अमृतचन्द्र जी ने आगेके कलश के द्वारा ज्ञान और कर्मके एक साथ रहनेके सम्बन्धमें कहा है—

'जब तब कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्म विरति नहीं है तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी कहा है। इसमें कुछ भी हानि नहीं है। किन्तु यहाँ भी विशेषता यह है कि कर्मके उदयकी बलवत्तासे आत्माके वशके विना जो कर्म उदयमें आता है वह तो बन्धके ही लिये है और मोक्षके लिये तो एक परम ज्ञान ही है।'

आगे वे कर्म और ज्ञानका नय विभाग दिखलाते हुए कहते हैं—जो कर्मनयके अवलम्बनमें तत्पर हैं अर्थात् उसीके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। और जो ज्ञानको तो जानते नहीं किन्तु ज्ञाननयके पक्षपाती हैं और क्रियाकाण्डको छोड़ स्वच्छन्द हो अपने स्वरूपमें उद्यम करनेमें मन्द हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो स्वयं ज्ञानरूप हुए कर्मको भी नहीं करते और प्रमादके वश भी नहीं होते वे सब लोकके ऊपर तैरते हैं।

यहाँ कर्मनय और ज्ञाननयका विभाग और दोनोंका समीकरण अमृतचन्द्र जीकी अपूर्व देन है। मुमुक्षुमें ये दोनों धाराएँ चलती हैं। मुमुक्षु व्रतादि भी पालता है, नित्य कृत्य करता है किन्तु अन्तरात्मामें संलग्न रहता है, न प्रमादी होता है और न व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्रके क्रियाकाण्ड को निरर्थक जान छोड़ देता है। तथा न ज्ञान स्वरूप आत्माको जाने विना व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्रके क्रियाकाण्डको ही मोक्षका कारण जान उसमें ही लगा रहता है। ऐसी स्थिति ही मोक्षकी ओर जानेमें सहायक होती है।

कर्ता कर्म अधिकारकी गाथा १४४ में कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—यह जो सर्वनय पक्षोंसे रहित समयसार है, यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसकी टीकामें अमृतचन्द्र जी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

'प्रथम ही श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करो। पीछे आत्माकी ख्यातिके लिये परपदार्थोंकी ख्यातिके कारण सब इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानोंको तिरस्कृत करके मतिज्ञानको 'आत्माभिमुख' करो। तथा नाना प्रकारके नयपक्षोंके अवलम्बनसे उत्पन्न विकल्पों के द्वारा व्याकुल श्रुतज्ञान बुद्धि को भी तिरस्कृत करके श्रुतज्ञानको भी आत्माभिमुख करो तब अत्यन्त निर्विकल्प होकर विज्ञानघन परमात्मस्वरूप समयसारका ही अनुभव करते हुए आत्मा सम्यक् प्रकारसे देखा जाना जाता है। अतः वही सम्यग्दर्शन है।

इसीसे आगे कर्त्ता कर्म अधिकारको समाप्त करते हुए करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रियामें भेद कहा है—जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टिके पर द्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है। उसकी स्थिति उस सेवकके जैसी है जो स्वामित्वके अभावमें व्यापार करता हुआ भी उसके हानि-लाभका जिम्मेदार नहीं है। यही स्थिति ज्ञानीकी होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि ही होता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही होता है। इसीसे सम्यग्दर्शनके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। तथा भेद ज्ञानके विना सम्यग्दर्शन नहीं होता। और भेद ज्ञानके लिए वस्तु स्वरूपका सांगोपांग ज्ञान होना आवश्यक है। चारित्र धारण करनेसे वस्तु तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। हाँ, उस ज्ञान जन्य आत्मस्थितिमें दृढ़ता और स्थिरता आती है। किन्तु यदि वह नहीं है तो आत्मश्रद्धा ही नहीं है अतः समयसार सम्यक्त्व प्राप्त करने की कुंजी है।

अमृतचन्द्र जी के ग्रन्थरत्न

अमृतचन्द्रजीके दो ग्रन्थरत्न सर्वप्रसिद्ध हैं—तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

१. तत्त्वार्थसार

जैसा इसके नामसे प्रकट है यह तत्त्वार्थसूत्रका साररूप है। इसे अमृतचन्द्रजीने संस्कृतके अनुष्टुप छन्दमें रचा है।

इसमें आठ अधिकार हैं। प्रथम अधिकारमें तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार मोक्षका मार्ग, सात तत्त्वार्थ, निक्षेप, प्रमाण और नयोंका वर्णन है। दूसरे अधिकारमें औपशमिक आदि पांच भावोंका वर्णन करके जीवका वर्णन करते हुए चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्तियां, दस प्राण, चौदह मार्गणाका भी कथन है जो तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है। इन्द्रियोंका वर्णन करते हुए इन्द्रियोंके आकार, पृथिवीकायिक आदि जीवोंका आकार, उनके भेद, योगके पन्द्रह भेद, आदिका कथन है तथा चौरासी लाख योनि, उनके कुल, तिर्यञ्चों और मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु, नारकियों और देवोंकी आयु, शरीरकी ऊचाई, तिर्यञ्चोंकी अवगाहना, नरकमें जानेवाले जीव, नरकोंसे निकले जीव, आदि बहुत वर्णन है जो तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तत्त्वार्थवार्तिकमें है। तत्त्वार्थसूत्रके तीसरे चौथे अध्यायका वर्णन भी इसी अधिकारमें है। अन्तमें कहा है जो अन्य छह तत्त्वोंके साथ जीव तत्त्वकी श्रद्धा करता है, जानता है और उपेक्षा करके चारित्र धारण करता है वह निर्वाणको प्राप्त करता है।

तीसरे अधिकारमें तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अधिकारकी तरह अजीवतत्त्वका वर्णन है। चतुर्थ अधिकारमें आस्रव तत्त्वका वर्णन है। इसमें तत्त्वार्थके छठे और सातवें अध्याय समाविष्ट हैं। पाँच व्रतों और उनके अतिचारोंका वर्णन इसी अधिकारमें किया है। पञ्चम अधिकारमें बन्धतत्त्वका, छठेमें संवरतत्त्वका, सातवेंमें निर्जरातत्त्वका और आठवेंमें मोक्षतत्त्वका वर्णन है। इसमें भी तत्त्वार्थसूत्रसे विशेष कथन है। अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष प्रभाव है। उसके अन्तमें उद्धृत कारिकाओंमें से कोई कोई मूलमें सम्मिलत कर ली गई हैं।

उपसंहारमें निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका कथन करते हुए दोनोंमें साध्य साधनभत्व बतलाया है।

व्यवहारी मुनि और निश्चयमुनिका स्वरूप कहा है, अन्तमें कहा है—पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्याज्ञान सम्यक्चारित्ररूप है। और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक अद्वितीय ज्ञाता आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अमृतचन्द्रजीका दूसरा ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक है। यह एक श्रावकाचार है, किन्तु इसे नाम दिया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थ और मोक्षकी सिद्धिका उपाय। इसमें श्रावकधर्मके व्यावहारिक रूपका ही कथन है। किन्तु उसके प्रारम्भमें जो कथन है वह आचारशास्त्रकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है।
इसके प्रारम्भमें भी केवलज्ञान ज्योतिको और अनेकान्तको नमस्कार करके परमागमका आलोचन करके पुरुषार्थसिद्धयुपायको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। फिर कहा है—मुख्य कथन और उपचार कथनसे जिन्होंने शिष्योंके अज्ञानको दूर करनेवाले तथा निश्चय और व्यवहारके ज्ञाता ही जगतमें धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं। मुनीश्वर अनजानको समझानेके लिये ही अभूतार्थ व्यवहारका कथन करते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेश का पात्र नहीं है। जैसे जिसने सिंह नही देखा उसे विलावके समान सिंह होता हैं यह कहने पर विलावको सिंह मान बैठता है वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है जो व्यवहार और निश्चयको जानकर तत्त्वरूपसे निष्पत्र रहता है वही जपदेशका सम्पूर्णफल प्राप्त करता है।

इतना आवश्यक कथन करनेके पश्चात् वे पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामकी ओर आते हैं। कहते हैं—

यह पुरुष चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध वर्णसे रहित है, अपने गुणपर्ययिसे सहित है और उत्पादव्ययध्रौव्यरूप है। यह पुरुष नित्य होते हुए भी परिणमनशील है तथा अपने परिणामोंका कर्ता भोक्ता है। जब वह समस्त विभावपर्यायोंसे रहित होकर अचल चैतन्यको प्राप्त होता है तब वह सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धिको पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

इसके पश्चात् जीव कर्मसे कैसे बद्ध होता है यह कथन है। कहा है—जीवके द्वारा किये गये रागादिरूप परिणामोंका निमित्त पाकर अन्य पुद्गल स्वयं ही कर्मरूपमें परिणत हो जाते हैं। और जीव स्वयं ही अपने परिणामोंको करता है उसमें पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होते हैं। इस प्रकार यह जीव कर्मकृत भावोंसे असमाहित होते हुए भी अज्ञानी जनोंको तद्रूप प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही संसारका बीज है। इस विपरीत अभिनिवेशको दूर करके और अपने आत्मस्वरूपका भले प्रकार निश्चय करके उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय है।

श्रावकाचारके प्रारम्भमें इस प्रकार आधारभूत लिखनेसे ग्रन्थकारका यह अभिप्राय घोषित होता है कि तत्त्वोंकी श्रद्धामें जीव और कर्मके सम्बन्धकी यथार्थ स्थितिका बोध आवश्यक है। प्रायः सभीकी यह परम्परागत धारणा है कि कर्म ही जीवको बाँधे हुए हैं जीव ही पुद्गलोंको कर्मरूप परिणमाता है। यहीं सब मिथ्या अभिनिवेश है। उसे दूर करके आत्मतत्त्व विनिश्चय करनेसे ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हुए अहिंसाका वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। एक बात विशेष है पाँच अणुव्रतोंका कथन करनेके पश्चात् रात्रि भोजन त्यागका वर्णन है। अन्य श्रावकाचारोंमें अहिंसाणुव्रतके अन्तर्गत ही इसका वर्णन पाया जाता है।

दूसरी विशेषता यह है व्रत और शीलोंके अतिचारोंका वर्णन करनेके पश्चात् बारह तप, छह आवश्यक समिति' दस धर्म, बाईस परीषहजय, जो मुनि आचारमें आते हैं उनका भी यथाशक्ति सेवन करनेका उपदेश श्रावकोंके लिये दिया है।

अन्तमें कहा है कि मोक्षके इच्छुक गृहस्थको एकदेश रत्नत्रय भी प्रतिसमय पालन करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए। किन्तु एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षी रागकृत है रत्नत्रयकृत नहीं है; क्योंकि जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। आगे इसी का समर्थन करते हुए लिखा है—

'रत्नत्रयमेतत् हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः।'

अर्थ—यह रत्नत्रय मोक्षका ही कारण है बन्धका कारण नहीं है। इसका पालन करते हुए जो पुण्य कर्मका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है।

जैसे समयसारमें ज्ञाननय और कर्मनयकी धारामें ज्ञाननयसे मोक्ष और कर्मनयसे बन्ध कहा है उसी प्रकार यहाँ पर भी अंशकल्पनाके द्वारा जितने अंशमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है उतने अंशमें बन्ध नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध कहा है।

इस प्रकार अमृतचन्द्रजीका यह श्रावकाचार भी यथार्थमें पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है। इसमें जो विशेषताएँ वे अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं हैं।

लघुतत्त्वस्फोट

लघुतत्त्वस्फोट नामका एक नवीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी प्रकाशमें आया है। इसकी प्राप्ति भगवान् महावीर के पच्चीस सोवें निर्वाण वर्ष के शुभ अवसर पर अहमदाबादके एक श्वेताम्बर भण्डारसे श्वेताम्बर मुनि पुण्यविजयजीको हुई थी। उनसे ही कैलीफोर्निया विश्वविद्यालयमें बौद्ध शिक्षण के प्राध्यापक पद्मनाभ जैनको प्राप्त हुई। वह इसका अंग्रेजीमें अनुवाद करना चाहते थे। उन्हींसे कारंजा गुरुकुलके संचालक ब्र० पं० माणिकचन्द्रजी चवरेको प्राप्त हुई। उसका हिन्दीमें अनुवाद डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने किया। उसका वाचन पं० पन्नालालजी, पं० दरबारीलालजी कोठिया, पं० माणिकचन्दजी चवरे और मेरी उपस्थितिमें सबने मिलकर किया। उसीके आधार पर प्रो० पद्मनाभ जैनने अंग्रेजी अनुवाद किया जो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबादसे मार्च ७८ में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थसे भी अमृतचन्द्रजीके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इसकी अन्तिम सन्धिमें अमृतचन्द्र सूरि नाम आता है। तथा समाप्तिके पश्चात् प्रथम पद्यमें अमृतचन्द्र कवीन्द्र नाम आता है। यहाँ कवीन्द्र विशेषण नवीन है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। यों तो समयसार कलशके पद्योंकी रचनामें उनके कवीन्द्रत्वकी स्पष्ट झलक मिलती है किन्तु लघुतत्वस्फोटकी रचना तो उनके कवीन्द्रत्वकी उजागर करती है। जैनदर्शन और अध्यात्मसे ओतप्रोत यह स्तुति-काव्य कमसे कम जैन वाङ्मयमें तो अतुलनीय है। इसके श्रुतिमधुर किन्तु गहन अध्यात्मसे परिपूर्ण पद्योंमें एक काव्यके सभी गुण परिपूर्ण हैं। भाषा, भाव, छन्द, अलंकार सभी पर कविका असाधारण अधिकार है जैसा कि आगेकी चर्चासे प्रकट होगा। इसमें दो पद्य ऐसे हैं जो समयसार कलगमें भी पाये जाते हैं। अतः कुन्दकुन्दके टीकाकार अमृतचन्द्रकी ही रचना होनेमें कोइ सन्देह नहीं है।

ग्रन्थ नाम

इस ग्रन्थका नाम लघुतत्त्वस्फोट है तथा दूसरा नाम शक्तिम (भ) णित कोश है। इसकी अन्तिम सन्धिमें कहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः शक्तिम (भ) णितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः।

इस सन्धिमें शक्तिगणितकोश और लघुतत्त्वस्फोटके बीचमें नाम शब्द पड़ा है। इसका अर्थ होता है शक्तिमणितकोश नामक लघुतत्त्वस्फोट समाप्त हुआ। यह नाम अन्तिम पद्यमें भी आया है—

'आस्वादयत्वमृतचन्द्र कवीन्द्र एष
हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः'

मूल प्रतिमें मणित पाठ है। जिसका अर्थ मणियोंसे जड़ा हुआ होता है और भणितका अर्थ कहा हुआ होता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायका अन्तिम सन्धि वाक्य है—

'इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽपरनाम जिनप्रवचनरहस्यकोशः समाप्तः।

इसमें भी मूल नाम प्रथम है अपर नाम बादमें है। यहाँ नामके साथ अपर शब्द छूट गया है यह भी सम्भव है। अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायके आरम्भमें ही इस नामका अर्थ किया है जैसे यहाँ अन्तमें किया है। अतः हमें तो ग्रन्थका नाम शक्तिमणितकोश हो प्रतीत होता है। लघुतत्त्वस्फोट दूसरा नाम हो सकता है जिसका अर्थ होता है थोड़ेमें या शीघ्र तत्त्वका स्फोट-स्फुटन जिससे होता है। इसकी झलक अन्तिम पद्यके 'व्युत्पतिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम्' अंशमें मिलती ही है। किन्तु तीतरी स्तुतिके अन्तिम पद्यमें भी मिलती है—

'देव स्फुट स्वयमिनं ममचित्तकोशं प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव।'

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थमें पच्चीस-पच्चीस पद्योंकी पच्चीस स्तुतियाँ हैं। यह ग्रन्थ आचार्य समन्तभद्रके वृहत्स्वयंभूस्तोत्रकी तरह स्तुति ग्रन्थ है। बृ० स्व० स्तो०में भी विभिन्न छन्दों में चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस स्तुतियाँ हैं जिनमें साधारणतया पाँच-पाँच पद्य हैं, किन्हीं में कुछ अधिक हैं। विषय विशेषरूपसे दार्शनिक है, गुणवर्णन रूप भी है, स्तुति परक तो है ही। किन्तु यहाँ प्रथम स्तुतिमें तो चौबोसों तोर्थकरोंकी स्तुति है, किन्तु आगे किसी भो तीर्थंकरका निर्देश नहीं है। मुख्यरूपसे ज्ञानज्योति, और अनेकान्तकी सरणिको लेकर ही विवेचन है। फिर भी कहीं-कहीं स्वयंभूस्तोत्रका आभास प्रतीत होता है। बृ० स्व० स्तोत्रका प्रारम्भ ही स्वयंभुवा शब्दसे होता है इसीसे उसका नाम स्वयंभूस्तोत्र प्रसिद्ध हुआ। यहाँ भी 'स्वायंभुवं मह' पदसे प्रथम स्तुति प्रारम्भ होती है।

आचार्य समन्तभद्रने कुन्थुजिनके स्तवनमें वाह्य तपको आध्यात्मिक तपमें वृद्धि करनेवाला कहा है। इस ग्रन्थके १३०वें पद्यमें भी तपको अध्यातम विशुद्धिको बढ़ानेवाला कहा है। शीतलनाथ-की स्तुतिमें समन्तभद्रने कहा है अन्य तपस्वी सन्तान, धन, परलोक आदिकी तृष्णावश कर्म करते हैं किन्तु आप पुनर्जन्म, जरासे बचनेके लिये मन वचन कायकी प्रवृत्तिका वारण करते हैं। लघु०में भी १६१वें पद्यमें कहा है कि आपने रागरूपी दुष्ट रोगोंका शोषण करके एक ज्ञान स्वभावमें लीनताको प्राप्त किया है। किन्तु रागरूपी ज्वरको अपनानेकी लालसा रखनेवाले अन्य देव विष तुल्य विषयोंको अपनाते हैं। युक्त्यनुशासनमें समन्तभद्र जिनमतको अन्य वादियोंके द्वारा अधृष्य कहते हैं। यहाँ भी ८वें स्तवनके २२वें पद्यमें ऐसा ही कहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधृष्यमन्यैर्निखिलैः प्रवादिभिः—युक्त्य० ६ श्लोक
जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।
परैरधृष्यं जिन शासनं ते—लघु० ८।२२ ।

जिस प्रकार समन्तभद्रकी रचनाओंमें स्याद्वाद और अनेकान्तवादकी छटा छाई हुई है। अमृतचन्द्रजीके इस ग्रन्थमें भी वही स्थिति है, किन्तु एक दार्शनिकमें और आध्यात्मिकमें जो अन्तर हो सकता है वही अन्तर है। समन्तभद्रका अनेकान्तवाद वस्तुपरक है और अमृतचन्द्रका आत्मपरक।

समन्तभद्र भगवान् ऋषभदेवको स्वयंभू कहते हैं किन्तु अमृतचन्द्र कहते हैं—मैं उस स्वायंभुव—स्वयं होनेवाले आत्मसम्बन्धी ज्ञान ज्योतिकी स्तुति करता हूँ जिससे आदिदेव भगवान् स्वयंभू हुए। समन्तभद्र स्वयंभूको स्पष्ट नहीं करते। किन्तु अमृतचन्द्र लिखते हैं :

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं
स्वास्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः।

'आप, अपने आपमें, अपने आपके लिये, अपने आपसे, अपने आपको, अपने आपके द्वारा देख रहे हैं।

लघु०के १७वीं स्तुतिमें आत्मामें अनेकान्तवादका विवेचन है। अस्तिका विवेचन करते हुए कहा है—

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टाऽसौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती।
चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम् ॥८॥

अर्थ—सब ओरसे 'अस्ति' इस प्रकारका विकल्प स्फुरित होनेपर अपने आप प्रकट हुई यह स्पष्ट अनुभूति जहाँ इस चित् तत्त्वको स्वस्वरूपसे बहती है वहींपर परस्वरूपसे नास्ति रूप भी कहती है इसी प्रकार सब भंगोंका कथन किया है।

१८वीं स्तुतिमें भी अनेकान्तवादका विवेचन करते हुए कर्त्ता और कर्मके भेदाभेदका कथन किया है :

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं-जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम्।
सर्वोऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि ॥१७॥

कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ प्रत्येक पदार्थ कारणरूपसे अपने ही परिणामको लेकर उत्पन्न हुआ है अतः आप कारण भी हैं और कार्य भी हैं। किन्तु शुद्धभाव कारण और कार्यका अविषय है।

यह सब अध्यात्मविषयक चर्चा दर्शनशास्त्रमें नहीं है। अतः ये स्तुतियाँ दार्शनिक विवेचनसे ओत-प्रोत होते हुए भी आध्यात्मिक है। अध्यात्म और दर्शनका समन्वय इनमें हैं।

स्वयंभूस्तोत्रमें आचार्य समन्तभद्रने किसी-किसी स्तुतिके अन्तमें कामना व्यक्त की है, मुझे मोक्ष प्रदान करें या मेरे चित्तको पवित्र करें या आपको हम अमुक कारणोंसे नमस्कार करते हैं। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो ! जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्तां । ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः इस तरहकी प्रार्थना लघुतत्त्व०में कहीं भी नहीं है । प्रायः सर्वत्र सर्वज्ञरूपकी भावना है । यथा—पाँचवीं स्तुतिके अन्तमें—

नितान्तमिद्धेन तपो विशेषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा ।
यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्य विश्वं ज्वलयन् ज्वलाम्यहम् ॥२५॥

हे प्रभो ! मुझे तेजके द्वारा इस प्रकार प्रज्वलित करो, जिस प्रकार मैं अपने आपको और समस्त चराचर विश्वको प्रज्वलित करता हुआ सब ओरसे प्रज्वलित होने लगूँ ।

सबसे अन्तिम स्तुतिके अन्तमें कहा है—

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे ।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग् भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः ॥

उत्कृष्ट संयमके पालक मेरी ज्ञानरूपी अग्निमें यह पुटपाक घटित हो जिससे समस्त कषाय-रूपी अन्तरंग मलके गलनेसे जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है, ऐसी समस्त स्वभावरूप लक्ष्मियाँ अनुभूतिके मार्गमें पड़कर सम्यक्रूपसे सुशोभित हों ।

उक्त उद्धरणोंसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इन स्तुतियोंमें संयमादिका कथन नहीं है । तीसरी स्तुतिमें गुणस्थानोंकी श्रेणीमें प्रवेश करते हुए अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकृष्टिरूप सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली आदि अवस्थाओंका तथा उसमें होनेवाले केवलिसमुद्घातका भी वर्णन है । यह पूरी स्तुति इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है । इसमें कहा है कि आपने अपनेको द्रव्यसंयममें लगाया ।

इस प्रकारका कथन भी बृ० स्व० स्तो० में नहीं है । अतः यह स्तुतिग्रन्थ एक तरहसे बृ० स्व० स्तो० का पूरक है । जो इसमें है वह उसमें नहीं है । यह संभव है कि इसी दृष्टिसे अमृतचन्द्रने इसकी रचना की हो । वे जिनेन्द्रदेवके आन्तरिक गुणानुरागी हैं । समन्तभद्रकी तरह अमृतचन्द्र भी अनेकान्तके परम भक्त हैं । वे उसका उपयोग विशेषरूपसे आत्मतत्वकी व्यवस्थामें करते हैं । उसीके ज्ञानगुणको लेकर वे उसीमें मग्न हो जाते हैं । उसी परम ज्योतिने उन्हें मुग्ध किया है । यद्यपि समन्तभद्रजी सर्वज्ञ सिद्धिके द्वारा ही आप्तकी मीमांसा करते हैं । किन्तु उनका सर्वज्ञ अनेकान्तमय वस्तु स्वरूपका प्रतिपादक होनेसे युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वक्ता है ।

प्रत्येक स्तुतिका सार

अब हम प्रत्येक स्तुतिका सारांश यहाँ देते हैं । यह हम लिख चुके हैं कि प्रत्येक स्तुतिमें २५ पद्य हैं ।

१ पहली स्तुतिकी रचना वसन्ततिलका छन्दमें है । इसके चौबीस पद्योंमें चौबीस तीर्थंकरों के नाम आते हैं । अतः अन्तिम पद्यमें इसे जिन नामावली नाम दिया है । इस पद्यमें कहा है—

'जो भव्य जीव अमृतचन्द्र नामधारी चित्के द्वारा पीत जिननामावलीको भाते हैं वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयसे अनायास ही सकल विश्वको पी लेते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा वे कभी भी कर्म नोकर्मरूप पर द्रव्यके द्वारा नहीं पिये जाते अर्थात् कर्मबन्धनसे सदा अछूते रहते हैं।'

इस एक अन्तिम पद्यसे ही पाठक जान जायेंगे कि इस स्तुति ग्रन्थमें अमृतचन्द्रजीने स्तुतिके व्याजसे अध्यात्मकी ही वर्षा की है, चित्रूपी चन्द्रसे अमृत बरसाया है।

एक वस्तुमें परस्परमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंकी स्थितिका नाम अनेकान्तवाद है। अत: अनेकान्तवादमें विरोधाभास नामक अलंकारका चमत्कार सहज संभाव्य है। इसीसे अमृतचन्द्रजीकी इस रचनामें उसके दार्शनिक और आध्यात्मिक रूपके साथ उनके कवीन्द्रत्व रूपके भी दर्शनपद पदपर होते हैं। ऐसे कवीन्द्र शायद अमृतचन्द्रजी ही हैं।

अजितनाथका स्तवन करते हुए वे कहते हैं आप प्रमाता भी हैं, प्रमाण भी हैं, प्रमेय भी हैं और प्रमाणके फल भी हैं, फिर भी ज्ञेय ज्ञेय ही है और ज्ञाता ज्ञाता ही है, न ज्ञेय ज्ञानमय होता है और न ज्ञान ज्ञेयमय होता है। इसके 'चिच्चकायितचञ्चुरुच्चैः' पदमें समयसार कलशकी प्रतिध्वनि गूँजती है। इसी प्रकार भगवान् सुबुद्धि-सुमतिनाथके लिए प्रयुक्त 'कारकचक्रचर्चाचित्रोऽप्यकर्बुररसप्रसरः' पद उल्लेखनीय है जिसमें कहा है—आपका सहज प्रकाश षट्कारक समूहकी चर्चासे चित्ररूप होता हुआ भी अचित्रित-एकरूप सुशोभित हो रहा है। चन्द्रप्रभ भगवान् के लिए चितिचन्द्रिकौघः चैतन्यरूप चान्दनीका समूह कहा है।

प्रायः समस्त स्तुतियोंमें अनेकान्तरूप विरोधाभासकी छटा है। धर्मनाथकी स्तुतिमें कहा है—आप सर्वात्मक हैं किन्तु परात्मक नहीं है। स्वात्मात्मक हैं किन्तु आपकी अपर आत्मा नहीं है।

२ दूसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छन्दमें है। ये सब आगेकी स्तुतियाँ सामान्य हैं। किसी तीर्थंकर विशेषसे सम्बद्ध न होकर वे प्रायः ज्ञानज्योतिसे सम्बद्ध हैं। इसका प्रारम्भ 'तेज'से होता है जो 'चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य' है। जो इस निर्विकल्प और सविकल्परूप दर्शन ज्ञान मात्र 'तेज'की श्रद्धा करते हैं वे विश्वको मानो स्पर्श करते हुए समस्त विश्वसे पृथक् परमात्म-अवस्थाको प्राप्त करते हैं।

आगे कहा है—आपका स्वभाव एक होते हुए भी विधिनिषेधमय है। वह स्वभाव 'अद्भुत चिदुद्गमचुञ्चुः' आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योतिके उद्गमका स्थान है।

अमृतचन्द्रजीने प्रायः अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके लिए या एकान्तवादीके लिए 'पशु' शब्दका प्रयोग किया है। यथा आपके विषयमें संशय ही संभव नहीं है। यदि किसीके 'चिदुपप्लव' चैतन्यमें भ्रम होता है तो वह पशुके ही होता है।

दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें विपक्षीका निर्देश पशु शब्दसे मिलता है। सागारधर्मामृतमें मिथ्यात्व से ग्रस्त जीवोंको मनुष्य होते हुए भी पशुके तुल्य कहा है और सम्यग्दृष्टिको पशु होते हुए भी मनुष्यके तुल्य कहा है। उसी दृष्टिसे अमृतचन्द्रजीने भी पशु शब्दका प्रयोग एकान्तवादी मिथ्यादृष्टिके लिए किया है।

पद्य १९ में कहा है कि ज्ञानसे भिन्न अन्य फलको प्राप्त करनेके इच्छुक पशु-अज्ञानी विषयोंकी इच्छा क्यों धारण करते हैं? इन्द्रियोंको नियन्त्रित कर ज्ञानको ही क्यों नहीं धारण करते?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य २१ में कहा है—हे ईश ! आपमें कषायसे होनेवाला समस्त विकार नहीं है।

अन्तिम पद्यमें कहा है—नाना शक्तियोंके समुदायरूप यह आत्मा नयदृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः मैं खण्डरहित, किन्तु खण्डोंका सर्वथा निराकरण न करनेवाला एक अत्यन्त शान्त अचल चैतन्यस्वरूप तेज हूँ ।।२५।।

३ तीसरी स्तुति भी वसन्ततिलका छन्दमें है। यह स्तुति चारित्रप्रधान है।

प्रथम पद्यमें कहा है—मार्गावताररसनिर्भरभावित—मोक्षमार्गमें लगनेसे उत्पन्न हुए अलौकिक आनन्दरससे भरपूर आपका जो चित्‌विकास हुआ, हे प्रभो अद्‌भुत विभूतिके प्यासे हमें उसका एक कण भी देनेकी कृपा करो।

२ हे भगवन् ज्ञानदर्शनमात्र महिमासे युक्त अपने आत्मामें मोहको दूरकर समस्त सावद्य-योगका परिहार कर स्वयं आत्मरूप होते हुए सामायिकरूप हुए। भाव संयमके प्राप्त होते हुए भी परस्पर सापेक्ष द्रव्य-भावकी महिमामें बाधा न देते हुए आपने अपनेको प्रथम द्रव्यसंयमके मार्गमें नियुक्त किया।

यहाँ भावसंयमपूर्वक द्रव्यसंयमकी प्रधानता बतलाई है। आगे कहा है कि आप शुद्धोपयोग की दृढ़भूमिको प्राप्तकर अन्तर्मुख हो गये तथा नाना प्रकारके तप करते हुए क्षयोपशमजन्य चारित्रकी शक्तियोंको आपने धारण किया। परीषह आनेपर भी आपका अन्तःकरण कातर नहीं हुआ। बहुत भारी संयमका भार धारण करते हुए भी खिन्न नहीं हुए और दुर्जयकषायोंको जीतने के लिए तत्पर रहे तथा ज्ञानरूपी अस्त्रको तीक्ष्ण करनेके लिए सदैव जाग्रत रहते हुए आपने श्रुत के समस्त विषयोंका मनन किया। इस प्रकार तीव्र तपोंके द्वारा आत्मा और कर्ममें बहुत अन्तर करते हुए आपका विवेकपाक—भेदज्ञानका परिपाक ज्ञान और क्रियाके व्यतिकर द्वारा क्रमसे परम प्रकर्षको प्राप्त हुआ।

यह सब स्थिति छठे सातवें गुणस्थानकी है। उसके पश्चात् श्रेणीमें प्रवेश करते हुए अधः-प्रवृत्तकरण हुआ, फिर अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मकृष्टि हुए। क्षीणकषायसे सयोगकेवली होकर लोकपूरण समुद्घात किया। फिर अयोगकेवली होकर सिद्ध हुए। यह सब वर्णन इस तीसरी स्तुतिमें है।

४ चतुर्थ स्तुतिमें जिनके ज्ञानरूप तेजको लेकर ही नमस्कार किया गया है। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकाओंमें आत्माको विज्ञानघन कहा है। यहाँ उसकी उपपत्ति देते हुए कहा है—यतः घट पट आदि पदार्थ बाह्यरूपताको धारण करते हुए भी आपमें ज्ञानरूपताको धारण करते हैं अर्थात् समस्त जगत् आपके ज्ञानका विषय है अतः आप अनन्तविज्ञानघन हैं, इसीसे न किसीसे मोह करते हैं, न राग करते हैं और न द्वेष करते हैं ।।२२।।

५ पाँचवीं स्तुति भी वंशस्थ छन्दमें है। इसका प्रारम्भ भी विरोधाभास अलंकारसे होता है कि आप बढ़ते नहीं, फिर भी सर्वोच्च हैं। नम्र न होते हुए भी अत्यन्त नम्र हैं आदि।

चौथे पद्यमें कहा है—अर्थसत्ता—महासत्ता आपसे भी बड़ी है, क्योंकि उसमें आप भी गर्भित हैं, किन्तु वह महासत्ता भी आपके ज्ञानमें समाई हुई है, यतः ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपके ज्ञानका विषय नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीन सत्ताएँ हैं—अर्थ सत्ता, ज्ञान सत्ता और शब्द सत्ता। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ तीन रूपमें सत् है—अर्थ रूप, ज्ञान रूप और शब्द रूप। ज्ञानका विषय चराचर जगत् है किन्तु ज्ञान तदधीन नहीं है। न ज्ञान ज्ञेयमें जाता है न ज्ञेय ज्ञानमें आता है। दोनों स्वतन्त्र हैं फिर भी पदार्थ चिन्मय भासित होते हैं। इसी प्रकार शब्द सत्ता पुद्‌गल पर्यायरूप है तथापि उन शब्दोंकी वाचक शक्ति, आपके ज्ञानके एक कोनेमें पड़ी रहती है। इसी प्रसंगमें बाह्य अर्थका अपलाप करनेवाले बौद्धोंका निराकरण किया गया है कि ज्ञानमें प्रतिबिम्बित प्रमाण-प्रमेयकी स्थिति बाह्य पदार्थोंका निषेध करनेमें समर्थ नहीं है।

आगे कहा है कि आप एक अनंश सहज सनातन सन्मात्रको देखते हैं। यहाँ निरंशमें अंश कल्पनाको लेकर स्तुति हैं जो प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी टीकामें चर्चित है, यह स्तुति द्रव्यके स्वरूप और उसमें अंश कल्पनाको लेकर की गई है।

६ छठी स्तुति भी वशंस्थमें है—

इसके प्रारम्भमें कहा है कि संसारका कारण क्रिया ही है, और आपने उसे क्रिया (सम्यक् चारित्र) के द्वारा ही नष्ट किया है, अन्तमें समस्त क्रिया कलापको आत्मोन्मुख करते हुए समाप्त किया है। उत्कट वैराग्य पूर्वक समस्त भोगोंको त्यागकर आपने अपने जीवनको तपरूपी अग्निमें होम दिया। अध्यात्मविशुद्धिको बढ़ानेवाले तपोंके द्वारा अतिप्रबल उदयाबलीको निर्जीर्ण कर दिया और इस प्रकार हे जिन आप सूक्ष्मकृष्टिके द्वारा रागको अत्यन्त सूक्ष्म करके क्षीणकषाय हो गये—बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए। अन्तमें समस्त कर्तृत्वसे उदासीन होते हुए आप सम्पूर्ण विज्ञानघन हो गये और अन्तमें सिद्धत्व पदको प्राप्तकर विशुद्ध ज्ञानमें लीन हो गये। यद्यपि आप एक चैतन्यधातुरूप हैं तथापि आपमें अनन्त वीर्यादि गुण हैं। हे भगवन् आप आत्मस्वरूपसे सुरिक्षित हैं, निराकुल हैं पर निरपेक्ष हैं। आपके स्वानुभवकी विषयभूत आनन्द परम्परा उल्लसित होती है।

अन्तमें स्तुतिकार कहते हैं—'हे भगवन् जैसे लोहके पिण्डमें आग बलात् प्रवेश कर जाती हैउसी प्रकार भावनाके द्वारा मेरेमें प्रवेश करके अभी भी मुझे चिन्मय नहीं करते, यह मेरी हीं जड़ता है।'

७ सातवीं स्तुति भी वशंस्थ छन्दमें है—

हे देवः इस अनन्त संसारमें परवश होकर मैंने अनन्तवार पंच परावर्तन किये है। अब मैं आत्मगृहमें विश्राम करनेवाले आपके चैतन्यरूप अचंलमें लगता हूँ।

हे भगवन्! आपके ज्ञानामृतका एक कण मेरे लिए आज औषधिकी मात्राके समान है।

हे प्रभोः निरन्तर ज्ञानरूपी रसायनका पान करते हुए और बहिरंग तथा अन्तरंग संयमका निर्दोष पालन करते हुए निश्चित ही मैं स्वयं तुम्हारे समान हो जाऊँगा। ठीक ही है—संयमको ग्रहण करनेवालोंके द्वारा क्या नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इन स्तुतियोंमें अमृतचन्द्रजीने ज्ञानके साथ संयमका भी यथार्थ पक्ष लिया है। समयसारमें तो भेदज्ञानकी ही चर्चा होनेसे संयमका प्रसंग नहीं आया। अतः उससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि अध्यात्ममें चरणानुयोग और करणानुयोगका कोई स्थान नहीं है। किन्तु वह संयम केवल क्रियाकाण्डरूप नहीं है यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'समयसम्बन्धी सीमाके मार्गमें शुभ क्रियारत होते हुए भी आपने अन्य अशुभ क्रियाओंको नष्ट कर दिया। और एक चैतन्यमात्र आत्माके अवलम्बनसे समस्त कर्तृत्व भावको दूर कर दिया।' अर्थात् शुभ क्रिया करते हुए भी उसमें कर्तृत्व बुद्धि नहीं रही, यही अध्यात्मदृष्टि है।

इस स्तुतिमें भी अन्तमें केवलज्ञानरूपी ज्योतिके रूपमें भगवानका स्तवन करते हुए कहा है—

आप सब ओरसे चैतन्यके भारसे भरपूर हैं। जब कि बेचारा जगतका प्राणी एक क्षुद्र चैतन्यकणसे युक्त है। आपका अनुभवन या तो आप स्वयं कर सकते हैं या आपके अनुग्रहसे जो आगे बढ़ गया है वह कर सकता है।

८ आठवीं स्तुति उपजाति छन्दमें है—

इसमें भी कषायोंको लेकर स्तवन किया गया है। यथा 'कषायका संचय बन्धका कारण होनेसे आप तत्त्वज्ञानीने कषायक्षयको ही मुक्तिका कारण कहा है।

एक होने पर भी कषायने जीवको अनेकरूप कर दिया है। प्रतिक्षण अपनी शक्तिका विकास करते हुए आपने कषायोंके ऊपर एक ऐसा प्रहार किया कि सब कषायें नष्ट हो गईं। कषायोंका क्षय होते ही केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीका आपने वरण किया। और दूसरों पर अपने प्रभाव को प्रकट किया। यद्यपि आप ज्ञानपुंज हो गये, किन्तु आयु कर्म शेष रहनेसे उसे भोगनेमें विवश थे। अतः आपने धर्म तीर्थका प्रवर्तन किया।

हे भगवन् आप तीर्थसे तीर्थंकर होते हैं और तीर्थंकरसे तीर्थ होता है इस प्रकारमें बीजांकुर के समान अनादि सन्तानरूपसे कार्य-कारणभाव है।

'आपने समस्त विश्वको जाना। किन्तु वचनमें इतनी शक्ति नहीं है कि सबको कह सके, अतः आप ज्ञानका अनन्तवां भाग ही कह सके।'

आगममें केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें अन्तर दिखाते हुए कहा है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥' गो० जी० गा०

'जो शब्दोंके द्वारा नहीं कहे जा सकते, ऐसे पदार्थोंका अनन्तवां भाग शब्दोंके द्वारा कहे जाने योग्य है और उनका भी अनन्तवां भाग शास्त्रमें निबद्ध है।'

उसीको ऊपर कहा गया है।

हे भगवन् यह द्वयात्मक-विधिनिषेधात्मक—वस्तुस्वरूप आपके ही मुखसे उद्गत हुआ है। किन्तु उसका अर्थ उन्होंने ही समझा जिनका आशय उभयपक्षके बोधसे शुद्ध हो गया था। विरोधी धर्मसे सापेक्ष होनेसे ही आपके शब्द विरुद्ध धर्मात्मक वस्तुको स्पर्श करते हैं। किन्तु स्याद्वादकी मुद्रासे रहित शब्द उसमें स्खलित हो जाते हैं।

इसप्रकार इस स्तुतिका अन्त स्याद्वादसे होता है। अन्तमें कहा है—

समतारूप सुखके स्वादको जाननेवाले मुनियोंके लिये मुनि अवस्थाका महान् कष्टभार भी सुख है' जैसे दूधके स्वादको जाननेवाले बिलाव अति गर्म दूधको पीते हुए भी सुख मानता है। आपकी आत्मा केवलज्ञानसे सम्पन्न है, आप अनन्त वीर्यके अतिशयसे सम्पन्न हैं, आपने समस्त बाह्याभ्यन्तर मनको निःशेष कर दिया है, आपसे श्रेष्ठ आप्त कौन हो सकता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९ नौवीं स्तुति भी उपजाति छन्द में है।

इसमें भी संयम और तपको लेकर स्तुति की गई है—'आपने परमार्थके विचारके सारको अपनाया, निर्भय होकर एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा की, अन्तरंग बहिरंग परिग्रहका त्याग किया और प्राणियोंपर दयाभाव किया' आपका पक्षपात रहित होते हुए भी समस्त प्राणियोंमें पक्षपात था। आतापन योग करते समय सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें आपके शरीरको जलाती थीं, किन्तु आप कर्मफल-के परिपाककी भावनामें उन्हें अमृतके कणोंके समान मानते थे। रात्रिमें स्मशानमें जाकर शवासन से स्थित रहते हुए शृगालोंने आपके सूखे शरीरको अपने दाँतोंसे काटा। बुद्धिमान् रोगी जैसे रोगको दूर करनेके लिये उपवास करता है वैसे ही आपने अनादि रागको दूर करनेके लिये एक मास अर्धमासके उपवास किये। इसप्रकार सम्पूर्ण आत्मबलसे संयमको धारण करके कषायके क्षय-से केवलज्ञानी हुए और मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

आगे अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन करते हुए कहा है कि आपका उपयोग कभी नष्ट नहीं होता। अर्थात् ज्ञानदर्शन सदा उपयोगरूप रहते हैं। श्वेताम्बर ऐसा नहीं मानते। अन्तमें ग्रन्थ-कार कहते हैं—

मैं समस्त संसारमें भ्रमण करके खिन्न हो चुका हूँ, अब मैंने प्राणपणसे आपको अपनाया है। मेरे सब कुछ आप हो। अधिक विवाद से क्या?

१० दसवीं स्तुति भी उपजाति छन्दमें है—

इसके प्रारम्भमें ही कहा है कि मैं विशुद्ध विज्ञानघन आपकी एकमात्र शुद्धनयकी दृष्टिसे स्तुति करूँगा।

अर्थात् पूर्व स्तुतियोंमें व्यवहार दृष्टि रही है क्योंकि बाह्य क्रियाकलापोंको लेकर भी स्तुति की गई थी, जो व्यवहार धर्मके रूपमें आवश्यक है।

शुद्धनयकी दृष्टिसे मतलब है दर्शन-ज्ञानमय चैतन्य स्वरूपको लेकर स्तवन। यथा—

हे भगवन्! आपका यह चैतन्य शक्तिका विकासरूप हास्य सब ओर सुगन्ध फैला रहा है। सो किसी भाग्यशाली मनुष्यकी दृष्टि ही चैतन्यरूप मकरन्दके पानकी तृष्णासे इस ओर जाती है॥१२॥

आप एक ज्ञायक स्वभावसे सहित हैं। स्वानुभूतिसे परिपूर्ण हैं। आपकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य पिण्ड सहित है। अतः आप नमककी डलीकी उपमाको प्राप्त हो रहे हैं॥१३॥

यह उपमा समयसार कलश १४ में भी आती है। यहाँ एक दूसरी उपमा प्रालेयपिण्ड—बर्फके डलाकी दी है। यथा—

विशुद्ध चैतन्यके पूरमें सब ओरसे डूबे हुए आप आत्मरससे अत्यन्त आर्द्र ही भासित होते हैं क्योंकि वर्फका पिण्ड सब ओरसे घनरूप होते हुए भी सदा सब ओरसे आर्द्र ही भासित होता है॥१४॥

सब क्रियायें कारकोंसे मलिन ही होती हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति कर्त्ता आदि मूलक होती है। किन्तु आपका शुद्ध ज्ञान क्रियाकलापसे पराङ्मुख है, अतएव आप भामात्र ही भासित हो रहे हैं॥१८॥

हे भगवन्! आप अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त हुए अपने में, अपने लिए अपनेसे अपनेको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयं देखते हैं। अतः हे स्वामिन् आप द्रष्टा और द्रश्यके भेदसे रहित होकर स्थित हैं और इसलिए कारकोंसे रहित दर्शनरूप ही भासित होते हैं ॥१९॥

अन्तमें ग्रन्थकार अपनी भावना व्यक्त करते हैं—

हे योगीश्वर ! मैं एक शुद्ध, निराकुल चिद्भावकी इस अखण्ड भावनाके द्वारा चिद्भाव-रूप ही होता हूं।

११ ग्यारहवीं स्तुति अनुष्टुप् छन्दमें है। इसमें मुख्य रूपसे दर्शन और ज्ञानको लेकर स्तवन किया गया है। यथा—

हे भगवन् ! आवका एक ही उपयोग साकार अनाकारके भेदसे ज्ञान और दर्शनके रूपमें दो रूप हो गया है ॥९॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उच्छेद हो जानेसे दोनों उपयोग सदा युगपत् रहते हैं ॥१०॥

उनका सहायक अनन्त वीर्य भी सदा रहता है। इस प्रकार आप पूर्ण ज्ञान-दर्शनसे युक्त हो सदा सुखी रहते हैं तथा सुखी रहते हुए भी प्रमादी नहीं होते। आपके दर्शन ज्ञान नश्वर नहीं हैं, क्योंकि उनके लिए अन्य कर्त्ता आदि कारकोंकी अपेक्षा नहीं है। आप स्वयं सदा षट्कारकमय हैं इत्यादि।

१२ बारहवीं स्तुति भी अनुष्टुप् छन्दमें है।

इसमें भी अनेकान्तशाली वीतराग जिनका स्तवन है। यथा—आप स्वरूपसे हो रहे हैं, पर रूपसे नहीं हो रहे। फिर भी भाव अभाव दोनोंको ज़ानते हुए साक्षात् सर्वज्ञ कहे जाते हैं ॥४॥

प्रागभाव आदि चारों अभाव आपमें भावरूप हैं और आप भावरूप होकर भी अभाव-रूपताको प्राप्त होते हैं ॥१७॥

यह पर्यायरूप तत्त्व अनित्य होते हुए भी आपको प्राप्त करके नित्य हो जाता है। और आप नित्य होकर भी अनित्य पर्याय रूपको पाकर अनित्य हो जाते हैं अर्थात् द्रव्य रूपसे पर्याय भी नित्य है और पर्याय रूपसे द्रव्य भी अनित्य है ॥१९॥

१३ वीं स्तुति मञ्जुभाषिणी छन्दमें है। इसमें ज्ञानके स्वपर प्रकाशको लेकर स्तवन है यथा—

हे देवः यह चित् चमत्कार ही अपनेसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सुख वीर्य वैभव आदि अपनी शक्तियोंको एक साथ जाननेसे आपके सहभावी अनन्त आत्मधर्मोंके समूहको प्रकट करता है ॥३॥ आप अनन्त धर्मोंके भारसे भावित होते हुए भी एक उपयोग लक्षणके द्वारा ही जाने जाते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आपमें उपयोग ही एक गुण है, अन्य नहीं हैं, क्योंकि गुण बिना आधारके नहीं रहते ॥४॥

आप जड़ और केतन दोनोंको जानते हैं। आपका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। जो परको नहीं जानता उसमें जड़से कोई भेद नहीं है अर्थात् वह जड़वत् है। किन्तु जड़को जाननेसे जड़ नहीं हो जाता। परको जाने बिना अनुभूति नहीं होती। फिर भी आज्ञानी हाथीकी तरह आँख बन्द करके भवकूपमें गिरते हैं ॥९॥

इसप्रकार परको जानकर भी आप परासक्त नहीं होते। आदि समस्त विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४ चौदहवीं स्तुतिमें भी ज्ञान-दर्शनमय चितिमात्रको लेकर स्तवन है। इसमें अन्तमें कहा है—

दर्शन और ज्ञानमें निश्चल वृत्तिरूप आपका शक्ति समूह संसार बीजको हरनेवाला है। ज्ञानी पुरुष क्रियामें रमण नही करता, किन्तु पापमार्गसे बचनेके लिये शुभ क्रियाएँ व्रत तपादि करता है। क्रियाके द्वारा पौद्गलिक कर्ममलको दूर करते हुए आत्मा आत्मामें स्थिर होता है और ऐसा होनेसे नियमसे अपुनर्जन्म प्राप्त होता है।

हे जिन आपके समागमको ही सुख और आपके विरहको ही दुःख कहते हैं। हे जिन ! वे भाग्यशाली निश्चयसे सुखी हैं जिनके आप सदा हृदयमें वसते हैं।

१५ वीं स्तुति वियोगिनी छन्दमें है। विषय प्रायः पूर्ववत् नवीनताको लिए हुए है. प्रारम्भमें ही बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है।

'जैसे गन्नेकी गंडेरीको चूसता बालक तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार आपकी ज्ञानकलाका रात दिन आस्वाद लेनेवाला भी तृप्त नहीं होता।

द्रव्यके बिना पर्याय नहीं, पर्यायके बिना द्रव्य नहीं। आपकी प्रकृति ही द्रयावलम्बिनी है। विधि निषेधसे वाधित है और निषेध विधिसे वाधित है। फिर भी दोनों समभाव धारण करके अर्थकी सिद्धि करते हैं

कथनमें पुनरुक्तियाँ भी यत्र तत्र हैं। यहाँ भी कहा है—'आप परको जाननेसे पर नहीं हो जाते। क्योंकि परावभासनका मतलब है परका आलम्बन लेकर आत्मभासन, क्योंकि परको जाने बिना अपनेको जानना शक्य नहीं हैं। व्यवहार दृष्टिसे देखनेवालोंके लिये आप पराश्रयी और परमार्थ दृष्टिसे देखनेवालोंके लिये स्वाश्रयी एक ही साथ उभयरूप प्रतिभासित होते हैं।

अन्तमें कहते हैं—

जोरसे दवाये हुए गन्नेसे जैसे रसका प्रवाह निकलता है उसी प्रकार मेरी इस हठवादितासे उछलता हुआ आत्मरसका प्रवाह मुझे उसमें डुबो देगा। आपके चरण कमलोंमें जाग्रत रहनेवाले मोहरात्रि वीत गई। अतः मुझे उठाकर अपनी गोदमें ले लीजिये।

यह एक आध्यात्मिक सच्ची भक्तिका प्रवाह है।

१६ सोलहवीं स्तुति पुष्पिताग्रा छन्दमें है। विषय प्रायः पूर्ववत् है। यथा—

हे जिनवर ! सभी ओरसे दवाये जाने पर भी आप कभी भी नीरस नहीं होते। किन्तु उत्तरोत्तर निरन्तर अनन्त ज्ञानरूपी अमृत रसको देते हैं।

अन्तमें केवलज्ञानकी महत्ता दिखलाते हुए कहा है—

परमागम तीनो कालों और तीनों लोकोंका प्रकाशक होने पर आपके केवलज्ञानके एक कोनेमें ऐसा शोभित होता है जैसा दिनमें जुगुनु।

१७ वीं स्तुति प्रहर्षिणी छन्दमें है। इसमें भी स्वद्रव्यादिका विवेचन है। पद्य २१ में समन्तभद्रके स्वयंभूस्तोत्रके 'विवक्षितो मुख्य' इत्यादि पद्यकी स्पष्ट झलक है—जिसकी विवक्षा की जाती है वह मुख्य होता है जो विवक्षित नहीं होता वह गौण होता है।

१८ वीं स्तुति मत्तमयूर छन्दमें है। इसमें भी सामान्य-विशेष, भाव-अभाव, वाच्य-अवाच्य आदि अनेकान्तोंको लेकर विवेचन है। अन्तमें सिद्धोंमें उत्पाद व्यय घटाते हुए कहा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो आप पहले भविष्यत्की अपेक्षा सिद्ध थे, वही अब आप वर्तमान सिद्ध हैं। इसी प्रकार वर्तमानमें जो विरक्त दशा है वही भूतकालमें सराग दशा थी।

१९ वीं स्तुति वियोगिनी छन्दमें है। इसका विषय भी प्रायः वही है। यथा—आपके न पराश्रयपना है, न शून्यरूपता है, न अन्य भावोंका सम्मिश्रण है क्योंकि आप अपने असंख्य प्रदेश रूप वस्तुको ग्रहण किए हुए हैं ॥२॥

आप अमूर्त विशेषणसे युक्त हैं अतः पुद्गलोंसे भिन्न हैं ॥३॥

और आप चित् विशेषणसे युक्त हैं अत समस्त अचेतनोंसे भिन्न है ॥४॥

तथा सहज स्वानुभवसे युक्त हैं अतः अन्य समस्त चेतनोंसे भिन्न है ॥५॥

ये आपके अजड आदि विशेषण आपको अन्य द्रव्योंसे भिन्न करते हैं स्वद्रव्यसे नहीं।

इस प्रकार इस स्तुतिमें भेदज्ञानकी प्रधानता है। इसे पढ़ते हुए समयसार कलशका 'चैरूप्यं जड़रूपतां च' आदि १२६ वाँ कलश वरवस स्मरण हो आता है।

२० वीं स्तुति वशंस्थ छन्दमें है। इसमें व्यावहारिक नयोंको लेकर विवेचन है। यथा—हे स्वामिन् आप चैतन्यमात्र विभूतिसे परिपूर्ण होनेसे शुद्धसंग्रहनयकी दृष्टिसे सुशोभित हो रहे हैं। और आप असंख्य प्रदेशोंमें विभाजित होनेसे ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे शोभित हो रहे हैं। ऋजुसूत्रनय प्रति समयवर्ती पर्यायको ग्रहण करता है अतः बौद्धका क्षणिकवाद इसी एक नयका विषय है उसीको लेकर सापेक्ष विवेचन है बौद्धमतमें निर्वाणको दीपकके निर्वाणकी तरह माना है उसीको दृष्टिमें रखकर कहते हैं—

दीपककी तरह निर्वाणको प्राप्त हुए आपके समस्त विकार एक शून्यतारूप हो गये अर्थात् विकारोंका आपमें सर्वथा अभाव हो गया। किन्तु ऐसा करते हुए आपको कुछ भी साहस नहीं करना पड़ा जब कि मुझे कहनेमें भी साहस करना पड़ रहा है ॥१०॥ आगे विज्ञानवादी बौद्धका निषेध करते हुए विज्ञानघन भगवान्का स्तवन किया है।

हे प्रभो, आपका विज्ञानघन सर्वभक्षी है, विश्वका कोई पदार्थ उसका अविषय नहीं है। उसमें सब पदार्थ पृथक्-पृथक् भासते हैं। इस दृष्टिसे ही ज्ञानाद्वैतवाद बनता है, बाह्य पदार्थोंके अभावकी दृष्टिसे नहीं ॥१५॥

यह पूरा स्तवन बौद्धदर्शनके निराकरण-समन्वयकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें शून्यवादका समन्वय करते हुए अन्तमें कहा है—हे भगवन् मेरी बौद्धके शून्यवादमें तो रुचि नहीं है। वहाँ, समस्त पदार्थोंके शून्यमय भानसे निर्मल आपके शून्यमें—निर्विकल्प विज्ञानघनमें प्रवेश कराकर मुझे कृतकृत्य करें।

२१ वीं स्तुति भी वशंस्थ छन्दमें है। इसमें भी सामान्य विशेषरूप, द्रव्यपर्यायरूप आदिको लेकर स्तवन है। उत्पादव्ययध्रौव्यको लेकर कहा है—'सत्का नाश नहीं होता और असत्का उत्पाद नहीं होता। और उत्पाद व्ययके बिना कोई वस्तु नहीं होती। क्षण-क्षणमें होनेवाला उत्पाद व्यय आपको भिन्न-भिन्न करता है और ध्रुवत्व एकरूप करता है। भाव और अभाव दोनों ही आधारके बिना नही रहते। आप दोनों के हो आश्रय होनेसे भाववान् भी हैं और अभाववान् भी वस्तुविवेचन की दृष्टिसे पूरी स्तुति ही महत्त्वपूर्ण है।

६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२२ वीं स्तुति मन्दाक्रान्ता छन्दमें, २३ वीं स्तुति हरिणी छन्दमें, २४ वीं स्तुति और पच्चीसवीं स्तुति शार्दूलविक्रीडितं छन्दमें है।

इन स्तुतियोंका भी विषय तो वही है किन्तु उसके उपपादनमें और भावानुभूतिमें अन्तर है—

हे स्वामिन् क्या ईंधन दाहसे भिन्न है उसीतरह यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय क्या आपसे भिन्न है ?

एक अनेक नहीं होता और अनेक एक नहीं होता। किन्तु आप एकानेकरूप हैं।

अन्य नष्ट होता है, अन्य उत्पन्न होता है, और अन्य निरन्तर विद्यमान रहता है। आपका तीनोंमें समान पक्षपात है। अतः आप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनोंसे युक्त हैं। यदि वे तीनों आपसे बहिर्भूत हो जायें तो शून्यरूप हो जाये।

२२ वीं स्तुतिके अन्तमें कहा है—

निश्चयसे अनेकान्त ही आपको एक अनेक, सगुण निर्गुण, शून्य पूर्ण, नित्य अनित्य आदि करता है।

२३ वीं स्तुतिके अन्तमें कहा है—

सम्यग्ज्ञान और क्रिया इन दोनोंकी भावनाओंसे भूतार्थरूप परिणमन करते हुए मेरेमें निरन्तर आपकी लक्ष्मियाँ प्रस्फुरत होवें, जो परम स्वाभाविक अवस्थामें संलग्न उपयोगरूपी रसमें मज्जन करनेसे बहुत आनन्ददायक हैं।

२४ वीं स्तुतिमें कहा है—

आपके चैतन्यरूपी अमृतके पूरसे भरपूर अद्भुततम रूपको आखोंके द्वारा पीकर किन्हें उन्माद नहीं सताता ॥३॥ जिस चैतन्यरूप चाँदनीके सागरमें तीनों लोक मानो डूब रहे हैं उसमें यह मैं दूरसे ही बिना डूबा दिखाई देता हूँ फिर भी मैं सदा आपमें मग्न हूँ ॥१५॥

२५ वीं स्तुतिका विषय ज्ञान और कर्मका समुच्चय है। एक मुमुक्षुके लिये यह स्तुति बहुत ही उपादेय है यथा—जो पूर्व असंयमसे संचित कर्मरजके विनाशके लिये सादर हृदयसे संयम धारण करते हैं वे ही सहज अवस्थामें स्थित अन्तस्तेजको प्राप्त होते हैं ॥३॥

रागसमूहका विनिग्रह करनेके लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि रागके फन्देमें फँसे मन वचन कायका निग्रह फलदायी नहीं होता।

इस स्तुतिमें २४वाँ पद्य समयसार कलशका १४१ वाँ पद्य है। जिसमें कहा है—यह भगवान् चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरोंसे अभिन्न रस हुआ एक है फिर भी अनेकरूप हुआ प्रवर्तता है। इससे आगेके अन्तिम पद्यमें कहा है—

मेरे संयमका पुटपाक ज्ञानरूपी अग्निमें पककर तैयार हो जिससे रागादि विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव भलीभाँति प्रकट हो सके।

लघुतत्त्वस्फोटकी अमृतचन्द्रकर्तृत ।

लघुतत्वस्फोटके उक्त विवेचनसे उसके टीकाकार अमृतचन्द्रके रचित होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता। भाव, भाषा और शैली तीनों दृष्टियोंसे उसकी समयसारकलशके साथ एकरूपता प्रस्पष्ट है। उसके सम्बन्धमें विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतचन्द्रका समय

स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तत्त्वानुशासनकी प्रस्तावनामें पृ० ३३ पर लिखा है—

'अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी दसवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। पट्टावलीमें उनके पट्टारोहण का समय जो वि० सं० ९६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है, क्योंकि सं० १०५५ में बनकर समाप्त हुए धर्मरत्नाकर ग्रन्थमें अमृतचन्द्राचार्यके पुरुषार्थसिद्ध्युपायसे कोई ६० पद्य उद्धृत पाये जाते हैं, जिसकी सूचना पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त वर्ष ९ की संयुक्त किरण ४-५ में की है। इससे अमृतचन्द्र उक्त सम्वत् १०५५ से पूर्वकालिक विद्वान् हैं यह सुनिश्चित है। उपासकाचारके कर्ता अमितगति (सं० १०५०) से भी वे पूर्वके विद्वान् हैं जिनके उपासकाचारमें पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कितना ही अनुसरण पाया जाता है जिसे पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने जैन सन्देशके शोधाङ्क नं० ५ में प्रकट किया है। इन अमितगति (द्वितीय) से दो पीढ़ी पूर्वके विद्वान् अमितगति प्रथमके योगसार प्राभृतपर भी अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओंका प्रभाव लक्षित होता है जिनका समय अमितगति द्वितीयसे कोई ४०-५० वर्ष पूर्वका जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें अमृतचन्द्रसूरिका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण और तत्त्वानुशासनके कर्ता रामसेनाचार्यका समय १०वीं शतीका प्रायः चतुर्थचरण निश्चिय होता है तथा अमितगति प्रथम विक्रमकी ११वीं शतीके प्रायः प्रथम चरणके विद्वान् ठहरते हैं। ये तीनों ही अध्यात्म विषयके प्रायः समसामयिक प्रौढ विद्वान् हुए हैं और तीनोंकी कथन शैली एक दूसरेसे मिलती जुलती है जिनमें वृद्धताका श्रेय अमृतचन्द्राचार्यको प्राप्त जान पड़ता है।'

स्वर्गीय मुख्तार साहबके उक्त निष्कर्षके प्रकाशमें कुछ कहनेको शेष नहीं रहेगा। उनके समर्थनमें हमें एक अन्य भी प्रमाण उपलब्ध हुआ है—

धर्मरत्नाकरमें डड्ढारचित पंचसंग्रहका भी एक पद्य उद्धृत है। यथा—तदुक्तम्—

वचनैर्हेतुभिर्युक्तैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
जुगुप्साभिश्च वीभत्सैर्नैवं क्षायिकदृक् चलम्॥

तथा डड्ढाके पंचसंग्रहके द्वितीय अधिकारमें तत्त्वार्थसारका पद्य उद्धृत है—उक्तञ्च—

'षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः।
ईषद् भेदो न भेदोऽस्य कषायाः पञ्चविंशतिः॥'

अतः अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी दसवीं शताब्दीसे आगे नहीं जाता। इस विक्रमकी दसवीं शताब्दीके ग्रन्थकार देवसेनने अपने दर्शनसारमें पद्मनन्दी आचार्य कुन्दकुन्दके सीमन्धर स्वामीके समवसरणमें जानेका उद्घोष किया है। इसीके समकालमें रचित श्रुतावतारमें इन्द्रनन्दीने कुन्दकुन्द अमरनाम पद्मनन्दीको सिद्धान्त ग्रन्थोंका टीकाकार लिखा है। इसीके उत्तरकालमें नेमिचन्द्र सिद्धान्तीने द्रव्यसंग्रहकी रचना की। टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाशकी टीकाएँ रची। और कुन्दकुन्दाम्नाय प्रकाशमें आया। इस सबका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको है। उन्हींका अनुगमन द्वितीय टीकाकार जयसेनने तथा पद्मप्रभ मलधारीदेवने किया। इस प्रकार अमृतचन्द्र एक अध्यात्मयुग प्रवर्तक आचार्य हुए हैं। उन्होंने मुमुक्षुके लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याद्वादमें कुशलताके साथ सुनिश्चल संयमकी उपयोगिता बतलाकर ज्ञाननय और क्रियानयमें तीव्र मैत्रीकी आवश्यकता बतलाई है। यथा—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥

अर्थात्—जो पुरुष स्याद्वादमें प्रवीणता और निश्चल संयमके द्वारा आत्मामें उपयोग लगाता हुआ उसे निरन्तर भाता है वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानयकी पारस्परिक तीव्र मैत्रीका पात्र होकर इस निज भावभूमि भूमिकाको पाता है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5542

विषय-सूची

स्तुति	पृष्ठ
१. प्रथम स्तुति	१-१७
२. द्वितीय स्तुति	१८-३१
३. तृतीय स्तुति	३२-४३
४. चतुर्थ स्तुति	४३-५५
५. पञ्चम स्तुति	५६-६७
६. षष्ठ स्तुति	६८-७८
७. सप्तम स्तुति	७९-९०
८. अष्टम स्तुति	९१-१००
९. नवम स्तुति	१०१-११०
१०. दशम स्तुति	१११-१२१
११. एकादश स्तुति	१२२-१३०
१२. द्वादश स्तुति	१३१-१४०
१३. त्रयोदश स्तुति	१४१-१५१
१४. चतुर्दश स्तुति	१५२-१६३
१५. पञ्चदश स्तुति	१६४-१७२
१६. षोडश स्तुति	१७३-१८२
१७. सप्तदश स्तुति	१८३-१९२
१८. अष्टादश स्तुति	१९३-२०३
१९. एकोनविंशति स्तुति	२०४-२१२
२०. विंशतितम स्तुति	२१३-२२२
२१. एकविंशतितम स्तुति	२२३-२३२
२२. द्वाविंशतितम स्तुति	२३३-२४७
२३. त्रयोविंशतितम स्तुति	२४८-२६०
२४. चतुर्विंशतितम स्तुति	२६१-२७३
२५. पञ्चविंशतितम स्तुति	२७४-२८९
पद्यानुक्रमणी	२९१-३०२

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अमृतचन्द्र रचित

लघु-तत्त्व-स्फोट

(शक्तिगणितकोश)

5542

ॐ नमः परमात्मने । नमोऽनेकान्ताय

स्वयम्भुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे
येनादिदेव भगवानभवत् स्वयम्भूः ।
ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूप-
मात्मप्रमातृ परमातृ न मातृ मातृ ॥१॥

अन्वयार्थ—(आदिदेव) हे आदि जिनेन्द्र ! (येन) जिसके द्वारा आप (स्वयम्भूः) स्वयम्भू (भगवान्) भगवान् (अभवत्) हुए हैं, मैं (इह) इस लोकमें (उच्छलत्) छलकते हुए—अतिशय प्रकट (अच्छं) निर्मल (स्वायंभुवं) आत्म-सम्बन्धी (तत् महः) उस तेज—ज्ञानज्योतिकी (ईडे) स्तुति करता हूँ। जो तेज (ॐ भूर्भुवःप्रभृतिसन्मननैकरूपं) ॐ भूर्भुवः आदि शान्तिमन्त्रके समीचीन अद्वितीय मननस्वरूप है। (आत्मप्रमातृ) स्वप्रकाशक है (परमातृ) परप्रकाशक है और न (नमातृ मातृ) न मात्र ज्ञायक—आत्माको जाननेवाला है किन्तु ज्ञायक अज्ञायक—चेतनाचेतनात्मक समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है।

भावार्थ—यहाँ भगवान् आदिनाथका स्तवन करते हुए उनके उस असाधारण ज्ञानगुणकी गरिमाकी स्तुति की गई है जिसके प्रकट होते ही वे साधारण छद्मस्थसे स्वयंभू-सर्वज्ञ हो गये। उनका वह ज्ञान गुण त्रैकालिकज्ञायक स्वभाव होनेसे आत्मामें स्वतः विद्यमान रहता है, राग-द्वेषादिकके समान आत्मामें किन्हीं बाह्य निमित्तोंसे प्रकट नहीं होता है। वही ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप पर्यायसे तन्मय हो लोकालोकका ज्ञाता हो जाता है, रागादि विकारी भावोंसे सर्वथा रहित होनेके कारण वीतराग विज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान, 'चतुर्गतिके जीव अपाय—दुःखसे किस प्रकार छूटें' इस अपायविचयधर्म्यध्यानके समीचीन मननस्वरूप होता है। ज्ञान, स्वपरप्रकाशक होनेसे जहाँ आत्ममातृ—स्वको जानता है, वहाँ परमातृ—परको भी जानता है और न केवल माता—ज्ञायक आत्माको जानता है किन्तु संसारके समस्त चेतना चेतनात्मक पदार्थोंको जानता है ॥ १ ॥

माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि
मानस्य चासि फलमित्यजितासि सर्वम् ।
नास्त्यैव (नास्यैव) किञ्चिदुत नासि तथापि किञ्चि-
दस्येव चिच्चकचकायितचुञ्चुरुच्चैः ॥२॥

अन्वयार्थ—(अजित) हे अजितनाथ ! आप (माता असि) ज्ञायक हो (मानम् असि) ज्ञान हो (मेयम् असि) ज्ञेय हो (ईशमा असि) अनन्तचतुष्टय लक्ष्मीरूप हो (च मानस्य फलम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असि) और ज्ञानके फल हो, (इति सर्वम् असि) इस प्रकार सबरूप हो। [अस्य] (किञ्चिदेव नास्ति) इस ज्ञानका कुछ भी नहीं है (उत) और आप भी यद्यपि (किञ्चित् न असि) किसी अन्यरूप नहीं हैं (तथापि) तो भी आप (उच्चैः) उत्कृष्टरूपसे (चिच्चकचकायितचुञ्चुः) चैतन्य चमत्काररूपसे प्रसिद्ध हो।

भावार्थ—जो पदार्थको जानता है उसे माता कहते हैं, आत्मा जिसके द्वारा जानता है उसे मान कहते हैं, जिसे जानता है उसे मेय कहते हैं और अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मामें जो ज्ञान प्रकट होता है वह मानका फल कहलाता है। यहाँ गुण गुणीका अभेद दृष्टिकी अपेक्षा कथन करते हुए कहा गया है कि हे अजितनाथ भगवान्! आप ही माता, मान, मेय और मानके फल हो—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानके फल हो। न केवल, ज्ञान गुणकी अपेक्षा यह कथन है किन्तु अर्हन्त की लक्ष्मीस्वरूप जो ज्ञान दर्शन सुख और वीर्य हैं उनरूप भी आप हैं। यद्यपि ज्ञायक स्वभावके कारण अजितनाथ भगवान् अनन्त ज्ञेयोंको जानते हैं ऐसा व्यवहार होता है। तथापि एक भी ज्ञेय उनका नहीं होता है और न वे किसी ज्ञेयके होते हैं। वीतराग विज्ञानका दर्पण तलके समान यही स्वभाव है कि वह जानता तो सबको है परन्तु किसीको आत्मीय मान कर अपने आपमें रोकता नहीं है। यह सब होने पर भी आप चैतन्य चमत्कारसे तन्मय हैं॥ २॥

> एको न भासयति देव न भासतेऽस्मि-
> न्नन्यस्तु भासयति किञ्चन भासते च।
> तौ द्वौ तु भासयसि शम्भव भासते च
> विश्वं च भासयसि भा असि भासको न ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! संसार में (एकः) एक पदार्थ—जड़ पदार्थ (न भासयति) किसीको भासित—प्रकाशित नहीं करता और (अस्मिन्) इस जड़ पदार्थमें कोई पदार्थ (न भासते) प्रकाशित नहीं होता है (तु) किन्तु (अन्यः) जड़से भिन्न—चेतन द्रव्य (भासयति) किसीको भासित करता है। (च) तथा (किञ्चन) अन्य द्रव्य इसमें (भासते) प्रकाशित होता है। (तु) किन्तु (शम्भव) हे शम्भवनाथ! आप (तौ द्वौ) उन दोनों-अचेतन और चेतन पदार्थोंको (भासयति) प्रकाशित करते हैं और स्वयं भी (भाससे) प्रकाशित होते हैं। इस तरह आप (विश्वं च भासयसि) लोकालोकरूप विश्वको प्रकाशित करते हैं अतः (भाः असि) दीप्तिरूप हो, (भासकः न असि) भासक[1]—दीप्तिका निराकरण करनेवाले नहीं हो।

भावार्थ—यह विश्व चेतनाचेतनात्मक पदार्थोंसे भरा हुआ है। इनमें अचेतन पदार्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल चेतनासे शून्य होनेके कारण न किसीको प्रकाशित करते हैं और न कोई पदार्थ इनमें प्रकाशित होता है। उपर्युक्त पाँच अचेतन पदार्थोंके सिवाय विश्वमें एक चेतन द्रव्य भी है। यह चेतन द्रव्य चेतनासे तन्मय होनेके कारण संसारके पदार्थोंको प्रतिभासित करता है और संसारके पदार्थ इसमें प्रतिभासित होते हैं। हे शम्भवनाथ! जिनेन्द्र! आप उपर्युक्त चेतन अचेतन पदार्थोंको प्रतिभासित करते हैं और स्वयं भी प्रतिभासित होते हैं। इस तरह आप

---

१. अस्यति प्रक्षिपति इति आसकः 'असु प्रक्षेपणे' इति धातोः ण्वुल् प्रत्यये रूपं। भायाः (दीप्तेः) (आसकः) प्रक्षेपक इति भासकः तथाभूतः त्वं न भवसि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विश्वको प्रतिभासित करते हैं। जब गुण और गुणीका अभेदविवक्षासे कथन होता है तब गुणको गुणी और गुणीको गुण कह दिया जाता है। यहाँ भी अभेद विवक्षासे शम्भवनाथ जिनेन्द्रको भा अर्थात् ज्ञानरूप दीप्तिसे तन्मय कहा है। और भासकपनेका निषेध किया है। परन्तु विना आधार-के गुणका अस्तित्व रह नहीं सकता इसलिये शम्भव जिनेन्द्रमें भासकपनेका सर्वथा निषेध भी नहीं किया जा सकता अतः 'भासको न' का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि हे भगवन्! आप ज्ञानरूप दीप्तिका निराकरण करने वाले नहीं हैं ॥ ३ ॥

यद्भाति [1]भाति तदिहाथ च (न) भात्य[2]भाति
[3]नाभाति भाति स च भाति न यो [4]नभाति।
भा (या)भाति [5]भात्यपि च [6]भाति न भात्यभाति[7]
सा चाभिनन्दन विभा[8]न्त्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो ज्ञान (भाति) ज्ञानगुणसे तन्मय रहनेके कारण देदीप्यमान होने-वाले (इह) इस आत्मामें (भाति) सुशोभित रहता है (अथ) और (अभाति) ज्ञान गुणसे अतन्मय होनेके कारण देदीप्यमान न रहनेवाले अन्य पदार्थमें (न भाति) सुशोभित नहीं होता। इसी प्रकार (यः) जो ज्ञायक (नाभाति 'इह') अतिशय सुशोभित रहनेवाले आत्मामें (भाति) सुशोभित रहता है और (नभाति) सुशोभित न रहनेवाले अन्य पदार्थमें (न भाति) सुशोभित नहीं होता। इसी प्रकार (या भा) जो ज्ञानरूप दीप्ति (भाति 'इह') देदीप्यमान आत्मामें (अति आभाति) अत्यन्त सुशोभित होती है और (अभाति) अदेदीप्यमान—ज्ञानसे रहित अन्य पदार्थमें (न भाति) सुशोभित नहीं होती (अभिनन्दन) हे अभिनन्दन जिनेन्द्र! (विभान्ती) विशिष्टरूपसे सुशोभित होनेवाली (सा च) वह भा—ज्ञानदीप्ति (त्वाम्) आपका (अभिनन्दति) अभिनन्दन करती है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञान गुण, ज्ञायकस्वभाव और ज्ञप्तिक्रिया इन तीन विशेषताओंका अस्ति और नास्ति पक्षसे एक आत्मामें समावेश करते हुए अभिनन्दन जिनेन्द्रकी स्तुति की गई है। यह ज्ञान गुण अस्ति पक्षसे आत्मामें रहता है नास्ति पक्षसे आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यमें नहीं रहता। ज्ञायकस्वभाव भी ज्ञान गुणसे सुशोभित आत्मामें रहता है, अन्य जड़ पदार्थोंमें नहीं। इसी प्रकार ज्ञप्ति क्रिया भी आत्मामें ही रहती है अन्य जड़ पदार्थोंमें नहीं। 'यत् तत्' इन नपुंसकलिङ्ग पदोंसे ज्ञान गुणका, 'यः सः' इन पुंलिङ्ग पदोंसे ज्ञायक स्वभावका और 'या सा' इन स्त्रीलिङ्ग पदोंसे ज्ञप्ति क्रियाका समावेश किया गया है। भेद विवक्षासे इन तीनोंमें भेद होता है परन्तु अभेद विवक्षासे तीनों एक आत्माकी ही परिणति हैं ॥ ४ ॥

लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा यो
वस्तुप्रमित्यभिमुखः सहजप्रकाशः।

---

१. भाति शोभते इति भान् तस्मिन्, 'भा दीप्तौ' इत्यस्य शतृप्रत्ययान्तप्रयोगः। २. न भाति इति अभान् तस्मिन्। ३. न भातीति अभान्, न भान् इति नाभान् तस्मिन् 'नाश्वः' इतिवत् समासः। ४. न भातीति नभान् तस्मिन्। ५. भातीति भान् तस्मिन्। ६. भा + अति इति पदच्छेदः। ७. न भातीति अभान् तस्मिन्। ८. विशेषेण भाति शोभते इति विभान्ती शोभमानेत्यर्थः भा इत्यस्य विशेषणम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोऽयं तवोल्लसति कारकचक्रचर्चा-
चित्रोऽप्यकर्ब्बुररसप्रसरः सुबुद्धे ॥५॥

अन्वयार्थ—(सुबुद्धे) हे सुमति जिनेन्द्र (सवितुः यथा) सूर्यके प्रकाशकी तरह जो प्रकाश बाह्य दृष्टिसे (लोकप्रकाशनपरः) समस्त लोकको प्रकाशित करनेमें समर्थ है तथा (वस्तु-प्रमित्यभिमुखः) अन्तर्दृष्टिसे आत्मतत्त्वके जाननेके सम्मुख है (सोऽयं) ऐसा यह (तव) आपका (सहजप्रकाशः) सहज ज्ञानस्वभावरूप प्रकाश (कारकचक्रचर्चाचित्रोऽपि) षट्कारक समूहकी चर्चासे चित्ररूप होता हुआ भी (अकर्ब्बुररसप्रसरः) अचित्रित—एकरसरूप प्रसारसे सहित (उल्लसति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावरूप प्रकाश जब केवलज्ञानरूप पर्यायसे सुशोभित होता है तब वह यद्यपि लोकालोकको प्रकाशित करता है तथापि निश्चयसे आत्मस्वरूपको ही प्रकाशित करता है, इसीलिये कहा जाता है कि केवली भगवान् व्यवहारनयसे लोकालोकके ज्ञाता हैं पर निश्चयनयसे आत्माके ही ज्ञाता हैं। यद्यपि व्यवहारकी दृष्टिसे आपका वह ज्ञानस्वरूप प्रकाश, कर्ता कर्म करण संप्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकोंके समूह-की चर्चासे चित्रित होता है उसमें इन सब कारकोंका विकल्प आता है तथापि सामान्यग्राही निश्चय-नयकी अपेक्षा वह सकल कारक चक्रसे उत्तीर्ण होनेके कारण एकरूप ही प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य-
मन्यत्प्रकाशकमपीश तथा प्रकाश्यम्।
त्वं न प्रकाशक इहासि न च प्रकाश्यः
पद्मप्रभ ! स्वयमसि प्रकटः प्रकाशः ॥६॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! लोग (एकं) किसी एकको (प्रकाशकं) प्रकाशक (अपरं) किसी अन्यको (प्रकाश्यं) प्रकाश करने योग्य (तथा) और (अन्यत्) किसीको (प्रकाशकं) प्रकाशक तथा (प्रकाश्यं) प्रकाश्य दोनों रूप (उशन्ति) मानते हैं, परन्तु (त्वं) आप (इह) इस जगत्में (न प्रकाशकः) न प्रकाशक हैं (च न प्रकाश्यः) और न प्रकाश्य हैं (पद्मप्रभ) हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! आप (स्वयं प्रकटः प्रकाशः असि) स्वयं भासमान प्रकाश-रूप हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आत्मामें सुख, वीर्य तथा ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। इनमें सुख गुण आह्लादकी अनुभूतिरूप होनेसे आत्माके अस्तित्वका प्रख्यापक है अतः प्रकाशक है और वीर्य आदि गुण ज्ञानके माध्यमसे अनुभवमें आते हैं अतः प्रकाश्य हैं, परन्तु ज्ञान-दर्शन गुण स्वपरप्रकाशक होनेसे प्रकाशक और प्रकाश्य-दोनोंरूप हैं। यह गुण और गुणीका भेद व्यवहार-नयसे होता है, इसलिये कौन गुण कैसा है ? इसकी चर्चा उसी नयसे संगत होती है। कारक चक्रकी प्रक्रिया भी व्यवहारनयसे ही घटित होती है, इसलिये जब आत्मामें प्रकाशन क्रियाके कर्ताकी अपेक्षा विचार होता है तब आत्मा प्रकाशक होता है और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा जब प्रकाशन क्रिया-के कर्मकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब आत्मा प्रकाश्य कहलाता है। निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मा कारकचक्रके विकल्पसे उत्तीर्ण है अतः वह न कर्ता है और न कर्म है—न प्रकाशक है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और न प्रकाश्य है, किन्तु एक सहज प्रकाशरूप है। हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र! आप इसी सहज प्रकाशरूप हैं। निश्चयनयसे आत्मवस्तुका कथन कभी गुणीरूपसे होता है और कभी गुणरूपसे। जैसे आत्मा ज्ञायक है अथवा आत्मा ज्ञानमात्र है। यहाँ गुणरूपसे कथन करते हुए पद्मप्रभ जिनेन्द्रको प्रकट प्रकाशरूप कहा गया है। उनका यह प्रकट प्रकाश स्वयं सिद्ध है राग-द्वेषादिक विकारीभाव के समान परसापेक्ष नहीं है॥ ६॥

अन्योन्यमापिबति वाचकवाच्यसद्यत्
सत्प्रत्ययस्तदुभयं पिबति प्रसह्य।
सत्प्रत्ययस्तदुभयेन न पीयते चेत्
पीतः समग्रममृतं भगवान् सुपार्श्वः॥७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (वाचकवाच्यसत्) वाचक—शब्द और वाच्य—अर्थरूप सत् (अन्योन्यम् आपिबति) एक दूसरेको ग्रहण करता है अर्थात् एक दूसरे पर निर्भर है (तदुभयं) उस दोनों प्रकारके सत्को (सत्प्रत्ययः) सत्का ज्ञान (प्रसह्य) बलपूर्वक (पिबति) ग्रहण करता है, परन्तु (तदुभयेन) वाचक और वाच्यरूप सत्के द्वारा (सत्प्रत्ययः) सत्का ज्ञान (न पीयते) ग्रहण नहीं किया जाता है (चेत्) यदि (समग्रं अमृतं) उस वाचक, वाच्य और सत् ज्ञानको यदि (पीतः) ग्रहण किया है तो (भगवान् सुपार्श्वः) भगवान् सुपार्श्वनाथने ग्रहण किया है।

भावार्थ—शब्दको वाचक और अर्थको वाच्य कहते हैं जैसे मुखके द्वारा उच्चरित और कानोंके द्वारा श्रूयमाण घट शब्द वाचक है और घट शब्दके द्वारा ग्रहणमें आनेवाला बना हुआ (कम्बुग्रीवादिमान्) पदार्थ-घट वाच्य है। ये दोनों ही सत् एक दूसरके ऊपर निर्भर हैं। घट शब्द उच्चरित होता है तो उसका कोई ग्राह्य अर्थ अवश्य होता है और कोई ग्राह्य पदार्थ है तो वह किसी न किसी शब्दके द्वारा गृहीत अवश्य होता है। इन दो प्रकारके सतोंके अतिरिक्त एक ज्ञानरूप सत् भी होता है "इस उदाहरणमें" जैसे घटका ज्ञान इस प्रकार घट शब्द, कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ और घट ज्ञानके भेदसे सत् तीन प्रकारका होता है। इनमें शब्द और अर्थरूप सत् जड़ पदार्थ है, अतः वे परस्पर सापेक्ष होने पर भी ज्ञानसे रहित हैं और इसी कारण वे ज्ञानरूप सत्को ग्रहण नहीं कर पाते। परन्तु ज्ञानरूप सत् उन दोनों—शब्द और अर्थरूप सतोंको अपनी स्वच्छताके कारण नियमपूर्वक ग्रहण करता है। यह रही वाचक सत् वाच्य सत् और ज्ञान सत्की बात। भगवान् सुपार्श्वनाथ इन तीनों प्रकारके सत्को ग्रहण करते हैं। वाचक और वाच्य ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय ही है परन्तु ज्ञान, स्वपर प्रकाशक होनेसे वह ज्ञान और ज्ञेय दोनोंरूप होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सुपार्श्वनाथ शब्दसत् अर्थसत् और ज्ञानसत् इन तीनोंके ज्ञाता हैं॥ ७॥

उन्मज्जतीति परितः(परतो) विनिमज्जतीति
मग्नः प्रसह्य पुनरुत्प्लवते तथापि।
अन्तर्निमग्न इति भाति न [1]भाति भाति
चन्द्रप्रभस्य विशदश्चितिचन्द्रिकौघः॥८॥

१. भातीति भान् तस्मिन्, अन्यस्मिन् पदार्थे भाति सति न भाति न शोभते इत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—संसारके अन्य जीवोंका ज्ञान, (परतः) ज्ञानकी उत्पत्तिमें साधकस्वरूप इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि परकी सहायतासे (उन्मज्जति) उत्पन्न होता है और ज्ञानकी उत्पत्ति में बाधक स्वरूप इन्द्रिय विकार तथा अन्धकार आदि प्रतिबन्धक कारणोंसे यद्यपि (प्रसह्य) हठात् (विनिमज्जति) विनिमग्न हो जाता है तथापि (मग्नः सत्) मग्न होने पर भी प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव होने पर (पुनः) फिरसे (उत्प्लवते) उत्पन्न हो जाता है। परन्तु (चन्द्रप्रभस्य) चन्द्रप्रभ भगवान्‌का (विशदः) निर्मल (चितिचन्द्रिकौघः) चैतन्यरूप-ज्ञानरूप चाँदनीका समूह (अन्तर्निमग्न) बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष होकर अन्तरङ्गमें ही निमग्न है, अन्तरङ्ग कारणसे उत्पन्न होता है [अन्यस्मिन्] भाति सति न भाति) अन्य पदार्थके भासित रहते हुए नहीं भासता है (इति भाति) इसलिये सदा भासित रहता है।

भावार्थ—यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान और क्षायिक ज्ञानकी विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि संसारी जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञान परनिमित्त सापेक्ष होनेसे उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है परन्तु चन्द्रप्रभ भगवान्‌का क्षायिक ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होनेसे सदा भासमान रहता है। अर्थात् क्षायिक ज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयरूप अन्तरङ्ग कारण ही अपेक्षित रहता है प्रकाश आदि बाह्य कारण नहीं ॥ ८ ॥

यस्मिन्नवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत्
तत्स्थः स्वयं सुविधिरप्यनवस्थ एव ।
देवोऽनवस्थितिमितोऽपि स एव नान्यः
सोऽप्यन्य एवमतथापि स एव नान्यः ॥९॥

अन्वयार्थ—यह जगत् (यस्मिन्) जिस इन्द्रिय सुखमें (अवस्थितिम्) स्थिरताको (उपैति) प्राप्त होता है (तत्) वह इन्द्रियसुख (अनवस्थितं) अस्थिर है। जगत् ही नहीं, (तत्स्थः) उस इन्द्रियसुखमें स्थिर रहनेवाले (स्वयं सुविधिः अपि) स्वयं सुविधिनाथ भगवान् भी (अनवस्थ एव) अस्थिर ही रहे। (देवः) सुविधि जिनेन्द्र पर्याय दृष्टिसे (अनवस्थितिम् इतोऽपि) अनित्यता को प्राप्त होकर भी, द्रव्यदृष्टिसे (स एव) वही थे। (अन्यो न) अन्य नहीं थे और (सोऽपि) वह अन्य पदार्थ भी (अन्यः) अन्य ही रहा। (एवं) इस प्रकार वे (अतथापि) तद्रूप न होकर भी (स एव) तद्रूप रहे (अन्यो न) अन्यरूप नहीं हुए।

भावार्थ—संसारके प्राणी इन्द्रिय सुखको स्थायी मानकर उसमें अपना अभिप्राय लगाते हैं पर वह इन्द्रियसुख स्थायी नहीं है, अस्थायी है—देखते देखते नष्ट हो जाता है। और की बात जाने दो सुविधिनाथ भगवान् भी गृहस्थ अवस्थामें जब तक उस इन्द्रियसुखमें स्थिर रहे तब तक वे स्वयं अस्थिर रहे। अस्थिरताका प्रमाण यही है कि वे अन्ततः उस इन्द्रियसुखको छोड़कर आत्मसुखमें ही स्थिर हुए। संसारके प्रत्येक पदार्थ पर्याय दृष्टिसे अस्थिर हैं, अतः भगवान् सुविधिनाथ भी पर्यायदृष्टिसे यद्यपि अस्थिर थे तथापि द्रव्यदृष्टिसे वह वही थे, अन्य नहीं थे अर्थात् स्थिर—नित्य थे। इस तरह द्रव्य और पर्यायदृष्टिसे भगवान् सुविधिनाथ नित्यानित्यात्मक थे। जिसमें 'तदेवेदं भाव'—यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता रहे वह नित्य कहलाता है और जिसमें 'अतद्भाव'—अन्य भाव हो वह अनित्य कहलाता है। सामान्य-तीर्थंकरत्वकी अपेक्षा सुविधिनाथ नित्य थे परन्तु सराग और वीतराग अथवा छद्मस्थ और सर्वज्ञकी अपेक्षा वे अनित्य थे ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि चान्य-
शून्योऽन्यशून्यविभवोऽप्यसि नैकपूर्णः ।
त्वं नैकपूर्णमहिमाऽपि सदैक एव
कः शीतलेति चरितं तव मातुमीष्टे ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (शून्योऽपि) काम-क्रोधादिविकारी भावोंसे शून्य होकर भी (निर्भरभृतः असि) ज्ञान-दर्शनादि स्वकीय गुणोंसे अतिशय पूर्ण हैं, (भृतोऽपि) स्वकीय गुण-पर्यायोंसे (भृतोऽपि) परिपूर्ण होकर भी (अन्यशून्यः) अन्य द्रव्यके गुण-पर्यायोंसे (शून्यः) शून्य हैं, (अन्यशून्यविभवः अपि) अन्य द्रव्योंसे शून्यविभव होकर भी (नैकपूर्णः) ज्ञेयरूपताको प्राप्त हुए अनेक द्रव्योंसे पूर्ण हैं और (नैकपूर्णमहिमापि) अनेक अतिशयोंसे परिपूर्ण महिमासे युक्त होकर भी (सदा एक एव) सदा एक ही हैं (इति) इस तरह (शीतल) हे शीतल जिनेन्द्र ! (तव चरितं) आपके चरितको (मातुं) जाननेके लिये (कः ईष्टे) कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—यहाँ शून्यत्व-अशून्यत्व और एकत्व-अनेकत्व भङ्गोंकी अपेक्षा शीतलनाथ जिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप विकारी भावोंसे रहित होनेके कारण शून्य हैं तथा स्वकीय ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे सहित होनेके कारण शून्य नहीं हैं । अथवा अन्य द्रव्योंके गुण पर्यायोंसे रहित होनेके कारण शून्य हैं और ज्ञेय बनकर आत्मामें प्रतिफलित होनेवाले अनेक द्रव्यों तथा उनके गुण पर्यायोंसे पूर्ण होनेके कारण शून्य नहीं हैं । इसी तरह आप स्वरूपकी अपेक्षा अद्वितीय होनेके कारण एक हैं और अनेक अतिशयोंसे परिपूर्ण महिमासे युक्त होनेके कारण अनेक हैं । यहाँ परस्पर विरोधी भङ्गोंका समन्वय स्याद्वादसे होता है ॥ १० ॥

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं
नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य ।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि
श्रेयःप्रभोऽद्भुतनिधान किमेतदीदृक् ॥११॥

अन्वयार्थ—(अद्भुतनिधानः श्रेयःप्रभो) हे आश्चर्यके निधानभूत श्रेयोनाथ । आप (नित्योऽपि) त्रैकालिक-अनाद्यनन्त ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा नित्य होकर भी (नाशम् उपयासि) पर्यायकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होते हैं । और द्रव्यकी अपेक्षा (नाशं न यासि) नाशको प्राप्त नहीं होते हैं । (नष्टोऽपि) जीवन्मुक्त अरहंत अवस्थाकी अपेक्षा नष्ट होकर भी (पुनः) फिरसे (प्रसह्य) हठात् (सम्भवम्) मुक्तावस्थारूप जन्मको (उपैषि) प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार (जातोऽपि) संयोगी पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न होकर भी (अजातः) शुद्ध आत्मद्रव्यकी अपेक्षा उत्पन्न नहीं हैं (इति) ऐसा (तर्कयताम्) चिन्तन करनेवालोंके लिये आप (विभासि) विभासित होते हैं । हे प्रभो ! (एतद् ईदृक् किम्) यह ऐसा क्यों है ?

भावार्थ—यहाँ नित्यानित्य नयकी अपेक्षा श्रेयान्सनाथ भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप नित्य होकर भी नाशको प्राप्त होते हैं और नाशको प्राप्त होकर भी नाशको प्राप्त नहीं होते हैं । तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा नित्य हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पर्यायकी अपेक्षा नाशको प्राप्त होकर भी द्रव्यकी अपेक्षा नाशको प्राप्त नहीं हैं। नष्ट होकर भी पुनः उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर भी उत्पन्न नहीं होते हैं। फलितार्थ यह है कि आप कारण समयसार अथवा जीवन्मुक्त अवस्था की अपेक्षा नष्ट होकर भी मुक्तावस्थाकी अपेक्षा पुनः उत्पन्न होते हैं और मुक्तावस्थारूप उत्पन्न होकर भी पुनः अवस्थान्तरको प्राप्त नहीं होते। इस तरह तर्कणा करनेवाले जीवोंके लिए आपका समस्त स्वरूप आश्चर्यका भाण्डार मालूम होता है ॥ ११ ॥

सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि संश्च भासि
सन्मांश्च सत्त्वसमवायमितो न भासि।
सत्त्वं स्वयंविभव भासि न चासि सत्त्वं
सन्मात्रवस्त्वसि गुणोऽसि न वासुपूज्य ॥१२॥

अन्वयार्थ—(वासुपूज्य) हे वासुपूज्य भगवन्! आप (सन्नपि) सत्‌रूप होकर भी (स्फुटम्) स्पष्ट ही (असन्) असद् रूप हैं। और (असन्नपि) असद्रूप होकर भी (संश्च) सद्रूप (भासि) प्रतीत होते हैं। आप (सन्मान्) सत् सत्तासे युक्त होकर भी (सत्त्वसमवाय-मितः) सत्त्वके साथ समवायको प्राप्त (न भासि) नहीं मालूम होते हैं। (विभव[१]) हे जन्म-रहित! आप (स्वयं) स्वयं (सत्त्वं भासि) सत्त्वरूप मालूम होते हैं परन्तु (सत्त्वं न चासि) सत्त्वरूप नहीं हैं। (सन्मात्रवस्तु असि) आप सत्तामात्र वस्तु हैं (गुणो नासि) गुणरूप नहीं हैं।

भावार्थ—यहाँ वासुपूज्य भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप सत् होकर भी सत् नहीं हैं अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सत् हैं और पर्यायदृष्टिसे सत् नहीं है। इसी तरह पर्यायदृष्टिसे असत् होकर भी द्रव्यदृष्टिसे सत् हैं। आप सत्तासे युक्त होकर भी न्यायदर्शनसम्मत समवायके अनुसार सत्ताके साथ समवायको प्राप्त नहीं है। न्यायदर्शन गुण और गुणीको पृथक् मानकर उनके समवायको स्वीकृत करता है, परन्तु जैनदर्शन गुण और गुणीको प्रदेशोंकी अपेक्षा पृथक् न मानकर उनके त्रैकालिक तन्मयीभावको स्वीकृत करता है। सत् गुणी है और सत्त्व गुण है, चूँकि इनमें प्रदेश भेद नहीं है इसलिये कभी मात्र गुणके द्वारा गुणीका कथन होता है और कभी गुणीके द्वारा गुणका उल्लेख होता है। यहाँ गुणके द्वारा गुणीका कथन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आप सत्त्व—सत्तागुणरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु मात्र सत्त्व—सत्तागुण नहीं हैं। अपितु सत्तागुणसे युक्त हैं। [२]एक विवक्षासे गुण और गुणीके विकल्पको समाप्त कर गुणको ही वस्तु कहा जाता है इस विवक्षामें आप सन्मात्र वस्तु हैं, गुण नहीं हैं, ऐसा कहा गया है ॥ १२ ॥

भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो
भूयो भविष्यसि तथापि भविष्यसि त्वम्।
यो वा भविष्यसि स खल्वसि वर्तमानो
यो वर्त्तसे विमलदेव स एव भूतः ॥१३॥

---

१. विगतो भवो जन्म यस्य स विभवः तत्सम्बुद्धौ हे विभव। २. 'तत्त्वं सल्लक्षणकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्'—पञ्चाध्यायी १।८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(विमलदेव) हे विमल जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (अधुना) इस समय (भूतो नैव भवसि) भूत नहीं हैं (वर्तमानो न) वर्तमान नहीं हैं और (भूयो न भविष्यसि) पुनः भविष्यमें नहीं होंगे, तथापि (त्वं भविष्यसि) आप भविष्यत्में होंगे। (वा) अथवा आप (यो भविष्यसि) जो होंगे (खलु) निश्चयसे (सः) वह (वर्तमानः असि) वर्तमान है और (यो वर्तसे) जो वर्तमान है (स एव भूतः) वही भूत है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप द्रव्य और पर्यायरूप हैं। इनमें द्रव्य सामान्यरूप है और पर्याय विशेषरूप। द्रव्य अपरिवर्तनीय है, पर्याय परिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय वस्तुमें कालचक्रका व्यवहार नहीं होता, अतः जब द्रव्यरूपसे आपका विचार किया जाता है तब आप भूत, वर्तमान और भविष्यत्के व्यवहारसे रहित सिद्ध होते हैं। परन्तु जब पर्यायरूपसे आपका विचार करते हैं तब परिवर्तनीय होनेके कारण भविष्यमें आप अवश्य होंगे। आज भी आप अरहन्त हैं, भविष्यमें सिद्ध होंगे, परन्तु सिद्ध अवस्थामें जो आपका ज्ञायक स्वभाव होगा वह अभी वर्तमानमें भी है और भूतकालमें भी था। इस तरह ज्ञायकस्वभावकी अपेक्षा भी आप कालत्रयके व्यवहारसे परे हैं ॥१३॥

एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय-
वैचित्र्यचित्रमनुभूयत एव देव।
द्वैतं प्रसाधयदिदं तदनन्तशान्त-
मद्वैतमेव महयामि महन्महस्ते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अनन्तदेव) हे अनन्तनाथ जिनेन्द्र ! जो (एकं) एक होकर भी (प्रपीतविषमापरिमेयवैचित्र्यचित्रं) ग्रहणमें आये हुए छोटे-बड़े अपरिमित पदार्थोंकी विचित्रतासे नानारूप (एव) ही (अनुभूयते) अनुभवमें आता है। इस तरह प्रमेयकी अपेक्षा जो (द्वैतं प्रसाधयत्) नानारूपताको सिद्ध करता है, रागद्वेषादिसे रहित होनेके कारण (शान्तं) शान्त है, क्षायिकज्ञान—केवलज्ञानरूप पर्यायसे युक्त होनेके कारण (अद्वैतमेव) एक ही है और लोकालोकमें व्यापक होनेसे (महत्) महत् रूप है (ते इदं तत् महः) आपके इस सम्यग्ज्ञानरूप तेजकी मैं (महयामि) पूजा करता हूँ।

भावार्थ—भगवान् अनन्त जिनेन्द्र, वीतराग विज्ञानरूप केवलज्ञानको धारण करते हैं। उनका यह केवलज्ञान, ज्ञानपर्यायकी अपेक्षा यद्यपि एक है, अद्वैतरूप है, तथापि उसमें प्रतिभासित होनेवाले नाना पदार्थोंकी अपेक्षा वह द्वैतरूप भी है। उनका यह ज्ञान, रागादि विकारी भावोंसे रहित होनेके कारण शान्तस्वरूप है, अनन्त सुखसे सम्पन्न है तथा लोकालोककी बात जाननेकी अपेक्षा महत्‌रूप भी है। इसके अतिरिक्त अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भी केवलज्ञान उत्कृष्ट अनन्तानन्तरूप होनेसे महत्‌रूप है। अनन्तनाथ भगवान्‌के इस ज्ञानरूप तेजकी मैं आराधना करता हूँ ॥१४॥

[1]सर्वात्मकोऽसि न च जातु [2]परात्मकोऽसि
स्वात्मात्मकोऽसि न तवास्त्यपरः स्व आत्मा।
आत्मा त्वमस्य न च धर्मनिरात्मता ते
न च्छिन्नदृक्प्रसररूपतयास्ति सापि ॥१५॥

---

१. सर्वाणि आत्मनि यस्य स सर्वात्मकः। २. पर आत्मा यस्य स परात्मकः पररूपः पक्षे उत्कृष्टात्मा परमात्मेत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(धर्म) हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! आप (सर्वात्मकः असि) सर्वात्मक हैं—समस्त पदार्थ आपकी आत्मामें प्रतिबिम्बित हैं, तो भी आप (परात्मकः) पररूप (जातु न असि) कभी नहीं हैं। (स्वात्मात्मकः असि) स्वकीय आत्मस्वरूप हैं, (अपरः) अन्य कोई (तव) आपका (स्व आत्मा) निज आत्मा (नास्ति) नहीं है। (अस्य आत्मा त्वं) इस आत्माका स्वरूप तुम्हीं हो, (निरात्मता) स्वरूपहीनता आपके मतमें नहीं है और (सापि) वह स्वरूप सहितता भी (छिन्न-दृक्स्वरूपप्रसररूपतया) सीमित दर्शनज्ञानरूपसे नहीं है।

भावार्थ—विरोधाभास अलंकारका आश्रय लेकर धर्मनाथ भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा है कि आप सर्वात्मक—सर्वरूप होकर भी परात्मक-पररूप कभी नहीं हैं। जो सर्वरूप होगा उसे पररूप होना ही पड़ेगा, यह विरोध है परन्तु 'सर्वाणि आत्मनि यस्य स सर्वात्मकः' ऐसा समास करनेसे यह अर्थ निकलता है कि आपकी आत्मामें सर्व पदार्थ हैं अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं। इसी तरह 'परात्मकः' इस पदका भी 'पर उत्कष्ट आत्मा यस्य सः' ऐसा समास करनेसे यह अर्थ निकलता है कि आप परात्मा हैं। परमार्थसे एक द्रव्य अन्यरूप परिणमन नहीं करता, इसलिए कहा गया है कि आप स्वकीय आत्मस्वरूप ही हैं, अन्य-परद्रव्य आपका निज आत्मा नहीं है। आत्माका एक अर्थ स्वरूप भी होता है अतः आत्माका स्वरूप जो ज्ञानदर्शन है तद्रूप आप हैं। आत्मामें निरात्मता-स्वरूपहीनता नहीं है अर्थात् स्वरूपसहितता है। परन्तु आत्माकी वह स्वरूपसहितता सीमित दर्शन-ज्ञानरूप नहीं है अपितु अनन्तदर्शन-ज्ञानरूप है ॥१५॥

अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु—
स्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरोऽसि ।
एकप्रभाभरसुसंभृत शान्त शान्ते
चित्सत्त्वमात्रमिति भास्यथ च स्वचित्ते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(एकप्रभाभरसुसंभृत) जो अद्वितीय कान्तिके समूहसे परिपूर्ण हैं तथा (शान्त) सातिशय प्रशम गुणसे युक्त हैं ऐसे (शान्ते) हे शान्ति जिनेन्द्र! आप (अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्व-तन्तुस्यूतस्फुरत्किरणकोरकनिर्भरः असि) पारस्परिक वैरभावमें रस लेनेवाले जीवोंको आश्चर्य-जनक देदीप्यमान किरणरूप कुड्मलोंसे सहित हैं अर्थात् आपके शरीरसे निकलनेवाली किरणोंके प्रभावसे परस्पर विरोधी जीव भी वैरभाव छोड़कर आपसमें मिल जाते हैं (अथ च) इसके सिवाय आप (चित्सत्त्वमात्रम्) ज्ञानके अस्तित्त्वमात्र हैं, (इति) इस तरह (स्वचित्ते) मेरे चित्तमें (भासि) प्रतिभासित हो रहे हैं।

भावार्थ—यहाँ शान्तिनाथ भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा गया है कि उनके शरीरसे निकलनेवाली किरणोंके प्रभावसे परस्परविरोधी जीव भी अपना वैरभाव भूल जाते थे। वे शान्त थे, और रागादिकका विकल्प समाप्त हो जानेसे ज्ञानमात्र थे अर्थात् उनका ज्ञान ज्ञानमें-ही प्रतिष्ठित हो गया था ॥१६॥

यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद—
मापद्य चित्रमपि चारचयन्त्यचित्रे ।
कुन्थो! स्फुटन्ति घनसंघटितानि [ता हि] नित्यं
विज्ञानधातुपरमाणव एव नैव ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(कुन्थो !) हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! (विज्ञानधातुपरमाणवः) आपके केवलज्ञानरूप धातुके अविभागी प्रतिच्छेद यद्यपि अगुरुलघु गुणके कारण (क्षणक्षयं यान्ति) क्षण-क्षणमें नश्वरता-को प्राप्त हो रहे हैं (च) और (अचित्रे) विविधरूपतासे रहित अपने आपमें (उपाधिवशेन) ज्ञेयरूप उपाधिके कारण (भेदम् आपद्ये) भेद प्राप्त कराकर (चित्रमपि आरचयन्ति) विविधरूपताको भी उत्पन्न कर रहे हैं तथापि (हि) निश्चयसे (नित्यं) निरन्तर (घनसंघटितानि [ता हि] एव) अत्यन्त संघटित रूप ही होनेसे (नैव स्फुटन्ति) पृथक्-पृथक् नहीं होते हैं ।

भावार्थ—असंख्यात प्रदेशी आत्माका केवलज्ञान गुण भी असंख्यात प्रदेशी है और एक-एक प्रदेशगत केवलज्ञानके अनन्त अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। यद्यपि केवलज्ञानके वे अविभाग प्रतिच्छेद सामान्यरूपसे अविनाशी हैं तथापि अगुरुलघु गुणके कारण षड्गुणी हानि-वृद्धि होते रहनेसे समय-समयमें क्षयको प्राप्त हो रहे हैं। सामान्यतया केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद ज्ञेयसे रहित होने के कारण अचित्र हैं—एक रूप हैं तो भी घटपटादि ज्ञेयरूप उपाधिके कारण वे अनेक मालूम होते हैं। जैसे दर्पण अपने स्वच्छस्वरूपसे एकरूप होकर भी घटपटादि नाना पदार्थोंके प्रतिबिम्ब से नानारूप मालूम होने लगता है। केवलज्ञानके वे प्रदेश परस्पर संघटित ही रहते हैं अतः बालूदार पत्थरके कणोंके समान कभी भी बिखरकर अलग-अलग नहीं होते हैं। गुण और गुणीका त्रैकालिक अखण्ड तादात्म्य सम्बन्ध रहता है ॥१७॥

एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक
एकोऽस्यनेकसमुदायमयः सदैव ।
नानेकसञ्चयमयोऽस्यसि चैक एक—
स्त्वं चिच्चमत्कृतिमयः परमेश्वरार ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अर परमेश्वर !) हे अर जिनेन्द्र ! आप (एकः अपि) द्रव्यदृष्टिसे एक हो कभी (अनेक इति भासि) पर्यायदृष्टिसे अनेक मालूम होते हैं परन्तु (अनेकः न च असि) परमार्थसे अनेक नहीं हैं। (सदैव) हमेशा ही अनेक (समुदायमयः) अनेक पर्यायोंके समुदायरूप (एकः असि) एक हैं। (अनेकसंचयमयः न असि) अनेक पर्यायोंके संग्रहरूप भी नहीं हैं, किन्तु (एकः) एक ही हैं। इस प्रकार (त्वम्) आप (एकः चिच्चमत्कृतिमयः असि) चैतन्य चमत्कारसे तन्मय एक हैं।

भावार्थ—यहाँ अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा गया है कि आप आत्मद्रव्यकी अपेक्षा यद्यपि एक हैं तथापि ऊर्ध्वता सामान्यके कारण कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक हैं। परन्तु परमार्थसे वे अनेक पर्यायें क्या द्रव्यमें सदा विद्यमान रहती हैं ? नहीं रहतीं, एक कालमें द्रव्य एक ही पर्यायसे युक्त होता है, अतः वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा आप एक हैं, इतना अवश्य है कि आप वह एक आत्मद्रव्य हैं जो अनेक पर्यायोंके समुदायरूप है। एकद्रव्यको अनेक पर्यायोंके समुदायरूप कहना शक्तिकी अपेक्षा ही बनता है अर्थात् द्रव्य, अपनी शक्तिसे भूत-कालमें अनन्त पर्याय धारण कर चुका है और भविष्यत्कालमें अनन्त पर्याय धारण करेगा, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्तिरूपसे द्रव्य, अनेक पर्यायोंके संचयरूप न होकर एक पर्यायरूप ही होता है। इस दृष्टिसे आप एक ही हैं। पर्यायें, एक अनेक भूत वर्तमान तथा भविष्यत् कालका विकल्प उत्पन्न करती हैं अतः उनकी ओरसे दृष्टि हटाकर जब त्रैकालिक—अनाद्यनन्त ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप एक चैतन्य चमत्कारसे तन्मय ही हैं ।।१८।।

निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं
प्राप्नोषि दारणमितोऽप्यसि निर्विभागः ।
भागोज्झितोऽपि परिपूर्तिमुपैषि भागै-
र्निभाग एव च चिता प्रतिभासि मल्ले ।।१९।।

अन्वयार्थ—(मल्ले !) हे मल्लिनाथ जिनेन्द्र ! आप (निर्दारितोऽपि) गुण-गुणीकी अपेक्षा भेदरूप होकर भी (घटसे) प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप हैं, (घटितोऽपि) अभेदरूप होकर भी (दारं प्राप्नोषि) भेदको प्राप्त होते हैं—गुणकी अपेक्षा अभेदरूप होकर भी गुणांशोंकी अपेक्षा भेदरूप हैं तथा गुणांशोंकी अपेक्षा (दारणम् इतोऽपि) भेदको प्राप्त होकर भी (निर्विभागः असि) विभाग रहित हैं—आपके वे गुणांश पृथक्त्वसे रहित हैं। (भागोज्झितोऽपि) भागसे रहित होकर भी (भागैः परिपूर्तिम् उपैषि) भागोंके द्वारा ही पूर्णताको प्राप्त होते हैं, (च चिता निर्विभाग एव प्रतिभासि) और चैतन्य ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा निर्भाग—भागरहित ही प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—देश, देशांश, गुण और गुणांश ये चार तत्त्व हैं। द्रव्यको देश, उसके प्रदेशोंको देशांश, द्रव्यके गुणोंको गुण और उनके अविभागी प्रतिच्छेदोंको गुणांश कहते हैं। आत्मा एक देश-द्रव्य है, उसके असंख्यात देशांश-प्रदेश हैं, उसमें ज्ञान-दर्शनादि अनेक गुण हैं और उन गुणोंके अनन्त गुणांश-अविभाग प्रतिच्छेद हैं। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, अतः वह अपने असंख्य प्रदेशोंसे कभी भी खण्डरूप नहीं होता। समुद्घातके समय भी उसके समस्त प्रदेश परस्पर सम्बद्ध ही रहते हैं, बालूके कणोंके समान पृथक्-पृथक् नहीं होते। हे मल्लि जिनेन्द्र ! यद्यपि प्रदेश और प्रदेशवान्की अपेक्षा आप भेदको प्राप्त हैं तथापि उनमें पृथक्त्व न होनेसे आप अभेदरूप ही हैं ! गुण और गुणीमें प्रदेशभेद नहीं है, इसलिये आप अभेदरूप होकर भी संज्ञा, संख्या, लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद होनेसे भेदरूप हैं। गुणोंकी अपेक्षा भेदरूपताको प्राप्त होकर भी आप गुणांशोंकी अविवक्षामें अभेदरूप हैं, परन्तु एक एक गुणके अनन्त-अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा जब विचार करते हैं तब आप उन अनन्त-अविभागी प्रतिच्छेदोंके द्वारा ही पूर्णताको प्राप्त होते हैं, ऐसा अनुभवमें आता है। परमार्थसे देश, देशांश, गुण और गुणांशोंका विकल्प आत्मामें नहीं है अतः आप एक चैतन्य गुणसे ही तन्मय हैं, यह कहना उपयुक्त है ।। १९ ।।

उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व-
मारोऽपितोऽप्यसि समुद्धृत एव नैव ।
नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपाद-
व्यानद्धकृत्स्नभुवनोऽनिशमच्युतोऽसि ।।२०।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(मुनिसुव्रत) हे मुनि सुव्रतनाथ ! (त्वम्) आप अशुभोपयोगसे (उत्पाटितोऽपि) दूर हटाये जानेपर भी शुभोपयोगमें (रोपितः) अधिरूढ़ हुए, परन्तु शुभोपयोगमें (आरोऽपितोऽपि) आरूढ़ होनेपर भी (समुद्धृत एव न असि) संसार सागरसे समुद्धृत नहीं हो सके। जब आप (अनिशं) निरन्तर (नित्योल्लसन्निरवधिस्थिरबोधपादव्यानद्धकृत्स्नभुवनः) नित्य ही उपयोगरूपसे उल्लसित अनन्त केवलज्ञानकी किरणोंसे समस्त लोकको व्याप्त करनेवाले हुए तभी (अच्युतः) परमधामसे अच्युत (असि) हुए हैं।

भावार्थ—जिनागममें उपयोगके तीन भेद बतलाये हैं—(१) अशुभोपयोग, (२) शुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग। विषयप्राप्तिके अभिप्रायको लिए हुए कषायकी जो तीव्र परिणति है उसे अशुभोपयोग कहते हैं। विषय कषायकी निवृत्तिके अभिप्रायको लिये हुए देवपूजा, पात्रदान आदि शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करानेवाली जो मन्दकषायरूप परिणति है उसे शुभोपयोग कहते हैं और शुभ तथा अशुभके विकल्पसे निवृत्त आत्माकी जो अत्यन्त मन्दकषायरूप अथवा कषायके अभावरूप जो परिणति है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। करणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार प्रथमसे लेकर तृतीय गुणस्थान तक तारतम्यसे घटता हुआ अशुभोपयोग होता है। चतुर्थसे लेकर षष्ठ गुणस्थान तक तारतम्यसे बढ़ता हुआ शुभोपयोग होता है और सप्तमादि गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोग होता है। यह जीव जब मिथ्यात्वसे हटकर सम्यक्त्व अवस्थामें आता है तब अशुभोपयोगसे उत्पाटित होकर शुभोपयोगमें रोपित कहलाता है परन्तु शुभोपयोगरूप परिणाम मुक्तिका साक्षात् कारण नहीं है अतः देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियोंके बन्धमें पड़ जानेसे यह जीव समुद्धृत-संसार सागरसे पार नहीं हो पाता। शुभोपयोगरूप परिणामके अनन्तर यह जीव मोहनीय कर्मकी सत्ताको लिए हुए यदि उपशम-श्रेणीपर आरूढ़ होता है तो वहाँसे च्युत होकर नीचे आता है और इसी बीचमें यदि मृत्यु हो गयी तो सागरों-पर्यन्तके लिये देवशरीरमें रुक जाता है। जब क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर दशम-गुणस्थानके अन्ततक मोहनीय कर्मकी सत्ताका नाश करता हुआ बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है और शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभावसे ६३ कर्म-प्रकृतियोंका क्षय कर तेरहवें गुणस्थानमें आरूढ़ होता है तब लोकालोकावभासी केवलज्ञानके द्वारा समस्त जगत्को व्याप्त करता हुआ—जानता हुआ सचमुच ही अच्युत होता है—वहाँसे च्युत होकर नीचे नहीं आता तथा कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक देशोन कोटिवर्ष पूर्वके बाद नियमसे मोक्षमहलमें आरूढ होता है। इस श्लोकमें श्री मुनि सुव्रतनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवान् ! आप अशुभयोगसे हटकर शुभोपयोगमें अधिरूढ़ हुए, पर उतने मात्रसे संसार सागरसे पार नहीं हो सके। जब शुद्धोपयोगमें आरूढ़ होकर यथाक्रमसे केवलज्ञानको प्राप्त हुए तभी परमार्थसे अच्युत हो सके ॥२०॥

विष्वक्कृततोऽपि न ततोऽस्यततोऽपि नित्य-
मन्तःकृतत्रिभुवनोऽसि तदंशगोऽसि।
लोकैकदेशनिभृतोऽपि नमे त्रिलोकी-
माप्लावयस्यमलबोधसुधारसेन ॥२१॥

---

१. ततः असि अततः इति पदच्छेदः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(नमे) हे नमिनाथ जिनेन्द्र आप केवलज्ञानकी अपेक्षा (विष्वक् ततोऽपि) समस्त लोकालोकमें व्याप्त होकर भी (ततः न असि) आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा व्याप्त नहीं हैं और (अततोऽपि) व्याप्त न होकर भी (नित्यं) निरन्तर (अन्तःकृतत्रिभुवनः असि) ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धसे तीनों लोकोंको अन्तर्गत करनेवाले हैं। आप (तदंशगः असि) लोकके एक अंश—असंख्येयभाग में स्थित हैं और (लोकैकदेशनिभृतः अपि) लोकके एक देशमें स्थित होकर भी (अमलबोध-सुधारसेन) निर्मल केवलज्ञानरूप अमृतरसके द्वारा (इमां त्रिलोकीम्) इस लोकत्रयको (आप्लावयसि) आप्लुत करते हैं।

भावार्थ—नमिनाथ भगवान् का स्तवन करते हुए कहा गया है कि आप केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानते हैं, इसलिए 'णाणं णेयपमाणं'–'ज्ञान ज्ञेयके प्रमाण हैं' इस सिद्धान्तके अनुसार आप सर्वत्र व्याप्त हैं परन्तु आपके आत्मप्रदेश लोकके असंख्येयभागमें ही स्थित हैं, सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं तथापि आपके केवलज्ञानमें तीनों लोक अन्तःप्रतिफलित हो रहे हैं। अरहन्त अवस्थामें आप मध्य लोकमें और सिद्ध अवस्थामें लोकान्त शिखरपर स्थित हैं, तो भी केवलज्ञानरूप सुधाके द्वारा आप लोकत्रितयको तर करते रहते हैं। फलितार्थ यह है कि आप व्याप्ताव्याप्त विरोधी धर्मोंसे सहित हैं अर्थात् व्याप्त भी हैं और अव्याप्त भी हैं। ज्ञान-की अपेक्षा व्याप्त हैं और आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा अव्याप्त हैं ॥२१॥

बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो
बद्धोऽसि बद्धमहिमापि सदासि मुक्तः।
नो बद्धमुक्तपरतोऽस्यसि मोक्ष एव
मोक्षोऽपि नासि चिदसि त्वमरिष्टनेमे ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अरिष्टनेमे!) हे अरिष्टनेमि जिनेन्द्र! आप (बद्धोऽपि मुक्त इति भासि) बद्ध होकर भी मुक्त प्रतिभासित होते हैं, परन्तु (मुक्तः न च असि) मुक्त नहीं हैं। यद्यपि (बद्धोऽसि) शरीरसे बद्ध हैं और (बद्धमहिमापि) अष्टप्रातिहार्यरूप महिमासे भी बद्ध हैं तथापि (सदा मुक्तः असि) सदा मुक्त हैं, इस तरह (बद्धमुक्तपरतो नो असि) बद्ध और मुक्तसे परे नहीं हैं अर्थात् बद्ध भी हैं और मुक्त भी हैं। अथवा आप (मोक्ष एव असि) मोक्षरूप ही हैं परन्तु परमार्थसे (मोक्षोऽपि नासि) मोक्षरूप भी नहीं हैं (त्वम्) आप तो (चिद् असि) एक चैतन्यरूप हैं।

भावार्थ—मुक्त चार प्रकारके कहे गये हैं—१. दृष्टिमुक्त, २. मोहमुक्त, ३. जीवन्मुक्त और ४. कर्ममुक्त। जो जीव, दर्शन मोहोदयजनित मिथ्यादृष्टि अवस्थासे मुक्त होकर सम्यग्दृष्टि अवस्थाको प्राप्त होता है वह दृष्टिमुक्त कहलाता है। जो दशम गुणस्थानके अन्त तक मोहनीय-कर्मकी समस्त प्रकृतियोंका क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानको प्राप्त हुआ है वह मोहमुक्त कहलाता है। जो ६३ कर्मप्रकृतियोंसे रहित होकर अरहन्त अवस्थाको प्राप्त हुआ है वह तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाला जीव जीवन्मुक्त कहलाता है और जो समस्त कर्मप्रकृतियोंकी सत्तासे छूट जाता है वह कर्ममुक्त कहलाता है। यहाँ अरिष्टनेमि जिनेन्द्रका स्तवन करते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा गया है कि यद्यपि आप मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुवन्धी-चतुष्क इन सात प्रकृतियोंके अतिरिक्त १४१ प्रकृतियोंसे बद्ध हैं तथापि दृष्टिमुक्तकी अपेक्षा मुक्त हैं। इस तरह आप मुक्त तो हैं पर मोहनीयकर्मकी शेष प्रकृतियोंसे युक्त होनेके कारण आप परमार्थसे मुक्त नहीं हैं। आगे चलकर आप मोहमुक्त होनेपर भी अन्य कर्मप्रकृतियोंसे बद्ध हैं तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बाह्य महिमासे बद्ध हैं इसलिए परमार्थसे बद्ध ही हैं मुक्त नहीं, तथापि ६३ कर्मप्रकृतियोंसे मुक्त हो जानेके कारण आप जीवन्मुक्त कहलाते हैं। इस तरह आप बन्ध और मोक्षसे परे नहीं हैं, अरहन्त अवस्था तक बद्ध और मुक्त दोनों हैं। सिद्धावस्थामें समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेसे आप परमार्थसे सदाके लिए मुक्त होते हैं। यह बद्ध और मुक्तका विभाग व्यवहारनयके आश्रित है। निश्चयनय सब द्रव्योंको स्वतन्त्र स्वीकृत करता है इसलिये उसकी दृष्टिमें बन्धतत्त्व नहीं है। जब बन्धतत्त्व ही नहीं है तब मोक्षतत्त्व कहाँसे आवेगा? इस प्रकार आप बन्ध और मोक्ष, इन दोनोंसे रहित हैं। एक सामान्य चित्स्वरूप हैं[1] ॥२२॥

भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽसि सदाभ्रमोऽपि
साक्षाद् भ्रमोऽसि यदि वाभ्रम एव नासि।
विद्यासि साप्यसि न पार्श्व जडोऽसि नैवं
चिद्‌भारभास्वररसातिशयोऽसि कश्चित् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(पार्श्व) हे पार्श्वजिनेन्द्र! आप (भ्रान्तोऽपि अविभ्रममयः असि) भ्रान्त होकर भी अविभ्रममय हैं और (सदा अविभ्रमोऽपि सन्) सदा भ्रमरहित होकर भी (साक्षाद् भ्रमः असि) साक्षात् भ्रमरूप हैं। (यदि वा) अथवा (भ्रम एव नासि) वस्तुस्वभावकी अपेक्षा आप भ्रमरूप नहीं ही हैं। आप तो (विद्या असि) केवलज्ञानरूप हैं। अथवा (सापि न असि) अनादि-अनन्त न होनेके कारण आप केवलज्ञान भी नहीं हैं। तो क्या जड़ हैं? (जड़ः न असि) जड़—अज्ञानरूप नहीं हैं, (एवं) इस प्रकार (चिद्भारभास्वररसातिशयः कश्चित् असि) चैतन्यसमूहके देदीप्यमान-उपयोगात्मक रसके अतिशयसे परिपूर्ण कोई चेतन द्रव्य हैं।

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ भगवन्! यद्यपि चारित्रमोहके उदयमें होनेवाले रागादिभावोंकी अपेक्षा आप भ्रान्त हैं, दीक्षाग्रहणके पूर्व गृहस्थावस्थाके चक्रमें पड़े हुए हैं तथापि दर्शनमोह-जनित विकारके निकल जानेसे आप विभ्रम रहित हैं—रागादि विकार यद्यपि आपकी पर्यायमें विद्यमान हैं तथापि श्रद्धापेक्षया उनका स्वामित्त्व आपमें नहीं है। इस तरह दर्शन मोहजनित भ्रमका अभाव हो जाने तथा साथ ही अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी विकारसे निवृत्त हो जानेपर भी आप संज्वलन चतुष्कके उदयमें होनेवाले विकारी भावोंसे प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थाके कालमें हिंडोलामें झूलते हुए यद्यपि भ्रमरूप रहते हैं तथापि उस भ्रमके प्रति आपका स्वामित्व नहीं है और आपकी आत्मामें इसी बातका पुरुषार्थ चलता है कि मैं इस सराग-परिणतिसे मुक्ति प्राप्त करूँ। इस पुरुषार्थकी ओर दृष्टि देनेपर आप भ्रमरूप नहीं हैं यह निश्चय होता है। क्रमसे पुरुषार्थके सफल होनेपर आप वीतराग होते हैं तथा इस वीतरागताके

---

१. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुर्बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥ —स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं। इस तरह आप केवलज्ञानरूप हैं। परन्तु अहो! जब इस ओर दृष्टि जाती है कि केवलज्ञान तो ज्ञानगुणकी एक पर्याय है, वह शुद्धज्ञान अवश्य है परन्तु त्रैकालिक अनादि अनन्त नहीं है, इसके विपरीत सादि अनन्त है, तब आप उस केवलज्ञानरूप नहीं हैं। क्षायोपशमिक ज्ञानसे बारहवें गुणस्थान तक पहुँच चुके, तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रकट हुआ। प्रतीत होता है उसे स्वीकृत नहीं किया जा रहा है तो क्या जड़रूप हैं? नहीं भाई, अनादि अनन्त जो चैतन्य ज्ञायकस्वभाव है, तद्रूप आप हैं। इस प्रकार आप वचनागोचर कोई अद्भुत पुरुष हैं ॥२३॥

आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र—
विश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ कर्तृ।
नो कर्तृ बोद्धृ न च बोदयि बोधमात्रं
तद्वर्धमान तव धाम किमद्भुतं नः ॥२४॥

अन्वयार्थ—जिसनें (आत्मीकृताचलितचित्) अविनाशी चैतन्यज्योतिको आत्माधीन किया है, जो (परिणाममात्रविश्वोदयप्रलयपालनकर्तृ) परिणमन मात्रकी अपेक्षा समस्त वस्तुओंके उत्पाद व्यय, और ध्रौव्यको करनेवाला है, जो (कर्तृ) ज्ञप्ति क्रियाका कर्त्ता है अथवा जो (नोकर्तृ न च बोद्धृ) न कर्त्ता है, न बोद्धा है, किन्तु (उदयि बोधमात्रं) अभ्युदयसे युक्त ज्ञानमात्र है, (वर्धमान) हे वर्धमान जिनेन्द्र! (तव) आपका (तद् धाम) वह सम्यग्ज्ञानरूप तेज (किम्) क्या है? यह (नः अद्भुतं) हमारे लिये आश्चर्यकी वस्तु है।

भावार्थ—यहाँ भगवान् वर्धमान स्वामीके उस ज्ञानरूप तेजको आश्चर्यकारक बतलाया गया है जिसने अविनाशी चैतन्य ज्योतिको आत्मरूप कर लिया है। उस चैतन्य ज्योतिके पूर्व जो क्षायोपशमिक चैतन्य ज्योति प्राप्त थी वह चलित थी—विनश्वर थी परन्तु केवलज्ञानरूप ज्योति अविनाशी है—अनन्त काल तक विद्यमान रहने वाली है। संसारके समस्त पदार्थोंमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन होता है, उस परिणमनको केवलज्ञान जानता है इसलिये उपचारसे वह उनका कर्ता कहलाता है। केवलज्ञान पदार्थको जानता है इस तरह जब करण कारकमें कर्तृकारक-की विवक्षा की जाती है तब उस ज्ञप्ति क्रियाका कर्ता केवलज्ञान होता है। परन्तु जब आत्मा केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानता है तब आत्मामें कर्तृकारक और केवलज्ञानमें करण कारककी विवक्षा की जाती है तब केवलज्ञान ज्ञप्ति क्रियाका कर्ता नहीं है, इसके विपरीत आत्मा कर्ता है और केवलज्ञान करण। इसी विवक्षाके अनुसार केवलज्ञान बोद्धा—जानने वाला नहीं है किन्तु उसके स्थानपर आत्मा बोद्धा है। वह केवलज्ञानरूप धाम अष्ट प्रातिहार्यरूप अभ्युदयसे सहित है तथा अष्ट प्रातिहार्योंके अतिरिक्त केवलज्ञानके समय प्रकट होनेवाले दश अतिशयोंसे परिपूर्ण है। केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी एक पर्याय है जो कि सादि अनन्त है। जब इस पर्यायरूप विशेषसे दृष्टि हटाकर सामान्यकी ओर ले जाते हैं तब केवलज्ञान, केवलज्ञान न कहला कर सामान्य ज्ञान कहलाता है। हे वर्धमान जिनेन्द्र! आपका यह तेज क्या है? यह हम छद्मस्थोंके लिये आश्चर्यकी वस्तु है ॥२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां
नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम् ।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥२५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो भव्य जीव (अमृतचन्द्रचिदेकपीतां) अमृतचन्द्रसूरिके ज्ञानके द्वारा गृहीत (अविकलार्थवतीं) परिपूर्ण अर्थसे युक्त (जिनानां) ऋषभादि तीर्थंकरोंकी (नामावलीं) नामावली-रूप इस स्तुतिका (भावयन्ति) चिन्तन करते हैं वे (किल) निश्चयसे (लीलया एव) अनायास ही (सकलं विश्वं पिबन्ति) समस्त विश्वको ग्रहण करते हैं—सर्वज्ञ हो जाते हैं और (ते) वे (कदाचन) किसी भी समय (परेण) कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्यके द्वारा (नैव पीयन्ते) नहीं ग्रहण किये जाते अर्थात् कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं ।

भावार्थ—वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रोंकी स्तुतिका फल स्वयं वीतराग और सर्वज्ञ बन जाना है । इस स्तोत्रमें ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंके नामका उल्लेख करते हुए स्तवन किया गया है इसलिए इसे 'नामावली' स्तोत्र कहते हैं । जो भव्य जीव इसकी भावना करते हैं—इसमें प्रतिपादित जिनेन्द्र गुणोंका नयविवक्षाके अनुसार चिन्तन करते हैं वे स्वयं सर्वज्ञ बन कर समस्त पदार्थोंको अनायास जानने लगते हैं और रागादि विकारी भावोंसे रहित होकर वीतराग बन जाते हैं । वीतराग बननेपर कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं ॥ २५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२)

तेजः स्पृशामि तव तद् दृशिबोधमात्र-
मन्तर्बहिर्ज्वलदनाकुलमप्रमेयम् ।
चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्य-
मप्यत्यजत् सहजमूर्जितमेकरूपम् ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! मैं (तव) आपके (अन्तर्बहिर्ज्वलत्) अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशमान (अनाकुलम्) आकुलतासे रहित तथा (अप्रमेयम्) अपरिमित-अनन्त (तत्) उस (दृशि-बोधमात्रम्) दर्शन और ज्ञानरूप (तेजः) तेजका (स्पृशामि) स्पर्श करता हूँ—उसकी श्रद्धा करता हूँ, जो (चैतन्यचूर्णभरभावितवैश्वरूप्यम्) जानने देखनेरूप चैतन्य तत्त्वके कारण प्राप्त विविधरूपता-को (अत्यजत् अपि) नहीं छोड़ता हुआ भी (एकरूपम्) एकरूप है, (सहजम्) स्वाभाविक है और (ऊर्जितम्) अनन्त बलसे सम्पन्न है ।

भावार्थ—यहाँ अनन्त गुणोंके पुञ्जस्वरूप अरहन्त भगवान्के ज्ञान दर्शन गुणोंका स्तवन किया गया है, क्योंकि स्वपरप्रकाशक होनेसे ये दो गुण समस्त गुणोंमें प्रमुख हैं। अन्तर्मुख चित् प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। प्रारम्भसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोंका ज्ञान-दर्शन रागका सद्भाव होनेसे आकुलतासे परिपूर्ण रहता है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवका ज्ञान-दर्शन यद्यपि रागादिसे रहित होनेके कारण आकुलतासे परिपूर्ण नहीं है तथापि ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उदय होनेसे पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शनके अभावमें आकुलतासे पूर्ण है—अनन्त सुखका कारण नहीं है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंका ज्ञान दर्शन अपरिमित और अनन्त होता है तथा पूर्णताको प्राप्त हो जानेके कारण अनाकुलरूप होता है। इन गुणस्थानोंमें अनन्त सुख भी प्रकट हो जाता है, इसलिए इन गुण-स्थानवर्ती जीवोंका ज्ञान दर्शन अनन्त सुखसे सम्पन्न होता है। ज्ञान और दर्शन, चेतना गुणके परिणमन हैं। अपनी स्वच्छताके कारण चेतना गुणमें लोक अलोकके अनन्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् आत्माके ज्ञायक स्वभावके कारण वे ज्ञेय बनकर आते हैं। उन अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा जब विचार होता है तब वे ज्ञान दर्शन अनन्तरूप-प्रतीत होते हैं परन्तु जब सामान्य चेतना गुणकी अपेक्षा विचार होता है तब एकरूप प्रतीत होते हैं। अरहन्त भगवान्के ज्ञान दर्शन सहज-स्वाभाविक हैं और ऊर्जित-अनन्त बलसे सम्पन्न हैं।

ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते
सम्भावयन्ति विशदं दृशिबोधमात्रम् ।
विश्वं स्पृशन्त इव ते पुरुषं पुराणं
विश्वाद्विभक्तमुदितं जिन निर्विशन्ति ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (ये) जो मनुष्य (निर्विकल्पसविकल्पं) विकल्परहित और विकल्पसहित (विशदं) निर्मल (दृशिवोधमात्रम्) दर्शन और ज्ञानरूप (ते) आपके (इदं) इस (महः) तेजकी (सम्भावयन्ति) श्रद्धा करते हैं (ते) वे (विश्वं स्पृशन्त इव) मानों समस्त लोक-आलोकरूप विश्वका स्पर्श करते हुए (विश्वाद् विभक्तं) समस्त विश्वसे पृथक् (उदितं) परमातम अवस्थाको प्राप्त (पुराणं) अनाद्यनन्त (पुरुषं) शुद्ध आत्माको (निर्विशन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—आगममें दर्शनको निर्विकल्प-घटपटादिके विकल्पसे रहित और ज्ञानको सविकल्प-घटपटादिके विकल्पसे सहित माना गया है। ज्ञान और दर्शन दोनों ही क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन क्रमवर्ती होनेसे पूर्ण विशद नहीं है परन्तु क्षायिक ज्ञान और दर्शन केवलज्ञान और केवलदर्शन अक्रमवर्ती होनेसे पूर्ण विशद हैं। हे भगवन् ! आप इन्हीं पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शनको प्राप्त हुए हैं। जो भव्य जीव आपके इस ज्ञान-दर्शनरूप स्वभावकी श्रद्धा करते हैं वे स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हुए समस्त विश्वको जानते देखते हैं। समस्त विश्वको जानना देखना मानों समस्त विश्वका स्पर्श करना है। लोक और अलोकको विश्व कहते हैं, जहाँ षड्द्रव्योंका समूह रहता है उसे लोक कहते हैं और जहाँ मात्र आकाश रहता है उसे आलोक कहते हैं। ज्ञानकी अपेक्षा यद्यपि यह जीव समस्त विश्वको जानता है और उसी अपेक्षासे लोकालोकमें व्यापक कहलाता है तथापि आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा विश्वसे पृथक् है—अपना अस्तित्व अलग रखता है। जो परमात्मपदको प्राप्त हो चुकता है उसे उदित कहते हैं। परमात्मा अनाद्यनन्त होता है। आपके ज्ञान दर्शन स्वभावके प्रति श्रद्धा प्रकट करता हुआ जब यह जीव अपने स्वभावकी ओर लक्ष्य करता है तथा तदनुरूप आचरण करता हुआ अपने विकारी भावोंको नष्ट करता है तब स्वयं परमात्मा बन जाता है। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है कि जो अरहंतको जानता है वह आत्माको जानता है और जो आत्माको जानता है उसका मोह विलीन हो जाता है।[1] मोहके विलीन होने और सर्वज्ञ दशाके प्रकट होनेपर यह जीव परमात्मा बन जाता है ॥ २ ॥

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशङ्कु-
खातान्तरङ्गजगतीजनितै रजोभिः ।
एतावतैव पशवो न विभो भवन्त-
मालोकयन्ति निकटप्रकटं निधानम् ॥३॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (यत्) जिस कारण (पशवः) अज्ञानी जीव (अनेकविकल्पशङ्कुखातान्तरङ्गजगतीजनितैः) अनेक विकल्परूपी कीलोंसे खोदी हुई मनोभूमिमें समुत्पन्न (रजोभिः) रागादि मोहतर्कके द्वारा निजस्वरूपको (प्रच्छादयन्ति) आच्छादित कर रहे हैं (एतावता एव) इसीलिए वे (निकटप्रकटं) निकट ही प्रकाशमान (निधानं) निधान—कोषस्वरूप (भवन्तं) आपको (न आलोकयन्ति) नहीं देख पाते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे यह जीव परपदार्थोंको सुख दुःखका कारण मानकर उनकी अनुकूल प्रतिकूल परिणतियोंमें रागद्वेष करता है। रागद्वेषकी भूमिका मन है। रागद्वेषके कारण

---

१. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥ प्रवचनसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध करता है। जिस प्रकार बहुत धूलि एकत्रित होकर किसी पदार्थको आच्छादित कर लेती है इसी प्रकार यह कर्मरूपी धूलि जीवके ज्ञान स्वभावको आच्छादित कर देती है। इसी कर्मजनित आच्छादनाके कारण यह जीव पशुओंके समान अज्ञानी हो रहा है और अपने ही निकट प्रकाशमान आपको नहीं देख पा रहा है ॥ ३ ॥

यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे
तत्रैव नूनमयमेवमुदीयते त्वम्।
व्योम्नीव नीलिमतते सवितुः प्रकाशः
प्रच्छन्न एव परितः प्रकटश्चकास्ति ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस (अगाधे) बहुत भारी (बहिरर्थतमसि) बाह्य पदार्थरूप अन्धकार-में (अयं) यह विश्व (अस्तम् एति) अस्तको प्राप्त हो रहा है (तत्रैव) उसीमें (नूनम्) निश्चित ही (त्वम्) आप (एवं) इस प्रकार (उदीयसे) उदयको प्राप्त होते हैं जिस प्रकार कि (नीलिमतते व्योम्नि) नीलिमासे व्याप्त आकाशमें (सवितुः प्रकाशः) सूर्यका प्रकाश (परितः प्रच्छन्नः) सब ओर छाकर (प्रकटः) प्रकट होता हुआ (चकास्ति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—साधकके लिए बाह्य पदार्थोंका आवरण आत्मसाधनामें बाधक होता है, परन्तु सिद्ध पुरुषके लिए बाधक नहीं होता। यही कारण है कि देवनिर्मित समवसरणमें बाह्य पदार्थों-का प्रपञ्च अत्यधिक होनेपर भी अरहन्तकी आत्मसाधनामें वह कुछ भी बाधक नहीं होता। हे भगवन्! संसारके अन्य अनेक मनुष्य बाह्य परिकरमें निमग्न होकर अस्त होते हैं परन्तु आप समवसरणके भारी परिकरमें भी उदित रहते हैं—आत्मसाधनामें जागरूक रहते हैं। यह ठीक ही है क्योंकि नीलिमासे व्याप्त आकाशमें अन्य वस्तुएँ तिरोहित भले ही होती रहें परन्तु सूर्यका प्रकाश उसमें चारों ओर व्याप्त होकर प्रकाशमान होता है। तात्पर्य यह है कि यह जीव रागद्वेष-के कारण ही परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर स्वरूपसे च्युत होता है। यतश्च आप राग-द्वेषसे रहित हैं अतः परपदार्थोंके बीच भी निर्लिप्त रहनेसे आप परमात्मपदको प्राप्त हो रहे हैं ॥४॥

नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था-
मुत्थापयस्यनिशनात्ममहिम्नि नित्यम्।
येनायमद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुरुच्चै-
रेकोऽपि ते विधिनिषेधमयः स्वभावः ॥५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! आप (अनिशं) निरन्तर (अवस्थितिं न ददासि) पदार्थकी स्थिरताका उपदेश नहीं देते हैं (च) और (नित्यं) सदा (आत्ममहिम्नि) आत्मस्वरूपकी महिमामें (अनवस्थां) अस्थिरताको (न च) नहीं (उत्थापयसि) उठाते हैं—दूर करते हैं (येन) यही कारण है कि जिससे (ते) आपका (अद्भुतचिदुद्गमचुञ्चुः) आश्चर्यकारक चैतन्य ज्योतिसे प्रसिद्ध (अयं) यह (उच्चैः) उत्कृष्ट (स्वभावः) स्वभाव (एकोऽपि) एक होनेपर भी (विधिनिषेधमयः) अस्ति नास्तिरूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका उपदेश है कि संसारके प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य हैं। आत्माका जो ज्ञानस्वभाव है उसमें भी मतिज्ञान आदि अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा परिणमन होता रहता है। अरहन्त सिद्ध अवस्थामें प्रकट होनेवाले केवलज्ञानमें भी अगुरुलघुगुणके कारण अवान्तर परिणमन प्रति समय होता है। संसारका कोई पदार्थ सदा अवस्थित-कूटस्थ नित्य रहता है ऐसा उपदेश आपका नहीं है और आत्मस्वभावमें अनवस्था-सर्वथा अनित्यता है, इसे भी आप स्वीकृत नहीं करते। इस तरह आपका ज्ञायकस्वभाव सामान्यकी अपेक्षा एक होनेपर भी उभय नयकी अपेक्षा विधि और निषेध स्वभावको लिये हुए है। तात्पर्य यह है कि आत्माका ज्ञायक स्वभाव स्व द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा विधि-अस्तिरूप है और पर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा निषेध-नास्तिरूप है ॥५॥

यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति
निर्माणमेव सहजप्रविजृम्भितं ते।
तस्मात्सदा सदसदादिविकल्पजालं
त्वय्युद्विलासमिदमुत्प्लवते न चित्रम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(यस्मात्) जिस कारण (ते) आपका (इदं) यह (सहजप्रविजृम्भितं) सहज स्वभावोत्पन्न (निर्माणमेव) निर्माण ही (विधिनिषेधमयं) विधि और निषेधरूप (चकास्ति) शोभायमान हो रहा है (तस्मात्) इसलिए (त्वयि) आपमें (इदं) यह (उद्विलासं) प्रकट रूपसे अनुभवमें आनेवाला (सदसदादिविकल्पजालं) सत् असत् आदि विकल्पोंका समूह (उत्प्लवते) उच्छलित हो रहा है यह (न चित्रम्) आश्चर्यकी बात नहीं है।

भावार्थ—आत्माका जो ज्ञायक स्वभाव है वह स्वतः स्वभावसे समुत्पन्न है क्योंकि पदार्थका स्वभाव परनिरपेक्ष होता है मात्र उसका विभाव परसापेक्ष रहता है, जैसे जीवका ज्ञानस्वभाव किसी अन्य पदार्थोंके निमित्तसे उत्पन्न नहीं है परन्तु उसका रागादिक विभाव चारित्रमोह कर्मके उदयसे समुत्पन्न है। इस प्रकार सहज स्वभावसे समुत्पन्न जीवका ज्ञायक स्वभाव विधि और निषेधरूप है—सामान्य विशेषकी अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, एकानेक तथा स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा तदतद्रूप है। जब सहज-स्वभाव ही इस प्रकारका है तब उसमें जो सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य अनित्य तथा तद् अतद् आदिके विकल्प उछल रहे हैं उसमें आश्चर्य ही किस बातका है ? ॥६॥

भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना
शून्यः परस्य विभवेन भवस्यभावः।
यातोऽप्यभावमयतां प्रतिभासि भावो
भावोऽपि देव ! बहिरर्थतयास्यभावः[1] ॥७॥

---

१. 'बहिरर्थतया-असि अभावः' इति पदच्छेदः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (सहजेन धाम्ना अतिभृतः) सहज तेजसे अत्यन्त भरे हुए होनेसे आप (भावो भवसि) भावरूप हैं—सत्तारूप हैं और (परस्य विभवेन शून्यः) पर पदार्थके विभवसे शून्य होनेके कारण आप (अभावः भवसि) अभावरूप हैं। इस तरह आप (अभावमयतां यातोऽपि) अभावरूपताको प्राप्त होकर भी (भावः प्रतिभासि) भावरूप प्रतिभासित होते हैं और (भावोऽपि) भावरूप होकर भी (बहिरर्थतया) बाह्य पदार्थकी अपेक्षा (अभावः अस्ति) अभावरूप हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌का अस्ति-नास्तिरूप धर्मोंसे स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे देव ! आप स्वकीय तेजसे अत्यन्त भरे हुए होनेसे अस्तिरूप हैं और पर द्रव्यके स्वभावसे शून्य होनेके कारण नास्तिरूप हैं इस तरह अनेकान्तकी दृष्टिसे आप भावाभावरूप हैं। अर्थात् अस्ति-नास्ति या विधि-निषेधरूप हैं।

तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव
स्वामिन्नमी सहभुवः प्रतिभान्ति भावाः।
तैरेव कालकलनेव कृतोदूर्ध्वखण्डै-
रेको भवान् क्रमविभूत्यनुभूतिमेति ॥८॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे भगवन् ! (तिर्यग्विभक्तवपुषः) काल क्रमसे पृथक्-पृथक् शरीर धारण करनेवाले (भवतः) आपके (ये एव अमी) जो ये (सहभुवः भावाः) सहभावी गुण (प्रतिभान्ति) सुशोभित हो रहे हैं (कालकलनेव) कालक्रमकी अपेक्षासे (कृतोदूर्ध्वखण्डैः) ऊर्ध्वद्रव्यरूप उत्तर विभागोंसे सहित (तैः एव) उन्हीं सहभावी—गुणोंकी अपेक्षा (भवान्) आप (एकः) एक होते हुए (क्रमविभूत्यनुभूतिं) क्रमवर्तित्वकी अनुभूतिको (एति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान् का एकत्व और अनेकत्व धर्मोंसे स्तवन किया गया है। भगवान्‌ने अतीत अनेक पर्यायोंमें पृथक्-पृथक् शरीर धारण किये हैं अतः उन पर्यायोंकी अपेक्षा वे अनेक रूप हैं, परन्तु उन समस्त पर्यायोंमें जो ज्ञानादिक गुण साथ-साथ रहे हैं, उन गुणोंकी अपेक्षा वे एकरूप हैं। यद्यपि काल द्रव्यकी सहायतासे उन ज्ञानादिक गुणोंमें भी परिणमन होता है परन्तु उस परिणमनकी विवक्षा नहीं की गयी है। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप शरीरसम्बन्धी भवोंकी अपेक्षा अनेक हैं और गुणोंकी अपेक्षा एक हैं ॥ ८ ॥

एवं क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्त्तगुप्तं
चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्तः।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा-
न्निस्सारमद्य हृदयं जिन दीर्यतीव ॥९॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (एवं) इस प्रकार (क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तगुप्तं) क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तों—परिणतियोंसे सुरक्षित (चिन्मात्रमेव) चैतन्यमात्र ही (तव) आपका (तत्त्वं) स्वरूप है ऐसा (अतर्कयन्तः) नहीं समझनेवाले अज्ञानी जन (एतज्जगति) इस संसारमें (निस्सारं) व्यर्थ ही (उभयतः) दोनों पक्षोंका (अतिरसप्रसारात्) अत्यधिक आग्रहके प्रसारसे (भ्रमन्ति) भ्रमण करते रहते हैं। यह जानकर (अद्य) इस समय (हृदयं) हृदय (दीर्यतीव) विदीर्ण-सा हो रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! रागद्वेषादि विकारी भावोंसे रहित शुद्ध चैतन्य ज्योति—ज्ञाता-द्रष्टापन ही आपका स्वरूप है और यह स्वरूप भी क्रमवर्ती तथा अक्रमवर्ती—पर्याय और गुण-रूप परिणतियोंसे युक्त है। इस ज्ञान दर्शनरूप चैतन्य ज्योतिमें भी ज्ञान दर्शनकी अवान्तर परिणतियाँ निरन्तर होती रहती हैं। परन्तु अज्ञानी जन आपके इस स्वाश्रित तत्त्वको न समझ-कर देहादि परद्रव्याश्रित विभावको अपना स्वरूप समझते हैं, इसी कारण वे अपने एकान्त कदाग्रहसे भ्रमण करते हैं। वास्तविक स्वरूपके अश्रद्धानका इतना भारी कुफल उन्हें भोगना पड़ता है यह ज्ञान कर हृदयमें बड़ी पीड़ा होती है ॥ ९ ॥

आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुतश्रीः
सद्यः प्रणश्यति सदा सकलः सपत्नः ।
वीर्ये विशीर्यति पुनस्त्वयि दृष्टनष्टे
नात्मा चकास्ति विलसत्यहितः सपत्नः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (इह) इस संसारमें (अद्भुतश्रीः) अनन्त चतुष्टयरूप आश्चर्यंकारक लक्ष्मीसे युक्त (त्वम्) आप (यदा) जिस समय (आलोक्यसे) दृष्टिगोचर होते हैं—प्राणियोंकी श्रद्धाके भाजन होते हैं (तदा) उस समय (सद्यः) शीघ्र ही उनके (सकलः सपत्नः) समस्त—अन्तर बाह्य शत्रु (प्रणश्यति) नष्ट हो जाते हैं। और (वीर्ये विशीर्यति) सम्यक्त्वरूप बलके नष्ट होनेपर (पुनः) फिर जब (त्वयि) आप (दृष्टनष्टे) श्रद्धासे हट जाते हैं—वे आपकी श्रद्धा छोड़ देते हैं तब उनको (आत्मा) आत्मा (न चकास्ति) प्रतिभासित नहीं होता अर्थात् स्वानुभूति नहीं होती, किन्तु (अहितः सपत्नः) अहितकारी शत्रु रागादि (विलसति) उच्छलित होने लगते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब यह जीव, अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे युक्त आपकी श्रद्धा करते हैं तब उनके मिथ्यादर्शन आदि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं, परन्तु जब उनका सम्यक्त्वरूपी बल विशीर्ण हो जाता है—तो वे फिरसे मिथ्यादृष्टि होकर आपकी श्रद्धासे च्युत हो जाते हैं तब वे फिर संसार भ्रमणके पात्र हो जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अवस्थामें उन्हें पुनः अहितकारी रागादि शत्रु घेर लेते हैं ॥ १० ॥

नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे
विश्वातिशायिमहसि प्रकटप्रतापे ।
सम्भाव्यते त्वयि न संशय एव देव
दैवात् पशोर्यदि परं चिदुपप्लवः स्यात् ॥११॥

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्र ! (निमग्नविश्वे) जिसमें समस्त संसार निमग्न है—ज्ञेय बनकर प्रतिबिम्बित हो रहा है, (विश्वातिशायि महसि) जिसका तेज सबको अतिक्रान्त करनेवाला है (प्रकटप्रतापे) जिसका प्रभाव प्रकट है जो (निजमहिम्नि) आत्मतत्त्वकी महिमासे युक्त हैं तथा (नित्योदिते) जो निरन्तर उदित हैं ऐसे (त्वयि) आपके विषयमें (संशय एव) संशय ही (संभाव्यते न) संभव नहीं है (दैवात्) दुर्भाग्यसे (यदि) यदि किसीके (चिदुपप्लवः) चैतन्यमें भ्रान्ति होती है तो (परं) केवल (पशोः स्यात्) अज्ञानी जीवके ही होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके सर्वज्ञ स्वभावमें संशयका अवकाश नहीं है, अर्थात् आपकी अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। दुर्भाग्यवश मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आनेसे यदि किसीके चित्स्वरूपमें भ्रान्ति होती है तो वह अज्ञानी ही है ऐसा समझना चाहिए ॥११॥

विश्वावलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः
प्रत्यक्षमेव लिखितो न विलोक्यसे यत् ।
बाह्यार्थसक्तमनसः स्वपतस्त्वयीश
नूनं पशोरयमनध्यवसाय एव ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (विश्वावलेहिभिः) समस्त पदार्थोंको जाननेवाले (अनाकुलचिद्विलासैः) आकुलता रहित चैतन्यविलास-वीतराग विज्ञानके द्वारा आप (प्रत्यक्षमेव लिखितः) प्रत्यक्ष ही प्रकट हैं फिर भी (न विलोक्यसे यत्) किसी अज्ञानी जीवको जो आपका दर्शन नहीं हो रहा है—आपकी श्रद्धा नहीं हो रही है सो (बाह्यार्थसक्तमनसः) बाह्य पदार्थोंमें जिसका मन लग रहा है तथा (त्वयि) आपके विषयमें जो (स्वपतः) सो रहा है उस (पशोः) अज्ञानी जीवका (नूनं) निश्चयसे (अयं) यह (अनध्यवसाय एव) अज्ञान ही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो सर्वज्ञ तथा वीतराग विज्ञान स्वभाव है उसीसे आपकी सत्ता समस्त संसारसे पृथक् सिद्ध हो रही है इतने पर भी यदि किसी प्रमादी जीवको आपका दर्शन न हो—आपकी श्रद्धा न हो तो उसे उसका ही अपराध समझना चाहिए। जिसे मध्याह्नका देदीप्यमान सूर्य दिखाई नहीं देता उसकी दृष्टिमें ही विकार समझना चाहिए ॥ १२ ॥

रोमन्थमन्थरमुखो ननु गौरिवार्था-
नेकैकमेष जिन चर्वति किं वराकः ।
त्वामेककालतुलितातुलविश्वसारं
सुस्वैकशक्तिमचलं विचिनोति किन्न ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र (ननु) निश्चयसे (रोमन्थमन्थरमुखो गौरिव) जिस प्रकार जुगाली करनेवाला बैल ग्रासके एक-एक अंशको निकाल कर चबाता है उसी प्रकार (एष वराकः) यह बेचारा प्राणी (अर्थान्) पदार्थोंको (एकैकं) एक-एक करं (किं चर्वति) क्यों चबाता है—क्यों जानता है ? (एककालतुलितातुलविश्वसारं) एक ही साथ समस्त विश्वको जाननेंवाले (सुस्वैकशक्ति) श्रेष्ठ आत्मबलसे युक्त (अचलं) अचल-अविनाशी (त्वां) आपका (किं न विचिनोति) क्यों नहीं आश्रय करता ?

भावार्थ—जिस प्रकार रोमन्थ करनेवाला बैल, खाये हुए पदार्थोंको क्रम-क्रमसे निकाल कर चबाता है, सबको एक साथ नहीं चबा सकता उसी प्रकार यह जीव क्षायोपशमिक ज्ञानकी प्रक्रियाके कारण एक-एक पदार्थको क्रम-क्रमसे जान पाता है। आचार्यको जीवकी इस विवशतापर करुणाभाव होता है अतः वे कहते हैं कि यह बेचारा प्राणी ऐसा क्यों करता है। संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले आपका चिन्तन वह क्यों नहीं करता है, क्योंकि आपका चिन्तन-मनन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धान उसे सर्वज्ञ तथा सर्व द्रष्टा बना देगा। ऐसा होनेसे वह भी आपके ही समान समस्त पदार्थोंको एक साथ जानने देखने लगेगा ॥१३॥

स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं
गण्डूष एव विहितः किल बोधसिन्धुः।
यस्योर्मयो निजभरेण निपीतविश्वा
नैवोच्छ्वसन्तिः हठकुड्मलिताऽस्फुरन्त्यः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (स्वस्मिन् निरुद्धमहिमा) अपने आपमें जिसकी महिमा समायी—रुकी हुई है ऐसा (अयं) यह (बोधसिन्धुः) ज्ञानरूपी सागर (किल) निश्चयसे (त्वया) आपके द्वारा (गण्डूष एव विहितः) एक घूँट—चुल्लूभररूप ही कर लिया गया है। (निजभरेण) अपने विस्तारसे (निपीतविश्वाः) विश्वको व्याप्त करनेवाली (यस्य) जिसकी (स्फुरन्त्यः) प्रकट (ऊर्मयः) लहरें (हठकुड्मलिताः) बलात् संकोचित होनेके कारण (नैव उच्छ्वसन्ति) सर्वत्र फैल नहीं पातीं।

भावार्थ—अन्यत्र प्रसिद्ध है कि एक बार अगस्त्य ऋषिने समुद्रको चुल्लूमें भरकर पी लिया था जिससे समुद्रकी समस्त लहरें उन्हींके उदरमें संकोचित होकर रह गई थीं। यहाँ ऐसी ही कल्पना करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! आपने ज्ञानरूपी सागरको अपने आपमें निरुद्ध कर लिया है। एक चुल्लूभर पानीके समान उसे अपने आपमें विलीन कर लिया है, इसीलिए उसकी लहरें अपने आपमें केन्द्रित हो गयी हैं। फलितार्थ यह है कि आप निश्चयसे आत्मज्ञ हैं और व्यवहारसे लोकालोकज्ञ[1] ॥१४॥

त्वद्वैभवैककणवीक्षण(विस्मयोत्थ)विश्वयोत्थ-
सौस्थित्यमन्थरदृशः किमुदासतेऽमी।
तावच्चरित्रकरपत्रमिदं स्वमूर्ध्नि
व्यापारयन्तु सकलस्त्वमुदेषि यावत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वद्वैभवैककणवीक्षणविस्मयोत्थसौस्थित्यमन्थरदृशः) आपके वैभवके एक अंशके देखनेसे उत्पन्न आश्चर्यसे समुद्भूत सुखसे जिनके नेत्र कुछ निमीलित हो रहे हैं ऐसे (अमी) ये भव्य जीव (किम् उदासते) क्यों उदासीन हो रहे हैं? ये (स्वमूर्ध्नि) अपने मस्तक-पर—अहंकारपर (इदं) इस (चरित्रकरपत्रं) चारित्ररूपी करोंतको (तावत्) तबतक (व्यापारयन्तु) चलावें (यावत्) जबतक (सकलः त्वम्) समस्त कलाओंसे युक्त (त्वम्) आप (उदेषि) उदित होते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के बाह्य वैभवके देखनेमात्रसे सन्तुष्ट हो जानेवाले भव्य प्राणीसे कहा गया है कि तुम इतने मात्रसे संतुष्ट होकर आगे बढ़नेके लिए उदासीन क्यों हो रहे हो। अपने मस्तकपर चारित्ररूपी करोंत चलाओ अर्थात् चारित्र धारणकर अपने अहंकारको नष्ट करो। ऐसा

---

१. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९ ॥ नियमसार

ल०—४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेसे सकल परमात्माका अपने आप स्वयं साक्षात्कार हो जावेगा अथवा तुम स्वतः सकल परमात्मा बन जाओगे। जैनेतर पुराणोंमें एक कथा है कि एकबार दशानन-रावण शंकरजीको प्रसन्न करनेके लिए अपने मस्तक काटकर अग्निकुण्डमें होम करने लगा इस तरह वह जब नौ मस्तक काट चुका और दशवाँ मस्तक काटनेके लिए उसपर शस्त्र चलाने लगा तब शंकरजीने प्रकट होकर उसे वरदान दे दिया कि तूँ देवोंके द्वारा अजय होगा—तुझे कोई देव जीत नहीं सकेगा। मनुष्यको रावण कुछ समझता ही नहीं था, इसलिए उसने मात्र देवोंसे अपने आपको अजेय होनेका वरदान माँगा था। इसी लौकिक कथाको दृष्टिमें रखते हुए कहा गया है कि हे प्राणी! तूँ अपने मस्तकपर—अपने अहंकारपर चारित्ररूपी शस्त्र चला। ऐसा करनेसे ही तुझे शुद्धात्मरूप भगवान्के दर्शन हो सकेंगे और तूँ लोकमें अजेय हो सकेगा। जबतक अहंकार विद्यमान रहता है तबतक न परमात्माके दर्शन होते हैं और न यह जीव स्वयं परमात्मा बन सकता है। अहंकारको नष्ट करनेके लिए चारित्र ही परम सहायक है॥ १५॥

ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं
तीव्रैस्तपोभिरभितस्त इमे रमन्ताम्।
ज्यायन्न कोऽपि जिन साधयतीह कार्यं
कार्यं हि साधनविधिप्रतिबद्धमेव॥ १६॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (ये) जो (तीव्रैः तपोभिः) कठिन तपके द्वारा (तव) आपके (सिद्धरूपं) सिद्धस्वरूपको (साधयन्ति) साधते हैं—प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं (त इमे) वे ये (अभितः) सब ओर इसी संसारमें (रमन्ताम्) रमण करें—उनका मात्र कठिन तप आपके सिद्ध—शाश्वत शुद्ध स्वभावको प्राप्त करानेवाला नहीं है। (ज्यायन् जिन) हे श्रेष्ठतम जिनेन्द्र। (इह) इस संसारमें (कोऽपि) कोई भी व्यक्ति (कार्यं न साधयति) कार्यको नहीं साधता है (हि) क्योंकि (कार्यं) कार्य (साधनविधिप्रतिबद्धमेव) साधनकी विधिसे स्वयं ही संबद्ध होता है।

भावार्थ—यहाँ कहा गया है कि आत्मज्ञानके बिना कठिनसे कठिन तप भी सिद्धस्वरूपको प्राप्त करानेमें समर्थ नहीं है। उस तपके समय जो कषायमें मन्दता होती है उसके फलस्वरूप यह जीव पुण्य बन्ध कर स्वर्गादिक रम्य स्थानोंको ही प्राप्त होता है, शाश्वत सुखदायक सिद्धपदको नहीं। साथ ही इस जीवके कर्तृत्व विषयक अहंकारको नष्ट करनेके लिए कहा गया है कि इस संसारमें अन्तरङ्ग कारणकी अनुकूलताके बिना मात्र बाह्य कारणसे कार्यको सिद्ध करनेके लिए कोई समर्थ नहीं है। संसारका प्रत्येक कार्य अपने अन्तरङ्ग कारणसे संबद्ध रहता है। उस अन्तरङ्ग कारणके अनुरूप बहिरङ्ग कारण कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है॥१६॥

विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते।
अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था॥ १७॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (यदि) यदि (इमे विज्ञानतन्तवः) ये विज्ञानरूपी तन्तु (स्वरसप्रवृत्ताः) स्वकीय स्वभावमें प्रवृत्त होते हुए (द्रव्यान्तरस्य) अन्य द्रव्यकी (संघटनात्) रचनासे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(च्यवन्ते) च्युत होते हैं—अन्य द्रव्यके कर्तृत्वके अहंकारसे निवृत्त होते हैं तो (पुष्कलमलाकुल-कश्मला) बहुत भारी मलसे परिपूर्ण तथा मलिन (इयं) यह (अखिलैव) सबकी सब (कषायकन्था) कषायरूपी कथरी (अद्यैव) आज ही (विघटेत) विघटित हो जावे।

भावार्थ—उपादान कारणकी अपेक्षा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं होता, क्योंकि कर्ता स्वयं ही कार्यरूप परिणत होता है। अतः वह कर्तृकर्मभाव एक द्रव्यमें ही घटित होता है, दो द्रव्योंमें नहीं, परन्तु यह जीव, मात्र निमित्त कारणकी ओर दृष्टि देकर अपने आपको पर द्रव्यका कर्ता मान रहा है। इसी कर्तृत्व बुद्धिके कारण यह जीव जिस पर द्रव्यको अपने द्वारा किया हुआ मानता है उसके विषयमें ममता भाव करता है और उसी ममता भावके कारण उसकी इष्ट अनिष्ट परिणतिमें राग-द्वेषरूप कषाय करता है। जीवकी यह कषाय एक कन्था—कथरीके समान है, जिस प्रकार कन्था अनेक जीर्ण वस्त्रोंको धागासे सीकर बनाई जाती है तथा धीरे-धीरे वह अत्यन्त मैली और ग्लानिजनक हो जाती है उसी प्रकार यह कषाय भी कर्तृत्व बुद्धिरूपी धागेसे सीकर अनेक पर भावोंके द्वारा उत्पन्न होती है। यदि इस जीवके सम्यग्ज्ञानरूपी तन्तु अपने ही आत्मद्रव्यमें रमण कर पर द्रव्य विषयक कर्तृत्वसे च्युत हो जावें तो इस कषायरूपी कन्थाके विघटित होनेमें बिलम्ब न लगे ॥२७॥

अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा
विज्ञानमुर्मुरकणा विचरन्त एते।
शक्यन्त एव सपदि स्वपदे विधातुं
संपश्यता तव विभो विभवं महिम्नः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ! (तव) आपकी (महिम्नः) महिमाके (विभवं) वैभवको (संपश्यता) देखनेवाले पुरुषके द्वारा (अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णाः) अज्ञानरूपी वायुके वेगसे विखिर कर (विचरन्तः) इधर-उधर विचरते हुए (एते) ये (विज्ञानमुर्मुरकणाः) विज्ञानरूपी तुषाग्निके कण (स्वपदे) आत्मपदमें (सपदि एव) शीघ्र ही (विधातुं शक्यन्ते) सुस्थिर किये जा सकते हैं।

भावार्थ—यहाँ जीवके क्षायोपशमिक ज्ञानको तुषाग्निकी उपमा दी गई है और अज्ञान—मिथ्यादर्शन तथा कषायको वायुकी उपमा प्रदान की गई है। जिस प्रकार वायुके तीव्र वेगसे तुषाग्निके कण (तिलगे) विखरकर इधर-उधर उड़ने लगते हैं उसी प्रकार इस जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान मिथ्यात्व और कषायसे प्रेरित हो इधर-उधर पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्त हो रहा है। हे भगवन्! जो भव्य प्राणी आपके अनन्त चतुष्टयरूप वैभवकी ओर लक्ष्यकर इस प्रकारका विचार करता है कि जिस प्रकार इन्होंने मिथ्यात्व और कषाय जनित चञ्चलताको दूरकर अपने ज्ञानोपयोगको अपनी ही आत्मामें केन्द्रितकर अनन्तचतुष्टयरूप ऐश्वर्यको प्राप्त किया है उसी प्रकार मैं भी मिथ्यात्व और कषायजनित चञ्चलताको दूर कर अपने ज्ञानोपयोगको यदि अपनी ही आत्मामें केन्द्रित करूँ तो मैं भी अनन्त चतुष्टयरूप वैभवको प्राप्त कर सकता हूँ। इस तरह स्वरूपकी ओर लक्ष्य करनेसे जो अपने ज्ञानको एक आत्मामें ही केन्द्रित करता है वह शुक्ल-ध्यानको प्राप्त कर कर्मक्षय करनेमें समर्थ होता है ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः
कस्माद् वहन्ति पशवो विषयाभिलाषम् ।
प्रागेव विश्वविषयानभिभूय तान्न (जानू)
किं बोधमेव विनियम्य न धारयन्ति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(बोधातिरिक्तं) ज्ञानसे भिन्न (इतरत्) अन्य (फलं) फलको (आप्तुकामाः) प्राप्त करनेके इच्छुक (पशवः) अज्ञानी जीव (विषयाभिलाषं) विषयोंकी इच्छाको (कस्मात्) क्यों (वहन्ति) धारण करते हैं (प्रागेव) पहले ही (विश्वविषयान्) समस्त विषयोंको (अभिभूय) उपेक्षित कर (तान् विनियम्य) इन्द्रियोंको रोककर—इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको नियन्त्रित कर (बोधमेव) ज्ञानको ही (किं न धारयन्ति) क्यों नहीं धारण करते हैं।

भावार्थ—जीवका स्वभाव मात्र ज्ञाता द्रष्टा है परन्तु मोहोदयजनित विकार भावके कारण ये जीव अपने स्वभावको भूलकर पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें संलग्न हो रहे हैं। उन्हींकी प्राप्तिमें इतना ज्ञान लग रहा है तथा शरीरकी प्रवृत्ति भी उसी ओर संलग्न है। जब यह वस्तुस्थिति है कि जीव अपने ज्ञानस्वभावको छोड़कर अन्य पदार्थोंके स्वामी नहीं बन सकते तब वे अन्य पदार्थों-की अभिलाषा क्यों करते हैं ? क्यों नहीं पहले ही समस्त विषयोंकी उपेक्षा कर अपने ज्ञानस्वभावको धारण करते हैं। यदि स्वस्वभावकी ओर इन जीवोंका लक्ष्य बनता है तो बाह्य प्रवृत्तिसे इसकी निवृत्ति अनायास हो सकती है ॥१९॥

यैरेव देव पशवोंऽशुभिरस्तबोधा
विष्वक्कषायकणकर्बुरतां वहन्ते ।
विश्वावबोधकुशलस्य महार्णवोऽभूत्
तैरेव ते शमसुधारसशीकरौघः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (अस्तबोधाः) सम्यग्ज्ञानसे रहित (पशवः) अज्ञानी जीव (यैरेव अंशुभिः) जिन ज्ञानरूप किरणोंके द्वारा (विष्वक्) सब ओरसे (कषायकणकर्बुरतां) कषायांशजनित विचित्रताको (वहन्ते) धारण करते हैं (तैरेव) उन्हीं ज्ञानरूप किरणोंके द्वारा (विश्वावबोधकुशलस्य ते) समस्त पदार्थोंके जाननेमें निपुण आपका (शमसुधारसशीकरौघः) प्रशमभावरूप सुधारसके कणोंका समूह (महार्णवः) महासागर (अभूत्) बन गया है।

भावार्थ—अज्ञानी जीवोंका ज्ञान, मिथ्यात्व तथा कषायसे दूषित रहता है अतः वे उस ज्ञानके द्वारा निरन्तर कषायजनित विचित्रताको धारण करते हैं और उस विचित्रताके कारण ही निरन्तर दुःखी रहते हैं। जो ज्ञान सुखका कारण है वही अज्ञानी जनोंके कषायजनित विकारी भावोंसे दुःखका कारण बन रहा है, परन्तु हे भगवन् ! आपका ज्ञान कषायजनित विकारोंसे रहित होनेके कारण अनन्त सुखका निमित्त है। इसीलिए आपका आकुलतारहित अल्प सुख आपके सर्वज्ञ होते ही अनन्तसुखका सागर बन जाता है ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूत-
कर्तृत्वशान्तमहसि प्रकटप्रतापे।
संविद्विशेषविषमेऽपि कषायजन्मा
कृत्स्नोऽपि नास्ति भवतीश विकारभारः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूतकर्तृत्वशान्तमहसि) ज्ञाता द्रष्टा शक्तिके कारण जिनके कर्तृत्वका भाव बलपूर्वक नष्ट हो गया है (प्रकटप्रतापे) जिनका प्रताप अत्यन्त प्रकट है तथा जो यद्यपि (संविद्विशेषविषमेऽपि) विशिष्ट ज्ञानसे विषम है तथापि (भवति) आपमें (कषायजन्मा) कषाय जनित (कृत्स्नः अपि) सभी (विकारभारः) विकारोंके समूह (नास्ति) नहीं हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें अच्छी तरह स्थिर हो चुके हैं, इसलिए आपका परद्रव्य विषयक कर्तृत्वका भाव बिलकुल शान्त हो चुका है। आपका लोकोत्तर प्रभाव प्रकट है इसीलिए सौ इन्द्र आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं। यद्यपि आपका सामान्य ज्ञान, केवलज्ञान नामक विशिष्ट ज्ञानरूप परिणत हो रहा है और उसकी स्वच्छताके कारण उसमें अनन्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं फिर भी उन ज्ञेयोंसे समुत्पन्न कोई व्यग्रता आपमें नहीं है। इस तरह आपके वीतराग विज्ञानमें कषायजनित विकारोंका अंश भी शेष नहीं है। आप पूर्णतया निर्विकार ज्ञानके धारक हैं ॥२१॥

संप्रत्यसङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्र-
प्रौढप्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्।
सम्भाव्यते सहजनिर्मलचिद्विलासै-
र्नीराजयन्निव महस्तव विश्वमेतत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (संप्रति) इस समय (असङ्कुचितपुष्कलशक्तिचक्रप्रौढ़प्रकाशरभसार्पितसुप्रभातम्) विस्तृत तथा पूर्ण शक्ति समूहके प्रौढ़ प्रकाशके वेगसे सुप्रभातको प्रकट करनेवाला (तव) आपका (एतत्) यह (महः) तेज (सहजनिर्मलचिद्विलासैः) स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्यके चमत्कारसे (विश्वं नीराजयन्निव) समस्त विश्वकी आरती करता हुआ-सा (सम्भाव्यते) जान पड़ता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी आत्मामें अनन्त शक्तियोंका समूह विद्यमान है। यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामें उन शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं था परन्तु अब सर्वज्ञ दशामें वे सभी शक्तियाँ अपने स्वभावानुसार विस्तार और पूर्णताको प्राप्त हो रही हैं। उन सभी शक्तियोंमें ज्ञातृत्वशक्ति प्रमुख शक्ति है, क्योंकि इस शक्तिसे प्रकट हुआ ज्ञान स्वपरावभासी होनेसे अपने आपको तथा साथ ही विद्यमान अन्य शक्तियोंको प्रकट करता है। इस ज्ञातृत्व शक्तिका पूर्ण विकास होते ही अन्य सभी शक्तियोंका पूर्ण विकास हो जाता है। ज्ञातृत्व शक्तिका पूर्ण विकास केवलज्ञान होनेपर होता है। उस केवलज्ञानके समय समस्त विश्व आत्मामें अन्तःप्रतिफलित होने लगता है। आपका यह केवलज्ञान अपने चैतन्य चमत्कारसे समस्त विश्वकी आरती करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा है ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः
शुम्भत्स्वभावरसवीचिभिरुद्धुराभिः ।
उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः
प्रत्यक्षमेव हि महस्तव तर्कयामः ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः) चैतन्यके भारसे उत्कट तेजः-समूहसे परिपूर्ण (उद्धुराभिः) बहुत विशाल (स्वभावरसवीचिभिः) स्वाभाविक सुख रसकी तरङ्गोंसे (शुम्भत्) सुशोभित होनेवाला (तव) आपका यह (महः) तेज (हि) निश्चयसे (प्रत्यक्षमेव) प्रत्यक्ष ही प्रकट हो रहा है ऐसा हम (तर्कयामः) समझते हैं, क्योंकि (उन्मीलितप्रसभमीलितकातराक्षाः) उस तेजके प्रकाशसे हमारे कातर नेत्र हठात् निमीलित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण आपका स्वाभाविक तेज सबके प्रत्यक्ष है, उस तेजकी चकाचौंधसे ही हमारे नेत्र निमीलित हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हम अपने क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा आपके पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावकी महिमाके आँकनेमें असमर्थ हैं ॥२३॥

विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते
नित्योदितैकमहिमन्युदिते त्वयीति ।
एकैकमर्थमवलम्ब्य किलोपभोग्य-
मद्याप्युपप्लवधियः कथमुत्प्लवन्ते ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इति) इस प्रकार ज्ञानके द्वारा (विश्वैकभोक्तरि) समस्त विश्वके एक भोक्ता (विभौ) सामर्थ्यवन्त (भगवति) ऐश्वर्यवन्त (अनन्ते) अन्तरहित और (नित्योदितैक-महिमनि) निरन्तर उदित अद्वितीय महिमासे युक्त (त्वयि) आपके (उदिते) उदित रहते हुए (अद्यापि) आज भी (किल) निश्चयसे (उपभोग्यं एकैकमर्थं) अपने भोगके योग्य—अपने स्वार्थको सिद्ध करनेवाले एक-एक अर्थका (अवलम्ब्य) आश्रय ले कर (उपप्लवधियः) विरुद्ध बुद्धिके धारक मिथ्यादृष्टि पुरुष (कथं) क्यों (उत्प्लवन्ते) उछल-कूँद कर रहे हैं ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जैसे सर्वशक्तिसम्पन्न त्रिलोकीनाथके रहते हुए भी अज्ञानी जन, अपने भौतिक प्रयोजनकी सिद्धिका अभिप्राय रख एकान्तवादका आश्रय ले उछल-कूँद करते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥ २४ ॥

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्डयमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि[1] ॥ २५ ॥

---

१. एष श्लोकः समयसारकलशे २७० क्रमाङ्कितो वर्तते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः) नाना आत्मशक्तियोंके समुदायरूप (अयं) यह (आत्मा) आत्मा (नयेक्षणखण्डयमानः) नय दृष्टिसे खण्ड-खण्ड होता हुआ (सद्यः) शीघ्र ही प्रण श्यति) नष्ट हो जाता है (तस्मात्) इसलिये (अहम्) मैं (अखंण्डं) खण्डरहित (अनिराकृत-खण्डं) खण्डोंका सर्वथा निराकरण न करनेवाला (एकं) एक (एकान्तशान्तं) अत्यन्त शान्त (अचलं) अविनाशी (चिद्) चैतन्य (महः अस्मि) तेजरूप हूँ।

भावार्थं—हे भगवन्! यह आत्मा अभेददृष्टिसे नाना शक्तियोंके समुदायरूप एक अखण्ड द्रव्य है परन्तु जब इसका भेद दृष्टिसे विचार करते हैं तब यह खण्डित होता हुआ नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अनेक तन्तुओंके ताना-बानासे निर्मित वस्त्र एक स्वतन्त्र पदार्थ दिखता है परन्तु जब उसके एक-एक तन्तुको पृथक्-पृथक् कर विचार किया जाता है तब तन्तु ही सामने रह जाता है वस्त्र समाप्त हो जाता है। इसलिये हे नाथ! मैं इस भेद दृष्टिको गौण कर अभेद दृष्टिका आश्रय लेता हुआ अनुभव करता हूँ कि मैं तो एक अखण्ड आत्मद्रव्य हूँ, गुण और गुणीका भी भेद मुझमें नहीं है, यद्यपि किसी दृष्टिसे उसमें खण्डकी कल्पना होती है तथापि मैं इसे गौण कर अखण्डत्वका ही अनुभव करता हूँ, मैं सामान्य दृष्टिसे एक हूँ, क्रोधादि कषायजनित वैरूप्य मेरा स्वभाव नहीं है, अत्यन्त शान्त हूँ, अपने त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावसे कभी विचलित होनेवाला नहीं हूँ और चैतन्यसे तन्मय हूँ। इसी विधिसे मैं आत्माका अस्तित्व सुरक्षित रख सकता हूँ॥ २५॥

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(३)

मार्गावतारसनिर्भरभावितस्य
योऽभूत् तवाविरतमुत्कलिकाविकासः ।
तस्य प्रभोऽद्भुतविभूतिपिपासिताना-
मस्माकमेककलयापि कुरु प्रसादम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अविरतं) निरन्तर (मार्गावतारसनिर्भरभावितस्य) मोक्षमार्गकी प्राप्तिसे उत्पन्न होनेवाले अलौकिक आनन्दसे अत्यन्त भरे हुए (तव) आपके (यः) जो (उत्कलिका-विकासः) उत्कण्ठाका विकास (अभूत्) हुआ था (प्रभो) हे प्रभो ! (अद्भुतविभूतिपिपासितानां) आश्चर्यकारक विभूतिकी प्याससे युक्त (अस्माकं) हम लोगोंके ऊपर (तस्य) उस उत्कण्ठा रसकी (एककलयापि) एक कलाके द्वारा भी (प्रसादं कुरु) प्रसन्नता कीजिये ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकताको मोक्षमार्ग कहते हैं । इस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी प्राप्ति होते ही जब आपकी आत्मा, आत्मीय आनन्दसे परिपूर्ण हो गई तब साक्षात् मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिए आपके हृदयमें जो उत्कण्ठा होती थी वह भी बहुत आनन्ददायक हुआ करती थी । गृहस्थीके बन्धनसे निर्मुक्त होकर मैंने निराकुलताके पथको यद्यपि प्राप्त कर लिया है तथापि इस शरीररूप बन्धनको भी छोड़कर मोक्ष प्राप्ति कब करूँगा, ऐसी उत्कण्ठा रहती थी । हे भगवन् ! आपकी आश्चर्यकारक अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग विभूति देखकर हम लोगोंको भी उसकी आकांक्षा उत्पन्न हो रही है । हे प्रभो ! अपनी उस उत्कण्ठाकी एक कला प्रदान कर हम लोगोंपर भी प्रसन्नता कीजिये । हृदय-में मोक्ष प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाना ही कल्याणपथका प्रारम्भ है अतः हे भगवन् ! आपके प्रसादसे इतना भाव तो मेरा प्रकट हो कि जिससे भोगाकांक्षा दूर होकर मेरे हृदयमें मोक्ष-की आकांक्षा उत्पन्न होने लगे ॥१॥

दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहाय मोह-
व्यूहं प्रसह्य समये भवनं भवंस्त्वम् ।
सामायिकं स्वयमभूर्भगवन्समग्र-
सावद्ययोगपरिहारवतः समन्तात् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे स्वामिन् ! (प्रसह्य) बलपूर्वक (मोहव्यूहं) मोहके व्यूहको (अपहाय) छोड़कर (दृग्बोधमात्रमहिमनि) ज्ञानदर्शनमात्र महिमासे युक्त (समये) स्वकीय आत्मद्रव्यमें (समग्र-सावद्यपरिहारवतः) समस्त पापयोगके त्यागी पुरुषका (भवनं) लीन होना (सामायिकं) सामायिक है (समन्तात्) सब ओरसे (समये) स्वकीय आत्मद्रव्यमें (भवन्) लीन होते हुए (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (सामायिकम्) सामायिक (अभूः) हुए थे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञानदर्शनरूप है इसीको स्वसमय कहते हैं। इस स्वसमयके प्रकट होनेमें मोहचक्र प्रबल शत्रुके रूपमें सामने आता है, परन्तु मोक्षका अभिलाषी जीव उन सब चमत्कारोंसे विमुख होकर स्वरूपमें ही रमण करता है उसका स्वरूपरमण ही वास्तविक सामायिक है। यह सामायिक, उसी जीवके निर्दोष होता है जो सावद्ययोगका पूर्णरूपसे त्यागी होता है। और हे भगवन् ! इस उपर्युक्त सामायिक स्वरूप आप स्वयं हैं ॥२॥

अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्षं
त्वं द्रव्यभावमहिमानमबाधमानः।
स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्ययुङ्क्थाः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवः अपि) स्वतन्त्र—स्वाधीन भावसंयमके वैभवसे युक्त होनेपर भी (त्वं) आपने (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (इतरेतरसव्यपेक्षं) परस्पर सापेक्ष (द्रव्यभाव-महिमानम्) द्रव्य और भावकी महिमासे युक्त (एतं) इस संयमको (अबाधमानः) बाधा न पहुँचाते हुए (प्रथमं) पहले (स्वं) अपने आपको (द्रव्यसंयमपथे) द्रव्यसंयमके मार्गमें (न्ययुङ्क्थाः) नियुक्त किया था।

भावार्थ—द्रव्यसंयम और भावसंयमके भेदसे संयमके दो भेद हैं। चरणानुयोगमें प्रतिपादित पद्धतिके अनुसार निर्ग्रन्थमुद्रा धारण कर महाव्रतादिका आचरण करना द्रव्यसंयम है और संयमको घातनेवाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षयोपशम होनेपर आत्मामें जो विरक्तिका भाव होता है उसे भावसंयम कहते हैं। ये दोनों ही संयम परस्पर अत्यन्त सापेक्ष हैं। द्रव्यसंयमके बिना भावसंयम नहीं होता और भावसंयमके बिना द्रव्यसंयम कार्यकारी नहीं होता। इन दोनोंकी अपनी-अपनी महिमा है। इन दोनोंमें यद्यपि भावसंयम आत्माकी स्वाधीन परिणतिरूप है तथापि वह बाह्य आचरणरूप द्रव्यसंयमकी अपेक्षा रखता है। उसके बिना भावसंयमकी उत्पत्ति और विकास नहीं हो सकता, इसलिए आपने भावसंयमसे युक्त होते हुए भी अपने आपको प्रथम द्रव्य-संयमके मार्गमें नियुक्त किया था ॥३॥

विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा-
दन्तर्बहिः समतया तव भावितस्य।
आसीद् बहिर्द्वयमिदं सदृशं प्रमेय-
मन्तर्द्वयोः परिचरः सदृशः प्रमाता ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(तपोनुभावात्) तपकी महिमासे (विश्रान्तरागरुषितस्य) जिनके राग और द्वेष विश्रान्त हो चुके हैं तथा (अन्तर्बहिः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें जो (समतया भावितस्य) समता-भावसे युक्त हैं ऐसे (तव) आपके लिए (इदं द्वयं) यह दोनों राग-द्वेष (बहिः) बाह्यमें (सदृशं) एक समान (प्रमेयं) प्रमाणके विषयभूत ज्ञेय (आसीत्) थे और (अन्तः) अन्तरङ्गमें आप (द्वयोः) दोनोंके (सदृशः परिचरः प्रमाता) एक समान व्यापक ज्ञाता थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले राग-द्वेष आत्माकी विकारी परिणति हैं। जब प्रतिपक्षी कषायका अभाव होनेपर यह जीव तपश्चरणमें प्रवृत्त होता है तब तपके प्रभावसे उसके राग-द्वेष विश्रामको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् इष्ट पदार्थमें राग और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेषका भाव समाप्त हो जाता है। तपस्वी जीवकी आत्मा समताभावसे विभूषित हो जाती है। जैसे-जैसे यह जीव आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इसकी रागद्वेषकी अनुभूति कम होती जाती है। दशम गुणस्थान तक रागद्वेष, सत्तामें अवश्य विद्यमान रहते हैं पर यह जीव उन्हें अनुभूतिका विषय न बनाकर ज्ञानका ज्ञेय बनाता है अर्थात् उन्हें जानता तो है पर अपने आपमें उनके स्वामित्वका भाव लाकर उनका अनुभविता नहीं बनता। ज्ञेय बनाता है, इस पक्षमें भी वह उन्हें बाह्य ज्ञेय ही बनाता है अन्तर्ज्ञेय नहीं, क्योंकि अन्तर्ज्ञेय तो वह आत्माकी शुद्ध परिणतिको ही बनाता है। हे भगवन्! इस तरह राग-द्वेषको नष्ट कर आपने वीतराग परिणतिको प्राप्त किया है ॥४॥

मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः
पश्यन् जनो यदिह नित्यबहिर्मुखोऽयम् ।
शुद्धोपयोगदृढभूमिमितः समन्ता-
दन्तर्मुखस्त्वमभवः कलयंस्तदेव ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(मोहोदयस्खलितबुद्धिः) मोहके उदयसे जिसकी बुद्धि स्खलित हो रही है और इसी कारण जिसे (अलब्धभूमिः) उपरितन गुणस्थानोंकी भूमि प्राप्त नहीं हुई है ऐसा (अयं जनः) यह पुरुष (इह) इस लोकमें (यत् पश्यन्) जिस तत्त्वको जानता हुआ (नित्यबहिर्मुखः) निरन्तर बहिर्मुख रहता है (तदेव) उसी तत्त्वको (कलयन्) जानते हुए (त्वम्) आप (शुद्धोपयोगभूमिम् इतः) शुद्धोपयोगकी भूमिको प्राप्त होकर (समन्तात्) सब ओरसे (अन्तर्मुखः) अन्तर्मुख (अभवः) हुए।

भावार्थ—दर्शनमोहके उदयसे जिसका उपयोग दूषित हो रहा है और उसीके कारण जो मिथ्यात्व सम्बन्धी गुणस्थानोंमें ही विद्यमान है ऐसा जीव संसारके अन्य पदार्थोंके साथ यद्यपि जीव पदार्थको भी जानता है तथापि वह सदा बहिर्मुख ही रहता है, मोहोदयसे दूषित होनेके कारण शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर उसका झुकाव नहीं होता। शुभोपयोगके कालमें यद्यपि आत्म-रुचि प्रकट हो जाती है तथापि कषायजनित चञ्चलताके कारण उसकी आत्मस्वरूपमें स्थिरता नहीं हो पाती। परन्तु हे भगवन्! आप शुद्धोपयोगको प्राप्त हो चुके हैं, इसलिये उस आत्मतत्त्वको जानते हुए उसीमें निरन्तर अन्तर्मुख लीन रहते हैं ॥ ५ ॥

शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः
साक्षाद् भवन्नपि विचित्रतपोऽवगूर्णः ।
बिभ्रत् क्षयोपशमजाश्चरणस्य शक्तीः
स्वादान्तरं त्वमगमः प्रगलत्कषायः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (साक्षात्) साक्षात् (शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः) शुद्धोपयोगसम्बन्धी आनन्दमें अत्यन्त बद्धलक्ष्य (भवन्) होते हुए भी जो (विचित्रतपोऽवगूर्णः) नाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारके तपश्चरण करनेमें उद्यत रहते थे, जो (क्षयोपशमजाः) चारित्र मोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले (चरणस्य शक्तीः) चारित्रबलको (बिभ्रत्) धारण करते थे तथा (प्रगलत्कषायः) जिनकी कषाय गल चुको थी ऐसे (त्वम्) आप (स्वादान्तरम्) कषायजन्य रससे भिन्न आत्मरसको (अगमः) प्राप्त हुए।

भावार्थ—हे भगवन्! षष्ठ गुणस्थानमें यद्यपि आप अनशन, ऊनोदर आदि नाना तपोंके करनेमें उद्यत रहते थे तथापि आपका लक्ष्य शुद्धोपयोगकी ओर ही संलग्न रहता था। आप प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभके क्षयोपशममें होनेवाले महाव्रतादि संयमाचरणको पालन करते थे। उस समय यद्यपि संज्वलनके उदयमें होनेवाली कषाय विद्यमान थी तथापि वह उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती थी। कषाय ही इस जीवके उपयोगको शुद्धात्मस्वरूपसे हटाकर अन्य विषयोंमें ले जाती है। चूँकि उस समय आपकी कषाय अत्यन्त क्षीण हो रही थी इसलिये स्वकीय शुद्धात्मरसको आप अच्छी तरह प्राप्त हुए—उसमें आपका उपयोग संलग्न रहता था॥ ६॥

वेद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती-
र्मत्वोल्लसन् द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः।
गाढं परीषहनिपातमनेकवारं
प्राप्तोऽपि मोहमगमो न न कातरोऽन्तः॥ ७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (वेद्यस्य) वेदनीयकर्मकी (उदयावलिकाः) उदयावलियोंको (विष्वक्) सब ओर से (स्खलन्तीः) स्खलित होती हुई (मत्वा) मानकर जो (उल्लसन्) स्वयं उल्लिसित होते हुए आप तथा (द्विगुणिताद्भुतबोधवीर्यः) जिनका आश्चर्यकारी ज्ञान और आत्मबल दूना हो गया था ऐसे आप यद्यपि (अनेकबारं) अनेकबार (गाढं) बहुत भारी (परीषहनिपातं अपि) परीषहके आक्रमणको भी (प्राप्तः) प्राप्त हुए तथापि (मोहं) मोह-ममताको (न अगमः) प्राप्त नहीं हुए और (न अन्तः कातरः) न अन्तरङ्गमें भयभीत ही हुए।

भावार्थ—षष्ठ गुणस्थानकी भूमिकामें यदि कदाचित् परीषहोंका समूह उपस्थित हुआ तो आपने यही विचार किया कि इस समय असाता वेदनीदकर्मके निषेक उदयावलीमें आकर खिर रहे हैं। खिर चुकनेपर परीषहोंकी बाधा स्वयं समाप्त हो जावेगी। अन्तरङ्गके इस विचारसे आपके आत्मिक उल्लासमें कोई कमी नहीं आयी। इसके विपरीत आपका ज्ञान और आत्मबल पहलेकी अपेक्षा दूना हो गया। इस प्रकार कर्म परिणतिका विचार कर आप कभी भी मोह-ममताको प्राप्त नहीं हुए और न अन्तरङ्गमें कभी आपने कायरता उत्पन्न होने दी॥ ७॥

अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक-
मेकोऽपि धैर्यबलवृद्धित(बृंहित)तुङ्गचित्तः।
आसीन्न काहल इहास्खलितोपयोग-
गाढग्रहादगणयन् गुरुदुःखभारम्॥ ८॥

---

१. धैर्यबलवृद् + हिततुङ्गचित्तः इति पदच्छेदः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(निजनिकाचितकर्मपाकम्) जो अपने निकाचित—फल दिये बिना न छूटने-वाले कर्मोंके उदयका (एकोऽपि) अकेले ही (अश्नन्) फल भोगते थे (धैर्यबलवृद्) जो अपने धैर्यबलकी वृद्धि करते थे (हितेतुङ्गचित्तः) जिन्होंने उदात्त चित्तको धारण किया था (अस्खलितोपयोगगाढ-ग्रहात्) शुद्धात्मस्वरूपसे विचलित न होनेवाले उपयोगकी सुदृढ़ पकड़से जो (गुरुदुःखभारम्) बहुत भारी दुःखके समूहको (अगणयन्) कुछ भी नहीं गिनते थे ऐसे (भवान्) आप (इह) इस लोकमें (काहलः) कातर (न आसीत्) नहीं हुए थे।

भावार्थ—जो कर्म अपना फल दिये बिना नहीं छूटते हैं उन्हें निकाचित कर्म कहते हैं। हे भगवन्! पूर्व भवमें जिन निकाचित कर्मोंका बन्ध पड़ गया था उनका फल आपने अकेले ही भोगा है। इससे प्रतीत होता है कि आप अनुपम धैर्यबलके धारक हैं तथा उदात्त चित्तसे युक्त हैं। कर्मोदयके फलस्वरूप जो बहुत भारी दुःख प्राप्त हुआ उसे आपने कुछ भी नहीं समझा। उस दुःखानुभवके कालमें भी आपका उपयोग आपके शुद्ध स्वरूपसे स्खलित नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आप काहल-कातर नहीं हुए—समताभावसे कर्मफलको भोगनेवाले थे ॥८॥

उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः
संनह्य दुर्जयकषायजयार्थमेकः।
बोधस्तु(बोधास्त्र)तैक्ष्ण्यकरणाय सदैव जाग्रद्
देवश्रुतस्य(देव श्रुतस्य)विषयं सकलं व्यचैषीः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! जो (उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽपि अखिन्नः) बहुत भारी संयमका भार धारण करनेपर भी खिन्न नहीं हुए थे, जो (दुर्जयकषायजयार्थं) दुर्जेय कषायको जीतनेके लिये (एकः) अकेले ही (संनह्य) संनद्ध रहकर (बोधास्त्रतैक्ष्ण्यकरणाय) ज्ञानरूपी शस्त्रको तीक्ष्ण करनेके लिये (सदैव जाग्रद्) सदा जागृत रहते थे ऐसे आपने (श्रुतस्य सकलं विषयं) द्वादशाङ्गरूप शास्त्रके समस्त विषयोंका (व्यचैषीः) विचार किया है—मनन किया है।

भावार्थ—हे भगवन्! दुर्जेय कषायको जीतनेके लिये आपने तैयार होकर अकेले ही उत्कृष्ट संयमका भार धारण किया फिर भी खेदका अनुभव नहीं किया। आप छद्मस्थ अवस्थामें अपने ज्ञानास्त्रको तीक्ष्ण बनाये रखनेके लिये सदा सावधान रहते थे और शास्त्र प्रतिपादित समस्त विषयोंका निरन्तर चिन्तन करते रहते थे ॥ ९ ॥

यद्द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या-
तीक्ष्णो(भीक्ष्णो)पयोगमयमूर्तिरतर्कयँस्त्वम्।
आक्रम्यतावेदपवादभराधिरूढ-
शुद्धैकबोधसुभगं स्वयमन्वभूः स्वम्॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(आक्रम्यतावदपवादभराधिरूढ) निरस्त करने योग्य समस्त अपवाद समूहके ऊपर अधिरूढ—उनपर विजय प्राप्त करनेवाले हे जिनेन्द्र! (अभीक्ष्णोपयोगमयमूर्तिः) निरन्तर

१. हितं धृतं तुङ्गचित्तं येन सः।
२. 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इत्यमरः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानमय उपयोग रखनेवाले (त्वम्) आपने (श्रुतबोधशक्त्या) छद्मस्थ कालमें होनेवाले श्रुतज्ञानकी शक्तिसे (द्रव्यपर्ययगतं यत्) द्रव्य और पर्यायरूप जिस आत्मद्रव्यको (अतर्कयः) जाना था, (शुद्धैक-बोधसुभगं) शुद्ध क्षायिक ज्ञानसे सुशोभित (तत्) उस (स्वम्) आत्मद्रव्यका (स्वयं) स्वयं अनुभव किया।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपने छद्मास्थावस्थामें श्रुतज्ञानके द्वारा आत्मद्रव्यको जैसा जाना था अब सर्वज्ञदशामें उसका वैसा ही अनुभव कर रहे हैं। वस्तुतः श्रुतज्ञान और केवलज्ञानमें परोक्ष और प्रत्यक्षका अन्तर है, वस्तुस्वरूपका नहीं ॥ १० ॥

तीव्रैस्तपोभिरभितस्तव देव नित्यं
दूरान्तरं रचयतः पुरुषप्रकृत्योः ।
प्राप्तः क्रमात् कुशलिनः परमप्रकर्षं
ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण विवेकपाकः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (नित्यं) निरन्तर (अभितः) दोनों प्रकारके (तीव्रैः) कठिन (तपोभिः) तपोंके द्वारा (पुरुषप्रकृत्योः) आत्मा और कर्ममें (दूरान्तरं) बहुतभारी अन्तर (रचयतः) करनेवाले (तव कुशलिनः) आप कुशल महानुभावका (विवेकपाकः) भेदज्ञानसम्बन्धी परिपाक (ज्ञानक्रियाव्यतिकरेण) ज्ञान और चारित्रके व्यतिकरसे (क्रमात्) क्रमपूर्वक (परमप्रकर्षं प्राप्तः) चरम सीमाको प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—आत्मा और कर्मका अनादिकालसे दूध और पानीके समान एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध चला आ रहा है। आत्मा चेतन द्रव्य है और कर्म अचेतन—पुद्गल द्रव्य है। इन दोनोंमें अवनि और अन्तरिक्षके समान महान् अन्तर है, परन्तु अनादिकालीन एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध देखकर अज्ञानी जीव दोनोंके बीचका अन्तर भूल जाते हैं। परन्तु हे भगवन् ! आपने अपने ज्ञानके द्वारा सर्वप्रथम उन दोनोंकी सत्ताका पृथक्-पृथक् अनुभव किया और फिर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तप तथा ज्ञान और चारित्रके उभय संयोगसे उन दोनोंको अलग-अलग किया है। इस प्रकार आपका भेद-विज्ञान चरमावस्थाको प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

श्रेणीप्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं
कुर्वन् मनाक् करणमिष्टविशिष्टशुद्धिः ।
आरूढ एव दृढवीर्यचपेटितानि
निर्लोठयन् प्रबलमोहबलानि विष्वक् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (मनाक् इष्टविशिष्टशुद्धिः) जिन्हें परिणामोंकी कुछ विशिष्ट शुद्धता अभीष्ट है ऐसे (त्वं) आप (श्रेणीप्रवेशसमये) श्रेणी प्रवेशके समय (अथाप्रवृत्तं करणं कुर्वन्) अधःप्रवृत्तकरणको करते हुए (आरूढ एव) आरूढ हुए और आरूढ होते ही आपने अपने (दृढवीर्यचपेटितानि) प्रबल पराक्रमसे चपेटे हुए (प्रबलमोहबलानि) मोह राजाके सबल सैनिकोंको (विष्वक्) चारों ओर (निर्लोठयन्) भूलुण्ठित (कुर्वन्) कर दिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—सातवें अप्रमत्तगुणस्थानके स्वस्थान और सातिशयकी अपेक्षा दो भेद हैं। सातिशय अप्रमत्तवाला जीव अथाप्रवृत्त अथवा अधःप्रवृत्तकरणको करता हुआ श्रेणीपर आरूढ होता है और परिणामोंकी विशुद्धतासे मोहकर्मकी प्रकृतियोंको छिन्न-भिन्न करता है। हे भगवन्! इसी आगमोक्त पद्धतिसे आप भी श्रेणीपर आरूढ हुए और आपने भी अपने प्रबल पराक्रमसे मोहकर्मकी प्रकृतियोंको छिन्न-भिन्न किया ॥ १२ ॥

कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या
पूर्वादनन्तगुणया परिवर्तमानः ।
उत्तेजयन्नविरतं निजवीर्यसारं
प्राप्तोऽसि देव परमं क्षपणोपयोगम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव! (पूर्वात्) पहलेकी अपेक्षा (अनन्तगुणया) अनन्तगुणी (परिणामशुद्ध्या) परिणमोंकी शुद्धिसे (परिवर्तमानः) परिवर्तन करते हुए आपने (अपूर्वकरणं कुर्वन्) अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थानको प्राप्त किया और (अविरतं) निरन्तर (निजवीर्यसारं) आत्माकी श्रेष्ठशक्तिको (उत्तेजयन्) उत्तेजित करते हुए आप (परमं) उत्कृष्ट (क्षपणोपयोगं) क्षपणाविधिको (प्रासोऽसि) प्राप्त हुए।

भावार्थ—हे भगवन्! अथाप्रवृत्तकरणके बाद, आप अपूर्वकरणको प्राप्त हुए। वहाँ पूर्वकी अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धतासे आप कर्मोंकी क्षपणाविधिमें अग्रसर हुए ॥ १३ ॥

प्राप्यानिवृत्तिकरणं करणानुभावा-
न्निर्गालयन् झगिति बादरकर्मकिट्टम् ।
अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभावो
जातः क्वचित् क्वचिदपि प्रकटप्रकाशः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अनिवृत्तिकरणं प्राप्य) अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त कर वहाँ आपने (करणानुभावात्) अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंके प्रभावसे (झगिति) शीघ्र ही (बादरकर्मकिट्टम्) बादरकर्मरूप कीटको (निर्गालयन्) निर्लुप्त किया। तदनन्तर (क्वचित्) कहीं किन्हीं भागोंमें (अन्तर्विशुद्धिविकसत्सहजाच्छभावः) अन्तरङ्गकी विशुद्धतासे विकसित होनेवाला सहज निर्मल भाव (जातः) प्राप्त हुआ और (क्वचिदपि) कहीं (प्रकटप्रकाशः) प्रकट प्रकाश—मोह क्षयके अभिमुख विशुद्धिका उत्कर्ष प्रकट हुआ।

भावार्थ—अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंके द्वारा कर्मोंकी अनुभागशक्तिको क्षीण करते हुए आप सहजस्वभावके प्राप्त करनेमें अग्रसर हुए ॥ १४ ॥

स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयाऽवशिष्ट-
लोभाणुकैककणचिक्कणमुत्कयंस्त्वम् ।
आलम्ब्य किञ्चिदपि सूक्ष्मकषायभावं
जातः क्षणात् क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः ॥ १५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनया) सूक्ष्म कीटको भी हठात् नष्ट करनेसे (अवशिष्टलोभाणुकैककणचिक्कणं) जिसमें मात्र संज्वलन लोभसम्बन्धी एक सूक्ष्म कणकी चिक्कणता शेष रह गई थी ऐसे (स्वं) अपने आपको (उत्कयन् त्वम्) उत्कण्ठित करते हुए आप (सूक्ष्मकषायभावं किञ्चिदपि आलम्ब्य) सूक्ष्म कषायभावका कुछ आलम्बन लेकर दशम गुणस्थानको प्राप्त हुए और वहाँ (क्षणात्) क्षणभरमें (क्षपितकृत्स्नकषायबन्धः जातः) समस्त कषायबन्धको नष्ट करनेवाले हो गये।

भावार्थ—नवम गुणस्थानके अन्तमें जो कषायकी सूक्ष्म कीट शेष रह गई थी उसे भी नष्ट करनेका प्रयत्न करते हुए जब आपके संज्वलन लोभसम्बन्धी सूक्ष्मतम राग रह गया तब आप सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानको प्राप्त हुए। वहाँ आपने समस्त कषायोंके बंधका अभाव कर दिया ॥१५॥

उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट-
मालम्ब्य निर्भरमनन्तगुणा विशुद्धीः।
जातोऽस्यसंख्यशुभसंयमलब्धिधाम-
सोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणिस्त्वम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वम्) आपने (अनन्तगुणाः विशुद्धीः) अनन्तगुणी विशुद्धताओंका (निर्भरम्) अतिशय (आलम्ब्य) आलम्बन लेकर (मांसलं) सुदृढ़ (अशेषकषायकिट्टं) समस्त कषायरूपी कीटको (उद्वम्य) वमन किया और उसके फलस्वरूप आप (असंख्यशुभसंयमलब्धिधामसोपानपङ्क्तिशिखरैकशिखामणिः) असंख्यात शुभसंयमकी प्राप्तिरूप स्थानको प्राप्त करानेवाली सोपानपङ्क्तिसम्बन्धी शिखरके अद्वितीय शिखामणि (जातः असि) हो गये।

भावार्थ—समस्त कषायभावको नष्ट कर आप यथाख्यात चारित्रके धारक हुए ॥१६॥

शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव-
स्पृष्ट्या तदास्थितमनास्त्वमसंक्रमोऽभूः।
एकाग्ररुद्धमनस्तव तत्र चित्त-
ग्रन्थौ स्फुटत्युदितमेतदनन्ततेजः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (शब्दार्थसंक्रमवितर्कं) शब्द और अर्थके संक्रमणसे युक्त श्रुतका (अनेकधावस्पृष्ट्या) अनेक प्रकार आलम्बन लेनेसे जो पृथक्त्ववीचार नामका शुक्लध्यान है (तदास्थितमनाः) उसीमें आपका मन स्थित रहा, परन्तु कषायका निरोध हो जानेसे यहाँ (त्वम् असंक्रमः अभूः) आप संक्रमणसे रहित हो गये। (एकाग्ररुद्धमनसः) एकाग्र पदार्थमें मनको रोकनेवाले (तव) आपकी (चित्तग्रन्थौ स्फुटति सति) मनकी गाँठ खुलते ही (तत्र) उस क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तमें (एतत्) यह आगे कहा जानेवाला (अनन्ततेजः) अनन्ततेज (उदितं) उदित हुआ है।

भावार्थ—शुक्लध्यानके प्रथम पाद—पृथक्त्ववितर्कवीचारमें अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति होती रहती है, परन्तु द्वितीय पाद-एकत्ववितर्कमें वह संक्रान्ति समाप्त हो जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वारहवें क्षीणमोहगुणस्थानके अन्तमें एकत्ववितर्क नामका द्वितीय शुक्लध्यान प्रकट होता है उसके फलस्वरूप यहाँ अनन्त तेज प्रकट होता है ॥१७॥

साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्रजस्त्व-
मन्ते भवन् क्षपितसंहतघातिकर्मा ।
उन्मीलयन्नखिलमात्मकलाकलाप-
मासीरनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(साक्षात् असंख्यगुणनिर्जरणस्रजः) साक्षात् असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरारूप मालाके (अन्ते भवन्) अन्तिम स्थानमें रहते हुए जिन्होंने (क्षपितसंहतघातिकर्मा) समस्त घातिया-कर्मोंका क्षय कर दिया है तथा जो (अखिलम् आत्मकलाकलापं) सम्पूर्ण आत्मकलाओंके समूहको (उन्मीलयन्) प्रकट कर रहे हैं ऐसे (त्वं) आप (अनन्तगुणशुद्धिविशुद्धतत्त्वः) अनन्तगुणी शुद्धिसे आत्मतत्त्वको विशुद्ध करनेवाले (आसीः) हुए हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आदि गुणश्रेणी निर्जराके दश स्थानोंमें जिनका अन्तिम स्थान है अर्थात् जिनके सबसे अधिक निर्जरा होती है उस निर्जराके फलस्वरूप उनके घातियाकर्म तो नष्ट हो ही जाते हैं प्रत्येक समय असंख्य कर्मस्कन्धोंकी भी निर्जरा होती रहती है। उस समय उनके समस्त आत्मगुणोंका विकास हो जाता है और उनका आत्मतत्त्व अनन्तगुणी विशुद्धिसे निर्मल हो जाता है ॥१८॥

एतत्ततः प्रभृति शान्तमनन्ततेज
उत्तेजितं सहजवीर्यगुणोदयेन ।
यस्यान्तरुन्मिषदनन्तमनन्तरूप-
संकीर्णपूर्णमहिम प्रतिभाति विश्वम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(ततः प्रभृति) उसी समय (सहजवीर्यगुणोदयेन) सहज-स्वाभाविक वीर्य गुणके प्रकट होनेसे (एतत्) यह (शान्तं) शान्त (अनन्ततेजः) अनन्त तेज (उत्तेजितं) प्रकट होता है (यस्य अन्तः) जिसके भीतर (उन्मिषदनन्तं) प्रकटित होते हुए अनन्त पदार्थोंसे युक्त तथा (अनन्त-रूपसंकीर्णपूर्णमहिम) अनन्तरूपोंसे संकीर्ण एवं पूर्ण महिमावाला (विश्वम्) लोकालोक (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—इसी गुण स्थानमें अनन्तवीर्यके साथ सहज शान्त, केवलज्ञानरूप, वह अनन्त तेज प्रकट होता है जिसमें अनन्तानन्त पदार्थोंसे व्याप्त समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है ॥१९॥

योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः
शेषस्य कर्मरजसः प्रसभं क्षयाय ।
आस्फोटयन्नतिभरेण निजप्रदेशाँ-
स्त्वं लोकपूरमकरोः क्रमजृम्भमाणः ॥ २० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(योगान् जिघांसुः अपि) जो योगोंको नष्ट करनेकी इच्छा करते हुए भी (योगफलं जिघृक्षुः) योगोंका फल ग्रहण करना चाहते थे तथा जो (क्रमजृम्भमाणः) क्रमसे विस्तारको प्राप्त हो रहे थे ऐसे (त्वं) आपने (शेषस्य कर्मरजसः) शेष कर्मरूपी रजका (प्रसभं) हठात् (क्षयाय) क्षय करनेके लिये (अतिभरेण) बहुत वेगसे (निजप्रदेशान्) आत्म प्रदेशोंको (आस्फोटयन्) फैलाते हुए (लोकपूरं) लोकपूरण समुद्घात (अकरोः) किया था।

भावार्थ—जिन केवलियोंकी आयु कर्मकी स्थिति अल्प हो तथा शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति अधिक हो वे उन अघातिया कर्मोंकी स्थिति घटाकर आयुके बराबर करनेके लिये लोकपूरण समुद्घात करते हैं। इस समुद्घातके दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे चार भेद हैं और उसके करनेमें आठ समय लगते हैं। हे प्रभो! शेष अघातिया कर्मोंका क्षय करनेके लिये आपने भी यह लोकपूरण समुद्घात किया था ॥ २० ॥

पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः
शीलेशितां त्वमधिगम्य निरुद्धयोगः।
स्तोकं विवृत्य परिवर्त्य झगित्यनादि-
संसारपर्ययमभूज्जिन सादिसिद्धः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (पश्चात्) उस लोकपूरण समुद्घातके बाद (अशेषगुणशीलभरोपपन्नः) जो समस्त अर्थात् चौरासीलाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलके भेदोंसे सहित हैं, तथा (शीलेशिताम् अधिगम्य) शीलोंके ऐश्वर्यको प्राप्तकर (निरुद्धयोगः) जिन्होंने योगनिरोध किया है ऐसे (त्वम्) आप (स्तोकं) कुछ काल तक (विवृत्य) चौदहवें गुणस्थानमें रहकर (झगिति) शीघ्र ही (अनादि संसारपर्ययम्) अनादि संसार पर्यायको (परिवर्त्य) परिवर्तितकर (सादिसिद्धः) सादिसिद्ध (अभूत्) हो गये।

भावार्थ—लोकपूरण समुद्घातके पश्चात् जो अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए हैं तथा यहाँ आनेपर जिनके चौरासी लाख उत्तर गुणों और अठारह हजार शीलके भेदोंकी पूर्णता हुई है, जिन्होंने योगनिरोध कर अयोग अवस्थाको प्राप्त किया है, ऐसे आपने 'अ इ उ ऋ ऌ' इन पाँच लघुस्वरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने कालतक इस अयोगकेवली गुणस्थानमें रहकर अनादि कालीन संसारपर्यायका नाश किया तथा सादि सिद्धपर्यायको प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्य-
संभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्तिः।
अत्यन्तमायततमं गमयन्नुदर्क-
मेको भवान् विजयतेऽस्खलितप्रतापः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(सम्प्रति) इस समय—सिद्धपर्यायमें (अनन्तसुखदर्शनबोधवीर्यसंभारनिर्भरभृतामृतसारमूर्तिः) जिनकी अविनाशी श्रेष्ठ मूर्ति अनन्त सुख, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्यके संभारसे अत्यन्त परिपूर्ण है और (अस्खलितप्रतापः) जिनका प्रताप कभी काल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रयमें भी स्खलित नहीं होता ऐसे (एको भवान्) भाव-द्रव्य कर्म नो कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके संपर्कसे रहित एक, आप (अत्यन्तम् आयततमं) अनन्त तथा अत्यन्त दीर्घ (उदर्कं) भविष्यत्कालको (गमयन्) व्यतीत करते हुए (विजयते) जयवन्त प्रवर्तते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌की सिद्धावस्थाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इस अनन्त चतुष्टयसे युक्त रहते हुए अनन्त भविष्यकालमें भी इसी सिद्धपर्यायमें अवस्थित रहेंगे। आपकी यह सिद्धपर्याय सादि अनन्त है ॥ २२ ॥

कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान-
सौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टिः ।
उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः
शश्वद् भवाननुपमं सुखमेव भुङ्क्ते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(कालत्रयोपचितविश्वरसातिपानसौहित्यनित्यमुदिताद्भुतबोधदृष्टिः) त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थोंके रसातिपानसे समुत्पन्न तृप्तिसे जिनकी आश्चर्यकारक ज्ञानरूप दृष्टि निरन्तर उदित रहती है तथा (उत्तेजिताचलितवीर्यविशालशक्तिः) जिनके वीर्यकी विशाल शक्ति सदा क्रियाशील और स्वकीय कार्यसे अविचलित रहती है ऐसे (भवान्) आप (शश्वत्) निरन्तर (अनुपमं) उपमारहित (सुखमेव) सुख ही (भुङ्क्ते) भोगते हैं।

भावार्थ—सिद्ध भगवान्‌के आत्मीक अनन्त सुखका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त पदार्थोंको जानते देखते हैं इसलिये अज्ञान और अदर्शन जनित दुःखसे रहित हैं तथा आपका अनन्त बल सदा उत्तेजित—क्रियाशील और स्वकार्यसे कभी विचलित नहीं होता, अतः अशक्ति सम्बन्धी दुःखसे रहित हैं इस तरह आप निरन्तर अनुपम सुख ही भोगते हैं। सांसारिक जीवोंका सुख विषयेच्छाकी पूर्तिसे समुत्पन्न है और आपका सुख विषयेच्छाकी निवृत्तिसे समुत्पन्न है, अतः उसे सांसारिक जीवोंके सुखकी उपमा नहीं दी जा सकती ॥ २३ ॥

संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव
(संरक्षसीव) पिबसीव बलेन विश्वम् ।
उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश-
लीलायितैर्दिशि दिशि स्फुटसीव देव ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! ऐसा जान पड़ता है मानों आप (विश्वं) समस्त लोकालोकको (बलेन) बलपूर्वक (संक्रामसि इव) केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण अपने आपमें संक्रान्त कर रहे हों (लिखसि इव) लिखसे रहे हों (विकर्षसि इव) आकृष्ट-सा कर रहे हों (संरक्षसि इव) संरक्षित-सा कर रहे हों (पिबसि इव) पी-सा रहे हों और (उद्दामवीर्यबलगर्वितदृग्विकाश-लीलायितैः) उत्कट—अनन्त वीर्य-बलसे गर्वित, दृष्टिविकासकी लीलाओंसे (दिशि दिशि) प्रत्येक दिशामें मानों (स्फुटसि इव) स्वयं प्रकट हो रहे हों।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण आप समस्त विश्वके ज्ञायक हैं, इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वको आप हठात् अपने आपमें संक्रान्त कर रहे हों, अपने आपमें लिख रहे हों अपनी ओर खींच रहे हों, अपने आपमें संरक्षित कर रहे हों और उसका पान कर रहे हों। साथ ही अनन्त बलसे परिपूर्ण दृष्टिके विकाससे ऐसा जान पड़ता है कि आप मानों समस्त दिशाओंमें स्वयं ही स्फुटित हो रहे हों ॥ २४ ॥

देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं
प्रस्फोटय स्फुटय विश्वमशेषमेव ।
एष प्रभो सं (?) प्रसभजृम्भितचिद्विकाश-
हासैर्भवामि किल सर्वमयोऽहमेव ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (स्वयं स्फुटं मम इमं चित्तकोशम्) स्वयं विकसित मेरे इस हृदयरूपी कुड्मलको (प्रस्फोटय) अतिशय विकसित करें तथा (अशेषमेव विश्वं) समस्त विश्वको (स्फुटय) विकसित करें। जिससे (प्रभो) हे नाथ ! (किल) निश्चय पूर्वक (एषः अहमेव) यह मैं ही (सं(?)प्रसंभविजृम्भितचिद्विकाशहासैः) बलपूर्वक वृद्धिको प्राप्त चैतन्यगुणके विकासरूप हास्यके द्वारा (सर्वमयः) सर्वमय (भवामि) हो जाऊँ।

भावार्थ—यहाँ ग्रन्थकर्ता आकाङ्क्षा प्रकट करते हैं कि हे भगवन् ! आपके अनुग्रहसे मेरा हृदयरूपी कुड्मल खिल जावे जिसके फलस्वरूप संसारके समस्त पदार्थ मुझमें प्रतिभासित होने लगें और मैं सर्वमय—सर्वज्ञ हो जाऊँ ॥ २५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(४)

वंशस्थवृत्तम्

सदोदितानन्तविभूतितेजसे स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि दीप्यते ।
विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते नमोऽस्तु तुभ्यं जिन विश्वभासिने ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (सदोदितानन्तविभूतितेजसे) सदाके लिये प्रकट हुए अनन्त-चतुष्टयरूप विभूतिके तेजसे सहित (स्वरूपगुप्तात्ममहिम्नि) स्वरूपसे गुप्त—रक्षित आत्माकी महिमामें ([1]दीप्यते) देदीप्यमान (विशुद्धदृग्बोधमयैकचिद्भृते) विशुद्ध दर्शन और ज्ञानरूप चेतनाको धारण करनेवाले तथा (विश्वभासिने) समस्त लोकालोकको जाननेवाले (तुभ्यं) आपके लिये (नमोऽस्तु) नमस्कार हो ।

भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर 'जिन' संज्ञा प्राप्त होती है। 'जयति स्म कर्मशत्रून् इति जिनः' जो कर्मरूप शत्रुको जीत चुकते हैं वे जिन कहलाते हैं। उपर्युक्त चार घातिया कर्म नष्ट होनेपर आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य यह अनन्त चतुष्टयरूप विभूति उत्पन्न होती है। उनकी यह विभूति अनन्त रहती है—उसका कभी नाश नहीं होता है तथा इस विभूतिके कारण ही उनका तेज अपरमित हो जाता है। उसी तेजसे आकृष्ट होकर सौ इन्द्र निरन्तर उनकी वन्दना करते हैं। वे अपने चैतन्यस्वरूपसे सुरक्षित आत्माकी महिमामें देदीप्यमान रहते हैं। मोहजनित विकारी भावोंसे रहित दर्शन और ज्ञान चेतनाको धारण करते हैं और केवलज्ञानके प्रकट हो जानेसे लोक अलोकको स्पष्ट जानते हैं। ऐसी अद्भुत सामर्थ्यसे युक्त जिनेन्द्र भगवान्के लिये यहाँ नमस्कार किया है ।। १ ।।

अनादिनष्टं तव धाम य(म)द्बहिस्तदद्य दृष्टं त्वयि संप्रसीदति ।
अनेन नृत्याम्यहमेष हर्षतश्चिदङ्गहारैः स्फुटयन् महारसम् ।। २ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपका जो (धाम) तेज (मद् बहिः, अनादिनष्टं) अनादि-कालसे—मेरे अनुभवसे दूर हो रहा था (तद्) वह तेज (अद्य) आज (त्वयि संप्रसीदति) आपके प्रसन्न होनेपर (दृष्टं) दिखाई देने लगा है—मेरे अनुभवमें आने लगा है। (अनेन) इस कारण (एषोऽहम्) यह मैं (चिदङ्गहारैः) चैतन्यरूप अङ्गविक्षेपके द्वारा (महारसं स्फुटयन्) महान्-अद्वितीय रसको प्रकट करता हुआ (हर्षतः) हर्षसे (नृत्यामि) नृत्य करता हूँ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मिथ्यात्व कर्मके तीव्रोदयके कारण मेरी दृष्टि अब तक आपके दिव्य-ज्ञान—तेजपर गई नहीं। आप अनन्त-चतुष्टयरूप तेजसे विभूषित हैं। यह बात आज तक मेरी

१. आत्मनेपदधातोरपि क्वचित् शतृप्रत्ययो दृश्यते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धामें नहीं आई, परन्तु आज आपके प्रसादसे मेरा वह मिथ्यात्व कर्म क्षीण हो गया है, अतः आपका वह दिव्य तेज मेरे अनुभवमें आने लगा है इसलिए मैं आनन्दविभोर हर्षसे नृत्य करता हूँ। जिस प्रकार कोई मनुष्य चिरकालसे खोयी हुई अपनी वस्तुको प्राप्त कर हर्षसे नृत्य करने लगता है उसी प्रकार मैं भी चिर कालसे भूले हुए आपके दिव्य तेजको प्राप्त कर हर्षसे नृत्य कर रहा हूँ। अर्थात् हे भगवन् ! मैं अपने जिस आत्मतेजको अनादिकालसे भूला हुआ था वह आज आपके प्रसादसे मेरी दृष्टिमें आ गया। मेरी श्रद्धा हो गई कि जो वीतराग स्वरूप आपका है वही मेरा स्वरूप है, हमारे और आपके आत्मद्रव्यमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर मात्र पर्यायमें है, आपकी वीतराग पर्याय है और मेरी सराग पर्याय है। मेरी सराग पर्याय मोह जनित है, अतः मैं अपने पुरुषार्थसे मोहको नष्ट कर आपके ही समान वीतराग बन सकता हूँ। अपनी इस निधिका बोध होनेके कारण मैं अपने चिदङ्गहार—चैतन्यके विकल्पोंसे महान् रसको प्रकट करता हुआ हर्षसे नृत्य करता हूँ ॥२॥

इदं तवोदेति दुरासदं महः प्रकाशयद्विश्वविसारि वैभवम् ।
उदञ्च्यमानं सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैर्निजतत्त्ववेदिभिः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (सरलीकृतास्खलत्स्वभावभावैः) जिनका स्वभावभाव सरलीकृत—मायारहित तथा अस्खलित—अविचलित है ऐसे (निजतत्त्ववेदिभिः) आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा जो (उदञ्च्यमानं) उत्कृष्टरूपसे पूजित हो रहा है तथा जो (विश्वविसारि) विश्वव्यापी (वैभवं) वैभवको (प्रकाशयत्) प्रकट कर रहा है ऐसा (इदं) यह (तव) आपका (दुरासदं) दुर्लभ (महः) तेज (उदेति) प्रकट हो रहा है—हमारे अनुभवमें आ रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अरहन्त अवस्था प्रकट होते ही आपका वह दिव्य तेज प्रकट हो जाता है जो अन्य संसारी जीवोंके लिए दुर्लभ रहता है, जो विश्वव्यापी सामर्थ्यको प्रकट करता है और सरल एवं अस्खलित स्वभावभावसे युक्त आत्मतत्त्वके ज्ञाता पुरुष जिसकी सदा स्तुति करते हैं ॥३॥

इमाः स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहृताः समुन्मिषन्त्यश्चिति शक्तयः स्फुटाः ।
स्वयं त्वयानन्त्यमुपेत्य धारिता न कस्य विश्वेश दिशन्ति विस्मयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(विश्वेश) हे विश्वेश्वर—हे त्रिलोकीनाथ ! जो (स्वतत्त्वप्रतिबद्धसंहृताः) आत्मतत्त्वसे सम्बद्ध हैं तथा आत्मतत्त्वमें ही जिनका समावेश होता है (चिति समुन्मिषन्त्यः) जो चेतन—ज्ञानस्वरूप आत्मामें (समुन्मिषन्त्यः) प्रकट हो रही हैं, (स्फुटाः) अत्यन्त स्पष्टरूपसे जिनका अनुभव हो रहा है और (स्वयं) स्वयं (आनन्त्यं) अनन्तरूपताको (उपेत्य) प्राप्त होकर जो (त्वया) आपके द्वारा (धारिताः) धारण की गई हैं ऐसी (इमाः) ये (शक्तयः) शक्तियाँ (कस्य) किसे (विस्मयं) आश्चर्य (न दिशन्ति) उत्पन्न नहीं करतीं ?

भावार्थ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है। भेदनयसे गुण-गुणीका भेद स्वीकृत करनेपर उस आत्मामें अनन्त शक्तियाँ प्रकट होती हैं। वे सब शक्तियाँ आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं और आत्मामें ही समावेशको प्राप्त होती हैं जिस प्रकार लहरें समुद्रसे ही उत्पन्न होती हैं और समुद्रमें ही समाविष्ट होती हैं उसी प्रकार ये शक्तियाँ आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं और आत्मामें ही समाविष्ट हो जाती हैं। यद्यपि आप एक हैं तथापि अनन्त शक्तियोंके धारक होनेसे अनन्तरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीत होते हैं[1]। हे भगवन् ! आपकी ये अनन्त शक्तियाँ किसे आश्चर्य उत्पन्न नहीं करतीं ? अर्थात् सभीको आश्चर्य उत्पन्न करती हैं ॥४॥

स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसो य एव नुः स प्रतिभाससे पशोः ।
स एव विज्ञानघनस्य कस्यचित् प्रकाशमेकोऽपि वहस्यनन्तताम् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (स्ववैभवस्य अनभिज्ञतेजसः) आत्मसामर्थ्यसे अपरिचित तेज-वाले (पशोः नुः) अज्ञानी पुरुषके लिए आप (यः एव) जो ही हैं—एक शक्तिके स्वामी हैं (सः एव) वही (प्रतिभाससे) प्रतिभासित होते हैं, परन्तु (विज्ञानघनस्य कस्यचित्) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण किसी ज्ञानी जीवकी दृष्टिमें आप (प्रकाशं) स्पष्ट ही (एकोऽपि) एक होकर भी (अनन्ततां) अनन्तपनेको (वहसि) धारण करते हैं।

भावार्थ—पूर्व श्लोकमें इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया गया था कि आप एक होकर भी अनन्त शक्तियोंको कैसे धारण करते हैं ? उसके उत्तरमें वहीं कहा गया था कि आप शक्तियोंकी अनन्तताके कारण स्वयं अनन्तरूपताको प्राप्त हैं अर्थात् आप अनन्त होकर अनन्त शक्तियोंको धारण करते हैं। इस श्लोकमें इस बातको स्पष्ट किया जा रहा है कि एक व्यक्ति अनन्तपनेको किस प्रकार प्राप्त होता है ? स्ववैभव—आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे अपरिचित अज्ञानी पुरुषका तो यह एकान्त अभिप्राय रहता है कि जो आत्मा एक शक्तिका स्वामी है वही दूसरी शक्तिका स्वामी है, इस प्रकार एक आत्मा अनन्त शक्तियोंका धारक होता है। यह आश्चर्यकी बात है, परन्तु जो विज्ञानघन होनेसे आत्माके वैभवसे परिचित है उसका अभिप्राय रहता है कि आत्मा प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है, अतः वह प्रदेशोंकी अपेक्षा एक होकर भी शक्तियोंकी अपेक्षा अनन्तरूपताको धारण करता है।

बात यह है कि यहाँ आचार्य 'एक और अनेक' इन दो विरोधी धर्मोंका समन्वय करते हुए जिनेन्द्रकी स्तुति कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हे भगवन् ! आप एक होकर भी अनेक हैं। एक तो इसलिये हैं कि आपके प्रदेश भिन्न-भिन्न शक्तियोंके प्रति भिन्न-भिन्न नहीं हैं और अनेक इसलिये हैं कि आपकी वे अनन्त शक्तियाँ भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे उनका विवेचन होता है। जैसे एक तोला मिश्रीमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण ये चार गुण हैं। यहाँ कोई पूछता है कि चार गुण कितने-कितने हैं ? क्या चार-चार आने भर हैं ? उत्तर मिलता है कि नहीं, चारों गुण एक-एक तोला हैं। तो क्या मिश्री चार तोला है ? नहीं, एक तोला ही है। फिर इसकी संगति कैसे बैठती है ? स्पर्श रस गन्ध और वर्णके प्रदेश जुदे-जुदे नहीं हैं इसलिये सब मिलकर भी एक ही तोला हैं। तो यह कहना चाहिए कि मिश्री एक अखण्ड पदार्थ है उसमें स्पर्श रस गन्ध और वर्णका विकल्प नहीं है। हाँ, प्रदेशभेद न होनेसे मिश्री स्पर्शादि चाररूप नहीं है एकरूप है। परन्तु जब स्पर्श रस गन्ध और वर्ण इन चारोंके स्वभाव और उन चारोंको जाननेके साधन स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियोंको दृष्टिमें रखकर विचार करते हैं तो मिश्री स्पर्शादिके भेदसे चाररूप दिखती है।

प्रकृतमें विभिन्न शक्तियोंके प्रति आत्माके प्रदेश जुदे-जुदे नहीं हैं। इसलिये आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है और विभिन्न शक्तियोंके कार्य जुदे-जुदे हैं, अतः आत्मा उन शक्तियोंके कारण अनेकरूप है। द्रव्यकी एकता और अनेकताका समन्वय गुण और पर्यायोंकी अपेक्षा किया

१. इतो गतमनेकतां दधत्—२७३ समयसार कलश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। यहाँ आचार्यने शक्तिरूप गुणोंकी अपेक्षा आत्माकी एक और अनेकताका वर्णन किया है ॥५॥

वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्वया अमी अनन्ता व्यतिरेककेलयः ।
त्वमेकचित्पूरचमत्कृतैः स्फुरंस्तथापि देवैक इवावभाससे ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! यद्यपि (तव) आपके (अमी) ये (अन्वयाः) गुण (अनन्तत्वम्) अनन्तपनेको (वहन्ति) धारण करते हैं और (अमी) ये (व्यतिरेककेलयः) पर्यायोंकी सन्ततियाँ (अनन्ताः) अनन्त हैं (तथापि) तो भी (एकचित्पूरचमत्कृतैः) एक चैतन्यके चमत्कारसे (स्फुरन्) स्फुरित होते हुए (त्वम्) आप (एक इव) एकके समान (अवभाससे) जान पड़ते हैं।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायोंका समूह है। जो अन्वयरूपसे समस्त पर्यायोंमें द्रव्यके साथ रहते हैं उन्हें गुण अथवा अन्वय कहते हैं और जो क्रम-क्रमसे होती हैं उन्हें पर्याय अथवा व्यतिरेक कहते हैं। एक द्रव्यमें एक साथ अनेक गुणोंका सद्भाव रहता है परन्तु पर्याय एक-कालमें एक ही रहती है। इस प्रकार एक द्रव्यमें रहनेवाले गुण अनन्त हैं तथा कालक्रमसे होनेवाली पर्यायें भी अनन्त हैं। हे भगवन् ! जब इन अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायोंकी ओर दृष्टि देकर आपका विचार करता हूँ तब आप अनन्तरूप प्रतीत होते हैं परन्तु जब इस ओर दृष्टि जाती है कि आप इन अनन्त गुणों और पर्यायोंसे युक्त होकर भी एक चैतन्य चमत्कारसे ही देदीप्यमान हो रहे हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि आप एक हैं, अनन्त नहीं हैं ॥६॥

असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य तवोल्लसन्त्यमी ।
प्रकाममन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः स्वभावभावोच्छलनैककेलयः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (असीमसंवर्द्धितबोधवल्लरीपिनद्धविश्वस्य) सीमारहित वृद्धिको प्राप्त हुई केवलज्ञानरूपी लताके द्वारा जिन्होंने समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (तव) आपकी (अमी) यह (अन्तर्मुखक्लृप्तपल्लवाः) आत्मस्वभावकी ओर समुद्यत हैं पत्र जिसके (स्वभाव-भावोच्छलनैककेलयः) तथा उनमें स्वकीय शुद्ध स्वभावको प्राप्त करनेकी अद्वितीय क्रीड़ाएँ (प्रकामं) अत्यन्त (उल्लसन्ति) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! व्यवहार नयसे आप अनन्त ज्ञानके धारक हैं—आपने अपने इस अनन्त ज्ञानका ज्ञेय समस्त विश्व-लोक और अलोकको बनाया है। परन्तु निश्चयनयसे आपका वह अनन्त ज्ञान बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है अतएव आप लोकालोकके ज्ञाता न होकर आत्मज्ञ हैं—एक आत्माको जानते हैं। यहाँ लोकालोकके जाननेका निषेध नहीं है किन्तु उसे आत्मज्ञतामें ही गतार्थ किया गया है। ज्ञानगुणका विभाव और स्वभावरूप परिणमन होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार ज्ञान, ज्ञानगुणके विभाव परिणमन हैं और केवलज्ञान स्वभाव परिणमन है। कारण समयसारकी दशामें बारहवें गुणस्थान तक आपका पूर्ण पुरुषार्थ इसी केवलज्ञानरूप स्वभाव परिणमनको प्राप्त करनेमें संलग्न रहा और अब कार्यसमयसारकी दशामें उसकी प्राप्ति हो चुकनेपर उसीमें छलक रहा है—व्यवहारनयसे अनन्तानन्त ज्ञेयोंको और निश्चयनयसे आत्मस्वभावको ज्ञेय बना रहा है ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं समूलमुन्मूलयतोऽखिलं जगत् ।
तवेदमूर्जस्वलमात्मखेलितं निकाममान्दोलयतीव मे मनः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अमंदबोधानिलकेलिदोलितं) अनन्त ज्ञानरूपी वायुकी क्रीड़ासे कम्पित, (अखिलं जगत्) समस्त जगत्—स्वकीय संसार स्थितिको (समूलं 'यथा स्यात्तथा') मूल सहित (उन्मूलयतः) उन्मूलित करनेवाले—नष्ट करनेवाले (तव) आपकी (इदम्) यह (ऊर्जस्वलं) सबल (आत्मखेलितं) आत्मक्रीडा (मे मनः) मेरे मनको (निकामं) अत्यन्त (आन्दोलयतीव) हिला-सी रही है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य वायुके प्रबल आघातसे कम्पित समस्त वृक्षावलीको जड़ सहित उखाड़ कर दूर फेंक रहा हो तो उसकी उस प्रबल शक्ति सम्पन्न क्रीडाको देख, दर्शकका मन आश्चर्यान्वित जैसा हो जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानरूप प्रबल वायुके द्वारा कम्पित समस्त जगत्—स्वकीय संसारस्थितिको जड़-मूलसे नष्ट कर रहे हैं। अतः आपकी यह आत्मक्रीडा मेरे मनको आश्चर्यसे चकित कर रही है । तात्पर्य यह है कि मोक्ष प्राप्त करनेके पहले आपने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा उसके द्वारा अपने अतीत अनन्त भवोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ॥८॥

अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्तरङ्गयन् वल्गसि बोधसागरम् ।
यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं त्रिकालमालार्पितमीक्ष्यते जगत् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्रिकालमालार्पितं) तीनों कालसम्बन्धी अनन्त पर्यायोंसे सहित यह (जगत्) लोक, (यदेककल्लोलमहाप्लवप्लुतं) जिसकी एक तरङ्ग सम्बन्धी महापूरमें डूबा हुआ (ईक्ष्यते) दिखाई देता है उस (अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरम्) अगाध, धीर, उद्धत और दुर्धर (बोधसागरम्) सम्यग्ज्ञानरूपी सागरको (भरात्) बड़े जोरसे (तरङ्गयन्) तरङ्गित करते हुए आप (वल्गसि) चलते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपका केवलज्ञानरूपी सागर अगाध है—उसकी सीमाको कोई प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि उसके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण हैं । रागादिजनित चञ्चलतासे रहित होनेके कारण वह धीर है—क्षोभ रहित है । उद्धत—एक साथ लोक-अलोकको जाननेमें समर्थ है तथा दुर्द्धर है—मेघपटल तथा पर्वत आदि उसके प्रकाशको रोकनेमें असमर्थ हैं । यही नहीं, त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायोंसे सहित यह जगत् उस केवलज्ञानरूपी सागरकी एक तरङ्गसम्बन्धी महाप्रवाहमें निमग्न है । तात्पर्य यह है कि वह केवलज्ञान ज्ञेयके प्रमाणसे बहुत बड़ा है । समस्त लोकालोकरूप ज्ञेय उसके एक कोणमें बबूलेके समान जान पड़ते हैं ॥९॥

विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो मिथः स्खलन्तोऽपि परात्मसीमनि ।
अमी पदार्थाः प्रविशन्ति धाम ते चिदग्निनीराजनपावनीकृताः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(परात्मसीमनि) उत्कृष्ट आत्माकी सीमामें (मिथः) परस्पर (स्खलन्तोऽपि) स्खलित होते हुए भी (विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदः) जिनकी सम्पदा-सामर्थ्य अपने-अपने विशिष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुत्वसे विविक्त है—पृथक्-पृथक् है जो (चिदाग्निनीराजनपावनीकृताः) चैतन्यरूप अग्निकी आरतीसे पवित्र हैं ऐसे (अमी) ये (पदार्थाः) चेतन-अचेतन पदार्थ (ते) आपके (धाम) केवलज्ञानरूप तेजमें (प्रविशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारके समस्त पदार्थ यद्यपि आपके ज्ञानमें एकसाथ प्रतिबिम्बित होनेसे परस्पर व्याघातको प्राप्त हो रहे हैं तथापि वे अपने-अपने पृथक्-पृथक् विशिष्ट वस्तुत्वसे सहित हैं—सब अपने-अपने गुण पर्यायोंसे भिन्न-भिन्न हैं। सराग जीवके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ उसकी राग परिणतिसे दूषित जान पड़ते हैं, परन्तु आप पूर्ण वीतराग हैं अतः आपके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ मात्र चैतन्यरूपी अग्निकी आरतीसे पवित्र हैं। तात्पर्य यह है कि आप उन पदार्थोंको जानते भर हैं उनमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना नहीं करते। इष्ट-अनिष्टकी कल्पना मोहके विकारसे होती है और यतश्च आपका मोहविकार नष्ट हो चुका है अतः जाननामात्र रह गया है। इस तरह ये पदार्थ आपके केवलज्ञानरूपी तेजमें उस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं जिस प्रकार कि किसी दर्पणमें घट-पटादि पदार्थ ॥१०॥

परस्परं संवलितेन दीप्यता समुन्मिषन् भूतिभरेण भूयसा।
त्वमेकधर्मावहिताचलेक्षणैरनेकधर्मा कथमीक्ष्यसेऽक्षरः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—जो (परस्परं) परस्पर (संवलितेन) मिले हुए (दीप्यता) देदीप्यमान तथा (भूयसा) बहुत भारी (भूतिभरेण) अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिके समूहसे (समुन्मिषन्) प्रकाशमान हो रहे हैं (अनेकधर्मा) नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि अनेक धर्मोंसे सहित हैं और (अक्षरः) अविनाशी हैं, ऐसे (त्वम्) आप (एकधर्मावहिताचलेक्षणैः) एक धर्ममें स्थिर दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके द्वारा (कथम्) किस प्रकार (ईक्ष्यसे) देखे जा सकते हैं ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जिस अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे प्रकाशमान हो रहे हैं वह लक्ष्मी परस्पर मिली हुई है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके प्रदेश पृथक्-पृथक् न होनेसे सब एक दूसरेमें मिल रहे हैं। आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंसे सहित हैं और अक्षर—अविनाशी हैं। आपके इस स्वरूपको देखनेके लिए द्रष्टाकी दृष्टि भी अनेक धर्ममय होना चाहिए, इसके विपरीत जिनकी दृष्टि एक ही धर्ममें स्थिर हो रही है ऐसे द्रष्टा आपको कैसे देख सकते हैं ? ॥११॥

अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः समस्तवस्तुश्रियमभ्युदीयते।
जडात्मनस्तत्र न जातु वेदना भवान् पुनस्तां विचिनोति कात्स्न्र्यतः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(स्वतोऽन्यतः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंसे (समस्तवस्तुश्रियम् अभि) समस्त वस्तुओंमें (अनन्तभावावलिका) अनन्त पर्यायोंकी सन्तति (उदीयते) उदित होती है। (जडात्मनः) अज्ञानी जीवको (तत्र) उनमें (जातु) कभी भी (वेदना) ज्ञान (न) नहीं होता है (पुनः) किन्तु (भवान्) आप (तां) उन पर्यायोंकी सन्ततिको (कात्स्न्र्यतः) सम्पूर्णरूपसे (विचिनोति) जानते हैं।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थोंमें निज और पर कारणोंसे अर्थात् उपादान और निमित्त-कारणोंसे अनन्त पर्यायोंकी सन्तति उत्पन्न होती है। अज्ञानी जीव उन्हें जानता नहीं है पर सर्वज्ञ होनेसे आप उन अनन्त पर्यायोंकी सन्ततिको संपूर्णरूपसे जानते हैं। केवलज्ञानका विषय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंमें है, अतः आप उन सबको जानते हैं जबकि अज्ञानी जीवको उनका ज्ञान नहीं होता है ।।१२।।

न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी मिथो विभक्ताऽप्यवादसंहतिः ।
सुसंहितद्रव्यमहिम्नि पुष्कले महोर्मिमालेव निलीयतेऽम्बुधौ ।। १३ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भूयसी) बहुत भारी (अपवादसंहतिः) अपकृष्ट—हीन शब्दोंकी सन्तति (मिथो) परस्पर (विभक्तापि) विभक्त होनेपर भी (ते) आपके (विभक्ति) पृथक्करणको (न विदधाति) नहीं करती है। वह (पुष्कले) परिपूर्ण (सुसंहितद्रव्यमहिम्नि) गुण-पर्यायोंसे संगत द्रव्यकी महिमामें उस प्रकार (निलीयते) निलीन हो जाती है जिस प्रकार (अम्बुधौ) समुद्रमें (महोर्मिमालेव) महान् तरङ्गोंकी माला।

भावार्थ—हे भगवन् ! असंख्य शब्दावली भी आपकी महिमाका पूर्ण वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं है। जिस प्रकार समुद्रमें बड़ी-बड़ी तरङ्गोंकी माला उठती है और उसीमें विलीन हो जाती है उसी प्रकार कवि लोग आपकी गुणवर्णनाके लिए शब्दयोजना करते हैं पर उनकी वह शब्दयोजना आपकी महिमामें विलीन हो जाती है ।।१३।।

विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां स्वभावसीमानमभूमलङ्घयन् ।
त्वमेवमेकोऽयमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्वयात्मकतामपोहसि ।। १४ ।।

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (विधानप्रतिषेधनिर्मितां) विधि और निषेधसे रची हुई (अभूम्) इस (स्वभावसीमानम्) स्वभावकी मर्यादाका (अलङ्घयन्) उल्लङ्घन न करते हुए (अयम् एकः त्वमेव) यह एक आप ही (अशुक्लशुक्लवत्) कृष्ण और शुक्लके समान (जात्वपि) कभी भी (द्वयात्मकताम्) द्विरूपताको (न अपोहसि) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कृष्ण और शुक्ल ये दोनों गुण, परस्पर विरोधी हैं उसी प्रकार विधि और निषेध ये दोनों पक्ष परस्पर विरोधी हैं, परन्तु जिस प्रकार एक ही पदार्थ अपनेसे अधिक श्वेत पदार्थकी अपेक्षा कृष्ण और अपनेसे अधिक कृष्ण पदार्थकी अपेक्षा शुक्ल कहा जाता है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपकी स्वभाव सीमा भी विधि—अस्ति और निषेध—नास्ति पक्षसे सहित है अर्थात् स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वह विधि—अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेध—नास्तिरूप है। द्रव्यकी अपेक्षा एक है और गुण तथा पर्यायकी अपेक्षा अनेक हैं। इन विरोधी धर्मोंकी संगति स्याद्वादसे ही हो सकती है एकान्तवादसे नहीं। यह विशेषता एक आपमें ही है अन्य देवोंमें नहीं है ।।१४।।

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवत्सु प्रतिभाति नास्तिता ।
त्वमस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन नः प्रकाशमानो न तनोषि विस्मयम् ।। १५ ।।

अन्वयार्थ—(भवत्सु भावेषु) हो रहे पदार्थोंमें (अस्तिता) अस्तिपना (विभाव्यते) प्रतीत होता है (तथा) तथा (अभवत्सु) नहीं हो रहे पदार्थोंमें (नास्तिता) नास्तिपना (प्रतिभाति) प्रतीत होता है, परन्तु (त्वम्) आप (अस्तिनास्तित्वसमुच्चयेन) अस्तिपना और नास्तिपनाके समुच्चय—युगपत्प्रवृत्तिसे (प्रकाशमानः) प्रकाशित होते हुए (नः) हम स्याद्वादियोंको (विस्मयम्) आश्चर्य (न तनोषि) नहीं करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—अस्ति और नास्ति ये दो धर्म परस्पर विरोधी हैं। जो पदार्थ वर्तमानमें हो रहे हैं उनमें अस्तिधर्म रहता है और जो वर्तमानमें नहीं हो रहे हैं किन्तु पहले हो चुके हैं या आगे होनेवाले हैं उनमें नास्तिधर्म रहता है। परन्तु हे भगवन्! आप अस्ति और नास्ति दोनों रूप हैं। आपकी इस द्विरूपतासे हमें कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है क्योंकि हम जानते हैं कि संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे सदा नित्य रहता है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य। जब हम आपके ज्ञायक-स्वभाव चेतनद्रव्यकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप नित्य प्रतीत होते हैं क्योंकि आपका यह ज्ञायकस्वभाववाला चेतन द्रव्य अनादि अनन्त है—कभी नष्ट नहीं होनेवाला है और जब नर नारकादि स्थूल पर्यायों अथवा समय-समयवर्ती सूक्ष्म पर्यायोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप अनित्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि आपकी वह पर्याय सादिसान्त है। वर्तमान पर्यायके सद्भावकालमें आप अस्तिरूप हैं और अतीत एवं अनागत पर्यायके कालमें नास्तिरूप हैं ॥१५॥

उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मनाऽभवन्।
अभावभावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (इह) इस जगत्में (त्वम्) आप (आत्मना भवन्) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे होते हुए (भावं) सद्भाव—अस्तिरूपताको (उपैषि) प्राप्त हो रहे हैं और (परात्मना) परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे (अभवन्) न होते हुए (अभावतां) असद्भाव नास्तिरूपताको (यासि) प्राप्त हो रहे हैं। सो (अभावभावोपचितः) अभाव—नास्तिधर्म और भाव—अस्तिधर्मसे सहित (अयम्) यह (ते) आपका (स्वभाव एव) स्वभाव ही है। आपका यह स्वभाव (प्रतिपत्तिदारुणः) प्रतीतिकी अपेक्षा कठिन है—स्याद्वादविज्ञानसे अपरिचित लोगोंकी बुद्धिके बाह्य है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होता है परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसलिये स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वह भावरूप होता है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप। इन दोनों विवक्षाओंके कारण आप भी भाव और अभाव—अस्तिनास्तिरूपताको प्राप्त हो रहे हैं। हे भगवन्! इन दो विरोधी धर्मोंका एकत्र समन्वय स्याद्वादसे ही संभव है, एकान्तवाद-से नहीं। एकान्तवादियोंके लिए तो इसकी प्रतीति करना भयावह ही है ॥१६॥

सदैक एवायमनेक एव वा त्वमप्यगच्छन्नवधारणामिति।
अबाधितं धारयसि स्वमञ्जसा विचारणार्हा न हि वस्तुवृत्तयः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह पदार्थ (सदा) सर्वदा (एक एव) एक ही है (वा) अथवा (अनेक एव) अनेक ही है (इति) इस प्रकारकी (अवधारणाम्) एकान्त प्रतीतिको (अगच्छन्) प्राप्त न होते हुए (त्वमपि) आप भी (अबाधितं) बाधारहित (स्वम्) अपने आपको (धारयसि) धारण करते हैं यह ठीक ही है (हि) क्योंकि (अञ्जसा) वास्तवमें (वस्तुवृत्तयः) पदार्थकी परिणतियाँ—स्वभाव (विचारणार्हाः) विचार करनेके योग्य—तर्कके विषयभूत (न) नहीं हैं।

भावार्थ—यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मोंका समन्वय करते हुए भगवान्का स्तवन किया गया है। हे भगवन्! द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा आप एक हैं और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक हैं। वस्तुका ऐसा स्वभाव ही है। ऐसा क्यों है? यह तर्कका विषय नहीं ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमेकनित्यत्वनिखतचेतसा क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि च।
न वीक्ष्यसे संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (संकलितक्रमाक्रमप्रवृत्तभावोभयभारिवैभवः) क्रमप्रवृत्त—पर्याय और अक्रमप्रवृत्त—गुण, इन दोनों भावोंको धारण करनेवाले वैभवसे युक्त (त्वम्) आप, (एक-नित्यत्वनिखातचेतसा) मात्र नित्यत्वमें जिसका चित्त संलग्न है ऐसे पुरुषके द्वारा (च) और (क्षणक्षयक्षोभितचक्षुषापि) क्षणक्षयसे जिसका चित्त क्षोभित हो रहा है ऐसे पुरुषके द्वारा भी (न वीक्ष्यसे) नहीं देखे जाते हैं।

भावार्थ—जिनागममें द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा गया है—जो गुण और पर्यायोंसे सहित हो वह द्रव्य है। इनमें गुण अक्रमवर्ती हैं—एक साथ सब पर्यायोंमें द्रव्यके साथ रहते हैं और पर्याय क्रमवर्ती हैं—एकके अनन्तर दूसरी पर्याय आती है। ऐसा कोई समय नहीं है जब कि द्रव्य पर्यायसे रहित और पर्याय द्रव्यसे रहित होता हो। हे भगवन्! आप ज्ञायकस्वभावसे युक्त, परसे भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायोंसे अभिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य हैं अतः आप भी गुण-पर्यायात्मक दोनों भावोंसे सहित हैं। सब पर्यायोंमें व्यापक रहनेसे गुण नित्य माने जाते हैं और पर्याय क्रमवर्ती होनेसे अनित्य माने जाते हैं। जो द्रष्टा, मात्र नित्यपक्षको ग्रहण करता है वह केवल आपके गुणोंकी ओर दृष्टि देता है और जो क्षणक्षयीपक्ष—अनित्यपक्षको ग्रहण करता है वह केवल पर्यायकी ओर दृष्टि देता है। इन दोनों एकान्तवादियोंके द्वारा आपका पूर्ण स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसे तो वही जान सकता है जो नित्य और अनित्य इन दोनों पक्षोंको स्वीकृत करता हो। यह नित्य और अनित्यधर्मको लिए हुए भगवान्का स्तवन है ॥१८॥

अपेलवः केवलबोधसम्पदा सदोदितज्योतिरजय्यविक्रमः।
असौ स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थितस्त्वमेकसाक्षी क्षणभङ्गसङ्गिनाम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—जो (केवलबोधसम्पदा) केवलज्ञानरूप सम्पदाके द्वारा (अपेलवः) परिपूर्ण हैं (सदोदितज्योतिः) वह केवलज्ञान ज्योति सदा उदित रहती है जिनकी (अजय्यविक्रमः) जिनका अनन्त वीर्य अजय्य है—जीता नहीं जा सकता है तथा जो (स्वतत्त्वप्रतिपत्त्यवस्थितः) आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें सम्यक् प्रकारसे अवस्थित हैं ऐसे (असौ त्वम्) वह आप ही (क्षणभङ्गसङ्गिनाम्) एकान्त क्षणिकवादियोंके लिए (एकसाक्षी) अद्वितीय साक्षी हैं। अर्थात् आपके सन्मुख रहते हुए उनका क्षणभङ्गवाद ध्वस्त हो जाता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अनन्त ज्ञान और अनन्त बलसे युक्त हैं तथा निश्चयसे आत्म-तत्त्वमें अवस्थित हैं अर्थात् आत्मतत्त्वको जानते हैं। आपकी इस नित्यरूपतासे एकान्त क्षणिकवादियों-की मान्यता खण्डित हो जाती है। अर्थात् आप उनकी मान्यताके विरुद्ध उदाहरण स्वरूप हैं ॥१९॥

प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभिर्जगत् समग्रं निजविद्ध्यलङ्कृतैः।
विविच्यमानः प्रतिभासते भवान् प्रभो परस्पर्शपराङ्मुखः सदा ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ! (निजविद्ध्यलङ्कृतैः) आत्मज्ञानसे सुशोभित (अतिशयधामभिः) लोकोत्तर तेजसे (समग्रं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत्को (प्रकाशयन् अपि) प्रकाशित करते हुए भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(भवान्) आप (सदा) सर्वदा (परस्पर्शपराङ्मुखः) परके स्पर्शसे पराङ्मुख रहते हैं तथा (विविच्यमानः) परसे पृथक् (प्रतिभासते) प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के वीतराग विज्ञानको हृदयमें रख आचार्य स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो ! यद्यपि आप अपने वीतरागविज्ञान—केवलज्ञानके द्वारा समस्त जगत्‌को जानते हैं तथापि परपदार्थोंके स्पर्शसे रहित हैं। जिस प्रकार दर्पण बाह्य पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करता हुआ भी उनसे दूर रहता है उसी प्रकार आप भी लोकालोकको जानते हुए भी उनके स्पर्शसे सदा दूर रहते हैं। वीतराग विज्ञानकी कैसी अद्‌भुत महिमा है कि वह यद्यपि समस्त पदार्थोंको जानता है तो भी उनके स्पर्शसे दूर रहता है—कभी भी उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता है। उस केवलज्ञानके द्वारा आप संसारके समस्त पदार्थोंसे पृथक् अनुभवमें आते हैं। हे भगवन् ! आपका वह केवलज्ञान जहाँ परपदार्थोंके बोधसे सहित है वहाँ निजबोध—आत्मतत्त्वके बोधसे भी अलंकृत रहता है ॥२०॥

परात्परावृत्तचिदात्मनोऽपि ते स्पृशन्ति भावा महिमानमद्‌भुतम् ।
न तावता दुष्यति तावकी चितिर्यतश्चितिर्या चितिरेव सा सदा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(भावाः) पदार्थ (परात्) परपदार्थोंसे (परावृत्तचिदात्मनः अपि ते) पराङ्मुख है चिदात्मा जिनकी, ऐसे होनेपर भी आपकी (अद्‌भुतम्) आश्चर्यकारी (महिमानम्) महिमाको (स्पृशन्ति) स्पर्श करते हैं अर्थात् आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं परन्तु (तावता) उतने मात्रसे—परपदार्थोंको जानने मात्रसे (तावकी) आपकी (चितिः) चेतना—ज्ञातृत्वशक्ति (न दुष्यति) दोषयुक्त नहीं होती है। (यतः) क्योंकि (या चितिः) जो चेतना है (सा) वह (सदा) सदा (चितिः एव) चेतना ही रहती है।

भावार्थ—स्व-परपदार्थोंको जाननेवाली आत्माकी जो शक्ति है उसे चिति या चेतना कहते हैं। अध्यात्मभाषामें यही आत्माका ज्ञायक स्वभाव कहलाता है। रागी जीव इच्छापूर्वक पदार्थोंको जानता है इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव पराभिमुख होता है, परन्तु वीतराग जीव इच्छापूर्वक पदार्थोंको नहीं जानता, इसलिये उसका ज्ञायकस्वभाव परसे पराङ्मुख होता है। हे भगवन् ! यतः आप वीतराग हैं अतः आपका ज्ञायकस्वभाव परसे पराङ्मुख है। परन्तु पराङ्मुख होनेपर भी उसमें परपदार्थोंका प्रतिफलन होता ही है। जिस प्रकार दर्पणमें यह इच्छा नहीं है कि मुझमें घट-पटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होवें परन्तु उसकी स्वच्छताके कारण वे उसमें प्रतिबिम्बित होते ही हैं इसी प्रकार आपकी ऐसी इच्छा नहीं है कि हम पदार्थोंको जाने, फिर भी ज्ञानगुणकी निर्मलताके कारण उसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते ही हैं। आचार्य कहते हैं कि इतने मात्रसे आपके ज्ञायकस्वभावमें कोई दोष उत्पन्न नहीं होता क्योंकि जो ज्ञायकस्वभाव है वह सदा ज्ञायकस्वभाव ही रहता है, पदार्थरूप नहीं होता है। यहाँ ज्ञेयसे ज्ञायकस्वभावकी भिन्नता बतलाते हुए जिनेन्द्रका स्तवन किया गया है ॥२१॥

अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां वहन्ति भावास्त्वयि बोधरूपताम् ।
अनन्तविज्ञानघनस्ततो भवान्न मुह्यति द्वेष्टि न रज्यते च न ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—यतः जिस कारण (बहिरर्थरूपताम्) घट-पटादिके भेदसे बाह्य पदार्थोंकी आकृतिको (वहन्तः) धारण करनेवाले (अमी भावाः) ये पदार्थ (त्वयि) आपमें (बोधरूपताम्) ज्ञानरूपताको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(वहन्ति) धारण करते हैं (ततः) उस कारण (भवान्) आप (अनन्तविज्ञानघनः) अनन्तविज्ञान—केवलज्ञानसे घन—परिपूर्ण रहते हैं और (न मुह्यति) न मोह करते हैं (न द्वेष्टि) न द्वेष करते हैं (च) और (न रज्यते) न राग करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पदार्थके निमित्तसे दर्पणका पदार्थाकार परिणमन वास्तवमें दर्पणकी ही अवस्था है उसी प्रकार आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित—ज्ञेयाकार होकर आये हुए घट-पटादि पदार्थ वास्तवमें ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञान ही हैं। इस प्रकार यद्यपि आपमें ज्ञेय आते हैं पर वे परमार्थसे ज्ञेय नहीं किन्तु ज्ञानके ही परिणमन हैं, अतः आप अनन्त ज्ञानसे घन—सान्द्र-परिपूर्ण हैं। जिस प्रकार दर्पणमें, इष्ट-अनिष्ट पदार्थ प्रतिबिम्बित होनेपर भी उसमें मोह राग और द्वेष नहीं होता उसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट पदार्थ, ज्ञानमें आनेपर भी आपमें मोह राग और द्वेष उत्पन्न नहीं होते। यहाँ अभेदनयसे ज्ञेय और ज्ञानमें अभेदरूपताका वर्णन करते हुए वीतराग विज्ञानके माध्यमसे भगवान्का स्तवन किया गया है॥ २२॥

यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं तवेदमुत्तेजनमीश तेजसः।
तदेव निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजैकचित्कुड्मलहासशालिनः॥ २३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! (यदेव इदम्) जो यह (बाह्यार्थघनावघट्टनं) बाह्य पदार्थोंका अत्यधिक अवघट्टन—संस्पर्श है (तदेव) वही (निःपीडननिर्भरस्फुटन्निजचित्कुड्मलहासशालिनः) तीव्र आघातसे अत्यधिक विकसित होनेवाले अपने अद्वितीय चैतन्यरूप कलीके विकाससे सुशोभित (तव) आपके (तेजसः) तेज—ज्ञानज्योतिका (उत्तेजनम्) उत्तेजन—संवर्धन है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार अङ्गुली आदिके संस्पर्शसे फूलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार घट-पटादि बाह्य पदार्थोंके संस्पर्शसे आपकी चेतनारूप कली खिल उठती है। इस तरह जो बाह्य पदार्थोंका अत्यधिक आघात है वह आपके ज्ञानरूप तेजको उत्तेजित करनेवाला है। ज्ञान ज्योतिका यह उत्तेजन उसे केवलज्ञानरूपमें परिवर्धित करना है। केवलज्ञान सदा उपयोगरूप रहता है तथा उसमें समस्त पदार्थ निरन्तर प्रस्फुरित होते रहते हैं। यहाँ ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान विकसित होता है यह बतलाते हुए भगवान्का स्तवन किया गया है॥ २३॥

प्रमेयवैशद्यमुदेति यद्बहिः प्रमातृवैशद्यमिदं तदन्तरे।
तथापि बाह्यार्थरतैर्न दृश्यते स्फुटः प्रकाशो जिनदेव तावकः॥ २४॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (बहिः) बाहर (यत्) जो (प्रमेयवैशद्यम्) पदार्थोंकी विशदता (उदेति) प्रकट होती है (तत् इदम्) वही यह (अन्तरे) भीतर (प्रमातृवैशद्यम्) ज्ञाताकी विशदता है (तथापि) तथापि (बाह्यार्थरतैः) बाह्य पदार्थोंमें लीन पुरुषोंके द्वारा (जिनदेव) हे जिनेन्द्र भगवन्! (तावकः) आपका (स्फुटः) स्पष्ट (प्रकाशः) प्रकाश (न दृश्यते) नहीं देखा जाता है।

भावार्थ—बाहरमें जो पदार्थगत स्पष्टताकी प्रतीति होती है वह प्रमाताके अन्तर्गत वैशद्यसे होती है अर्थात् प्रमाताका अन्तर्गत वैशद्य ही पदार्थकी स्पष्टताका कारण है। हे भगवन्! इस प्रकार आपके अन्तरङ्गकी ज्ञान गरिमा यद्यपि स्पष्ट है तथापि बाह्य पदार्थोंमें लीन रहनेवाले मनुष्य उसे देख नहीं पाते हैं यह आश्चर्यकी बात है। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्गकी निर्मलताकी अनु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूति अन्तरङ्गमें लीन रहनेवाले मनुष्योंको ही हो सकती है बाह्य पदार्थोंमें लीन रहनेवाले मनुष्यों-को नहीं ॥ २४ ॥

तथा सदोऽन्ते जित(जिन)वीर्यसम्पदा प्रपञ्चयन् वैभवमस्मि तावकम् ।
यथा विचित्राः परिकर्मकौशलात् प्रपद्यसे स्वादपरम्परा स्वयम् ॥ २५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार आप (परिकर्मकौशलात्) आत्म-पुरुषार्थकी कुशलतासे (स्वयम्) अपने आप (विचित्राः) नाना प्रकारके (स्वादपरम्पराः) सुख समूहको (प्रपद्यसे) प्राप्त हो रहे हैं (तथा) उस प्रकार (सदोऽन्ते) समवसरण सभामें (तावकं) आपका जो (वैभवम्) वैभव है उसे (प्रपञ्चयन् अस्मि) विस्तृत कर रहा हूँ ।

भावार्थ—यतः आप अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं अतः अपनी सामर्थ्यके अनुसार समवसरणमें स्थित आपके वैभवका विस्तार कर रहा हूँ ॥ २५ ॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(५)

वंशस्थवृत्तम्

न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गतामसीमनिम्नोऽसि विभोऽनमन्नपि ।
अवस्थितोऽप्यात्ममहोभिरद्भुतैः समन्तविस्तारततोऽवभाससे ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! आप (न वर्द्धसे) वृद्धिको प्राप्त नहीं हो रहे हैं (च) फिर भी (सर्वतुङ्गतां) सबसे अधिक उन्नतिको (यासि) प्राप्त हो रहे हैं। (अनमन् अपि) नम्रीभूत न होते हुए भी (असीमनिम्नः असि) अत्यन्त नम्र हैं और (अवस्थितोऽपि) अवस्थित—एकरूप होते हुए भी (अद्भुतैः आत्ममहोभिः) आश्चर्यकारक आत्मतेजके द्वारा (समन्तविस्तारततः) सब ओर विस्तारसे व्याप्त (अवभाससे) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—यहाँ विरोधाभास अलंकारके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आप यद्यपि वृद्धिको प्राप्त नहीं हो रहे हैं फिर भी सबसे अधिक उन्नत हैं, लोकमें उन्नत वही होता है जो वृद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु आप वृद्धिके विना ही सबसे अधिक उन्नत हैं। यह विरुद्ध बात है, इसका परिहार यह है कि केवलज्ञान होते ही शरीरकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिए कहा गया है कि आप वृद्धिको प्राप्त नहीं होते फिर भी सबसे अधिक उन्नत हैं अर्थात् सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं। तुङ्गका अर्थ उन्नत और श्रेष्ठ दोनों होते हैं, अतः परिहार पक्षमें श्रेष्ठ अर्थ लेना चाहिए। दूसरा विरोध यह है कि आप किसीको नमन नहीं करते फिर भी अत्यन्त निम्न—नीचे हैं। नमन किये विना निम्न—नीचे कैसे हुआ जा सकता है ? पर आप नमन किये बिना ही नीचे हैं। परिहार इस प्रकार है कि आप उस उच्चतम भूमिकामें पहुँच गये हैं जहाँ आराध्य और आराधकका विकल्प समाप्त हो जाता है, अतः आप किसीको नमस्कार नहीं करते हैं। निम्नका अर्थ गम्भीर होता है अतः आप अनन्त गाम्भीर्यगुणसे सहित हैं अर्थात् अनेक बाधक कारण उपस्थित होनेपर भी मोक्षको प्राप्त नहीं होते। तीसरा विरोध यह है कि आप अवस्थित हैं—अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे एकरूप हैं न घटते हैं न बढ़ते हैं फिर भी आप आश्चर्यकारक तेजके द्वारा सब ओर विस्तारसे व्याप्त हैं, जो अवस्थित होता है उसका विस्तार रुक जाता है, परन्तु आप अवस्थित होनेपर भी अत्यधिक विस्तारसे व्याप्त हैं। विरोधका परिहार यह है कि आप अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीकी अपेक्षा अवस्थित हैं फिर भी आपका तेज—प्रभाव समस्त लोकमें फैल रहा है। उसी तेजके कारण आप शत इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय हैं॥ १॥

अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः ।
अयं निजद्रव्यगरिम्णि पुष्कले सुनिश्चलो भासि सनातनोदयः ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभवप्रभावरुद्धाखिलकालविस्तरः) अनादि अनन्त क्रमसे युक्त वैभवके प्रभावसे जिन्होंने समस्त कालके विस्तारको रोक रक्खा है, जो (पुष्कले) परिपूर्ण (निजद्रव्यगरिम्णि) आत्मद्रव्यकी गरिमामें (सुनिश्चलः) अच्छी तरह निश्चल है और (सनातनो-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दयः) जिनका अभ्युदय सनातन—नित्य है—कभी नष्ट होनेवाला नहीं है अथवा अनादिकालीन है, ऐसे (अयं) यह आप (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—अपने-अपने उपादान और कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्ययके कारण प्रत्येक द्रव्यमें अनादि अनन्त पर्यायोंका चक्र क्रमसे परिवर्तित होता रहता है। द्रव्यका ऐसा स्वभाव है उसी स्वभावके कारण आपका वैभव भी क्रमसे ही विकसित हुआ है। वर्तमानमें जो वीतरागता और सर्वज्ञतासे युक्त आपकी अरहंत पर्याय है यह अनादि नहीं है। आप क्रम-क्रमसे ही इस पर्यायको प्राप्त हुए हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार ईश्वरको अनादि-अनन्त शुद्ध मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन स्वीकृत नहीं करता। उसकी मान्यता है कि संसारका अशुद्ध प्राणी ही अपनी साधनाके बलसे विकारोंको नष्ट कर शुद्ध अवस्थाको प्राप्त होता हुआ ईश्वर बनता है। इस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे विचार करनेपर आपका यह परमार्हन्त्यरूप वैभव क्रमसे प्रकट हुआ है, परन्तु द्रव्यकी त्रैकालिक योग्यताको विषय करनेवाले निश्चयनयसे विचार करनेपर आपका यह परमार्हन्त्यरूप परम वैभव सनातन है—सदासे आपमें विद्यमान है। तथा आप परिपूर्णताको प्राप्त आत्मद्रव्यकी गरिमामें अत्यन्त निश्चल हैं। वस्तुतः स्वभाव दृष्टिसे संसारका प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें परिपूर्ण होता है, उसका कोई भी गुण कहीं बाहरसे—अन्य द्रव्यसे आकर उसमें नहीं मिलता है। हे भगवन् ! आप अपने इस स्वभावमें सुनिश्चल हैं, अतः सुशोभित हो रहे हैं ॥२॥

इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया समन्ततः स्यूतमपास्तविक्रियम्।
अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं समग्रमेव श्रयते चिदच्छताम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! जो (समन्ततः) सब ओरसे (प्रत्ययमात्रसत्तया) ज्ञानमात्रसत्ताके द्वारा (स्यूतम्) युक्त है तथा (अपास्तविक्रियम्) जिसका समस्त विकार नष्ट हो गया है ऐसा (इदं) यह (तव) आपका (अनादिमध्यान्तविभक्तवैभवं) आदि मध्य और अन्तके भेदसे रहित वैभव (समग्रमेव) सम्पूर्णरूपसे (चिदच्छताम्) चेतन-आत्माकी स्वच्छताको (श्रयते) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—आत्माका ज्ञायकस्वभाव त्रैकालिक होनेके कारण आदि मध्य और अन्तसे रहित है। सब ओरसे एक ज्ञानकी सत्तासे ओतप्रोत है—तन्मय है। रागादिक विकारी भावोंके नष्ट हो जानेके कारण वीतराग विज्ञानताको प्राप्त है। हे भगवन् ! यही ज्ञायकस्वभाव आपका निज वैभव है। अष्ट प्रातिहार्यरूप वैभव, परसापेक्ष होनेके कारण निज वैभव नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञायकस्वभावरूप वैभव आत्माकी स्वच्छतासे सम्बद्ध है ॥ ३ ॥

भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती किलार्थसत्ता भवतो गरीयसी।
तथापि सालं विदि तज्जतीह ते यतोऽस्ति बोधाविषयो न किञ्चन ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (किल) निश्चयसे (भवन्तमपि) आपको भी (आत्ममहिम्नि) अपनी महिमामें (कुर्वती) गर्भित करती हुई (अर्थसत्ता) पदार्थोंकी सत्ता—महासत्ता (भवतः) आपसे (गरीयसी) गुरुतर है—बहुत भारी है (तथापि) तो भी (सा) वह सत्ता (इह) इस जगत्में (ते) आपके (विदि) ज्ञानमें (अलं) अच्छी तरह समाई हुई ([1]तज्जति) उस ज्ञानसे ही उत्पन्न हुईके

---

१. तस्माज्जाता तज्जा, तज्जा इव आचरति तज्जति, आचारार्थे क्विप्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समान जान पड़ती है। (यतः) क्योंकि (ते) आपके (बोधाविषयः) ज्ञानका अविषय (किञ्चन न) कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! महासत्ताका विस्तार इतना अधिक है कि उसने आपको भी अपनी महिमा में गतार्थ कर लिया, इस प्रकार वह महासत्ता आपसे भी बड़ी है, परन्तु वह महासत्ता आपके अनन्त ज्ञानके एक कोणमें ही विलीन है और इस प्रकार विलीन है कि जिससे ऐसी जान पड़ती है मानों उसी ज्ञानसे उत्पन्न हुई हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानका विस्तार महासत्तासे भी अधिक है, क्योंकि जो महासत्ता संसारके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है वह आपके ज्ञानसागरके एक कोनेमें ही स्थित है। लोकालोकके भीतर ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञानका विषय न हो अथवा यहाँ एकभाव यह भी हो सकता है कि संसारमें अर्थ, शब्द और प्रत्ययके भेदसे तीन सत्ताएँ हैं। अर्थसत्ता पदार्थको विषय करती है जैसे जलधारणादि कार्यसे युक्त कम्बुग्रीवादिमान्—घटपदार्थ ! शब्दसत्ता उस पदार्थको घट, कुम्भ, कलश आदि शब्दोंके द्वारा प्रतिपादित करती है और प्रत्ययसत्ता, उन घटपदार्थ और घटादि शब्दोंसे होनेवाले ज्ञानको विषय करती है। इस पद्यमें तथा आगेके पाँचवें और छठे पद्यमें क्रमसे इन तीन सत्ताओंके द्वारा जिनेन्द्रदेवका स्तवन किया गया है ॥ ४॥

समग्रशब्दानुगमाद्गभीरया जगद्ग्रसित्वाऽप्यभिधानसत्तया ।
त्वदच्छबोधस्थितया विडम्ब्यते नभस्तलप्रस्फुरितैकतारका ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे विभो ! जो (समग्रशब्दानुगमात् गभीरया) समस्त शब्दोंका अनुगम—विषय करनेसे गम्भीर है तथा (जगद् ग्रसित्वापि) समस्त संसारको ग्रस कर भी—व्याप्त करके भी (त्वदच्छबोधस्थितया) आपके निर्मल ज्ञानमें स्थित है ऐसी (अभिधानसत्तया) शब्दसत्ताके द्वारा (नभस्तलप्रस्फुरिता एकतारका) आकाशतलमें चमकती हुई एक तारा (विडम्ब्यते) विडम्बित होती है—तिरस्कृत होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! जगत्के समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली शब्दसत्ता यद्यपि बहुत भारी है तथापि वह आपके ज्ञानसागरके एक कोनेमें स्थित है। अनन्त ज्ञानके एक कोनेमें प्रतिभासित शब्दसत्ता ऐसी जान पड़ती है जैसे अनन्त आकाशमें एक तारा चमक रही हो। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानके सामने शब्दसत्ताकी स्थिति अतितुच्छ है ॥ ५ ॥

विनैव विश्वं निजवस्तुगौरवाद्विभो भवन्मात्रतया प्रवृत्तया ।
न जातुचित् प्रत्ययसत्तया परः करम्ब्यते भाति तथापि चिन्मयः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! जो (निजवस्तुगौरवात्) आत्मवस्तुके गौरवसे (विश्वं विनैव) विश्वके बिना ही—समस्त पदार्थोंकी अपेक्षाके बिना ही (भवन्मात्रतया प्रवृत्तया) आपके बराबर प्रवृत्त है अर्थात् आपके ऐसी (प्रत्ययसत्तया) ज्ञानसत्ताके द्वारा यद्यपि (परः) परपदार्थ (जातुचित्) कभी भी (न करम्ब्यते) व्याप्त नहीं किया जाता (तथापि) तो भी वह परपदार्थ (चिन्मयः) चैतन्यरूप (भाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे नाथ ! संसारके अनन्तानन्त पदार्थोंके विषय करनेवाली—जाननेवाली जो आपकी ज्ञानसत्ता है वह किसी पदार्थके कारण विकसित हुई हो यह बात नहीं है, क्योंकि वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी ज्ञायकशक्तिसे स्वयं ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य दर्शनकार अर्थ और आलोक—पदार्थ और प्रकाश आदिके कारण ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हैं उस प्रकार जैन दर्शन नहीं मानता है। उसकी मान्यता है कि आत्माका वह ज्ञान स्वतः स्वभावसे सिद्ध है यह बात जुदी है कि वह पदार्थ और आलोक आदिसे विकसित होता है। हे भगवन् ! आपकी यह ज्ञानसत्ता आपके ही बराबर है अर्थात् आपके असंख्यात प्रदेशोंमेंसे प्रत्येक प्रदेशमें व्याप्त है। ऐसा नहीं है कि वह अणुके बराबर हो और अलातचक्रके समान शीघ्रतासे भ्रमण करती हुई सब प्रदेशोंमें व्याप्तके समान दिखती हो। आप अपनी इस ज्ञानसत्ताके द्वारा परपदार्थोंको जानते तो हैं परन्तु वह उनरूप कदापि नहीं होती अर्थात् अपने गुण-पर्यायको छोड़कर परपदार्थोंके गुणपर्यायको कभी भी ग्रहण नहीं करती। उसके ज्ञायक स्वभावके कारण यद्यपि परपदार्थ ज्ञेय होकर उसमें प्रतिभासित होते अवश्य हैं, परन्तु वे त्रिकालमें पर ही रहते हैं। ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा ही विचित्र सम्बन्ध है कि वे परस्पर एक-दूसरेके संपर्कमें रहकर भी एक-दूसरेरूप परिणमन नहीं करते। जिस प्रकार दर्पणमें घट-पटादि पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार ज्ञानमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब (विकल्प) आता है, परन्तु जिस प्रकार घट-पटादिका प्रतिबिम्ब परमार्थसे दर्पणका ही परिणमन है उसी प्रकार ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेवाले परज्ञेयोंका प्रतिबिम्ब परमार्थसे ज्ञानका ही परिणमन है, ज्ञेयोंका नहीं। इस स्थितिमें ज्ञानमें जो ज्ञेयोंका आकार झलकता है वह एक चैतन्यरूप आत्माका ही परिणमन है इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन् ! जो परपदार्थ आपकी ज्ञानसत्तामें आता है वह चिन्मयरूप ही है ॥ ६ ॥

न वार्थसत्ता पृथगर्थमण्डलीं विलङ्घ्य विस्फूर्जति कापि केवला ।
भवान् स्वयं सन्नखिलार्थमालिकां सदैव साक्षात्कुरुते चिदात्मना ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(वा) अथवा (कापि) कोई (केवला) मात्र (अर्थसत्ता) पदार्थोंकी सत्ता (अर्थमण्डलीं) अर्थसमूहको (विलङ्घ्य) उलंघनकर (पृथक्) जुदी (न विस्फूर्जति) प्रकट नहीं है। (भवान्) आप (स्वयं) अपने आप (अखिलार्थमालिकां) समस्त पदार्थोंके समूहको (सन्) तद्रूप होते हुए (चिदात्मना) चैतन्यस्वभावसे (सदैव) सदा ही (साक्षात्कुरुते) प्रत्यक्ष करते हैं—प्रत्यक्ष देखते हैं।

भावार्थ—पदार्थोंमें जो सत्ता नामका गुण है वह उनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमें प्रदेशभेद न होनेसे अभेद माना जाता है। भेद विवक्षामें सत्ताको लक्षण और तत्त्व-पदार्थको लक्ष्य कहा जाता है, परन्तु अभेदविवक्षामें सत्ताको ही पदार्थ कहा जाता है।[1] इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि अर्थसत्ता, पदार्थसे पृथक् नहीं है। 'ज्ञेयको जानते समय ज्ञानका ज्ञेयाकार परिणमन होता है' इस सिद्धान्तको हृदयमें रखकर कहा गया है कि हे भगवन् ! आप समस्त पदार्थरूप होते हुए अर्थात् उन्हें अपना ज्ञेय बनाते हुए चैतन्यस्वरूपसे उनका सदा साक्षात्कार करते हैं। परमार्थसे ज्ञानमें प्रतिबिम्बित ज्ञेय, ज्ञान ही है, इसलिये उन्हें चित्स्वरूप कहनेमें आपत्ति नहीं है ॥ ७ ॥

न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैर्विलङ्घयेत् पुद्गलतां कदाचन ।
तथापि तद्वाचकशक्तिरञ्जसा चिदेककोणे तव देव वल्गति ॥ ८ ॥

---

१. 'तत्त्वं सल्लक्षणकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्' पञ्चाध्यायी ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—यद्यपि (शब्दसत्ता) शब्दोंकी सत्ता (सर्ववाचकैः सह) समस्त वाचकोंके साथ (कदाचन) कभी भी (पुद्गलतां) पुद्गलपनेका (न विलङ्घयेत्) उल्लंघन नहीं करती है अर्थात् समस्त शब्द सदा पुद्गलद्रव्यकी ही पर्यायरूप हैं (तथापि) तो भी (देव) हे देव ! (तद्वाचकशक्तिः) उन शब्दोंकी वाचकशक्ति (अञ्जसा) परमार्थसे (तव) आपके (चिदेककोणे) चैतन्यके एक कोनेमें (वलगति) संचार करती है।

भावार्थ—शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्याय हैं अतः उनकी सत्ता और उनकी वाचकशक्ति भी पुद्गलद्रव्य ही है। इस प्रकार आपके चैतन्यस्वरूपसे सर्वथा विजातीय द्रव्य होनेपर भी वे शब्द आपके ज्ञानमें ज्ञेय बनकर आते हैं और आपके अनन्त ज्ञानके एक कोणमें ही विलीन हो जाते हैं। परमार्थसे केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद उत्कृष्ट अनन्तानन्त हैं, अतः उनमें संसारके समस्त पदार्थ एक कोणमें ही प्रतिबिम्बित हुए से जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥

कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे विनान्तरर्थाद्बहिरर्थ एव न।
प्रमेयशून्यस्य न हि प्रमाणता प्रमाणशून्यस्य न हि प्रमेयता ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(बहिरर्थनिह्नवे) बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेपर (अन्तरर्थः) अन्तर्वर्ती पदार्थ (कुतः) कैसे हो सकता है और (अन्तरर्थात् विना) अन्तर्ज्ञेयके बिना (बहिरर्थः) बाह्य अर्थ (न एव) नहीं हो सकता है। (हि) निश्चयसे (प्रमेयशून्यस्य) प्रमेय—बाह्य पदार्थसे रहित ज्ञानमें (प्रमाणता न) प्रमाणता नहीं हो सकती और (प्रमाणशून्यस्य) प्रमाणसे रहित वस्तुमें (प्रमेयता न हि) प्रमेयता नहीं रह सकती।

भावार्थ—शून्याद्वैतवादी जैसे कुछ दर्शनकार बाह्य पदार्थोंका सर्वथा अभाव मान कर एक ज्ञानका ही अद्वैत सिद्ध करते हैं और चार्वाक् जैसे कुछ दर्शनकार ज्ञानदर्शनके आधारभूत आत्मतत्त्वके अस्तित्वको अस्वीकृत कर ज्ञानदर्शनका भी अस्तित्व नहीं मानते हैं। उन दर्शनकारोंकी मान्यताका प्रतिषेध करते हुए आचार्यने कहा है कि यदि बाह्य पदार्थोंका निह्नव किया जाता है—उनके अस्तित्वको अस्वीकृत किया जाता है तो अन्तर्ज्ञेयका अस्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसी प्रकार अन्तर्ज्ञेयके विना बाह्य अर्थका अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। प्रमाणके विना पदार्थमें प्रमेयका व्यवहार नहीं हो सकता है और प्रमेयके बिना प्रमाणमें प्रमाणका व्यवहार नहीं हो सकता। इस श्लोकमें आचार्यने अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयकी चर्चा की है। बाह्य पदार्थोंका ज्ञानमें जो विकल्प आता है वह अन्तर्ज्ञेय कहलाता है और उस विकल्पमें कारणभूत जो पदार्थ है वह बहिर्ज्ञेय कहलाता है। जैन सिद्धान्त दोनों ज्ञेयोंको स्वीकृत करता है क्योंकि बहिर्ज्ञेयके बिना अन्तर्ज्ञेयकी और अन्तर्ज्ञेयके बिना बहिर्ज्ञेयकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं ॥ ९ ॥

न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनी प्रसह्य बाह्यार्थनिषेधनक्षमा।
वदन्ति बोधाकृतयः परिस्फुटं विनैव वाचा बहिरर्थमञ्जसा ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(आत्मचुम्बिनी) आत्मामें स्थित (मानमेयस्थितिः) प्रमाण और प्रमेय अथवा ज्ञान और ज्ञेयकी स्थिति (प्रसह्य) हठात् (बाह्यार्थनिषेधनक्षमा) बाह्य पदार्थोंका निषेध करनेमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समर्थ नहीं है, क्योंकि (बोधाकृतयः) ज्ञानमें जो पदार्थोंकी आकृतियाँ अंकित हो रही हैं वे (वाचा विना एव) वचनोंके बिना ही (परिस्फुटं) स्पष्टरूपसे (अञ्जसा) वास्तविक (बहिरर्थम्) बाह्य अर्थको (वदन्ति) कहती हैं—सूचित करती हैं।

भावार्थ—जो एकान्तवादी अन्तर्ज्ञेयको ही स्वीकृत कर बाह्य ज्ञेयका सर्वथा निषेध करते हैं उनकी उस मान्यताका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मामें जो ज्ञानज्ञेयकी स्थिति है वह हठपूर्वक बाह्य पदार्थोंका निषेध नहीं कर सकती, क्योंकि ज्ञानमें जो ज्ञेयकी आकृतियाँ पड़ रही हैं वे बाह्य ज्ञेयके अस्तित्वको स्पष्टरूपसे सूचित करती हैं। जिसप्रकार दर्पणमें पड़नेवाली पदार्थोंकी प्रतिकृतियाँ सामने स्थित पदार्थोंके अस्तित्वको सूचित करती हैं उसीप्रकार ज्ञानमें पड़नेवाली प्रतिकृतियाँ बाह्य पदार्थोंके अस्तित्वको सूचित करती हैं। तात्पर्य यह है कि हे भगवन्! आप अनेकान्तदृष्टिसे अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनोंके अस्तित्वको स्वीकृत करते हैं॥ १०॥

विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः स्ववस्तुनिर्मग्न गुणैर्विभावितः।
त्वमेकतामेषि समग्रवाचकं यथा विना वाचकवाच्यभावतः॥ ११॥

अन्वयार्थ—(उपयोगस्फुरितं बिना) इच्छाजन्य उपयोगके बिना, (सुखादिभिः स्ववस्तुनिर्मग्नगुणैः) आत्मतत्त्वमें निमग्न सुखादि गुणोंके द्वारा (विभावितः) प्रसिद्धिको प्राप्त हुए (त्वम्) आप (वाचकवाच्यभावतः विना) वाचकवाच्यभावके बिना (समग्रवाचकं यथा) समस्त अर्थोंके वाचक सत्के समान (एकताम् एषि) एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे आपको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, अतः आपको सुख आदि गुणोंका कोई बाह्यरूप दृष्टिमें नहीं आता, इससे सिद्ध होता है कि आपके समस्त गुण स्वकीय वस्तुतत्त्वमें निर्मग्न हैं। उन्हीं गुणोंके साथ आप एकत्वको प्राप्त हो रहे हैं, क्योंकि निश्चयनय गुण-गुणीमें भेदको स्वीकृत न कर उन्हें एक अखण्ड द्रव्य मानता है। जिस प्रकार समस्त पदार्थोंका वाचक 'सत्' शब्द एकरूपताको प्राप्त है, क्योंकि उसमें वाचक-वाच्यका भेद नहीं है और अखण्डरूपसे वह समस्त पदार्थोंका संग्रह करता है उसी प्रकार आप भी एकरूपताको प्राप्त हैं॥ ११॥

क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि स्वभाव एव स्फुरतस्तवानिशम्।
समं समग्रं सहभाविवैभवं विवर्तमानं परितः प्रकाशते॥ १२॥

अन्वयार्थ—(क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणि) क्रमसे आनेवाली बहुत भारी विभूतिके धारक (स्वभावे एव) स्वभावमें ही (अनिशं) निरन्तर (स्फुरतः) संलीन रहनेवाले (तव) आपका यह (विवर्तमानं) परिवर्तनशील—षड्गुणी हानिवृद्धिरूप परिणमनसे युक्त (समग्रं) सम्पूर्ण (सहभाविवैभवं) गुणोंका वैभव (परितः) सब ओर (समं) एक साथ (प्रकाशते) प्रकाशित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका जो स्वभाव, क्रमसे प्रकट होनेवाली अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप उत्कृष्ट विभूतिसे सम्पन्न है, उसी स्वभावमें आप निरन्तर लीन हैं। हे प्रभो! आपके समस्त गुणोंका वैभव एक साथ सभी ओरसे प्रकाशित है तथा वह गुणोंका वैभव अगुरुलघु गुणके कारण निरन्तर परिणमन करता है॥ १२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवादनंशमेकं सहजं सनातनम् ।
सदैव सन्मात्रमिदं निरङ्कुशं समन्ततस्त्वं स्फुटमीश पश्यसि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (त्वम्) आप (क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवात्) क्रम और अक्रमसे प्राप्त होनेवाले पर्याय और गुणरूप विशेषोंके गौण करनेसे (अनंशं) अखण्ड (एकं) एक (सहजं) सहज (सनातनं) अनाद्यनन्त (निरङ्कुशं) निर्बाध (इदं) इस (सन्मात्रं) सत्मात्र तत्त्वको (स्फुटम्) स्पष्टरूपसे (समन्ततः) सब ओरसे (सदैव) सदा ही (पश्यसि) देखते हैं ।

भावार्थ—पर्याय क्रमवर्ती और गुण अक्रमवर्ती है । सत्में जब इनकी विवक्षा रहती है तब वह अनेक तथा खण्डरूप अनुभवमें आता है, परन्तु जब इनकी विवक्षाको गौण कर देते हैं तब वह एक अखण्ड, सहज और अनाद्यनन्त अनुभवमें आता है । हे भगवन् ! आप इसी एक, अखण्ड, सहज तथा सनातन सन्मात्र तत्त्वको स्पष्टरूपसे देखते-जानते हैं ॥ १३ ॥

प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं समग्रमन्तश्च बहिश्च पश्यतः ।
समन्ततः केवलमुच्छलन्त्यमी अमूर्तमूर्ताः क्षणिकास्तवाणवः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं) प्रदेशभेद और क्षणभेदसे विभक्त—तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वताप्रचयको लिए हुए (समग्रं) समस्त (अन्तश्च बहिश्च) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग पदार्थोंको (समन्ततः) सब ओरसे (पश्यतः) देखनेवाले (तव) आपके ज्ञानमें (अमी) ये (अमूर्तमूर्ताः) अमूर्तिक, मूर्तिक तथा (क्षणिकाः) क्षण-क्षणमें परिवर्तित होनेवाले (अणवः) प्रदेश (केवलं) मात्र (उच्छलन्ति) छलकते भर हैं अर्थात् उनके प्रति ममत्वभाव नहीं है ।

भावार्थ—संसारमें जीव, पुद्गल, धर्म,अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य माने गये हैं । इनमें पुद्गलद्रव्य मूर्त है और शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं । इन द्रव्योंमें एक जीव तथा धर्म और अधर्म-द्रव्यके असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं । पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं, आकाशके अनन्त प्रदेश हैं तथा कालद्रव्यका एकप्रदेश है । इन प्रदेशोंका जो विस्तार है वह तिर्यक् प्रचय है और कालक्रमसे जो उनकी समयव्यापी पर्यायें प्रकट होती हैं उनका समूह ऊर्ध्वताप्रचय है । ये सब द्रव्य जब ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं—इनका विकल्प ज्ञानमें आता है तब अन्तर्ज्ञेय कहलाते हैं और बाह्यमें स्थित हैं, अतः बहिर्ज्ञेय या बाह्यप्रमेय कहलाते हैं । आप इन दोनों ज्ञेयोंको सम्पूर्ण-रूपसे जानते हैं । जानते समय इन द्रव्योंके मूर्तिक और अमूर्तिक प्रदेश तथा उनकी क्षण-क्षणवर्ती पर्याय आपके ज्ञानमें सब ओरसे छलकते हैं—प्रतिभासित होते हैं । इनका छलकंना भी दर्पणमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बके समान है अर्थात् जिसप्रकार दर्पणमें अपने भीतर प्रतिबिम्बित पदार्थोंके प्रति किसी प्रकारका ममताभाव नहीं होता है उसीप्रकार आपके ज्ञानमें छलकनेवाले इन ज्ञेयोंके प्रति आपका कोई ममताभाव नहीं रहता । इसी अभिप्रायको यहाँ 'केवलं' शब्दसे प्रकट किया गया है ॥ १४ ॥

सतो निरंशात् क्रमशोंऽशकल्पनाद्विपश्चिमांशावधिबद्धविस्तराः ।
यथोत्तरं सौक्ष्म्यमुपागताः सदा स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभक्तयः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(निरंशात्) स्वयं निरंश—अखण्ड होनेपर भी जिसमें (क्रमशः) क्रमसे (अंश-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्पनात्) अंशोंकी कल्पना की जाती है ऐसे (सतः) सत्से (विपश्चिमांशावधिवद्धविस्तराः) जिनका अन्तिम अंशकी अवधितक विस्तार है तथा जो (यथोत्तरं) आगे-आगे (सौक्ष्म्यम् उपागताः) सूक्ष्मताको प्राप्त हैं ऐसे (अनन्ताः) अनन्त (तत्त्वभक्तयः) तत्त्वविभाग (सदा) सर्वदा (तव) आपके ज्ञानमें (स्फुरन्ति) प्रकाशमान होते हैं।

भावार्थ—संग्रहनयके द्वारा प्रतिपादित सामान्य दृष्टिसे सत् निरंश है उसमें किसी अंशका विभाग नहीं है, परन्तु जब उसमें व्यवहारनय प्रतिपादित दृष्टिसे क्रमशः अंशकी कल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य गुण पर्याय आदि अनेक अंश होते जाते हैं और यह अंश तबतक होते रहते हैं जबतक कि हो सकते हैं। ये सभी तत्त्व उत्तरोत्तर सूक्ष्मताको प्राप्त होते जाते हैं। जैसे सत्की अपेक्षा द्रव्य सूक्ष्म है और द्रव्यकी अपेक्षा जीवद्रव्य सूक्ष्म है। सूक्ष्मताको प्राप्त होनेका कारण यह है कि वे उत्तरोत्तर महासत्तासे निवृत्त होकर अवान्तर सत्ताको प्राप्त होते जाते हैं। इस प्रकार संग्रहनयने जिसे एक कहा था व्यवहारनयने उसे अनन्त भेदोंमें विभक्त कर दिया। तत्त्वोंके ऐसे अनन्त विभाग आपके ज्ञानमें सदा प्रतिभासित होते रहते हैं ॥१५॥

अखण्डसत्ताप्रभृतीनि कात्स्न्र्यतो बहून्यपि द्रव्यविखण्डितानि ते।
विशन्ति तान्येव रतानि तैर्विना प्रदेशशून्यानि पृथक् चकासति ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(अखण्डसत्ताप्रभृतीनि) अखण्ड सत्ताको आदि लेकर जो (बहून्यपि) बहुतसे (द्रव्यविखण्डितानि) द्रव्यखण्ड—द्रव्यांश हैं (तानि कात्स्न्र्यतः एव) वे सब सम्पूर्णरूपसे ही (ते) आपके ज्ञानमें (विशन्ति) प्रवेश करते हैं और वहीं (रतानि) रत हो जाते हैं। ज्ञानमें प्रतिभासित वे द्रव्यखण्ड (तैः विना) ज्ञानकी परिणति होनेके कारण यद्यपि उन द्रव्योंके बिना (प्रदेशशून्यानि) प्रदेशोंसे शून्य हैं तथापि (पृथक्) पृथक्-पृथक् (चकासति) सुशोभित होते हैं—प्रतिफलित रहते हैं।

भावार्थ—अखण्ड महासत्ता एक है, परन्तु जब उसमें अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा खण्डकल्पना की जाती है तब उसके द्रव्य-गुण आदि अनेक भेद हो जाते हैं। भगवान्के केवलज्ञानमें उन सब अनेक भेदोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है और केवलज्ञानके क्षायिक होनेसे वह प्रतिबिम्ब उसमें सदा पड़ता रहता हैं, इसलिये ऐसा जान पड़ता है मानों वे द्रव्यके अनेक भेद उसीमें रत हो गये हों—लीन हो गये हों। क्षायोपशमिकज्ञान क्रमवर्ती होता है, अतः उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ सदाके लिए लीन नहीं होता, परन्तु क्षायिकज्ञान अक्रमवर्ती है—एक साथ समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है इसलिए जो भी पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं वे उसीमें लीन हो जाते हैं। केवलज्ञानमें जो पदार्थ आये हैं वे अन्तर्ज्ञेय बनकर आये हैं, अतः परमार्थसे वे प्रदेशोंसे शून्य हैं, क्योंकि प्रदेशोंका विभाग बहिर्ज्ञेयमें ही रहता है अन्तर्ज्ञेयमें नहीं। एतावता वे अन्तज्ञर्ज्ञेय यद्यपि बहिर्ज्ञेयके प्रदेशोंसे शून्य हैं तो भी भगवान्के ज्ञानमें पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित होते हैं ॥१६॥

कृतावतारानितरेतरं सदा सतश्च सत्तां च चकाशतः समम्।
विचिन्वतस्ते परितः सनातनं विभाति सामान्यविशेषसौहृदम् ॥ १७ ॥

---

१. भावे क्तः प्रत्ययः द्रव्यस्य विखण्डितानि द्रव्यविखण्डितानि द्रव्यांशा इति यावत्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ--(इतरेतरं) परस्पर सापेक्षरूपसे (कृतावतारान्) जिन्होंने ज्ञानमें अवतरण किया है (च) और जो (सदा) निरन्तर (सत्तां चकाशतः) अपनी-अपनी पृथक् सत्ताको प्रकाशित करते हैं ऐसे (सतः) पदार्थोंको (समं) एकसाथ (परितः) सब ओरसे (विचिन्वतः) संचित करनेवाले-जाननेवाले (ते) आपका (सनातनं) शाश्वत (सामान्यविशेषसौहृदम्) सामान्य और विशेषका मैत्रीभाव (विभाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके केवलज्ञान और केवलदर्शन गुण अपनी-अपनी पृथक् सत्ता रखनेवाले समस्त पदार्थोंको सामान्य तथा विशेषरूपसे एक साथ ग्रहण करते हैं इसलिये आपका यह सामान्य और विशेष सम्बन्धका मैत्रीभाव सदा सुशोभित रहता है। सामान्य विशेषकी अपेक्षा रखता है और विशेष सामान्यकी अपेक्षा रखता है, इस प्रकार दोनोंको आप सापेक्षरूपसे विषय करते हैं ॥ १७ ॥

मुहुर्मिथः कारणकार्यभावतो विचित्ररूपं परिणाममिभ्रतः।
समग्रभावास्तव देव पश्यतो व्रजत्यनन्ताः पुनरप्यनन्तताम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ! (मिथः) परस्पर (कारणकार्यभावतः) कारणकार्यभावसे (मुहुः) बार-बार (विचित्ररूपं) नाना प्रकारके (परिणामं) परिणमनको (इभ्रतः) प्राप्त करनेवाले (समग्रभावाः) समग्र पदार्थ (तव पश्यतः) आप द्रष्टाके ज्ञानमें (अनन्ताः अपि) अनन्त होकर भी (पुनः अनन्ततां) फिरसे अनन्तपनेको (व्रजन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेवाले पदार्थ यद्यपि स्वयं अनन्त हैं तथापि वे प्रतिसमय होनेवाले परिणमनोंकी अपेक्षा और भी अधिक अनन्त हो जाते हैं। यह परिणमन कार्यकारणभावसे होता है। उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्याय कारण है और उत्तर-पर्याय कार्य। कार्यकारणकी यह शृङ्खला सदा चलती रहती है। 'अनन्त पदार्थ फिर भी अनन्तताको प्राप्त होते हैं' इसकी एक विवक्षा यह भी जान पड़ती है कि आपके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ कालकी अपेक्षा अनन्तताको प्राप्त हैं, क्योंकि आपके ज्ञानमें आये हुए पदार्थ अनन्त काल तक यथावत् प्रतिभासित होते रहते है। तात्पर्य यह हैं कि आप अनन्त पदर्थोंकी अनन्त पर्यायोंको एक साथ जानते हैं ॥ १८ ॥

अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययैर्विदारितं व्यञ्जनपर्ययैरपि।
स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं समं समग्रं स्फुटतामुपैति ते ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (इह) इस लोकमें जो (अर्थपर्ययैः) अर्थपर्यायों (अपि) और (व्यञ्जनपर्ययैः) व्यञ्जनपर्यायोंके द्वारा (अनन्तशः) अनन्तबार (विदारितं) भेदको प्राप्त है तथा (स्वरूपसत्ताभरगाढयन्त्रितं) स्वरूपकी सत्ताके समूहसे अत्यन्त युक्त है अर्थात् अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायोंसे अनन्तबार विदीर्ण होनेपर भी जो अपने अस्तित्वको नहीं छोड़ता है ऐसा (समग्रं द्रव्यं) सम्पूर्ण द्रव्य (ते) आपके ज्ञानमें (समं) एक साथ (स्फुटतां) स्पष्टताको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—द्रव्यके गुणांशोंमें जो परिणमन होता है उसे अर्थपर्याय कहते हैं और द्रव्यके प्रदेशोंमें जो परिणमन होता है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। संसारका प्रत्येक द्रव्य, इन अनन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थपर्यायों तथा व्यञ्जनपर्यायोंका पुञ्ज है। हे भगवन्! इन दोनों प्रकारकी पर्यायोंसे युक्त द्रव्य आपके ज्ञानमें स्पष्ट झलक रहा है। यद्यपि द्रव्यमें उक्त पर्यायोंकी अपेक्षा प्रतिसमय भेद होता रहता है तथापि वह अपने स्वरूपकी सत्तासे कभी च्युत नहीं होता है ॥ १९ ॥

व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया न पर्ययान्द्रव्यमपि व्यपोहते।
त्यजेद् भिदां स्कन्धगतो न पुद्गलो न सत्पृथग्द्रव्यगमेकतां त्यजेत् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(पर्यया:) पर्यायें (द्रव्यं) द्रव्यको (व्यपोहितुं) छोड़नेके लिए (अलं न) समर्थ नहीं हैं और (द्रव्यमपि) द्रव्य भी (पर्ययान्) पर्यायोंको (न व्यपोहते) नहीं छोड़ता है। (स्कन्धगत:) स्कन्धरूपताको प्राप्त हुआ पुद्गल (भिदां) भेदको (न त्यजेत्) नहीं छोड़ता है और (पृथक्द्रव्यगं सत्) पृथक्-पृथक् द्रव्योंमें रहनेवाला सत् (एकतां) एकरूपताको (न त्यजेत्) नहीं छोड़ता है।[1]

भावार्थ—यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, पर्यायसे रहित और पर्याय, द्रव्यसे रहित नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय किसी न किसी पर्यायसे युक्त रहता है और उस समय उस पर्यायसे तन्मय रहता है। पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। इनमें अणु द्रव्य है और स्कन्ध उसकी पर्याय है। दो या दोसे अधिक मिले हुए अणुओंको स्कन्ध कहते हैं। यतश्च स्कन्ध पर्याय है अत: वह अणुरूप द्रव्यको छोड़नेमें असमर्थ है। यही कारण है कि पुद्गल स्कन्धरूप होता हुआ भी अणुरूप होनेसे भेदको नहीं छोड़ता है और सत् स्वभावसे अभेदको विषय करनेवाला होनेसे एक है। वह यद्यपि पृथक्-पृथक् द्रव्योंमें व्याप्त होनेसे अनेकरूप प्रतीत होता है, परन्तु स्वकीय सामान्यग्राही स्वभावसे एकरूप है। यहाँ एक और अनेक इन दो विरोधी धर्मोंका अनेकान्तकी पद्धतिसे समन्वय किया गया है ॥ २० ॥

अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे महत्यगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि।
समग्रसीमास्खलनादनाकुलास्तवैव विष्वग् विचरन्ति दृष्टय: ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमे) अभेद और भेदज्ञानसे दुर्गम (महति) बहुत भारी (अगाधाद्भुततत्त्ववर्त्मनि) अगाध तथा आश्चर्यकारी तत्त्वके मार्गमें (समग्रसीमास्खलनात्) समस्त सीमामें स्खलित न होनेसे (अनाकुला:) आकुलतारहित—निर्बाध (तव एव) आपकी ही (दृष्टय:) दृष्टियाँ (विष्वग्) सब ओर (विचरन्ति) विचरण करती हैं।

भावार्थ—सामान्यकी अपेक्षा तत्त्व अभेदरूप है और विशेषकी अपेक्षा भेदरूप है। अथवा गुण और गुणीमें प्रदेशभेद न होनेसे अभेदरूप है और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेदरूप है। भेद और अभेद इन दो विरोधी धर्मोंके कारण तत्त्वका मार्ग अन्य लोगोंके लिए दुर्गम हो गया है, परन्तु हे भगवन्! आपकी अनेकान्तदृष्टियाँ वस्तुतत्त्वकी समस्त सीमाओंमें निर्बाध होकर विचरती हैं ॥ २१ ॥

अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं समक्षमालोकयत: सदाऽखिलम्।
स्फुटस्तवात्मायमभिन्नसन्मयोऽप्यनन्तपर्यायविभिन्नवैभव: ॥ २२ ॥

---

१. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समया परूविंति ॥ १२ ॥—पंचास्तिकाय

ल०–९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अभिन्नभिन्नस्थितं) अभिन्न और भिन्नरूपसे स्थित (अखिलं) समस्त (अर्थमण्डलं) पदार्थ समूहका (सदा) सर्वदा (समक्षम्) प्रत्यक्षरूपसे (आलोकयतः) अवलोकन करनेवाले (तव) आपका (अयम् आत्मा) यह आत्मा (स्फुटः) स्पष्ट अनुभवमें आनेवाला (अभिन्नसन्मयः) अपि) अभेद सद्रूप होता हुआ भी (अनन्तपर्यायविभिन्नवैभवः) अनन्त पर्यायोंके भेदरूप वैभवसे सम्पन्न है।

भावार्थ—हे भगवन्! संसारके समस्त पदार्थ लोकाकाशमें एकक्षेत्रावगाहरूपसे स्थित होनेके कारण अथवा गुण गुणीमें अभेद होनेसे यद्यपि अभिन्न स्थित कहे जाते हैं तथापि अपनी-अपनी पृथक्सत्तासे युक्त होनेके कारण अथवा गुण गुणीमें भेद होनेसे सब भिन्न-भिन्न स्थित भी हैं। इन सब पदार्थोंको आप सदा प्रत्यक्ष देखते हैं। अन्य पदार्थ ही नहीं, आपकी आत्मा भी अभिन्न और भिन्नरूपसे स्थित है। अभिन्न तो इसलिए है कि वह अपनेसे अभिन्न रहनेवाले सत्ता गुणसे तन्मय है और भिन्न इसलिए है कि वह काल क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंके वैभवसे सहित है। तात्पर्य यह है कि सत्तासामान्यकी अपेक्षा अभिन्न है और पर्यायदृष्टिसे भिन्न है। यहाँ भिन्न और अभिन्न इन दो परस्पर विरोधी दृष्टियोंका समन्वय किया गया है॥ २२॥

अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः सुखादिरूपा निजवस्तुहेतवः।
तवैककालं विलसन्ति पुष्कलाः प्रगल्भबोधज्वलिता विभूतयः॥ २३॥

अन्वयार्थ—जो (अनाकुलत्वादिभिः) अनाकुलता आदि (आत्मलक्षणैः) अपने लक्षणोंसे (सुखादिरूपाः) सुखादिरूप हैं, (निजवस्तुहेतवः) आत्मोपलब्धिके कारण हैं, (पुष्कलः) अपने आपमें परिपूर्ण हैं तथा (प्रगल्भबोधज्वलिताः) पूर्णज्ञान—केवलज्ञानसे प्रकाशमान हैं ऐसी (तव) आपकी (विभूतयः) अनन्त चतुष्टयरूप विभूतियाँ (एककालं) एक कालमें—एकसाथ (विलसन्ति) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—अनाकुलता सुखका लक्षण है, स्वपरावभासनता—निजपरको प्रकाशित करना ज्ञानका लक्षण है, आत्माका अवलोकन होना दर्शनका लक्षण है और समस्त गुणोंको स्वस्वरूपमें स्थिर रखना वीर्यका लक्षण है। इस प्रकार अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य आपकी प्रमुख विभूतियाँ हैं। ये सब विभूतियाँ आत्मतत्त्वकी उपलब्धिमें कारण हैं अर्थात् इनके माध्यमसे ही अन्य जीव आत्माका अस्तित्व स्वीकृत करते हैं। इन उपर्युक्त विभूतियोंमें अनन्त ज्ञान ही एक ऐसी विभूति है जो दीपकके समान स्वपरप्रकाशी होनेसे अपने साथ अन्य विभूतियोंके अस्तित्वको भी प्रकाशित करती है॥ २३॥

समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं निमग्नमुन्मग्नमिदं विभासयन्।
त्वमुच्छलन्नैव पिधीयसे परैरनन्तविज्ञानघनौघघस्मरः॥ २४॥

अन्वयार्थ—(निमग्नं) आत्माश्रित होनेसे स्वरूपमें निमग्न और (उन्मग्नं) पराश्रित होनेसे समवसरणमें स्थित (इदं) इस (समस्तम्) सम्पूर्ण (अन्तश्च बहिश्च वैभवं) अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग वैभवको (विभासयन्) प्रकाशित करनेवाले तथा (अनन्तविज्ञानघनौघघस्मरः) अनन्त विज्ञानके द्वारा मेघसमूहरूप आवरकको नष्ट करनेवाले (त्वम्) आप (उच्छलन्) उदित होते हुए (परैः) अन्य पदार्थोंके द्वारा (नैव पिधीयसे) आच्छादित नहीं होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य चन्द्रमा आदिको मेघ आदि आच्छादित कर लेते हैं उस तरह आपको कोई भी परपदार्थ आच्छादित नहीं कर सकता है। उसका कारण भी यह है कि आपने अपने अनन्त ज्ञानके द्वारा समस्त आवरण करनेवाले पदार्थोंको प्रभावहीन कर दिया है। परपदार्थोंका प्रभाव क्षायोपशमिक ज्ञानपर ही पड़ता है क्षायिक अनन्त ज्ञानपर नहीं। आप अनन्त चतुष्टयरूप जिस अन्तरङ्ग वैभवको प्रकट कर रहे हैं वह एक आत्माश्रित होनेसे निमग्न कहा जाता है और अष्ट प्रातिहार्यरूप जिस बहिरङ्ग वैभवको प्रकट कर रहे हैं वह समवसरणमें स्थित होने तथा सबकी दृष्टिमें आनेसे उन्मग्न कहलाता है ॥ २४ ॥

नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैष मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्य विष्वग् ज्वलयन् ज्वलाम्यहम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे स्वामिन् ! (तपोविशोषितं) तपके द्वारा सुखाये हुए (मां) मुझे (नितान्तम्) अत्यन्त (इद्धेन) देदीप्यमान (तेजसा) तेजके द्वारा (तथा) उस प्रकार (ज्वलयस्व) प्रज्वलित करो (यथा) जिस प्रकार (एषोऽहं) यह मैं (मां) अपने आपको (त्वां) आपको और (सकलं) समस्त (चराचरं) चराचर विश्वको (प्रधर्ष्य) रगड़कर (ज्वलयन्) प्रज्वलित करता हुआ (विष्वग्) सब ओरसे (ज्वलामि) प्रज्वलित होने लगूं।

भावार्थ—हे भगवन् ! तपश्चरणके द्वारा मैंने अपने आपको खूब सुखाया है, राग-द्वेषादिकी आर्द्रताको नष्टकर उसे एकदम शुष्क कर दिया है अतः इसे आप केवलज्ञानरूप देदीप्यमान तेजके द्वारा प्रज्वलित कर दीजिये जिससे मैं स्वयं प्रज्वलित हो जाऊँ और अपनी ज्वालासे सकल विश्वको प्रज्वलित कर सकूं ॥ २५ ॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(६)

वंशस्थवृत्तम्

क्रियैकमूलं भवमूलमुल्वणं क्रियामयेन क्रिययैव निघ्नता ।
क्रियाकलापः सकलः किल त्वया समुच्छलच्छीलभरेण शीलितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(क्रियैकमूलं) जो मिथ्याप्रवृत्तिरूप क्रियाका प्रधान—मूल कारण है ऐसे (उल्वणं) बहुत भारी (भवमूलं) संसारके मूलकारणरूप मिथ्याभावको (क्रिययैव) सम्यक्त्वपूर्वक होनेवाली चारित्ररूप क्रियाके द्वारा ही (निघ्नता) नष्ट करनेवाले, (क्रियामयेन) सम्यक्चारित्ररूप क्रियासे तन्मय तथा (समुचछलच्छीलभरेण) बढ़ते हुए शीलसमूहसे युक्त (त्वया) आपके द्वारा (किल) निश्चयसे (सकलः) सम्पूर्ण (क्रियाकलापः) क्रियाओंका समूह (शीलितः) उत्तम शील—सत्स्वभावसे युक्त किया गया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारका मूलकारण मिथ्याभाव है क्योंकि नवीन कर्मबन्ध होनेके जितने प्रत्यय कारण आगममें बतलाये गये हैं उनमें मिथ्यात्वकी ही प्रधानता है, सबसे प्रथम कारण वही है तथा यह मिथ्याभाव ही मिथ्याक्रियाओंका—हिंसादिरूप पापपरिणतियोंका कारण है । मिथ्यात्वके कालमें इस जीवकी रुचि शुद्ध आत्मतत्त्वसे हटकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त होती है । ऐसे इस मिथ्याभावको आपने तपश्चरणरूप क्रियाके द्वारा ही नष्ट किया है । तपश्चरणरूप क्रियासे आप तन्मय हैं तथा आपका शुद्धात्मस्वरूप शीलका समूह निरन्तर छलकता रहता है । निश्चयसे आपने समस्त क्रियाओंके समूहको शीलसे युक्त किया है अर्थात् आपकी जितनी क्रियाएँ हैं उन सबको आपने शुद्धात्मस्वरूपकी रमणतारूप शीलसे युक्त किया है ॥१॥

अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा समग्रभोगान् प्रविहाय निःस्पृहः ।
तपोऽनले जुह्वदिह स्वजीवितं बभौ भवभ्रंशकुतूहली भवान् ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(अमन्दनिर्वेदभरेण) उत्कट वैराग्यमें तत्पर (चेतसा) चित्तके द्वारा (समग्रभोगान्) समस्त भोगोंको (प्रविहाय) अच्छी तरह छोड़कर जो (निःस्पृहः) निःस्पृह—निदानकी आकांक्षासे रहित थे, जो (इह) इस जगत्‌में (स्वजीवितं) अपने जीवनको (तपोऽनले) तपरूपी अग्निमें (जुह्वत्) होम रहे थे तथा जो (भवभ्रंशकुतूहली) संसारको नष्ट करनेकी उत्सुकतासे युक्त थे ऐसे (भवान्) आप (बभौ) अत्यन्त सुशोभित हुए थे ।

भावार्थ—संवेग—संसारसे भय और निर्वेद—वैराग्यसे युक्त होकर आपने समस्त भोगोंका पूर्ण त्याग किया और उस त्यागके फलस्वरूप किसी सांसारिक पदार्थकी इच्छा नहीं की । आपने अपना समस्त जीवन तपकी आगमें होम दिया क्योंकि आप संसारको नष्ट करनेके लिए उत्सुक थे । परमार्थसे संसारका नाश नहीं कर सकता है जो निःस्पृह होकर तपश्चरण करता है । संसारके अन्य तपस्वी, संतान, धन तथा परलोककी साधनाके लिए तपश्चरण करते हैं परन्तु हे जिनेन्द्र ! आपका तपश्चरण जन्मजरारूपी रोगोंको छोड़नेकी भावनासे हुआ ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवस्य पन्थानमनादिवाहितं विहाय सद्यः शिववर्त्म वाहयन् ।
विभो परावृत्य विदूरमन्तरं कथंचनाध्वानमवाप्तवानसि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ ! (अनादिवाहितं) जिसपर अनादिकालसे चलते आये ऐसे (भवस्य पन्थानं) संसारके मार्गको (सद्यः) शीघ्र ही (विहाय) छोड़कर जो (शिववर्त्म वाहयन्) मोक्षमार्गको चलाने लगे ऐसे आप (विदूरं अन्तरं) बहुत भारी दूरीको पारकर (कथंचन) किसी तरह (अध्वानं) मार्गको (अवाप्तवान् असि) प्राप्त हुए हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये संसारके मार्ग हैं इस मार्गपर यह जीव अनादिकालसे चला आ रहा है। जब संसार सागरका तट अत्यन्त निकट रह जाता है तब यह जीव रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आपने अपने अनन्त पुरुषार्थसे संसारभ्रमणका लम्बा मार्ग पार कर किसी तरह मोक्षमार्गको प्राप्त किया है और मोक्षमार्गके प्राप्त होते ही आप परीतसंसार हो गये हैं ॥३॥

अधृष्यधैर्यं विरहन्तमेककं महीयसि ब्रह्मपथे निराकुलम् ।
अधर्षयन्नेव (न्नैव) भवन्तमुद्धता मनागपि क्रूरकषायदस्यवः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(अधृष्यधैर्यं) जिनका धैर्य अधृष्य था—तिरस्कारके अयोग्य था, जो (महीयसि) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्मपथे) मोक्षमार्गमें (एककं) अकेले ही (विहरन्तं) विहार कर रहे थे तथा जो (निराकुलम्) आकुलतासे रहित थे ऐसे (भवन्तम्) आपको (उद्धताः) अत्यन्त उद्दण्ड (क्रूरकषाय-दस्यवः) दुष्ट कषायरूपी चोर (मनागपि) किंचिद् भी (नैव अधर्षयन्) तिरस्कृत नहीं कर सके थे धौंस नहीं दिखा सके थे ।

भावार्थ—मार्गमें एकाकी चलनेवाले व्यक्तिको दुष्ट चोर पीड़ित करते हैं परन्तु श्रेष्ठतम मोक्षमार्गमें आप निराकुलतासे सहित एकाकी ही चले, कषायरूपी उद्दण्ड चोर आपका कुछ भी विघात करनेमें समर्थ नहीं हुए ॥४॥

[1]तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः प्रसह्य कर्माणि भरेण पाचयन् ।
मुहुर्मुहुः पूरितरेचितान्तरा भवानकर्षीत् प्रबलोदयावलीः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(भवान्) आपने (अध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः) अन्तरङ्गकी विशुद्धिको बढ़ानेवाले (तपोभिः) तपोंके द्वारा (प्रसह्य) हठपूर्वक (भरेण) अधिकमात्रामें (कर्माणि) अशुभ कर्मोंको (पाचयन्) निर्जीर्ण करते हुए (प्रबलोदयावलीः) कर्मोंकी प्रबल उदयावलियोंको (मुहुर्मुहुः) बार-बार उदयावलीसे बाह्य कर्मनिषेकोंसे पूरित करके निर्जीर्ण (अकार्षीत्) किया ।

भावार्थ—जिनागममें तपके बाह्य और अन्तरङ्ग इस प्रकार दो भेद कहे हैं। अनशन-ऊनोदर आदि बाह्य तप कहलाते हैं और प्रायश्चित्त विनय आदि अन्तरङ्ग तप कहलाते हैं। बाह्य तपका प्रयोजन अन्तरङ्गकी शुद्धिको बढ़ाना है।[2] तपश्चरणके कालमें जबतक शुभ रागका

---

१. अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥—स्वयंभूस्तोत्र

२. बाह्यं तपो दुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥—स्वयंभूस्तोत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोर रहता है तबतक उससे शुभास्रव और शुभ बन्ध होता है। परन्तु विशुद्धिका वेग बढ़ते हुए जब शुभ रागका अंश समाप्त होकर शुद्धोपयोगकी दशामें वृद्धि होने लगती है तब वह तप संवर और निर्जराका कारण हो जाता है। कुः तपश्चरण अविपाक निर्जराका प्रमुख कारण है। हे भगवन्! मुनि अवस्थामें आपने यह सब बार-बार किया था। अविपाक निर्जराके समय आपने उदयावलीसे बाह्य निषेकोंको उदयमें लाकर निर्जीर्ण किया था।

त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया रजः क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः।
अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः कषायवर्ष्माक्षपयः प्रतिक्षणम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (क्षयश्रेणिकृताधिरोहणः) क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेवाले (त्वम्) आपने (उच्छिखाप्रस्खलितैकधारया) अत्यन्त तीक्ष्ण तथा कभी स्खलित न होनेवाली धारासे (अखण्डितोत्साहहठावघट्टनैः) अखण्ड उत्साहसे युक्त सुदृढ़ प्रहारोंके द्वारा (कषायवर्ष्म रजः) कषायरूप कर्मरजको (प्रतिक्षणम्) प्रत्येक क्षण—प्रति समय (अक्षपयः) नष्ट किया था।

भावार्थ—हे नाथ! मुनि अवस्थामें आपने क्षपकश्रेणी मांढकर शुक्लध्यानरूपी खड्गको तीक्ष्णधाराके प्रवल प्रहारोंसे कषायरूप कर्मरजका प्रतिसमय क्षय किया था। सप्तम गुणस्थानके बाद दो श्रेणियाँ होती हैं, एक उपशमश्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणीवाला जीव शुक्लध्यानके प्रभावसे चारित्र मोहनीयकर्मके भेदस्वरूप संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ कषायका उपशम करता है और क्षपकश्रेणीवाला उपर्युक्त कषायोंका क्षय करता है। उपशम-श्रेणीवाला दशम गुणस्थानके अन्तमें संपूर्ण चारित्र मोहका उपशम कर ग्यारहवें गुणस्थानमें जाता है और अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर वहाँसे गिरकर पुनः नीचे आता है, परन्तु क्षपकश्रेणीवाला जीव, दशम गुणस्थानके अन्तमें समस्त मोह कर्मका क्षय कर बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होता है तथा वहाँ शुक्लध्यानके द्वितीय भेदसे ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय तथा नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोंका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। अब वह पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ दशाको प्राप्त होता है ॥६॥

उपर्युपर्यध्यवसायमालया विशुध्य वैराग्यविभूतिसम्मुखः।
कषायसंघट्टननिष्ठुरो भवानपातयद्बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(उपर्युपरि) ऊपर-ऊपर बढ़ती हुई (अध्यवसायमालया) ध्यानकी सन्ततिसे (विशुध्य) निर्मल होकर जो (वैराग्यविभूतिसम्मुखः) वैराग्यरूपी विभूतिके सम्मुख हैं तथा (कषाय-संघट्टननिष्ठुरः) कषायके नष्ट करनेमें अत्यन्त निर्दय हैं ऐसे (भवान्) आपने (बादरसूक्ष्मकिट्टिकाः) बादर कृष्टि और सूक्ष्म कृष्टियोंको (अपातयत्) नष्ट किया था।

भावार्थ—संज्वलनलोभके जो स्पर्धक अपेक्षाकृत तीव्र अनुभागशक्तिको रखते हैं वे बादर कृष्टि कहलाते हैं और जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मरूपताको प्राप्त हो चुकते हैं वे सूक्ष्म कृष्टि कहे जाते हैं। नवम गुणस्थान तक इनकी बादर अवस्था रहती है और दशम गुणस्थानमें सूक्ष्म अवस्था रहती है। हे भगवन्! आपने इन दोनों कृष्टियोंको नष्ट किया था और नष्ट करनेका कारण यह था कि आप पूर्ण वीतरागदशारूप विभूतिको प्राप्त करनेके लिए उत्सुक थे ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः प्रकाशशाली परिणम्य शुद्धिभिः ।
नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनो जिन क्षणात् क्षीणकषायतां गतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (समन्ततः) सब ओरसे (अनन्तगुणाभिः) अनन्त गुणी (शुद्धिभिः) शुद्धियोंसे (परिणम्य) परिणमन कर जो (अद्भुतः) अतिशय पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुए हैं (प्रकाशशाली) अन्तःप्रकाश—वीतराग ज्ञानसे सुशोभित हैं तथा (नितान्तसूक्ष्मीकृतरागरञ्जनः) जिन्होंने संज्वलनसम्बन्धी रागको अत्यन्त सूक्ष्म कर दिया है ऐसे आप (क्षणात्) क्षण भरमें (क्षीणकषायतां गतः) क्षीणकषाय अवस्थाको प्राप्त हुए थे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप दशम गुणस्थानमें सूक्ष्मसाम्पराय अवस्थाको प्राप्त हो बारहवें गुणस्थानमें आकर क्षीणकषाय अवस्थाको प्राप्त हुए । उस समय आप छद्मस्थ वीतराग दशासे सुशोभित थे और आपका ज्ञान रागकी लालिमासे रहित हो गया था ॥८॥

कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवो व्यतीत (व्यतीत्य) काष्ठां जिन साम्परायिकीम् ।
स्पृशन्नपीर्यापथमन्तमुज्ज्वलस्त्वमस्खलः स्थित्यनुभागबन्धनः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवः) कषायके सर्वथा नष्ट हो जानेसे जिन्हें श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त हुई है, (साम्परायिकीम्) साम्परायिक आस्रव सम्बन्धी (काष्ठां) सीमाको (व्यतीत्य) व्यतीत कर जो (अन्तं ईर्यापथम्) अन्तिम ईर्यापथ आस्रवको (स्पृशन्) प्राप्त हुए हैं तथा जो कषाय सम्बन्धी कलुषताके नष्ट हो जानेसे (उज्वलः) निर्मल हुए हैं ऐसे (त्वम्) आप (स्थित्यनुभागबन्धतः) स्थिति और अनुभाग बन्धसे (अस्खलः) रहित हुए थे ।

भावार्थ—आस्रवके दो भेद हैं—एक साम्परायिक और दूसरा ईर्यापथ । जिस आस्रवसे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चारों बन्ध होते हैं उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जिस आस्रवसे स्थिति और अनुभागबन्ध छूटकर मात्र प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होते हैं उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। योगके निमित्तसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते हैं तथा कषायके निमित्तसे स्थिति और अनुभागबन्ध होते हैं । दशम गुणस्थान तक योग और कषाय दोनों रहते हैं इसलिये वहाँ तक साम्परायिक आस्रव होता है तथा ग्यारहवेंसे तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग रहता है इसलिए इन गुणस्थानोंमें ईर्यापथ आस्रव होता है । हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थानमें आनेपर आपका साम्परायिक आस्रव तो छूट गया मात्र सातावेदनीयका ईर्यापथ आस्रव शेष रह गया ॥९॥

शनैः समृद्धव्यवसायसम्पदा क्रमात् समासन्नशिवस्य ते सतः ।
बभूवुरुन्मृष्टकलङ्ककश्मलाः प्रफुल्लहर्षोत्कलिका मनोभुवः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(शनैः) धीरे-धीरे (क्रमात्) क्रमसे (समृद्धव्यवसायसम्पदा) पूर्ण उद्योगरूप सम्पत्तिके द्वारा (समासन्नशिवस्य) जिन्होंने मुक्तिको निकट कर लिया है तथा जो (सतः) अतिशय प्रशस्त हैं ऐसे (ते) आपकी (मनोभुवः) चित्तरूपी भूमियाँ (उन्मृष्टकलङ्ककश्मलाः) जिनकी पाप-रूपी कालिमा नष्ट हो गई थी और (प्रफुल्लहर्षोत्कलिकाः) जिनमें हर्षरूप उत्कृष्ट कलियाँ खिल रही थीं ऐसी (बभूवुः) हो गई थीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! क्षीणकषाय गुणस्थानमें पहुँचनेपर आपने एकत्ववितर्क शुक्लध्यानरूप पुरुषार्थसे मोक्षपर्यायको अत्यन्त निकट कर लिया। क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थानके बाद जीवन्मुक्त अवस्था—अरहन्त अवस्था प्राप्त करनेमें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक विलम्ब नहीं लगता और पूर्ण मुक्त अवस्था प्राप्त करनेमें देशोनकोटिवर्षपूर्वसे अधिक समय नहीं लगता। उस समय आप अन्तरात्माकी उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो चुकते हैं तथा अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर नियमसे परमात्मा पदको प्राप्त करते हैं। आपके हृदयकी समस्त कालिमा—राग-द्वेषजनित मलिनता नष्ट हो जाती है और वह वीतराग परमानन्दकी प्रफुल्ल कलियोंसे सुवासित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षणभरमें अनन्त सुखका पात्र हो जाता है॥ १०॥

समामृतानन्दभरेण पीडिते भवन्मनःकुड्मलके स्फुटत्यति।
विगाह्य लीलामुदियाय केवलं स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः॥ ११॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (भवन्मनःकुड्मलके) आपके मनरूप कलीके (समामृतानन्दभरेण) समतासुधारूप आनन्दके भारसे (पीडिते) पीडित होकर (अतिस्फुटति) अत्यन्त विकसित होनेपर (स्फुटैकविश्वोदरदीपकार्चिषः) लोकालोकरूप समस्त विश्वके मध्यमें प्रज्वलित दीपक सम्बन्धी ज्वालाकी (लीलाम्) लीला—शोभाको (विगाह्य) प्राप्त कर (केवलम्) केवलज्ञान (उदियाय) उत्पन्न हुआ।

भावार्थ—जिस प्रकार पराग या केसर आदिके भारसे पीडित होनेपर कमलकी कली खिल उठती है उसी प्रकार समतामृतरूप आनन्दके भारसे आपके हृदयकमलकी कली खिल उठी तथा उसी समय आपके वह केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जो कि समस्त लोकालोकरूप घरके मध्यमें प्रज्वलित होनेवाले दीपककी ज्वालाके समान जान पड़ता था॥ ११॥

स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुको भवन्।
चिदेकधातूपचयप्रपञ्चितः समस्तविज्ञानघनो भवानभूत्॥ १२॥

अन्वयार्थ—उस समय (भवान्) आप (स्वयं) अपने आप (प्रबुद्धाखिलवास्तवस्थितिः) जिन्होंने समस्त पदार्थोंकी वास्तविक स्थितिको जान लिया है तथा जो (समस्तकर्तृत्वनिरुत्सुकः) समस्त पदार्थोंके कर्तृत्वसे निरुत्सुक—उदासीन हैं ऐसे (भवन्) होते हुए (चिदेकधातूपचयप्रपञ्चितः) एक चैतन्यरूप धातुकी वृद्धिसे विस्तृत और (समस्तविज्ञानघनः) सब ओरसे विज्ञानघन—केवलज्ञानसे परिपूर्ण (अभूत्) थे।

भावार्थ—हे भगवन् ! केवलज्ञान होनेपर आप स्वयं किसी अन्य पदार्थकी सहायताके बिना ही समस्त पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको जानने लगे थे। मोहके निकल जानेके कारण आप किन्हीं अन्य पदार्थोंके कर्तृत्वके प्रति निरुत्सुक हो गये थे अर्थात् 'मैं किसी पदार्थको करूँ' इस प्रकारके कर्तृत्वभावसे छूट गये थे। राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित एक चैतन्य—ज्ञानदर्शनस्वभावसे परिपूर्ण और अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंसे सहित केवलज्ञानसे तन्मय थे। तात्पर्य यह है कि आप कर्म और कर्मफलचेतनासे रहित होकर एक ज्ञान-चेतनारूप ही हुए थे॥ १२॥

ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं स्खलद्बहिःशेषमशेषयन् भवान्।
अवाप सिद्धत्वमनन्तमद्भुतं विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि निश्चलः॥ १३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ततः) तदन्तर (आयुषि गलति) आयु कर्मके क्षीण होनेपर (स्खलद्वहिःशेषं) निर्जीर्ण होनेसे बाकी बचे हुए (पेलवं) शक्तिहीन (कर्म) कर्मोंको (अशेषयन्) समाप्त करते हुए (भवान्) आप (अनन्तं) कभी नष्ट न होनेवाले तथा (अद्‌भुतं) आश्चर्यकारक (सिद्धत्वम्) सिद्धपदको (अवाप) प्राप्त हुए और (विशुद्धबोधोद्धतधाम्नि) विशुद्ध ज्ञानरूपी उत्तुङ्ग भवनमें (निश्चलः) स्थिर (अभूत्) हो गये।

भावार्थ—अनादि कालसे यद्यपि आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है तथापि आत्माका एक भी प्रदेश, न कर्मरूप हुआ है और न कर्म, आत्मारूप हुआ है। तात्पर्य यह है कि अनादि संयोग होनेपर भी दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। तेरहवें गुणस्थानमें पहुँचनेके बाद आपने केवलज्ञानको प्राप्त किया, उस केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकको जाना। पश्चात् जब आयु समाप्त होनेको हुई तब अयोग केवलीनामक चौदहवें गुणस्थानमें प्रवेश कर आपने व्युपरत क्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके द्वारा उपान्त समयमें बहत्तर और अन्त समयमें तेरह इस प्रकार पचासी कर्म प्रकृतियोंका क्षय कर आश्चर्यकारक सिद्धपद प्राप्त किया और अनन्तानन्त कालके लिये निर्मल ज्ञानरूपी उतुङ्ग भवनमें स्थित हो गये ॥ १३ ॥

चिदेकधातोरपि ते समग्रतामनन्तवीर्यादिगुणाः प्रचक्रिरे।
न जातुचिद्‌द्रव्यमिहैकपर्ययं बिभर्त्ति वस्तुत्वमृतेऽन्यपर्ययैः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(चिदेकधातोः अपि ते) एक चैतन्य धातुरूप होनेपर भी आपकी (समग्रतां) पूर्णताको (अनन्तवीर्यादिगुणाः) अनन्त वीर्य आदि गुणोंने किया था, क्योंकि (इह) इस जगत्‌में (द्रव्यं) द्रव्य (वस्तुत्वं ऋते) अपने वस्तुत्वको छोड़कर (अन्यपर्ययैः) अन्य द्रव्यकी पर्यायोंके साथ (जातुचित्) कभी भी (एकपर्ययं) एकरूपताको (न बिभर्ति) नहीं धारण करता है।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप एक चैतन्य धातुमात्र हैं, उसके साथ लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप अन्य पदार्थ सदाके लिए नष्ट हो गये हैं तथापि अनन्तवीर्य आदि गुणोंसे आप परिपूर्ण हैं। क्योंकि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यकी पर्यायोंके साथ कभी एकरूपताको धारण नहीं करता। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि संसारमें सब पदार्थ एक दूसरेसे मिले रहनेपर भी अपने-अपने गुण और पर्यायोंको धारण करते हैं, अन्य द्रव्यसम्बन्धी गुण और पर्यायोंके साथ एकरूपताको कभी प्राप्त नहीं होते ॥१४॥

स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं स्वधर्ममालामखिलां विलोकयन्।
अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं जगत्त्रयीमेव भवानलोकयत् ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(स्ववीर्यसाचिव्यबलात्) अपने वीर्यकी सहायताके बलसे (गरीयसीम्) अत्यन्त श्रेष्ठ तथा (अखिलां) सम्पूर्ण (स्वधर्ममालां) स्वकीय धर्मोंकी सन्ततिको (विलोकयन्) देखते हुए (भवान्) आपने (अनन्तधर्मोद्धतमाल(ल्य)धारिणीं) अनन्त धर्मोंकी उत्कृष्ट मालाको धारण करनेवाले (जगत्त्रयीं) तीनों लोकोंको ही (अलोकयत्) देख लिया।

भावार्थ—सिद्ध भगवान्‌में जो अनन्त वीर्य नामका गुण है उसकी सहायतासे वे ज्ञान दर्शन आदि अनन्तगुणोंकी सन्ततिको धारण करते हैं तथा केवलज्ञानके द्वारा अपने अनन्त गुणोंको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानते हुए वे अनन्त धर्मोंसे युक्त तीनों लोकोंको ही जानते हैं, यहाँ आपकी आत्मज्ञतामें ही सर्वज्ञताका समावेश किया गया है ॥ १५ ॥

त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः ।
स्वयं समव्यक्ति किलैककेवलं भवन्ननन्तत्वमुपागतो भवान् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्ययप्रपञ्चसंकीर्णसमस्तवस्तुभिः) कालत्रयमें उत्पन्न होनेवाली अनन्त पर्यायोंके समूहसे युक्त समस्त वस्तुओंके साथ (समव्यक्ति) एक साथ व्यक्त हुए (एककेवलं) एक केवलज्ञानरूप (भवन्) होते हुए (भवान्) आप (किल) निश्चयसे (अनन्तत्वम्) अनन्तरूपताको (स्वयं उपागतः) स्वयं प्राप्त हुए हैं ।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थ अपनी तीन काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंके समूहसे व्याप्त हैं । वही पदार्थ केवलज्ञानमें उसकी स्वच्छता गुणके कारण एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं । अतः जिस प्रकार एक ही दर्पण, अपने उदरमें प्रतिबिम्बित नाना पदार्थोंके कारण अनेकरूपताको प्राप्त होता है उसी प्रकार आपका केवलज्ञान भी अपने भीतर प्रतिबिम्बित अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा अनन्तरूपताको प्राप्त हुआ है । हे भगवन् ! यतः आप अनन्तरूपताको प्राप्त हुए केवलज्ञानसे तन्मय हैं अतः आप भी अनन्तरूपताको प्राप्त हुए हैं । यहाँ अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा एक केवलज्ञानकी अनन्तरूपता और उससे तन्मय होनेके कारण भगवान्‌की अनन्तरूपताका वर्णन किया गया है ॥१६॥

यदत्र किञ्चित्सकलेऽर्थमण्डले विवर्तते वर्त्स्यति वृत्तमेव वा ।
समग्रमप्येकपदे तदुद्गतं त्वयि स्वयं ज्योतिषि देव भासते ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (अत्र) इस (सकले) समस्त (अर्थमण्डले) पदार्थसमूहमें (यत् किञ्चित्) जो कुछ (विवर्तते) हो रहा है (वर्त्स्यति) आगे होगा (वा) अथवा (वृत्तमेव) पहले हो चुका है (तत्समग्रं अपि) वह सभी (ज्योतिषि) ज्योतिः—केवलज्ञान स्वरूप (त्वयि) आपमें (स्वयं) अपने आप (एकपदे) एक साथ (उद्गतं) प्रतिबिम्बित होता हुआ (भासते) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे देव ! गुण गुणीमें अभेद विवक्षाके कारण आप स्वयं केवलज्ञानरूप हैं । केवलज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि उसमें तीन लोक और तीन कालसम्बन्धी पदार्थोंका परिणमन दर्पणके समान एक साथ प्रतिबिम्बित होता है । यह भगवान्‌के सर्वज्ञस्वभावका वर्णन है ॥१७॥

निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं व्यवस्यतस्तेऽस्खलदात्मविक्रमम् ।
परात्परावृत्य चिदंशवस्त्वयि स्वभावसौहित्यभराद् झडन्त्यमी ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(अस्खलदात्मविक्रमम्) जिस प्रकार स्वयं निजका पराक्रम स्खलित नहीं हो उस प्रकार (चराचरं) चर अचररूप समस्त (जगत्) जगत्‌को (निवृत्ततृष्णस्य) तृष्णा रहित होकर (व्यवस्यतः) जाननेवाले (ते) आपकी (अमी) ये (चिदंशवः) चैतन्यकी किरणें (स्वभावसौहित्यभरात्) स्वाभाविक तृप्तिके समूहसे (परात्) पर पदार्थोंसे (परावृत्य) दूर हटकर (त्वयि) आपमें (झडन्ति) झलझला रही हैं—सुशोभित हो रही हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप निवृत्ततृष्ण हैं—किसी अन्य पदार्थको जाननेकी आपकी इच्छा नहीं है तथापि ज्ञानगुणको निर्मलताके कारण आप चराचर विश्वको जानते हैं। समस्त विश्वको जानते समय आप अपने अनन्तवीर्यसे सम्पन्न रहते हैं—उसे किसी प्रकार छोड़ते नहीं हैं। आपकी ये चैतन्य स्वभावकी किरणें पर पदार्थोंसे हटकर अन्तरात्मामें ही सुशोभित हो रही हैं और उसका कारण यह है कि उन ज्ञानरश्मियोंको बाहरकी ओर ले जानेवाला आपका मोहजन्य विकार नष्ट हो चुका है अतः वे स्वभावमें ही स्थिर हो रही हैं। यहाँ 'बहिर्ज्ञेयके ज्ञानत्वको गौण कर' अन्तर्ज्ञेयके ज्ञातृत्वको प्रकट किया गया है ॥१८॥

अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण सिञ्चन् स्वविशेषवीरुधः ।
त्वमात्मनात्मानमनन्यगोचरं समग्रमेवान्वभवस्त्रिकालगम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अनन्तसामान्यगभीरसारणीभरेण) अनन्त सामान्य केवलदर्शनरूपी गहरी नहरके समूहसे (स्वविशेषवीरुधः) अपने विशेषरूप—केवलज्ञानरूप लताओंको (सिञ्चन्) सींचनेवाले (त्वम्) आपने (अनन्यगोचरं) जो दूसरेके द्वारा न जाना जा सके ऐसे (त्रिकालगं) तीन कालसम्बन्धी (समग्रमेव) सम्पूर्ण ही (आत्मानं) आत्माको (आत्मना) अपने आपके द्वारा (अन्वभवः) अनुभूत किया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! अरहन्त अवस्थामें आप, अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानके स्वामी हो गये। यद्यपि चेतना गुणका दर्शन और ज्ञानरूप परिणमन अनादिसे चला आ रहा था पर वह क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञानरूप रहता था। अरहन्त अवस्थाके प्रकट होते ही उसका क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानरूप परिणमन हो जाता है। क्षायिक दर्शनको केवलदर्शन और क्षायिक ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। क्षायोपशमिक दर्शन और क्षायोपशमिक ज्ञानकी प्रवृत्ति क्रमसे होती थी पर क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानकी प्रवृत्ति युगपत् होती है। आप इन दोनों परिणतियोंके द्वारा त्रिकाल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्यायोंसे सहित अपनी आत्माको स्वयं जानने देखने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानके स्वामी हैं तथा उनका ज्ञेय आपने अपनी आत्माको ही बनाया है। आपकी इस आत्मज्ञतामें ही व्यवहारनयकी विषयभूत सर्वज्ञता अन्तर्निहित है ॥१९॥

अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः प्रपिण्डयन्नात्ममहिम्नि निर्भरम् ।
त्वमात्मनि व्यापृतशक्तिरुन्मिषन्ननेकधात्मानमिमं विपश्यसि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—जो अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा (अनन्तशः) अनन्त भेदोंमें (खण्डितं) विभक्त (आत्मनो महः) आत्मज्योतिरूप केवलज्ञानको (निर्भरम्) पूर्णरूपसे (आत्ममहिम्नि) आत्माकी महिमामें (प्रपिण्डयन्) संकोचित कर रहे हैं तथा (आत्मनि) अपने आपमें (व्यापृतशक्तिः) जिनका अनन्तबल व्यापार कर रहा है ऐसे (त्वम्) आप (इमं) इस (उन्मिषन्ननेकधात्मानं) अनेकरूपताको प्राप्त आत्माको (विपश्यसि) विशिष्टरूपसे देखते हैं—जानते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयसे अनन्त ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा जो केवलज्ञान अनन्तरूपताको प्राप्त हो रहा था निश्चयनयसे वही केवलज्ञान एक आत्माको जाननेके कारण एकरूपताको प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है। इसी प्रकार व्यवहारनयसे जो अनन्त वीर्य अनन्त गुणोंका धारक होनेसे अनन्तरूपता-को प्राप्त हो रहा था वही एक अखण्ड आत्माके आश्रित होनेसे एकरूपताको प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार व्यवहारनयसे यह आत्मा यद्यपि अनेकरूप है तथापि निश्चयनयसे एक अखण्ड द्रव्य है। हे भगवन्! आपने अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनका लक्ष्य इसी एक अखण्ड आत्माको बनाया है॥ २०॥

प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं प्रमैकमात्रं जिन भावमाश्रितः।
अगाधगम्भीरनिजांशुमालिनीं मनागपि स्वां न जहासि तीक्ष्णताम्॥ २१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओंके विजेता (अगाधगम्भीर) हे अगाध गाम्भीर्यसे युक्त! (प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं) प्रमाता और प्रमेय आदिके भेदसे जिसका वैभव अखण्डित है ऐसे (प्रमैकमात्रं) प्रमितिमात्र (भावं) भावको (आश्रितः) प्राप्त हुए (त्वम्) आप (निजांशुमालिनीं) आत्मकिरणोंसे युक्त (स्वां) स्वकीय (तीक्ष्णताम्) तीक्ष्णताको पदार्थ ग्रहणकी पटुताको (मनागपि) रञ्चमात्र भी (न जहासि) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—जाननेवालेको प्रमाता, जानने योग्य पदार्थको मेय अथवा प्रमेय और जाननेरूप क्रियाको प्रमा या प्रमिति कहते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें इन तीनोंका विकल्प रहता है, परन्तु निर्विकल्प दशामें पहुँचनेपर यह सब विकल्प समाप्त होकर एक प्रमा या प्रमिति ही शेष रह जाती है। हे जिनेन्द्र! आप इसी निर्विकल्प अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। आपका ज्ञान अगाध है तथा कषायजन्य चञ्चलताका अभाव हो जानेसे आप अत्यन्त गम्भीर हैं अर्थात् आपको यह इच्छा नहीं है कि हम अमुक पदार्थको जानें, परन्तु फिर भी पदार्थोंको ग्रहण करनेमें जो आपकी तीक्ष्णता—पटुता है उसका आप रञ्चमात्र भी त्याग नहीं करते हैं पूर्ण तत्परताके साथ समस्त पदार्थोंको ग्रहण करते हैं—जानते हैं। आपकी इस पटुताका कारण यह है कि वह स्वयं आत्मज्ञानरूप किरणोंसे सुयुक्त है॥२१॥

अनन्तरूपस्पृशि शान्ततेजसि स्फुटौजसि प्रस्फुटतस्तवात्मनि।
चिदेकतासङ्कलिताः स्फुरन्त्यमूः समन्ततीक्ष्णानुभवाः स्वशक्तयः॥ २२॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरूपस्पृशि) अनन्त पदार्थोंको स्पर्श करनेवाले-जाननेवाले, (शान्ततेजसि) शान्त तेजसे मुक्त और (स्फुटौजसि) प्रकट प्रभावसे सहित (आत्मनि) शुद्ध आत्मतत्त्वके विषयमें (प्रस्फुटतः तव) अत्यन्त स्पष्टताको प्राप्त होनेवाले आपकी (चिदेकतासङ्कलिताः) चैतन्यकी एकतासे सहित तथा (समन्ततीक्ष्णानुभवाः) सब ओरसे तीक्ष्ण अनुभवसे युक्त (अमूः) ये (स्वशक्तयः) अपनी शक्तियाँ (स्फुरन्ति) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! लोकालोकावभासी केवलज्ञानके हो जानेसे आपकी आत्मा अनन्त-पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाली है, कषायजनित कलुषता और चञ्चलताके नष्ट हो जानेसे उसका तेज अत्यन्त शान्त है तथा उसका प्रताप इतना लोकोत्तर है कि शत इन्द्रोंका समूह उसकी वन्दना करता है। इस उपर्युक्त आत्मा विषयमें ज्यों ही आप प्रकटताको प्राप्त हुए अर्थात् आपकी ऐसी परिणति हुई त्यों ही आपमें ऐसी अनन्त शक्तियाँ प्रकट हो गईं जो चैतन्यतत्त्वकी एकतासे सङ्कलिता हैं—एक चैतन्यरूप हैं तथा जिनका सब ओर स्पष्ट अनुभव होता रहता है॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवाननन्तमात्मानमिमं विघट्टयन् ।
प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्फुटस्वशक्तिचक्रः स्वयमीश भासते ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जो (इह) इस जगत्में (अनन्तविज्ञानं) अनन्त-केवलज्ञानसे सहित (इमम्) इस (अनन्तं) अन्तातीत—अविनाशी (आत्मानं) आत्माको (आत्मना) अपने आपके द्वारा (विघट्टयन्) विघट्टित कर रहे हैं—पुन-पुनः उसी एकका अवलम्बन ले रहे हैं तथा इसके फलस्वरूप (प्रचण्डसंघट्टहठस्फुटत्स्वशक्तिचक्रः) उस तीव्र संघट्टन-स्वरूपावलम्वनके कारण जिनकी आत्म शक्तियोंका समूह हठपूर्वक प्रकट हो रहा है ऐसे आप (स्वयं) अपने आप (भासते) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—परमार्थसे आत्मा अनन्त शक्तियोंका पुञ्ज है, परन्तु कर्माच्छादित होनेके कारण उसकी वे अनन्त शक्तियाँ अनुभवमें नहीं आती हैं। जब उसमें आत्म पुरुषार्थसे अनन्त-केवलज्ञान प्रकट होता है तब उसकी वे शक्तियाँ हठ पूर्वक स्वयं प्रकट हो जाती हैं। हे स्वामिन् ! आपकी ये सब शक्तियाँ हठात् प्रकट हो गई हैं अतः आप अतिशयरूपसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ २३॥

स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः परानपेक्षस्य तवोल्लसन्त्यमूः ।
सुनिर्भरस्वानुभवैकगोचरा निरन्तरानन्दपरम्परास्रजः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (स्वरूपगुप्तस्य) आत्मस्वरूपसे सुरक्षित, (निराकुलात्मनः) आकुलतासे रहित तथा (परानपेक्षस्य) परकी अपेक्षासे शून्य (तव) आपकी (अमूः) ये (सुनिर्भर-स्वानुभवैकगोचराः) अत्यन्त उत्कट आत्मानुभवके अद्वितीय विषयभूत (निरन्तरानन्दपरम्परास्रजः) निरन्तर सुख सन्ततिकी मालाएँ (उल्लसन्ति) उल्लसित होती हैं—सुशोभित होती हैं।

भावार्थ—संसारदशामें यह जीव आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे अपरिचित होनेके कारण आत्मरक्षाके लिए बाह्य पदार्थोंका संयोग मिलानेका उद्यम करता है और उसके न मिलनेपर आकुल रहता है—दुःखी होता है कि मेरे पास रक्षाके कुछ भी साधन नहीं हैं। इस प्रकार निरन्तर पर सापेक्ष रहता है—अन्य पदार्थोंकी आकाङ्क्षा करता रहता है परन्तु हे भगवन् ! आप आत्माकी अनन्त सामर्थ्यसे सुपरिचित हैं अतः स्वरूपगुप्त हैं अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपको ही अपनी सुरक्षाका साधन मानते हैं इसीलिए आपकी सब आकुलताएँ नष्ट हो गई हैं तथा आप पूर्णरूपसे पर निरपेक्ष हो चुके हैं। संसारी जीवका इन्द्रियजन्य आनन्द, पर सापेक्ष होनेके कारण पराधीन, बाधासहित और बीच-बीचमें व्युच्छिन्न—नष्ट होता रहता है,[1] परन्तु आपका आत्मोत्थ आनन्द निरन्तर है—व्यवधानसे रहित है, एक बार प्रकट होनेपर उसमें कभी अन्तर—व्यवधान नहीं पड़ता है तथा उसका आपको निरन्तर अनुभव होता रहता है। यहाँ अनन्त सुखको लक्ष्य कर भगवान्का स्तवन किया गया है ॥२४॥

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयःपिण्डमिवाग्निरुत्कटः ।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अयःपिण्डं विशन्) लोहपिण्डके भीतर प्रवेश करनेवाली (उत्कटः

१. 'सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं इंदियेहिं जं लद्धं'—प्रवचनसार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्निरिव) प्रचण्ड अग्निके समान (भवान्) आप (अनया भावनया) इस भावनाके द्वारा (प्रसह्य) हठात्-बलपूर्वक (मां विशन्) मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मुझे (अद्यापि) आज भी (यत्) जो (एकचिन्मयं) एक चैतन्यरूप (न करोति) नहीं कर रहे हैं (अयं) यह (ममैव) मेरा ही (सः) वह (निजः जडिमागुणः) निजी जड़ता—अज्ञानतारूप गुण है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि लोहपिण्डके भीतर प्रवेश कर उसे अग्निरूप कर लेती है उसी प्रकार इस भावना—स्तुतिके माध्यमसे आपको भी मेरे भीतर प्रवेश कर मुझे अपनेरूप एक-चिन्मय—ज्ञाता द्रष्टा स्वभावसे तन्मय कर लेना चाहिए था पर आपने आज तक मुझे अपनेरूप नहीं किया है इसमें आपकी उपेक्षा नहीं किन्तु मेरी जड़ता ही कारण है। आपकी स्तुतिका निमित्त मिलनेपर भी मैं आपके समान वीतराग—सर्वज्ञ नहीं बन सका, इसमें मेरे उपादानकी अनुकूलताका न होना ही प्रमुख कारण है॥२५॥

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(७)

वंशस्थवृत्तम्

असीमसंसारमहिम्नि पञ्चधा व्रजन् परावृत्तिमनन्तशोऽवशः ।
लगाम्ययं देव बलाच्चिदञ्चले स्वधाम्नि विश्रान्तिविधायिनस्तव ।। १ ।।

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (असीमसंसारमहिम्नि) अनन्त संसारकी महिमामें (अवशः) विवश हो (अनन्तशः) अनन्तबार (पञ्चधा परावृत्ति) पाँच प्रकारके परावर्तनोंको (व्रजन्) प्राप्त होता हुआ (अयम्) यह मैं (स्वधाम्नि) आत्मगृहमें (विश्रान्तिविधायिनः) विश्राम करनेवाले (तव) आपके (चिदञ्चले) चैतन्यरूप अञ्चलके नीचे (बलात्) हठपूर्वक (लगामि) संलग्न होता हूँ—शरण पानेके लिए आपके ज्ञान स्वभावकी छायामें स्थिर हो रहा हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं अनादि कालसे संसाररूपी महा अटवीमें भ्रमण करता हुआ विवश हो अनन्तों बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परावर्तनोंको प्राप्त हो रहा हूँ। परन्तु आप अपने घरमें—चिदानन्द स्वभावमें विश्राम कर रहे हैं। परावर्तनोंके दुर्दान्त चक्रसे आप पार हो चुके हैं, अतः पुरुषार्थ करके मैं भी आपके चिदानन्द स्वभावके अञ्चलमें संलग्न हो रहा हूँ—उसकी शरणमें आ रहा हूँ। आप इस चित्रूप अञ्चलको पसार कर उसकी छायामें मेरी रक्षा कीजिये। तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! अनन्त कालमें वीतराग सर्वज्ञ देवकी शरण प्राप्त हुई है अतः उनके माध्यमसे मैं भी अपने ज्ञानानन्द स्वभावको प्राप्त कर पाँच परावर्तनोंके चक्रसे बहिर्भूत होना चाहता हूँ ॥१॥

कषायसंघट्टनघृष्टशेषया ममैकया चित्कलया व्यवस्यतः ।
क्रियात्(कियान्)प्रकाशस्तव भूतिभासने भवत्यलातं दिनकृन्न जातुचित् ।। २ ।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (कषायसंघट्टनघृष्टशेषया) कषाय समूहके संघर्षणसे शेष बची हुई (एकया) एक (चित्कलया) अल्पमात्र ज्ञानकी कलाके द्वारा (व्यवस्यतः) उद्युक्त (मम) मेरा (तव) आपकी (भूतिभासने) विभूतिके प्रकाशनमें (कियान्) कितना (प्रकाशः) प्रकाश है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। क्योंकि (अलातं) अधजली लकड़ीका प्रकाश (जातुचित्) कभी भी (दिनकृत्) दिवस-को करनेवाला (न) नहीं होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! मेरा ज्ञान अत्यन्त अल्प है उसके द्वारा मैं आपकी विभूतिका वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ क्योंकि जिस प्रकार अधजली लकड़ीका अल्पतम प्रकाश कभी भी दिनके करनेमें समर्थ नहीं है उसी प्रकार अपने अल्पतम ज्ञानके द्वारा मैं आपकी विभूतिका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हूँ ॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं कियज्ज्वलत् किञ्चिदतीव निर्वृतम् ।
क्रियत् स्पृशत् किञ्चिदसंस्पृशन्मम त्वयीश तेजः करुणं विषीदति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थं—(ईश) हे स्वामिन् ! (कियत् स्फुटं) जो कितना ही प्रकट है (किञ्चित् अनादि-संवृतम्) कितना ही अनादिकालसे आच्छादित है (कियज्ज्वलत्) कितना ही प्रकाशमान है (किञ्चित् अतीवनिर्वृतम्) कितना ही अत्यन्त बुझा हुआ है—अप्रकाशमान है (कियत् स्पृशत्) कितना ही स्पर्श कर रहा है—पदार्थोंको जान रहा है और (किञ्चित् असंस्पृशन्) कितना ही नहीं स्पर्श कर रहा है—पदार्थोंको नहीं जान रहा है ऐसा (मम) मेरा (तेजः) तेज-ज्ञान (त्वयि) आपके विषयमें (करुणं 'यथा स्यात् तथा') करुणरूपसे (विषीदति) विषाद युक्त हो रहा है ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपका स्तवन करनेके लिये उद्यत अपने ज्ञानकी सामर्थ्यका जब विचार करता हूँ तब मुझे बहुत विषाद होता है, क्योंकि मेरा यह ज्ञान संसारवर्धक विषयकषायके कार्योंमें कुछ प्रकट है परन्तु संसारसागरसे पार करानेवाले वीतरागतावर्धक कार्योंमें अनादिसे आच्छादित हो रहा है—उनकी ओर उसका लक्ष्य भी नहीं जाता है, भोगोपभोगकी सामग्रीके संचित करनेमें कुछ देदीप्यमान है परन्तु त्यागमार्गमें अत्यन्त बुझा हुआ है—निश्चेष्ट है, पूर्वबद्ध कर्मोंका मन्दोदय होनेपर कुछ पदार्थोंका आस्रव और बन्धमार्गका स्पर्श करता है—उन्हें जानता है, परन्तु आत्मकल्याणकारी संवर और निर्जराके मार्गको स्पर्श नहीं करता—उन्हें जानता भी नहीं है । इस प्रकार मेरा यह ज्ञान बहुत करुणापूर्ण स्थितिमें है—आपकी करुणाका पात्र है अतः आप मेरे ज्ञानको केवलज्ञानरूपमें परिणत कीजिये, जिससे उस अनन्त ज्ञानके माध्यमसे मैं आपके अनन्त गुणोंका स्तवन कर सकूं ॥ ३ ॥

प्रलाप(प्रहाय)विश्वं सकलं बलाद् भवान्मम स्वयं प्रक्षरितोऽतिवत्सलः ।
पिपासितोऽत्यन्तमबोधदुर्बलः क्षमेत पातुं कियदीश मादृशः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (अतिवत्सलः) अत्यन्त स्नेहसे परिपूर्ण (भवान्) आप (बलात्) बलपूर्वक (सकलं विश्वं प्रलाप [प्रहाय]) सकल विश्वको छोड़कर (स्वयं) अपने आप (मम) मेरे ऊपर (प्रक्षरितः) अमृत वर्षा कर रहे हैं परन्तु (अबोधदुर्बलः) अज्ञानसे दुर्बलताको प्राप्त हुआ (मादृशः) मेरे समान प्राणी (अत्यन्तं पिपासितोऽपि सन्) अत्यन्त प्यासा होनेपर भी (कियत्) कितना (पातुं) पीनेके लिए (क्षमेत) समर्थ हो सकता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप स्वयं—किसीकी प्रेरणाके बिना ही अत्यन्त वत्सल होनेके कारण मुझ पामरपर अमृत वर्षा कर रहे हैं परन्तु मैं अनादि अज्ञानसे इतना दुर्बल हो रहा हूँ कि पिपासातुर होनेपर भी उस अमृतको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हो सक रहा हूँ । जिस प्रकार स्वच्छ जलसे भरी हुई नदी बह रही हो, परन्तु कोई अज्ञानी प्याससे पीड़ित होनेपर भी अज्ञानवश नदीके जलको ग्रहण न कर रहा हो तो इसमें नदीका अपराध नहीं है किन्तु उसी अज्ञानीका अपराध है । इसी प्रकार आपके उपदेशामृतकी धारा प्रवाहित हो रही है, परन्तु मैं अज्ञानवश उस धारामें अवगाहन नहीं कर पा रहा हूँ यह विषादका विषय है ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अयं भवद्बोधसुधैकसीकरो ममाद्य मात्रा परिणामकाङ्क्षिणः ।
क्रमेण संधुक्षितबोधतेजसा ममैव पेयस्य (पेयस्स-) कलो भवानपि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अयं) यह (भवद्बोधसुधैकसीकरः) आपके ज्ञानामृतका एक कण (परिणामकाङ्क्षिणः) किसी अच्छे परिपाकको इच्छा करनेवाले (मम) मेरे लिए (अद्य) आज (मात्रा) औषधिकी मात्राके समान है। इस मात्राके द्वारा (क्रमेण) क्रमसे (संधुक्षितबोधतेजसा) जिसका ज्ञानरूप तेज वृद्धिको प्राप्त हुआ है ऐसे (ममैव) मेरे ही द्वारा (सकलोऽपि भवान्) आप संपूर्णरूपसे (पेयः) पान करने योग्य हो रहे हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई निर्बल मनुष्य उत्कृष्ट औषधिकी मात्राका सेवनकर क्रम-क्रम से अपनी शक्तिको बढ़ाता हुआ बहुत अधिक पदार्थोंका सेवन करनेमें समर्थ हो जाता है उसी प्रकार मैं भी संसार भ्रमणरूपी रोगसे अत्यन्त निर्बल होकर उसकी निवृत्तिरूपी परिणामकी इच्छा करता था। निरन्तर मेरी इच्छा रहती थी कि इस रोगसे किसी प्रकार निवृत्त हो सकूं। अन्तिम अवस्थामें मुझे आपके ज्ञानामृतका एक कण मिल गया अर्थात् श्रुतज्ञानके द्वारा मुझे यह बोध हो गया कि वीतराग जिनेन्द्रदेवकी शरण ग्रहण करनेसे यह भवभ्रमणरूपी रोग नष्ट हो सकता है। इस ज्ञानामृतके एक कणने मेरे लिए वही कार्य किया जो मरणोन्मुख मनुष्यके लिये किसी उत्तम औषधकी मात्रा करती है। इस मात्राके प्रभावसे मेरे ज्ञानकी सामर्थ्य क्रमशः बढ़ने लगी और आज इस स्थितिमें हूं कि आप संपूर्णरूपसे मेरे अनुभवके विषय हो रहे हैं—आपका स्वरूप जाननेकी सामर्थ्य मुझमें आ गई है ॥ ५ ॥

अनारतं बोधरसायनं पिबन्नखण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः ।
ध्रुवं भविष्यामि समः स्वयं त्वया न साध्यते किं हि गृहीतसंयमैः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो ! जो (अनारतं) निरन्तर (बोधरसायनं) सम्यग्ज्ञानरूपी रसायनका (पिबन्) पान करता है तथा जिसका (अखण्डितान्तर्बहिरङ्गसंयमः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग संयम खण्डित नहीं हुआ है ऐसा मैं (ध्रुवं) निश्चित ही (स्वयं) अपने आप (त्वया समः) आपके समान (भविष्यामि) हो जाऊंगा। सो ठीक ही है (हि) क्योंकि (गृहीतसंयमैः) संयमको धारण करनेवाले मनुष्योंके द्वारा (किं न साध्यते) क्या नहीं सिद्ध कर लिया जाता ? अर्थात् सभी कुछ सिद्ध कर लिया जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम रसायनका सेवन करनेवाला और कुपथ्य सेवनसे दूरवर्ती मनुष्य निश्चय ही नीरोग हो जाता है उसी प्रकार निरन्तर ज्ञानरूपी रसायनका सेवन करनेवाला तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग संयमकी निर्दोष साधनासे विषय कषायरूप कुपथ्यसे दूरवर्ती मैं निश्चित ही नीरोग हो जाऊंगा। हे भगवन् ! मैं आपके ही समान भवभ्रमणरूपी रोगसे निर्मुक्त हो जाऊंगा। वास्तवमें संयमकी महिमा अद्भुत है ॥ ६ ॥

व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया स्थितस्य मे संयमलब्धिधामसु ।
सदा गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं विभो कियद्दूरमिदं पदं तव ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवान् ! (शक्त्यरक्षया) अपनी शक्तिकी न्यूनतासे (व्यतीतसंख्येषु संयमलब्धिधामसु) असंख्यात संयमलब्धिके स्थानोंमें (स्थितस्य मे) स्थित रहनेवाले मेरे लिये

ल०–११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सदा) सर्वदा[1] (गुणश्रेणिशिखामणिश्रितं) गुणस्थानोंकी श्रेणीके श्रेष्ठ स्थान-त्रयोदश गुणस्थान-सम्बन्धी (तव) आपका (इदं पदम्) यह स्थान (कियद् दूरम्) कितना दूर है।

भावार्थ—यह भावनापरक स्तवन है। स्तवनकर्ता आत्माकी अनन्त शक्तिकी ओर लक्ष्य कर रहा है कि हे भगवन्! मैं अभी अपनी शक्तिकी न्यूनतासे संयमके असंख्य लब्धिस्थानोंमें ही स्थित हूँ उनके द्वारा साध्य पदमें स्थित नहीं हो सका हूँ, परन्तु आपकी शरण प्राप्त होनेसे मुझे यह विश्वास हो गया है कि मेरे लिये भी आपका पद प्राप्त हो सकता है। अब वह मेरे लिये दूर नहीं है ॥ ७ ॥

उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा विभो विभिन्दंस्तव तत्त्वमस्म्यहम् ।
अलब्धविज्ञानघनस्य योगिनो न बोधसौहित्यमुपैति मानसम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ! (अहम्) मैं (उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा) ऊपर ऊपर वृद्धिको प्राप्त हुई शक्तिरूप सम्पदाके द्वारा (तव) आपके (तत्वं) यथार्थ स्वरूपका (विभिन्दन्) विश्लेषण करनेवाला (अस्मि) हूँ, सो ठीक ही है क्योंकि (अलब्धविज्ञानघनस्य) जिसे विज्ञानघन आत्माकी उपलब्धि नहीं हुई है ऐसे (योगिनः) साधुका (मानसम्) मन (बोधसौहित्यं) ज्ञान विषयक तृप्तिको (न उपैति) प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! मैं अबतक अज्ञानके कारण क्षीण शक्ति होनेसे आपके परमार्थ स्वरूपको नहीं समझ सका था, परन्तु जैसे जैसे मेरी आत्मशक्ति वढ़ती जाती है वैसे वैसे ही आपके परमार्थ स्वरूपको समझता जाता हूँ। परमार्थसे जिसने विज्ञान घन-आत्मा प्राप्त नहीं किया है उसका मन ज्ञानके आश्रयसे होनेवाली तृप्तिको प्राप्त नहीं होता ॥ ८ ॥

अजस्रमश्रान्तविवेकधारया सुदारुणं देव मम व्यवस्यतः ।
स्वयं जयन्त्युल्लसिताद्भुतोदयाः क्षणप्रहीणावरणा मनोभुवः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव (अजस्रं) निरन्तर (अश्रान्तविवेकधारया) अविराम विवेककी धारासे (सुदारुणं) अत्यन्त कठिन (व्यवस्यतः) उद्योग करनेवाले (मम) मेरी (मनोभुवः) मनरूपी भूमियाँ (स्वयं) अपने आप (क्षणप्रहीणावरणाः) जिनके आवरण क्षणभरमें नष्ट हो गये हैं तथा (उल्लसितादभुतोदयाः) जिनमें आश्चर्यकारक अभ्युदय प्रकट हुए हैं ऐसी होती हुई (जयन्ति) जयवन्त प्रवर्तती हैं—उत्कृष्टताको प्राप्त होती हैं।

---

१. 'असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः, तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छति एकाकी। ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशाः युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो बकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा निर्ग्रन्थस्नातको निर्वाणं प्राप्नोत्येतेषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति'। राजवार्तिक ९।४७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके कालमें जो विवेक-धारा—भेद विज्ञानकी सन्तति उत्पन्न होती है वह तो अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होनेपर नष्ट हो जाती है, परन्तु अब मुझे जो क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ है वह कभी नष्ट होनेवाला नहीं है, अतः उसके कालमें जो भेद विज्ञानकी धारा प्रकट हुई है वह निरन्तर विद्यमान रहनेवाली है। उस विज्ञानकी धारासे मैंने निश्चयकर लिया है कि मैं एक ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाला स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हूँ, नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म मेरी आत्मासे पृथक् हैं। अनादि कालसे इनका मेरी आत्माके साथ संयोग अथवा भावकर्मकी अपेक्षा क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा है पर यह निश्चित है कि वह सदा रहनेवाला नहीं है। इस भेद विज्ञानसे मैं शरीरादि पर पदार्थोंको छोड़नेके लिये पूर्ण कटिबद्ध हुआ हूँ—घोर तपश्चरणके द्वारा इस कार्यके लिये उद्यम कर रहा हूँ। तथा क्षपकश्रेणीमें आरूढ होकर कर्मोंके सेनानी मोहकर्मको जड़-मूलसे नष्ट कर चुका हूँ। मोहकर्मके नष्ट होते ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी क्षणभरमें प्रक्षीण—सदाके लिये नष्ट हो चुके हैं। इनके नष्ट होते ही मेरी मनोभूमि—मेरी आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख ओर अनन्तवीर्य ये आश्चर्यकारक आत्माश्रित अतिशय प्रकट हुए हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी स्तुति करनेवाला भक्त आपके सदृश हो जाता है। आर्हत दर्शनकी ही यह विशेषता है कि वह भक्तको भी भगवान् बननेका अवसर देता है ॥९॥

समामृतक्षालनगाढकर्मणा कषायकालुष्यमपास्य तत्समम् ।
ममाद्य सद्यः स्फुटबोधमण्डलं प्रसह्य साक्षाद् भवतीश ते महः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (समामृतक्षालनगाढकर्मणा) समताभावरूप अमृतके द्वारा अच्छी तरह प्रक्षालित करनेसे (कषायकालुष्यं) कषायसम्बन्धी कलुषताको (अपास्य) नष्ट कर (तत्समम्) उसके नष्ट होनेके साथ ही (मम) मेरे (अद्य) आज (सद्यः) शीघ्र ही (स्फुटबोधमण्डलं) स्पष्ट केवलज्ञानका समूह प्रकट हुआ है और उसके फलस्वरूप (प्रसह्य) बलपूर्वक (ते महः साक्षात् भवति) आपके तेजका साक्षात्कार हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेसे मेरा ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया था तथापि चारित्रमोहके उदयमें होनेवाली कषायरूप कलुषतासे वह मलिन हो रहा था—उसमें इष्ट-अनिष्टका भाव उत्पन्न हो रहा था। परन्तु अब मैं समताभावरूपी जलसे उस कलुषताको बिलकुल दूर कर चुका हूँ और उसके दूर करते ही अन्तर्मुहूर्तके भीतर मेरा वह ज्ञान केवलज्ञानरूपमें परिणत हो गया है, केवलज्ञानरूप परिणत होते ही मुझे आपके तेजका अनुभव होने लगा है।

त्वमात्मसात्म्यज्ञ चिदेकवृत्तितामशिश्रियः शोषितरागदुर्गदः ।
परे तु रागज्वरसात्म्यलालसा विशन्ति बाला विषयान्विषोपमान् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(आत्मसात्म्यज्ञ) हे आत्मस्वभावके ज्ञाता भगवन् ! (शोषितरागदुर्गदः) जिन्होंने रागरूपी दुष्ट रोगोका शोषण कर दिया है ऐसे (त्वम्) आपने (चिदेकवृत्तिताम्) एक ज्ञानस्वभाव में लीनताको (अशिश्रियः) प्राप्त किया है (तु) किन्तु (रागज्वरसात्म्यलालसाः) रागरूपी ज्वरके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ तादात्म्यकी इच्छा रखनेवाले (बालाः) अज्ञानी (परे) अन्य देव (विषोपमान्) विषतुल्य (विषयान् विशन्ति) विषयोंमें प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—'राग, आत्माका विकारी भाव हैं' ऐसी दृढ़ श्रद्धा कर उसे नष्ट करनेका आपने प्रबल पुरुषार्थ किया और उस पुरुषार्थके फलस्वरूप उस रागरूपी दुःखदायक रोगको नष्ट कर आप पूर्ण वीतराग अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। रागके सद्भावमें कदाचित् आपका उपयोग आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें भी जाता था पर अब रागके नष्ट हो जानेपर वह एक चैतन्यपुञ्ज आत्मामें ही लीन हो रहा है। यह तो आप वीतरागकी बात रही, परन्तु जो रागरूपी ज्वरके साथ तादात्म्यका अनुभव कर रहे हैं, जिनकी यह श्रद्धा नहीं हुई है कि राग आत्माका विकारी भाव होनेसे हेय है वे अज्ञानी हरिहरादिक देव, विषतुल्य पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें लीन हो रहे हैं। यहाँ सराग और वीतराग दशाके फलका वर्णन करते हुए आचार्यौने जिनेन्द्रदेवका स्तवन किया है ॥११॥

क्रियत्क्रियत् संयमसीमवर्त्मनि क्रियारतेनाप्यपराः क्रिया घ्नता।
त्वयेदमुच्चण्डचिदेकविक्रमैः समस्तकर्तृत्वमपाकृतं हठात् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(संयमसीमवर्त्मनि) संयमसम्बन्धी सीमाके भागमें (कियत् क्रियत्) कुछ कुछ (क्रियारतेनापि) शुभ क्रियाओंमें रत होनेपर (अपराः क्रियाः घ्नता) पापास्रवसम्बन्धी अन्य क्रियाओंको (घ्नता) नष्ट करनेवाले (त्वया) आपने (उच्चण्डचिदेकविक्रमैः) अत्यधिक एक चैतन्यमात्र आत्माके आलम्बनसे (हठात्) हठपूर्वक (इदं समस्तकर्तृत्वं) इस समस्त कर्तृत्वभावको (अपाकृतम्) दूर किया है—नष्ट किया है।

भावार्थ—संयम धारण करनेपर यद्यपि आप चरणानुयोगमें प्रतिपादित सामायिक, स्वाध्याय, समिति आदि शुभ क्रियाओंको करते थे तथापि पापवर्धक क्रियाओंसे सदा विमुख रहते थे। और शुभ क्रियाओंको करते हुए भी आपका उपयोग एक आत्मस्वरूपमें ही स्थिर होता था। जैसे सामायिककी क्रिया करते समय आपका उपयोग अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभावमें ही स्थिर होता था। हे भगवन्! इस आत्माश्रयी प्रवृत्तिके कारण आपने सब प्रकारका कर्तृत्व छोड़ दिया था। अर्थात् छठवें गुणस्थानमें प्रतिपादित शुभ क्रियाओंके कदाचित् कर्ता होनेपर भी आप परमार्थसे उनके कर्ता नहीं थे, क्योंकि आपकी प्रवृत्ति अन्य क्रियाओंसे हटकर एक चैतन्यस्वरूपमें ही लीन रहती थी ॥१२॥

अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः प्रसह्य पीत्वा सकलं चराचरम्।
त्वमेष्ट(त्वमेव)पश्यस्यनिशं निरुत्सुकः स्वधातुपोषोपचितं निजं वपुः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—जो (सकलं चराचरं) समस्त चर-अचर विश्वको (प्रसह्य) बलपूर्वक (पीत्वा) पीकर—अपने ज्ञानमें निमग्न कर (अकर्तृसंवेदनधाम्नि) कर्तृत्वके विकल्पसे रहित ज्ञानरूप धाममें (सुस्थितः) अच्छी तरह स्थित है ऐसे (त्वमेव) आप ही (स्वधातुपोषोपचितं) अनन्त शुभ सूक्ष्म आहारवर्गणाओंके द्वारा पोषणको प्राप्त हुए (निजं वपुः) अपने परमौदारिक शरीरको (अनिशं) निरन्तर (निरुत्सुकः) उत्सुकतारहित होते हुए (पश्यसि) देखते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—यह जीवन्मुक्त सकल परमात्माकी स्तुति है। सकल परमात्मा केवलज्ञानसे विभूषित होते हैं और उनके उस केवलज्ञानमें समस्त चराचर विश्व दर्पणकी तरह झलकता है। राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है ऐसे ज्ञानमें वे लीन होते हैं। यद्यपि उनके कवलाहार नष्ट हो जाता है तथापि लाभान्तरायका क्षय हो जानेसे प्रत्येक समय आहारवर्गणाके शुभ सूक्ष्म पुद्गल परमाणु उनके शरीरके साथ सम्बन्धको प्राप्त होते रहते हैं जिससे उनका परमौदारिक शरीर देशोन कोटि वर्षतक स्थिर रहता है। उस परमौदारिक शरीरके प्रति उनकी रञ्चमात्र भी उत्सुकता नहीं रहती है—वे उसे सदा निरुत्सुक भावसे देखते हैं। आयुकर्म का उदय उन्हें उस शरीरमें रोके हुए है, परन्तु उसके प्रति ममताभाव नहीं है ॥१३॥

तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि संस्थितिं स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः।
सदा निरुच्छ्वासधृतास्स्वशक्तयः स्वभावसीमानमिमा न भिन्दते ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(अत्यन्तमहिम्नि संस्थितिम् अर्हतः) जो अनन्त महिमामें सम्यक् प्रकारसे स्थितिको प्राप्त हैं तथा (स्वसीमलग्नाखिलविश्वसम्पदः) संसारकी समस्त सम्पदाएं जिनकी स्वकीय सीमामें संलग्न हैं ऐसे (तव) आपकी (निरुच्छ्वासधृताः) संघटितरूपसे धारण की हुई (इमाः स्वशक्तयः) ये निजकी शक्तियां (स्वभावसीमानम्) स्वभावकी सीमाको (न भिदन्ते) नहीं भेदती हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी महिमा अनन्त है तथा लोककी समस्त विभूतियां आपके सन्निहित हैं। आपकी आत्मामें इतनी अनन्त शक्तियां विद्यमान हैं कि वे मानो बड़ी संकीर्णतासे रह रही हों, परन्तु फिर भी वे अपनी स्वाभाविक सीमाको छोड़ती नहीं हैं—जिस शक्तिका जो स्वभाव है वह उसी स्वभावमें स्थिर रहती है॥१४॥

तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्जयत्यनन्ताद्भुतसत्यवैभवम्।
स्वतत्त्व एव स्फुरदात्मयन्त्रितं चिदुद्गमोद्गारतरङ्गितं महः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! जो (उच्चावचम्) छोटे बड़े-समस्त पदार्थोंको (मज्जयत्) अपने आपमें निमग्न कर रहा है, (अनन्ताद्भुतसत्यवैभवम्) जिसका वैभव अनन्त, आश्चर्यकारी और परमार्थभूत है, जो (स्वतत्त्व एव स्फुरत्) जो आत्मतत्त्वमें ही स्फुरायमान है, (आत्मयन्त्रितं) जो आत्मासे नियन्त्रित है—आत्माके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंमें अविद्यमान है तथा (चिदुद्गमोद्गार-तरङ्गितं) जो चैतन्यानुविधायी उपयोगके प्रादुर्भावसे तरङ्गित है—लब्धि रूप न रहकर सदा उपयोगरूप रहता है ऐसा (इदम्) यह (तव) आपका (महः) केवलज्ञानरूप तेज (जयति) जयवन्त है—सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—यहां भगवान्के केवलज्ञानरूप तेजकी महिमा कहते हुए उसका जयकार किया गया है। केवलज्ञान इतना विशद ज्ञान है कि उसमें छोटेसे छोटा और बड़ेसे बड़ा पदार्थ स्वयमेव प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसका वैभव अन्तरहित, आश्चर्यकारी और सत्यरूप होता है अर्थात् वह होकर कभी नष्ट नहीं होता है। वह यद्यपि लोक-अलोकवर्ती ज्ञेयोंको जाननेके कारण समस्त लोक-अलोकमें व्याप्त है तथापि उसका नियन्त्रण आत्मासे ही होता है, अथवा वह ज्ञान आत्माको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छोड़कर अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञान लब्धि और उपयोगके भेदसे दो प्रकारका होता है, परन्तु केवलज्ञान क्षायिक होनेसे सदा उपयोगरूप ही रहता है, इसीलिये उसे चैतन्यानुविधायी उपयोगसे तरङ्गित कहा गया है ॥१५॥

स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा समुच्छ्वसद्विश्वमिदं स्वसीमनि ।
परेण सर्वत्र सदाप्यलङ्घितस्वभावसीमा जिन नाभिभूयसे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! यद्यपि आप (स्वसीमनि) अपनी सीमाके भीतर (समुच्छ्वसद्) विद्यमान रहनेवाले (इदं विश्वं) इस समस्त विश्वका (भूयसा) बहुत भारी (स्वांशुभरेण) स्वकीय ज्ञानरूप किरणोंके समूहसे (स्पृशन्नपि) स्पर्श कर रहे हैं तथापि (सदापि) सर्वदा (अलङ्घितस्वभावसीमा) जिनकी स्वाभाविक सीमाका उलङ्घन नहीं किया जा सकता ऐसे आप (सर्वत्र) सब जगह (परेण) दूसरे द्रव्यके द्वारा (नाभिभूयसे) अभिभूत नहीं होते हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! संसारके समस्त पदार्थ अपनी अपनी स्वाभाविक सीमामें स्थिर हैं अर्थात् किसी पदार्थका द्रव्य गुण पर्याय, अन्य पदार्थके द्रव्य गुण पर्यायरूप परिणमन नहीं करता है। ऐसे पदार्थोंको आप अपने ज्ञानरूप किरणोंके समूहसे जानते हैं अर्थात् वे पदार्थ ज्ञेयरूप होकर दर्पणमें मयूरादिके प्रतिबिम्बके समान आपके ज्ञानमें यद्यपि झलकते हैं तथापि आपका ज्ञान अपनी स्वाभाविक सीमाका कभी उलङ्घन नहीं करता अर्थात् परमार्थसे आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है, झलकनेमात्रसे ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है। यही कारण है कि आप कभी भी परके द्वारा अभिभूत नही होते हैं ॥१६॥

स्वभावसीमानमनन्यबाधितां स्पृशन्ति भावाः स्वयमेव शाश्वतीम् ।
परः परस्यास्ति कृतोऽपि तेन न क्रियेति शान्ता त्वयि शुद्धबोद्धरि ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(भावाः) संसारके समस्त पदार्थ, (अनन्यबाधितां) दूसरेके द्वारा अबाधित तथा (शाश्वतीं) निरन्तर स्थिर रहनेवाली (स्वभावसीमानम्) स्वभावसम्बन्धी सीमाका (स्वयमेव) अपने आप (स्पृशन्ति) स्पर्श करते हैं अर्थात् सब पदार्थ अपने अपने स्वभावमें स्थिर रहते हैं (तेन) इसलिये (कृतः[1] अपि परस्य परः न अस्ति) यद्यपि व्यवहारनयसे पर पदार्थ, परका कर्ता भले ही हो परन्तु परमार्थसे पर, पर पदार्थका कर्म नहीं है अर्थात् एक पदार्थ दूसरेका कर्म नहीं है। (इति) इस प्रकार (शुद्धबोद्धरि) मात्र ज्ञाता रहनेवाले (त्वयि) आपमें (क्रिया) कर्तृत्वकी भावना (शान्ता) शान्त है अर्थात् आप मात्र ज्ञाता हैं।

भावार्थ—'जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह दूसरेके द्वारा अबाधित और शाश्वतिक—नित्य होता है' इस सिद्धान्तके अनुसार संसारके सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावमें स्थिर रहते हैं। कोई किसीका कर्ता बनकर उसे उसके स्वभावसे च्युत नहीं कर सकता। यही कारण है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं है। निश्चयनयसे कर्तृकर्मभाव एक ही द्रव्यमें बनता है दो द्रव्योंमें नहीं, क्योंकि व्याप्यव्यापकभाव एक ही द्रव्यमें हो सकता है, इसलिये

---

१. करोतीति कृत् कर्तुः तस्य इत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारनयकी अपेक्षा कोई किसीका कर्ता भले ही कहा जाय परन्तु जब परमार्थ—निश्चयसे विचार किया जाता है तब अन्य, अन्यका कर्ता नहीं होता है। यद्यपि जीव परमार्थसे परका कर्ता नहीं है तथापि मोहजन्य अज्ञानभावसे वह अपनेको परका कर्ता मानता है और कर्तृत्व-जन्य इष्ट अनिष्ट बुद्धिका पात्र होता हुआ व्यर्थ ही अहंकार तथा ममकार करता है, परन्तु आप शुद्धबोद्धा हो—मात्र ज्ञाता द्रष्टा हो अतः आपमें क्रिया स्वयमेव शान्त हो गई है। मोहके निकल जानेसे आप कर्तृत्वकी भावनासे निवृत्त हो गये ॥१७॥

अकर्तृ विज्ञातृ तवेदमद्भुतस्फुटप्रकाशं सततोदितं महः ।
न जात्वपि प्रस्खलति स्वशक्तिभिर्भरेण संधारितमात्मनात्मनि ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(अकर्तृ विज्ञातृ) जो कर्ता नहीं है मात्र ज्ञाता है (अद्भुतस्फुटप्रकाशं) जिसका प्रकाश आश्चर्यकारक तथा स्पष्टरूपसे प्रकट है, जो (सततोदितं) निरन्तर उदित रहता है तथा जो (स्वशक्तिभिः) अपनी शक्तियोंके द्वारा (भरेण) अत्यन्तरूपसे (आत्मना) अपने आपके द्वारा (आत्मनि) अपने आपमें (संधारितं) धारण किया गया है ऐसा (तव) आपका (इदम्) यह (महः) केवलज्ञानरूप तेज (जात्वपि) कभी भी (न प्रस्खलति) स्खलित नहीं होता है—नष्ट नहीं होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान संसारके किसी पदार्थका कर्ता नहीं है मात्र विज्ञाता है—उसे विशिष्टरूपसे जानता है। उसका प्रकाश त्रिभुवनको आश्चर्यमें डालनेवाला है तथा लोकालोकको अन्धकार रहित करनेके कारण अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट है। केवलज्ञान सदा उदित रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञानके समान बीच-बीचमें तिरोहित नहीं होना है तथा वह केवलज्ञान अपनी शक्तियोंके समूहसे अपने आपमें अपने आपके द्वारा धारण किया गया है। ऐसा केवलज्ञान कभी भी स्खलित नहीं होता है अर्थात् किसी पदार्थको जाननेसे विमुख नहीं रहता ॥१८॥

तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्विलीनदिक्कालविभागमेककम् ।
त्रुड(ट)त्क्रियाकारकचक्रमक्रमात् स्वभावमात्रं परितोऽपि वल्गति ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(विस्पष्टविकाशम्) जिसका विकाश अत्यन्त स्पष्ट है, (उल्लसद्) जो अत्यन्त सुशोभित है (विलीनदिक्कालविभागम्) जिसके दिशा और कालका विभाग विलीन हो चुका है (एककम्) जो अकेला रहता है (त्रुटत्क्रियाकारकचक्रम्) जिसमें क्रिया और कारकोंका समूह टूट चुका है और जो (स्वभावमात्रं) स्वभावमात्र है (इति) इस प्रकार ऐसा (तव) आपका केवलज्ञान-रूप तेज (अक्रमात्) एक साथ (परितोऽपि) सभी ओर (वल्गति) चलता है सब ओरके पदार्थोंको जानता है।

भावार्थ—यहाँ केवलज्ञानके माध्यमसे भगवान्का स्तवन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान अत्यन्त स्पष्ट है, सदा उल्लसित रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञानके समान बीच-बीचमें हीनाधिक नहीं होता है, दिशाओं और कालोंके विभागसे रहित है—वह सब दिशाओं और सब कालोंकी बातको जानता है, अकेला है, क्षायोपशमिक ज्ञान तो एक साथ दो से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकर चार तक स्थित रह सकते हैं, परन्तु केवलज्ञान सदा अकेला ही रहता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रिया तथा कर्ता-कर्म आदि कारकोंके चक्रमें उलझा रहता है, परन्तु केवलज्ञान, वीतराग-विज्ञान होनेके कारण इस चक्रसे बहिर्भूत रहता है। क्षायोपशमिक ज्ञान विभावरूप होता है, परन्तु केवलज्ञान स्वभावरूप होता है, क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती होता है, परन्तु केवलज्ञान अक्रमवर्ती है—एक साथ पदार्थोंको जानता है तथा क्षायोपशमिक ज्ञान अपने विषयक्षेत्रमें स्थित पदार्थको ही जानता है परन्तु केवलज्ञान सब ओरकी बातोंको जानता है ॥१९॥

प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते स्वभाव एवोदयते निराकुलम् ।
अपेलवोल्लासविलात्म(स)मांसलस्वशक्तिसम्भारभृतं भवन्महः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(अपेलवोल्लासविलासमांसलस्वशक्तिसम्भारभृतं) अविरल उल्लास—अनन्त सुखके विलाससे परिपुष्ट स्वकीय शक्तियोंके समूहसे अथवा आत्मवीर्यके समूहसे धारण किया हुआ (भवन्महः) आपका तेज—केवलज्ञानरूप प्रताप (नैव प्रवर्तते) न प्रवृत्त होता है (च) और (न अतिवर्तते) न अतिवर्तन करता है, किन्तु (निराकुलं 'यथा स्यात्तथा') निराकुल रूपसे (स्वभाव एव) स्वभावमें ही (उदयते) उदित होता है—प्रकट होता है—वह आपका स्वभाव ही है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका जो केवलज्ञानरूप तेज है वह क्रम क्रमसे पदार्थोंको न जाननेके कारण प्रवर्तन नहीं करता और एक साथ सबको जान लेनेसे उससे अतिरिक्त पदार्थोंको जाननेका विकल्प ही नहीं रहता। यह अकेला ही प्रकट नहीं होता किन्तु अनन्त सुखसे परिपुष्ट अनन्त शक्तियोंके समूहके साथ प्रकट होता है। अथवा आत्मशक्ति—आत्मवीर्यके साथ प्रकट होता है। केवलदर्शन, केवलज्ञानका सहभावी है ही। इस प्रकार आपका अनन्त चतुष्टयरूप तेज स्वभावरूपमें ही उदित होता है तथा मोहका क्षय हो जानेसे वह निराकुलरूपमें उदित होता है ॥२०॥

भृतोऽपि भूयो भ्रियसे स्वधामभिः स्वतः प्रतृप्तोऽपि पुनः प्रतृप्यसि ।
असीमवृद्धोऽपि पुनर्विवर्द्धसे महिम्नि सीमैव न वा भवादृशाम् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (स्वजामभिः) आत्मतेजसे (भृतोऽपि सन्) परिपूर्ण होकर भी (भूयः) पुनः (भ्रियसे) परिपूर्ण हो रहे हैं, (स्वतः) स्वयं (प्रतृप्तोऽपि 'सन्') अत्यन्त तृप्त होकर भी (पुनः) फिरसे प्रतृप्यसि) अत्यन्त तृप्त हो रहे हैं और (असीमवृद्धोऽपि 'सन्') अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होकर भी (पुनः) फिरसे (विवर्द्धसे) अत्यन्त दृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं (वा) अथवा ठीक ही हैं क्योंकि (भवादृशाम्) आप जैसे महानुभावोंकी (महिम्नि) महिमामें (सीमा एव न) सीमा ही नहीं रहती।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जिन ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणोंसे परिपूर्ण हो रहे हैं उनसे आप सदासे ही परिपूर्ण हैं, क्योंकि कोई गुण न नवीन उत्पन्न होता है और न विनाशको प्राप्त है, परन्तु जिस प्रकार द्रव्यकी पर्याय उपजती और विनशती हैं उसो प्रकार गुणकी भी पर्याय उपजती और विनशती है। एतावता आपके जो ज्ञान दर्शन आदि गुण पहले क्षायोपशमिक पर्यायमें थे अब उनकी क्षायिक पर्याय प्रकट हुई है। क्षायोपशमिक पर्यायमें वे गुण अल्प-रूपमें विकसित

---

१. 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः न पेलवः अपेलवः अविरल इत्यर्थः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे अब क्षायिक पर्यायमें परिपूर्णरूपसे प्रकट हुए हैं। इसी अभिप्रायको लेकर यहाँ कहा गया है कि आप अपने तेजसे यद्यपि परिपूर्ण थे फिर भी इस समय अधिक परिपूर्ण हो रहे हैं, स्वयं ही सुखी थे फिर भी इस समय अधिक सुखी हो रहे हैं और पहलेसे ही असीम वृद्धिसे सहित थे फिर भी इस समय विशेषरूपसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं। परमार्थ यह है कि आपकी महिमाकी कोई सीमा ही नहीं है, वह सर्वथा सीमासे रहित है ॥२१॥

त्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्न तीक्ष्णतां मुञ्चसि देव जातुचित् ।
सदैव यत्तैक्ष्ण्यमुदेति दारुणं तदेव माहात्म्यमुशन्ति संविदः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (त्वम्) आप (आत्ममाहात्म्यनिराकुलः अपि सन्) आत्माकी महिमासे निराकुल होते हुए भी (जातुचित्) कभी (तीक्ष्णतां) तीक्षणता अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेकी शक्तिको (न मुञ्चसि) नहीं छोड़ते हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि (यत्) जो (सदैव) सदा ही (दारुणं) कठिन (तैक्ष्ण्यम्) तीक्ष्णता (उदेति) उदित होती है—प्रकट रहती है (तदेव) उसीको ज्ञानी जन (संविदः) सम्यग्ज्ञानका (माहात्म्यं) माहात्म्य (उशन्ति) चाहते हैं या कहते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! संसारी जीवका क्षायोपशमिक ज्ञान मोहसे युक्त होनेके कारण अकुलतासे परिपूर्ण रहता है, क्योंकि मोहके उदयमें अज्ञात वस्तुको जाननेकी इच्छा रहती है और विस्मृत वस्तुके भूल जानेका दुःख रहता है। क्रमवर्ती होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको जाननेकी क्षमता नहीं रखता है। इस प्रकार उसका आकुलताके साथ सदा सम्बन्ध रहता है। साथ ही मोहसहित अवस्थामें ज्ञान गुणका चरम विकास होता भी नहीं है। ज्ञान गुणमें जो तीक्ष्णता है—समस्त पदार्थोंको एक साथ जाननेकी जो शक्ति है वह मोह रहित केवलज्ञानमें ही विकसित होती है, अन्य ज्ञानोंमें नहीं। इस समय आपका ज्ञान गुण केवलज्ञानरूपमें चरम विकासको प्राप्त हुआ है, अतः उसमें अत्यधिक तीक्ष्णता सर्वग्राहिता स्वयं प्रकट हुई है। यह सर्व ग्राहिता ही केवलज्ञानकी अपूर्व महिमा है। यतः आप इस केवलज्ञानसे युक्त हैं अतः निराकुल हैं ॥२२॥

अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि त्वयि स्वयं स्फूर्जति पुष्कलौजसि ।
समक्षसंवेदनपूतचेतसां कुतस्तमःकाण्डकथैव मादृशाम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि) जिनका शान्त तेज निरन्तर उत्तेजित है—प्रकाशित है तथा (पुष्कलौजसि) जिनका ओज पुष्कल—परिपूर्ण है ऐसे (त्वयि) आपके (स्वयं) अपने आप (स्फूर्जति सति) प्रकाशमान रहते हुए (समक्षसंवेदनपूतचेतसाम्) प्रत्यक्ष स्वसंवेदन-ज्ञानसे पवित्र चित्तवाले (मादृशाम्) मुझ जैसे लोगोंके (तमःकाण्डकथा एव) अन्धकार-अज्ञान-तिमिररूप परदाकी कथा ही (कुतः) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका तेज अत्यन्त शान्त है, आपके सान्निध्यमें जन्मविरोधी जीव भी अपना वैरभाव छोड़कर शान्तिसे रहते हैं, आपका यह शान्त तेज निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। साथ ही आपका प्रताप भी लोकोत्तर है जिससे शत इन्द्र निरन्तर आपको वन्दना करते हैं। आपकी यह प्रभुता आपमें स्वयं प्रगट हुई है—आत्मपुरुषार्थसे ही आप इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। अतः आपके विद्यमान रहते हुए मुझ जैसे लोगोंको हृदयमें अज्ञानरूपी परदाकी कथा ही समाप्त हो गयी है, क्योंकि हमारा हृदय स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे पवित्र हो चुका है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानुभूतिसे समलंकृत हो चुका है, उसपर अब अज्ञानरूप परदा नहीं पड़ सकता है। जिस प्रकार तेजःपुञ्जसे समुद्भासित सूर्यके रहते हुए अन्धकारकी संभावना नहीं रहती उसी प्रकार प्रशान्त तेजसे सुशोभित और लोकोत्तर प्रभावसे परिपूर्ण आपके विद्यमान रहते हुए अज्ञानरूप अन्धकारकी संभावना नहीं है।

हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि विश्वस्पृशि साम्प्रतं मम।
अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषस्तमो दिगन्तेष्वपि नावतिष्ठते ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अखण्डदिङ्मण्डलपिण्डितत्विषः) जिनकी कान्ति समस्त दिशाओंके समूहमें व्याप्त हो रही है ऐसे आपकी (हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महोमहिम्नि) हठपूर्वक प्रकट होनेवाली चैतन्यरूप कालिकाओंसे युक्त तेजकी महिमा जब (साम्प्रतं) इस समय (विश्वस्पृशि) समस्त विश्वका स्पर्श कर रही है—समस्त लोकालोकको जान रही है तब (मम) मेरी आत्माकी बात तो दूर रही (दिगन्तेष्वपि) दिशाओंके अन्तमें भी (तमः) अन्धकार (न अवतिष्ठते) अवस्थित नहीं है—शेष नहीं रहा है।

भावार्थ—जिसका प्रचण्ड तेज समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है ऐसे सूर्यके विद्यमान रहते हुए जिसप्रकार दिग्दिगन्तमें अन्धकार शेष नहीं रहता उसी प्रकार जिनके केवलज्ञानकी ज्योति समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रही है ऐसे चैतन्य तेजकी महिमासे सुशोभित आप विश्वदर्शी के विद्यमान रहते हुए न मेरी आत्मामें अज्ञानान्धकार शेष रहा है और न समस्त दिशाओंमें भी बाकी रहा है। तात्पर्य यह है कि आपके सान्निध्यमें जिस प्रकार मेरा स्वविषयक अज्ञान दूर हो गया है उसी प्रकार पर विषयक अज्ञान भी दूर हो गया है। प्रभो! आपके प्रतापसे मुझे स्वपरका यथार्थ ज्ञान हो गया है ॥२४॥

समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान् जगद्वराकं स्खलदेकचित्कणम्।
तवानुभूतिर्भवतैव योऽथवा भवेत्तवानुग्रहबृंहितोदयः ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (भवान्) आप (समन्ततः) सब ओरसे (चिद्भरनिर्भरः) चैतन्यके भारसे परिपूर्ण है और (वराकं जगत्) वेचारा संसार अर्थात् संसारका शक्तिहीन प्राणी (स्खलदेकचित्कणम्) स्खलित होनेवाले एक चैतन्यके कणसे युक्त है—अत्यन्त अज्ञानी है, अतः (तव अनुभूतिः) आपका अनुभव आपकी महिमाका आकलन (भवतैव) आपके द्वारा ही किया जा सकता है (अथवा) अथवा (यः) जो (तव) आपके (अनुग्रहबृंहितोदयः भवेत्) अनुग्रहसे बृंहितोदय हो—बढ़े हुए अभ्युदयसे सहित हो (तेन) उसके द्वारा किया जा सकता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप विश्वदर्शी हैं, सर्वज्ञ हैं और संसारके प्राणी अत्यन्त अल्प क्षायोपशमिक ज्ञानके धारक हैं, उनमें इतनी क्षमता कहां है कि वे आपकी अनुभूति कर सकें—आपके सर्वज्ञ स्वभावको अपनी बुद्धिमें अंकित कर सकें, अतः आपकी पूर्ण प्रभुताका अनुभव आपके ही द्वारा किया जा सकता है, दूसरेके द्वारा नहीं। अथवा आपके अनुग्रहसे—आपकी ध्यानाराधनासे जिसका अभ्युदय वृद्धिको प्राप्त हुआ है जिसने स्वयं सर्वज्ञ दशा प्राप्त कर ली है उसके द्वारा किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि हे प्रभो! मुझ अल्पज्ञानीके द्वारा आपकी स्तुतिका होना संभव नहीं है ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

उपजातिवृत्तम्

(८)

अनादिरक्तस्य तवायमासीत् य एव संकीर्णरसः स्वभावः ।
मार्गावतारे हठमार्जितश्रीस्त्वया कृतः शान्तरसः स एव ॥१॥

अन्वयार्थ—(अनादिरक्तस्य) अनादि कालसे रागी अवस्थाको प्राप्त हुए (तव) आपका (य एव अयम्) जो यह (संकीर्णरसः) नानारसोंसे संकीर्ण (स्वभावः) स्वभाव (आसीत्) था (स एव) वही (मार्गावतारे 'सति') मोक्षमार्गमें उतरनेपर (त्वया) आपके द्वारा (हठम्) हठपूर्वक (आर्जितश्रीः) आभ्यन्तर लक्ष्मीसे युक्त (शान्तरसः कृतः) शान्तरस कर दिया गया।

भावार्थ—जैन सिद्धान्त, अनादि सिद्ध ईश्वरकी सत्ताको स्वीकृत नहीं करता है। उसकी मान्यता है कि जो अनादि कालसे कर्ममलके द्वारा आच्छादित चला आ रहा है वही अपनी साधनासे कर्ममलको दूर कर वीतराग अवस्थाको प्राप्त करता हैं। जब वह वीतराग बन जाता है तब अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे सर्वज्ञ बन जाता है। हे भगवन् ! जब आप सराग अवस्थामें थे तब आपका स्वभाव शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत इन आठ रसोंसे संकीर्ण था। जब कभी कषायोंमें मन्दता होती थी तब कुछ समयके लिये शान्तरससे भी युक्त हो जाता था। परन्तु जबसे आपने मोक्षमार्गमें अवतरण किया तबसे उस स्वभावको एक शान्त रसरूप कर लिया। पहलेकी तरह अब यह शान्तरस क्षणस्थायी और हीन नहीं है, किन्तु त्रिकालस्थायी और सब ओरसे श्रीसम्पन्न है ॥१॥

अबाधितस्तत्त्वविदा विमुक्तेरेकः कषायक्षय एव हेतुः ।
अयं कषायोपचयस्य बन्धहेतोर्विपर्यस्ततया त्वयेष्टः ॥२॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वविदा त्वया) आप तत्त्वज्ञके द्वारा (बन्धहेतोः कषायोपचयस्य) बन्धके कारण कषायसमूहके (विपर्यस्ततया) विपरीत होनेसे (अयम् एकः कषायक्षय एव) यह एक कषायका क्षय ही (विमुक्तेः) मुक्तिका (अबाधितः) निर्बाध (हेतुः) कारण (इष्टः) स्वीकृत किया गया है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप वस्तुस्वरूपके यथार्थ ज्ञाता हैं, अतः आपने कषायक्षयको ही मोक्षका कारण माना है और कषाय संचयको बन्धका कारण स्वीकृत किया है।

एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं नित्योपयुक्तश्चतुरङ्गकर्षी ।
सर्वाभियोगेन समं व्यवस्यन्नेकोऽप्यनेकः कलितः कषायैः ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(कषायान् अभिषेणयन् त्वम् एकः) कषायों पर विशुद्ध परिणामरूप सेना द्वारा आक्रमण करते हुए आप यद्यपि एक थे तथापि (नित्योपयुक्तः) आप उनसे निरन्तर जूझते रहे, (चतुरङ्गकर्षी) चारों ओरसे उन्हें खींचते रहे और (सर्वाभियोगेन) पूर्णशक्तिके (समं) साथ (व्यवस्यन्) उन्हें नष्ट करनेका उद्यम करते रहे अतः (एकोऽपि) एक होनेपर भी (कषायैः) कषायोंने आपको (अनेकः) अनेक (कलितः) समझा।

भावार्थ—जिस प्रकार चारों ओर प्रबल प्रहार करनेवाला सुभट एक होनेपर भी शत्रुओं-के द्वारा अनेक समझा जाता है उसी प्रकार चारों ओरसे कषाय शत्रुओंपर प्रहार करनेवाले आपको कषायोंने समझा था कि यह एक नहीं, किन्तु अनेक हैं। कषायके चार भेद हैं—अनन्तानु बन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। इनमेंसे मिथ्यात्वके साथ अनन्तानुबन्धीको नष्टकर आपने चतुर्थ गुणस्थानमें प्रवेश किया था। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणको नष्टकर संयम धारण करते हुए सातवें और छठवें गुणस्थानमें पदार्पण किया। तदनन्तर संज्वलनकी चौकड़ीको नष्ट करनेके लिये उसपर क्षपकश्रेणी द्वारा एक साथ आक्रमण कर दिया जिससे नवम गुणस्थानमें आपने संज्वलन क्रोध, मान और मायाको नष्ट किया। पश्चात् शेष रहे संज्वलनसम्बन्धी लोभको दशम गुणस्थानमें नष्ट कर बारहवें गुणस्थानमें पदार्पण किया। आपने कषायोंको नष्ट करनेके लिये जो अभियान किया था उसमें अपनी पूर्ण शक्ति लगा दी थी। निरन्तर उसी ओर आपका उपयोग रहता था। इस क्रियामें यद्यपि आप एक थे तथापि मानो कषायें समझती थीं कि एक व्यक्ति इतनी क्षमता नहीं रख सकता, अतः यह अनेक है ॥३॥

मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः पलायितव्याघुटितैर्मिलद्भिः।
तवाप्रकम्प्योऽपि दृढैः कषायैः स्वशक्तिसारस्तुलितः प्रघृष्य ॥४॥

अन्वयार्थ—(मुहुर्मुहुः वञ्चितचित्प्रहारैः) जिन्होंने बार-बार चैतन्यके प्रहारको वञ्चित किया है—व्यर्थ सिद्ध किया है, तथा जो (पलायितव्याघुटितैः मिलितैः) भागकर पुनः वापिस लौटकर मिले हैं—एकत्रित हुए हैं ऐसे (दृढैः कषायैः) अत्यन्त बलिष्ठ कषायोंने (तव) आपके (अप्रकम्प्योऽपि) कम्पन रहित—सुदृढ (स्वशक्तिसारः) स्वकीय शक्तिके सारको (प्रघृष्य) घिस घिस कर (तुलितः) तोला है ॥४॥

भावार्थ—हे भगवन्! उपशम श्रेणिमें प्रवेशकर आपने अपने चैतन्यशस्त्रसे कषायरूपी शत्रुओं पर प्रहार किया तो नहीं, परन्तु वे अन्तर्मुहूर्तवाद फिरसे सचेत हो गये। इस प्रकार कितनी ही बार वे भागे और लौटकर पुनः वापिस मिले। उन कषायोंने आपकी अकम्प्य शक्तिको जीतनेका पुरजोर प्रयत्न किया।

प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं लब्ध्वान्तरं सम्यगविक्लवेन।
त्वयाथ तेषां विहितः प्रहारः प्रसह्य सर्वंकष एक एव ॥५॥

अन्वयार्थ—(अथ) इसके बाद (प्रतिक्षणं स्ववीर्यं संस्पृशता) जो प्रत्येक क्षण अपने बलका स्पर्श कर रहे थे—आत्मशक्तिकी ओर जिनकी दृष्टि थी तथा जो (अविक्लवेन) अत्यन्त निर्भीक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे ऐसे (त्वया) आपने (सम्यक्) अच्छी तरह (अन्तरं लब्ध्वा) अवकाश पाकर (तेषां) उन कषायों-के ऊपर (प्रसह्य) बलपूर्वक (सर्वंकषः) समूल नाश करनेवाला (एक एव प्रहारः विहितः) एक ही प्रहार किया।

भावार्थ—हे भगवन् ! उपशमश्रेणोमें कषायरूपी शत्रुओंसे पराजय प्राप्तकर आपने अपने अनन्त बलकी ओर ध्यान देते हुए विचार किया कि मैं अनन्त बलका स्वामी होकर भी इनसे परास्त कैसे हो गया ? ज्योंही आपने अनन्त बलकी ओर लक्ष्य किया त्योंही आपका सब भय दूर हो गया और आपने अच्छी तरह अवसर पाकर उन कषायों पर एक ही ऐसा प्रहार किया कि उनका समूल नाश हो गया। क्षपकश्रेणीकी महिमा ही अद्वितीय है ॥५॥

साक्षात् कषायक्षपणक्षणेऽपि त्वमुद्वहन् केवलबोधलक्ष्मीम् ।
विश्वैकभोक्ता जिनपौरुषस्य प्रभावमाविष्कृतवान् परेषाम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(कषायक्षपणक्षणेऽपि) कषायोंका क्षय करते ही जिन्होंने (साक्षात्) प्रत्यक्षरूपसे (केवललक्ष्मीं) केवललक्ष्मीके साथ (उद्वहन्) विवाह किया था—जो केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे युक्त हुए थे तथा जो (विश्वैकभोक्ता) समस्त पदार्थोंके अद्वितीय भोक्ता—ज्ञाता थे ऐसे (त्वम्) आपने (परेषाम्) अन्य लोगोंके सामने (जिनपौरुषस्य) अरहन्तके पुरुषार्थका (प्रभावं) प्रभाव (आविष्कृतवान्) प्रकट किया था।

भावार्थ—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानके अन्तमें कषायोंका समूल क्षय होते ही यह जीव क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है और वहाँ शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके प्रभावसे शेष तीन घातिया कर्मोंका क्षयकर तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है। वहाँ लोकालोकावभासी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी उसे प्राप्त होती है। वह नव केवल लब्धियोंका स्वामी हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका ज्ञाता होनेसे विश्वका एक—अद्वितीय भोक्ता कहलाने लगता है। इस प्रकार हे भगवन् ! संसारके अन्य तापसियोंके सामने आपने अरहन्तके पौरुषका प्रभाव प्रकट किया था—उन्हें बताया कि अरहन्तके आत्मपौरुषका यह फल है ॥६॥

आयुःस्थितिं स्वामवशोपभोग्यां ज्ञानैकपुञ्जोऽप्यनुवर्तमानः ।
प्रदर्शयन् वर्त्म शिवस्य साक्षाद्धिताय विश्वस्य चकर्थ तीर्थम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानैकपुञ्जः अपि 'सन्') ज्ञानके अद्वितीय पुञ्ज होते हुए भी जो (अवशोपभोग्यां) परवश भोगनेयोग्य (स्वाम्) अपनी (आयुःस्थितिं) आयुकी स्थितिका (अनुवर्तमानः) अनुवर्तन कर रहे थे—उसकी समाप्तिकी प्रतीक्षा कर रहे थे तथा (विश्वस्य) संसारके (हिताय) हितके लिये (शिवस्य) मोक्षका (साक्षात् वर्त्म) साक्षात् मार्ग (प्रदर्शयन्) दिखला रहे थे ऐसे आपने (तीर्थं चकर्थ) धर्मतीर्थको प्रवृत्त किया था।

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थानमें अरहन्त भगवान् यद्यपि ज्ञानके पुञ्ज हो जाते हैं और जीवन्मुक्त कहलाने लगते हैं तथापि आयु कर्मकी स्थितिके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते हैं। संसारमें रहना यद्यपि उन्हें इष्ट नहीं है तथापि आयुकर्मकी पराधीनतासे उन्हें रहना पड़ता है। तेरहवें गुणस्थानका काल एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर देशोन पूर्वकोटि वर्षप्रमाण है उतने समय तक उन्हें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परवश होकर इसी मनुष्य पर्यायमें रहना पड़ता है। इस समय वे संसारस्थ जीवोंके हितके लिये मोक्षका साक्षात् मार्ग—भेदाभेद रत्नत्रय दिखलाते हुए धर्मतीर्थंकी प्रवृत्ति करते हैं। इसी कारण तीर्थंकर कहलाते हैं ॥७॥

तीर्थाद्भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो मिथो द्वयेषामिति हेतुभावः।
अनादिसन्तानकृतावतारश्चकास्ति बीजाङ्कुरवत्किलायम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (भवन्तः) आप (तीर्थात्) तीर्थसे और (तत्) वह तीर्थ (भवद्भ्यः) आपसे उत्पन्न होता है। (इसी) इस प्रकार (द्वयेषां) दोनोंका (मिथः) परस्परमें (हेतुभावः) कारणकार्य-भाव है और (किल) वास्तवमें (अयम्) यह (बीजाङ्कुरवत्) बीज और अंकुरके समान (अनादिसन्तानकृतावतारः) अनादि सन्ततिसे अवतरण करता हुआ (चकास्ति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—'तरति संसारसागरं भव्यो येन तत्तीर्थं' जिसके द्वारा भव्य जीव संसार सागरको पार कर ले उसे तीर्थ कहते हैं। यह तीर्थ भेदाभेद रत्नत्रयरूप है, क्योंकि उसीके द्वारा भव्य जीव संसार सागरसे पार होते हैं। इस भेदाभेद रत्नत्रयरूप तीर्थके प्रभावसे ही यह जीव तीर्थंकर बनता है और तीर्थंकरसे ही तीर्थकी प्रवृत्ति होती है इस प्रकार दोनोंमें बीज और अंकुरके समान अनादिकालसे परस्पर कार्य-कारणभाव चला आ रहा है ॥८॥

समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं वक्तुं समस्तं वचसामशक्तेः।
प्रत्यक्षद्रष्ट्राऽखिलभावपुञ्जादनन्तभागो गदितस्त्वयैकः ॥९॥

अन्वयार्थ—(समस्तं विश्वं अन्तः स्पृशतापि) जो समस्त विश्वका अन्तरात्मामें स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् जिनकी अन्तरात्मामें समस्त विश्व प्रतिभासित हो रहा है और जो (प्रत्यक्षद्रष्ट्रा) समस्त विश्वको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं ऐसे होनेपर भी (त्वया) आपके द्वारा (समस्तं विश्वं वक्तुं वचसामशक्तेः) समस्त विश्वको कहनेके लिये वचनोंकी शक्ति न होनेके कारण (अखिलभावपुञ्जात्) समस्त पदार्थोंके समूहमेंसे (एकः अनन्तभागः) एक अनन्तवां भाग (गदितः) कहा गया है।

भावार्थ—संसारमें पदार्थ अनन्त हैं, परन्तु शब्द संख्यात ही हैं। केवलज्ञानमें अनन्त पदार्थ प्रतिभासित तो होते हैं, परन्तु शब्दोंकी संख्या सीमित होनेसे वे शब्दोंके द्वारा कहे नहीं जा सकते। यही कारण है कि हे भगवन्! आप समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्ष द्रष्टा होकर भी शब्दोंकी अशक्तिके कारण वे कहे नहीं जा सकते, इसलिये आपने समस्त पदार्थोंका अनन्तवां भाग ही कहा है ॥९॥

भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तैः।
तवैव वक्त्रादवधारितोऽयं सुरासुरैर्द्वयात्मकवस्तुवादः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(महाद्भुतस्तम्भिततुङ्गचित्तैः) महान् आश्चर्यकारक अतिशयोंसे जिनके उन्नत चित्त चकित हो गये हैं ऐसे (सुरासुरैः) देव और दानवोंने (अनादिदृढप्ररूढं) अनादि कालसे मजबूत जमे हुए (तमो भिन्दन्) अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला (अयं) यह (द्वयात्मकवस्तुवादः) विधि-निषेधात्मक वस्तुवाद—पदार्थके अस्ति-नास्ति धर्मको निरूपण करनेवाला स्याद्वाद (तवैव) आपके ही (वक्त्रात्) मुखसे (अवधारितः) निश्चित किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध इन दो धर्मोंसे सहित है इसीलिये उसमें नित्य अनित्य, एक अनेक, अस्ति नास्ति, भेद अभेद, तत् अतत् आदि अनेक धर्मोंका समावेश है। इन परस्पर विरोधी धर्मोंका समावेश स्याद्वादसे ही होता है। यह स्याद्वाद, इस जीवके अनादिकालसे जमे हुए अज्ञानतिमिरको नष्ट कर देता है। हे भगवन्! इस स्याद्वादका उपदेश आपके ही मुखारबिन्दसे हुआ है। और मनुष्योंकी तो बात ही क्या है देव दानवोंने भी उसे निर्णीत कर हृदयमें धारण किया है ॥१०॥

वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः।
श्रुत्वापि कैश्चित् समुदायबोधशुद्धाशयैरेव धृतस्तदर्थः ॥११॥

अन्वयार्थ—(कृतचित्रमार्गाः) नाना नयोंकी अपेक्षा जिन्होंने वस्तुनिरूपणकी विविध पद्धतियोंको प्रकट किया है और जो (प्रत्येकतीर्थप्रतिपत्तिकर्त्रीः) प्रत्येक तीर्थ—एक एक धर्मका ज्ञान करानेवाली हैं ऐसी (ते) आपको (वाग्विप्रुषः) वाणीरूप बूंदों—अंशोंको (श्रुत्वापि) सुनकर भी सब लोग उसके अर्थको धारण नहीं कर पाते, किन्तु (समुदायबोधशुद्धाशयैः) परस्पर विरोधी धर्मसमूहके ज्ञानसे जिनका आशय शुद्ध हो गया है ऐसे (कैश्चिद एव) कुछ लोगोंके द्वारा ही (तदर्थः) उसका अर्थ (धृतः) धारण किया गया है।

भावार्थ—ऊपर कहा गया था कि हे भगवन्! आपने जितने पदार्थोंको जाना है उनका अनन्तवां भाग ही शब्दोंके द्वारा कहा जाता है, क्योंकि शब्दोंमें समस्त पदार्थोंके कहनेकी सामर्थ्य नहीं है। यहाँ यह कहा जा रहा है, कि हे भगवन्! आपने जितना कुछ कहा था उसकी धारणा सब लोग नहीं कर सके, किन्तु परस्पर विरोधी धर्मसमूहके ज्ञानसे जिनका हृदय शुद्ध है—एकान्तवादके विषसे दूषित नहीं है ऐसे कुछ ही लोग उसे ग्रहण कर सके हैं ॥११॥

विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्म।
तदेकदेशेऽपि विशीर्णसाराः स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(विपक्षसापेक्षतया) विरोधी धर्मसे सापेक्ष होनेके कारण ही (ते शब्दाः) आपके शब्द (विरुद्धधर्म) विरुद्ध धर्मोंसे युक्त (वस्तु) वस्तुका (स्पृशन्ति) स्पर्श करते हैं, क्योंकि (स्याद्वादमुद्राविकलाः) स्याद्वादकी मुद्रासे रहित (शब्दाः) शब्द (तदेकदेशेऽपि) वस्तुके एक देशमें ही (विशीर्णसाराः 'सन्तः', शक्तिके बिखर जानेसे (स्खलन्ति) स्खलित हो जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! संसारके प्रत्येक पदार्थ परस्परविरोधी सत् असत्, तत् अतत् आदि धर्मोंसे युक्त हैं। उन्हें वे ही शब्द कह सकते हैं जो कि परस्पर विरोधी धर्मसे सापेक्ष होते हैं अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वस्तुके सत् और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा असत् कहते हैं। यह विशेषता आपके ही शब्दोंमें है, क्योंकि वे ही स्याद्वाद मुद्रासे चिह्नित हैं। इसके विपरीत जो एकान्तवादसे दूषित हैं वे वस्तुके एक देशका निरूपण करनेमें ही अपनी सारी शक्ति समाप्त कर देते हैं, अतः वस्तुके द्वितीय देश—अन्य धर्मको कहनेके लिये स्खलित हो जाते हैं—समर्थ नहीं हो पाते हैं ॥१२॥

इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः।
जगत्समक्षं सहसैव जहुः स्वभावसीमानमथान्यथार्थाः ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—('सत्' इति इयं उक्तिः) 'सत्' इस प्रकारका जो यह कथन है वह (सद्व्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः) असत्से युक्त सत्प्रवृत्तियोंकी (अपेक्षते) अपेक्षा रखता है अर्थात् किसी पदार्थको सत्रूप कहना उसके असत्रूप कहनेकी अपेक्षा रखता है। (अथ) यदि (अन्यथा) इसके विपरीत माना जावे तो (अर्थाः) संसारके पदार्थ (जगत्समक्षां) समस्त संसार जिसका प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है ऐसी (स्वभावसीमानम्) अपने स्वभावकी सीमाको (सहसैव) शीघ्र ही (जह्युः) छोड़ दें।

भावार्थ—'पदार्थ सत् है' यह कथन 'पदार्थ असत् है' इस विरोधी कथनकी अपेक्षा रखता है अर्थात् एक ही पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत्रूप है और पर चतुष्टयकी अपेक्षा असत्रूप है। संसारके पदार्थोंका ऐसा ही स्वभाव जगत्के प्रत्यक्ष हो रहा है—सबके अनुभवमें आ रहा है। यदि इसके विपरीत पदार्थको सत् अथवा असत्मेंसे एकरूप ही माना जावे तो सब पदार्थ अपने स्वभावकी सीमाको छोड़ देंगे और स्वभावसीमाके छूटनेसे स्वभाववान् पदार्थका नाश भी स्वयं सिद्ध हो जावेगा ॥१३॥

सर्वं सदित्यैक्यमुदाहरन्ती कृत्वापि सद् भेदमसंहरन्ती।
न सत्तया पीयत एव विश्वं पीयेत सत्तैव यदीश तेन ॥१४॥

अन्वयार्थ—(सर्वं सद्) 'समस्त पदार्थ सत्रूप है' इस प्रकार सबको (सत् कृत्वापि) सत्रूप करके भी (ऐक्यं उदाहरन्ती) एकत्वका निरूपण करनेवाली उक्ति (भेदं असंहरन्ती) भेदका निराकरण नहीं करती है। अर्थात् जो उक्ति 'सत् है' इस प्रकार कह कर समस्त पदार्थोंमें एकता स्थापित करती है, वह भेदका निराकरण नहीं करती है। किसी अपेक्षा भेदको भी स्वीकृत करती है। (यत्) क्योंकि (ईश) हे स्वामिन्! (विश्वं नैव पीयते) समस्त विश्व नहीं पिया जाता, किन्तु (तेन) विश्व के द्वारा (सत्तैव) सत्ता ही (पीयेत) पियी जाती है।

भावार्थ—सत्ता गुण है और विश्व गुणी है। सत्ता एक गुणरूप है, परन्तु विश्व अनेक गुणों का समूह है, अतः जब सत्ता गुणकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब एकरूपताका अनुभव होता है, परन्तु जब विश्वकी अपेक्षा विचार होता है तब अनेक रूपताका बोध होता है। तात्पर्य यह है कि एकत्व और अनेकत्व—दोनों ही परस्पर सापेक्ष है ॥१४॥

सत्प्रत्ययः संस्पृशतीश विश्वं तथापि तत्रैकतमः स आत्मा।
असन् स सन्नन्यतयाभिधत्ते द्वैतस्य नित्यप्रविजृम्भितत्वम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (सत्प्रयय:) 'यह सत् है' इस प्रकारका प्रत्यय यद्यपि (विश्वं) विश्वका (संस्पृशति) सम्यक् प्रकारसे स्पर्श करता है—उसका बोध कराता है (तथापि) तो भी (तत्र) उस विश्वमें (स आत्मा) वह आत्मा (एकतमः) एक ही है अर्थात् आत्मा समस्त विश्वका एक अंश ही है। इस प्रकार (असन्) असद्रूप और (सन्) सद्रूप वह आत्मा (अन्यतया) अन्यरूपताके कारण (द्वैतस्य) द्वैतके (नित्यविजृम्भितत्वं) नित्यविस्तारको (अभिधत्ते) कहता है।

भावार्थ—सत्सामान्यकी अपेक्षा यद्यपि विश्वको एक कहा जाता है, तथापि जो विश्व है वही आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लोक अलोकके समुदायरूप विश्वमें आत्मा एक अंश रूप ही है अर्थात् आत्मा है पर वह विश्व नहीं है। यदि आत्माको ही विश्व मान लिया जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो उसमें रहनेवाले पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और कालका अभाव सिद्ध होता है जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होनेके कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। फलस्परूप आत्मा स्वरूपकी अपेक्षा 'सत्'—सद्रूप है और विश्वकी अपेक्षा 'असत्' असद्रूप है। इस प्रकार सत् और असत् इन दो विरोधी धर्मोंसे युक्त होनेके कारण आत्मा, यह सूचित करता है कि विश्वमें एकरूपता ही नहीं है साथमें अनेकरूपता भी है ॥१५॥

पिवन्नपि व्याप्य हठेन विश्वं स्खलन् किलायं स्वपरात्मसीम्नि।
विश्वस्य नानात्वमनादिसिद्धं कथं भुवि ज्ञानघनः प्रमार्ष्टि ॥१६॥

अन्वयार्थं—(किल) निश्चयसे (हठेन) हठपूर्वक (विश्वं पिवन्नपि) समस्त विश्वको जानता हुआ भी (स्वपरात्मसीम्नि) निज और परकी सीमामें (स्खलन्) स्खलित विभक्त होनेवाला (अयं) यह (ज्ञानघनः) ज्ञानसे परिपूर्ण आत्मा (विश्वस्य) विश्वके (अनादिसिद्धं) अनादिसिद्ध (नानात्वं) नानापनको (कथं) किस प्रकार (प्रमार्ष्टि) साफ कर सकता है—नष्ट कर सकता हैं।

भावार्थ—ज्ञानघन आत्मा, अपनी स्वच्छतासे जिस विश्वको जानता है वह उसके लिये पर ज्ञेय है। स्वपरावभासी ज्ञानसे युक्त होनेके कारण आत्मा जिस प्रकार परज्ञेयरूप विश्वको जानता है उसी प्रकार परसे भिन्न स्वको भी जानता है। इस तरह आत्मा विश्वको स्व और परके भेदसे नानारूप सिद्ध करता है। विश्वकी यह नानारूपता आज ही हो गई हो सो बात नहीं है, किन्तु अनादिसे सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि एक और अनेक ये दो विरोधी धर्म परस्परकी सापेक्षतासे ही सिद्ध होते हैं, निरपेक्षतासे नहीं ॥१६॥

सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं न चेतनाचेतनतां क्षमेत।
न संस्कृतस्यापि चिताजडस्य चित्त्वं प्रतीयेत कथञ्चनापि ॥१७

अन्वयार्थं—(सर्वम् ऐक्यं विदित्वापि) सबको एकरूप जानकर भी (चेतनाचेतनतां) चेतन तथा अचेतनरूपताको (प्रमार्ष्टुं) नष्ट करनेके लिये कोई (न क्षमेत) समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि (संस्कृतस्यापि) अच्छी तरह संस्कार—साज सजावट किये जाने पर भी (चिताजडस्य) चितापर पड़े हुए अचेतन शवमें (कथंचन) किसी भी प्रकार (चित्त्वं) चैतन्य (न प्रतीयेत) प्रतीतिमें नहीं आ सकता।

भावार्थ—माना कि एकत्वधर्म सबको विषय करता है पर इतने मात्रसे संसारमें जो चेतन और अचेतनकी नानारूपता चली आ रही है वह क्या नष्ट हो जावेगी? यदि संसारके सब पदार्थ, ऐक्यके विषय होनेमात्रसे चेतन हो जाते हैं तो चितापर पड़े हुए सुसंस्कृत शवमें चैतन्य सिद्ध किया जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सामान्यरूपसे सब पदार्थोंको एकरूप कहा जाता है तथापि उनमें चेतन और अचेतनके भेदसे अनेकरूपता भी रहती है। एक और अनेक ये दोनों विरुद्ध धर्म परस्पर सापेक्ष ही हैं, निरपेक्ष नहीं ॥१७॥

प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य विश्वं सममस्खलन्ती ॥१८॥

अन्वयार्थ—जो (अनेकशः) अनेकों बार (विश्वं) विश्वको (शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य) अच्छी तरह शब्द मार्गका विषय बनाकर (समम्) एक साथ कथन करनेमें (अस्खलन्ती) नहीं चूकती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी (ते) आपकी (इयम्) यह (निष्ठुरा) कठोर (स्याद्वादमुद्रा) स्याद्वादरूप मुद्रा (हठकारतः) हठपूर्वक (प्रत्यक्षं) सामने (उत्तिष्ठति) उठकर खड़ी होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी स्याद्वादमुद्रा यद्यपि कठोर है तथापि प्रत्येक विचारकके सामने वह आकर खड़ी होती है और प्रत्येक विचारक उसे नतमस्तक होकर स्वीकृत करता है। संसारके समस्त पदार्थ परस्पर विरोधी दो धर्मोंसे युक्त हैं, इनमेंसे निरपेक्ष होकर एक धर्मको ग्रहण करनेसे दूसरे धर्मका अभाव सिद्ध होता है। परन्तु जो धर्म उस पदार्थमें विद्यमान है उसका अभाव कैसे स्वीकृत किया जा सकता है ? ऊपर एकरूपता और अनेकरूपताके कई दृष्टान्त देकर पदार्थमें दोनों विरोधी धर्मोंको सिद्ध किया गया है। स्याद्वादकी पद्धति सापेक्षवादके सिद्धान्त से एक ही पदार्थमें उन विरोधी धर्मोंको सिद्ध करती चलती है, इस दिशामें वह कहीं स्खलित नहीं होती है ॥१८॥

अवस्थितिः सा तब देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या ।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हि तावन्महदन्तरालम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (विरुद्धधर्मेषु) विरुद्ध धर्मोंमें (या) जो (अनवस्थितिः) एकके होकर नहीं रहना है (सा) वह (तव) आपकी (दृष्टेः) दृष्टिकी (अवस्थितिः) स्थिरता है—आपके सिद्धान्तकी स्थिरता है (यदि अत्र) यदि इस विषयमें (गिरः स्खलन्ति) वचन स्खलित होते हैं तो (स्खलन्तु) स्खलित हों, (हि) क्योंकि दोनों—आप तथा अन्यकी दृष्टिमें (महान् अन्तरालं) बहुत भारी अन्तर—भेद (तावत्) सम्पूर्णरूपसे (जातं) सिद्ध हो गया।

भावार्थ—हे भगवन् ! वस्तुमें रहनेवाले नित्य अनित्य, एक अनेक आदि विरोधी धर्मोंमेंसे एक पर स्थिर हो जाना—एकान्तरूपसे एक ही धर्मको स्वीकृत करना और दूसरे धर्मका निषेध करना यह आपको इष्ट नहीं है, क्योंकि विवक्षावश आप दोनों धर्मोंको स्वीकृत करते हैं। यही आपके स्याद्वाद सिद्धान्तकी विशेषता है। एक ही वस्तुमें दो विरोधी धर्मोंको कहनेके लिये यदि शब्दोंकी सामर्थ्य नहीं है तो न रहे पर इतने मात्रसे वस्तुका वस्तुत्व नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु अवक्तव्य भी है। तात्पर्य यह है कि आपके स्याद्वाद और अन्य लोगोंके एकान्तवादमें महान् अन्तर है ॥१९॥

गिरां बलाधानविधानहेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव ।
तदङ्किवास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (गिरां बलाधानविधानहेतोः) शब्दोंमें दृढता स्थापित करनेके लिये (त्वमेव) आपने ही (स्याद्वादमुद्राम्) स्याद्वादमुद्राको (असृजः) रचा है—इस सिद्धान्तका आविर्भाव किया है। इसलिये (तदङ्किताः) उस स्याद्वादमुद्रासे चिह्नित (ते) वे शब्द (अस्खलन्तः) स्खलित न होते हुए (स्वयं) अपने आप (वस्तु) वस्तुको (तदतत्स्वभावं) तत् अतत् स्वभावसे युक्त (वदन्ति) कहते हैं।

हे भगवन् ! हुण्डावसर्पिणीके दोषसे इस समय जो अनेक दर्शन—मत-मतान्तर प्रचलित हैं उनमें स्याद्वाद सिद्धान्तको आपने ही आविष्कृत किया है। स्याद्वाद सिद्धान्तको स्वीकृत कर वक्ताके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो वचन निकलते हैं वे अत्यन्त सबल—युक्तियुक्त होते हैं तथा अजेय रहते हैं। उस स्याद्वाद-सिद्धान्तसे युक्त वचन ही वस्तुको तत् अतत्, विधि निषेधरूप निरूपित करते हैं ॥२०॥

परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेदफलप्रयासः।
आयासयन्नप्यपरान् परेषामुपासनीयस्त्वमिहैक आसीः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(तुल्यम्) समानरूपसे (परात्मनोः) निज और परके (अनादिदुःखप्रबन्धनिर्भेद-फलप्रयासः) अनादिकालीन दुःखकी सन्ततिका भेदन करना ही जिनके प्रयासका फल था ऐसे (एकः त्वम्) एक आप ही (इह) जगत्में (अपरान्) अन्य दार्शनिकोंको (आयासयन् अपि) आयास—खेद युक्त करते हुए भी (परेषां) दूसरोंके (उपासनीयः) उपासना करनेके योग्य (आसीः) रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जितना भी प्रयास रहा है वह समानरूपसे स्वपरके दुःखको दूर करनेके लिये रहा है। आपका निरन्तर यही अभिप्राय रहा है कि संसारके भीतर लोग अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होकर दुःखनिवृत्तिके मार्गको नहीं पा रहे हैं मैं इन्हें किस प्रकार मार्गदर्शन करूँ। इसी अभिप्रायसे प्रेरित हो आपने अपायविचय नामक धर्मध्यानमें लीन हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया था और उसीके उदय कालमें आपने दिव्यध्वनिके द्वारा अज्ञानी जनोंको दुःखनिवृत्ति—दुःखसे दूर होनेका मार्ग बतलाया है। इस प्रयासमें आपको अन्य एकान्त-वादियोंकी मान्यताका निरसन करना पड़ता है और इससे उन्हें दुःख भी हो सकता है, परन्तु आपका अभिप्राय उन्हें सन्मार्ग दिखानेका ही रहा है। आप समानरूप स्वपरका दुःख दूर करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे हैं। इस कारण एक आपही ऐसे व्यक्ति हैं जो दूसरोंके द्वारा उपास-नीय हैं ॥२१॥

व्यापारयद् दुःखविनोदनार्थमारोपयद् दुःखभरं प्रसह्य।
परैरधृष्यं जिन शासनं ते दुःखस्य मूलान्यपि कृन्ततीह ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! जो (दुःखविनोदनार्थं) दुःखको दूर करनेके लिये (व्यापार-यत्) चेष्टा करता है और (प्रसह्य) हठपूर्वक (दुःखभरं) दुःखके भारको (आरोपयत्) प्राप्त कराता है अर्थात् तपश्चरणादि कष्ट सहन करनेका उपदेश देता है ऐसा (परैः अधृष्यं) दूसरोंके द्वारा (अधृष्यं) अधर्षणीय—अजेय (ते) आपका (शासनं) शासन—धर्म (इह) इस जगत्में (दुःखस्य) दुःखके (मूलानि अपि) मूल कारणोंको भी अथवा जड़ोंको भी (कृन्तति) छेदता है—नष्ट करता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके शासनमें तपश्चरण तथा परीषह सहन करने आदिका उप-देश दिया गया है और इस सबके करनेसे तत्काल दुःखका अनुभव भी देखनेमें आता है, परन्तु परमार्थसे आपका शासन दुःख दूर करनेके लिये ही निरन्तर प्रयत्न करता है, वह संसारके क्षणिक सुखोंसे दूरकर जीवोंको स्थायी आत्मसुख प्राप्त करनेका उपदेश देता है। दार्शनिक दृष्टिसे भी आपका शासन, दूसरे दर्शनकारोंके द्वारा अधर्षणीय है—अखण्डनीय है। इस प्रकार आपका शासन दुःखकी जड़ोंपर प्रहार करता है। दुःखकी जड़ें मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। आपके दर्शनमें सर्वप्रथम इन्हें ही नष्ट करनेका उपदेश दिया गया है ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समामृतस्वादविदां मुनीनामुद्यन्महादुःखभरोऽपि सौख्यम् ।
पयोरसज्ञस्य यथा वृषारेर्हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र ॥२३॥

अन्वयार्थ—(उद्यन्) प्रकट होता हुआ (महादुःखभरोऽपि) बहुत भारी दुःखका समूह भी (समामृतस्वादविदां) समतारूप अमृतके स्वादको जाननेवाले (मुनीनां) मुनियोंके लिये (सौख्यम्) सुखरूप होता है। (यथा) जिस प्रकार (अत्र) इस लोकमें (हठाग्नितप्तं) हठपूर्वक अग्निसे संतप्त (पयः) दूधको (पिबतः) पीनेवाले (पयोरसज्ञस्य) दूधके रसके ज्ञाता (वृषारेः) मार्जारको महादुःखका भार भी सुखरूप मालूम होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार इस जगत्में दुग्धरसके ज्ञाता बिलावको अग्निसे संतप्त दूधको पीते समय उष्णताजनित दुःख होता है, परन्तु वह दुग्धरसके स्वादके सामने उस दुःखको नगण्य समझता है। इसी प्रकार बाह्य तपश्चरण करते हुए मुनियोंको जो शारीरिक कष्ट होता है उसे वे समतासुधाके स्वादके सामने नगण्य समझते हैं ॥२३॥

अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः ।
निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः कोऽन्यो भवेदाप्ततरो भवत्तः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः) जिनकी मूर्ति—आत्मा विशाल केवलज्ञानसे सघन—परिपूर्ण है, जो (समग्रवीर्यातिशयोपपन्नः) सम्पूर्ण वीर्यके अतिशयसे सहित हैं तथा जिन्होंने (निःशेषिताशेषकलङ्कपङ्कः) समस्त कलङ्करूपी कर्दमको नष्ट कर दिया है ऐसा (भवत्तः) आपसे (अन्यः) भिन्न-दूसरा (आप्ततरः) श्रेष्ठ आप्त (को भवेत्) कौन हो सकता है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण हैं, अनन्त वीर्यसे सम्पन्न हैं और द्रव्य-कर्म तथा भावकर्मरूप समस्त कलङ्कको आपने बिलकुल समाप्त कर दिया है, अतः आप ही सबसे श्रेष्ठ आप्त हैं, आपसे बढ़कर दूसरा कौन आप्त हो सकता है ? ॥२४॥

यतस्तवेदं प्रतिभाति शब्दब्रह्मैकचिन्मण्डपकोणचुम्बि ।
ततः परं ब्रह्म भवानिहैको यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कारण (इदं) यह (शब्दब्रह्म) शब्दरूप ब्रह्म (तव) आपके (एक-चिन्मण्डपकोणचुम्बि) अद्वितीय केवलज्ञानरूप मण्डपके एक कोनेका चुम्बन करता हुआ (प्रतिभाति) जान पड़ता है (ततः) उस कारण (इह) इस लोकमें (एकः) एक (भवान्) आप ही वह (परंब्रह्म) परम ब्रह्म हैं, (यस्मात्) जिससे बड़ा बढ़कर (अपरं किञ्चित्) दूसरा कोई (परं) बड़ा (न अस्ति) नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! लोकमें जिस शब्द ब्रह्मको सर्वत्र व्यापक कहा जाता है वह शब्द ब्रह्म आपके केवलज्ञानरूपी मण्डपके एक कोनेमें निलीन है अर्थात् अनन्त केवलज्ञानकी अपेक्षा शब्दब्रह्मका विषय अत्यन्त अल्प है। इससे यह सिद्ध होता है कि संसारमें एक आप ही परं ब्रह्म हैं, क्योंकि ज्ञानकी अपेक्षा आप ही लोक अलोकमें व्याप्त हैं। आपसे बढ़कर कोई दूसरा बड़ा नहीं ॥२५॥

---

१. वृषस्य मूषकस्यारिर्वृषारिः मार्जार इत्यर्थः 'वृषो मूषकधर्मयोः' इति विश्वलोचनः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5542

ॐ

उपजातवृत्तम्

मार्गावतारे शमसंभृतात्मा स्वयं प्रकाशं स्वमितः परैस्त्वम् ।
सुनिष्ठुरष्ठयूतकुतर्कवाक्यैः क्षिप्तोऽपि नासीः प्रतिपत्तिमन्दः ॥१॥

अन्वयार्थ—(मार्गावतारे) मोक्षमार्गमें अवतीर्ण होते ही (शमसंभृतात्मा) जिनकी आत्मा शम–शान्तिभावसे परिपूर्ण थी तथा जो (स्वयं) अपने आप (स्वं प्रकाशं) आत्मप्रकाशको (इतः) प्राप्त थे ऐसे (त्वम्) आप (सुनिष्ठुरष्ठयूतकुतर्कवाक्यैः) अत्यन्त कर्कशभावसे कुतर्कपूर्ण वाक्योंको प्रकट करनेवाले (परैः) अन्यमतावलम्बियोंके द्वारा (क्षिप्तोऽपि) निन्दित होनेपर भी (प्रतिपत्तिमन्दः) स्वरूपसाधना अथवा यथार्थ बोधमें शिथिल (न आसीः) नहीं हुए थे।

भावार्थ—हे भगवन् ! मोक्षमार्गमें प्रवेश करते ही आपकी आत्मा शान्तिभावसे परिपूर्ण हो गई थी तथा परकी प्रेरणाके बिना आप स्वतः स्वभावसे आत्मप्रकाशको प्राप्त हो गये थे। उसीका यह फल था कि कुतर्कपूर्ण कर्कश वचन बोलनेवाले अन्य प्रवादी यद्यपि आपकी निन्दा भी करते थे तथापि आप स्वरूप साधना अथवा यथार्थ बोधमें शिथिल नहीं हुए थे ॥१॥

अवाप्तभूतार्थविचारसारो निष्कम्पमेकत्वकृतप्रतिज्ञः ।
निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गो दीनानुकम्पाविषयस्त्वमाशीः(सीः) ॥२॥

अन्वयार्थ—(अवाप्तभूतार्थविचारसारः) जिन्होंने परमार्थका श्रेष्ठ विचार प्राप्त किया था (निष्कम्पम् एकत्वकृतप्रतिज्ञः) जिन्होंने निर्भयरूपसे एकाकी रहनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा (निःशेषितान्तर्बहिरङ्गसङ्गः) समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका जिन्होंने त्याग किया था ऐसे (त्वम्) आप (दीनानुकम्पाविषयः) दीनजनों पर दया करनेवाले (आसीः) हुए थे।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने दीक्षा ग्रहण करनेका विचार करते ही समस्त अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहका त्याग कर दिया, आप अपने विचारोंमें निष्कम्प रहे तथा दीन दुखी जीवोंके ऊपर आपके हृदयमें करुणाका भाव उमड़ पड़ा। अर्थात् उन्मार्गगामी लोगोंको सद्धर्मका उपदेश देकर सन्मार्ग पर लगाया ॥२॥

संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः सूत्रेण षड्जीवनिकां निकामम् ।
अपक्षपातस्य बलादिवासीत् समस्तभूतेष्वपि पक्षपातः ॥३॥

अन्वयार्थ—(सूत्रेण) आगमके अनुसार (अस्खलितार्थदृष्टेः) जिनकी अर्थदृष्टि—पदार्थोंका स्वरूप विचार करनेकी बुद्धि स्खलित नहीं हुई थी, जो (षड्जीवनिकां) छहकायके जीवोंकी (निकामं) अत्यन्त (संरक्षतः) सुरक्षा करते थे तथा (अपक्षपातस्य) जो रागद्वेषके वशीभूत होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी प्रकारका पक्षपात नहीं करते थे ऐसे (ते) आपका (बलादिव) बलपूर्वक ही मानों (समस्त-भूतेष्वपि) समस्त प्राणियों पर (पक्षपातः) पक्षपात (आसीत्) हुआ था।

भावार्थ—हे भगवन्! सनातन आगममें पदार्थस्वरूपका विचार करनेकी जो दृष्टि निरूपित की गई है उसपर आप सदा आरूढ रहते थे—उससे रञ्चमात्र भी विचलित नहीं होते थे। पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा त्रस इन छह कायकी जीवोंके आप सदा रक्षा करते थे। रागद्वेषके नष्ट हो जानेसे आप यद्यपि किसीका पक्षपात नहीं करते थे तो भी सभी जीवोंपर आपका जो करुणाभाव था उससे ऐसा जान पड़ता था मानों आप उनपर पक्षपात करते थे। तात्पर्य यह है कि आपकी करुणावृत्ति नैसर्गिक थी, रागजन्य नहीं ॥३॥

सूर्यांशुजाः पावकविप्रुषस्ते विनिर्दहन्त्यः परितोऽपि गात्रम्।
अभीप्सतः कर्मफलैकपाकमासन् सुधासीकरनिर्विशेषाः ॥४॥

अन्वयार्थ—(सूर्यांशुजाः) सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न होनेवाले जो (पावकविप्रुषः) अग्निकण (परितोऽपि) सभी ओरसे (ते) आपके (गात्रं) शरीरको (विनिर्दहन्त्यः) जलाया करते थे वे (कर्म-फलैकपाकं) कर्मफलके परिपाककी (अभीप्सतः) इच्छा करनेवाले (ते) आपके लिये (सुधाशीकर-निर्विशेषाः) अमृतकणोंके समान (आसन्) हुए थे।

भावार्थ—आतापन योगके समय सूर्य रश्मियोंका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्त शिलाओंसे जो अग्निके तिलगे निकल कर सब ओरसे आपके शरीरको जलाते थे उनसे आपको कोई कष्ट नहीं होता था, उन्हें आप अमृतकणोंके समान सुखदायक मानते थे। इसका कारण यह था कि आप पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा चाहते थे। सदा आपका यही अभिप्राय रहता था कि किसी प्रकार कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जावें ॥४॥

मन्दः समस्वादभरेण नक्तं गृहीतयोगः शववद्विचेष्टः।
परेतभूमौ परिशुष्कमूर्तिर्विघट्टितस्त्वं दशनैः शिवाभिः ॥५॥

अन्वयार्थ—जो (समस्वादभरेण) समतारसके स्वादके भारसे (मन्दः) शिथिल हो रहे थे, (नक्तं) रात्रिके समय (गृहीतयोगः) योग धारण कर जो (परेतभूमौ) श्मशानमें (शववत्) मृतक-समान (विचेष्टः) निश्चेष्ट पड़े थे तथा (परिशुष्कमूर्तिः) जिनका शरीर अच्छी तरह सूख गया था ऐसे (त्वम्) आप (शिवाभिः) शृगालियोंके द्वारा (दशनैः) दाँतोंसे (विघट्टितः) विघट्टित हुए थे।

भावार्थ—हे भगवन्! रात्रिके समय श्मशानमें जब आप प्रतिमायोग धारण करते थे तब मृतकके समान निश्चेष्ट हो जाते थे और शृगालियाँ आपके शरीरको दाँतोंसे विघट्टित करती थीं फिर भी आप अपने योगसे विचलित नहीं होते थे ॥५॥

विदग्धरोगीव बलाविरोधान्मासार्द्धमासक्षपणानि कुर्वन्।
अनादिरागज्वरवेगमुग्रं क्रमेण निःशेषितवानलोलः ॥६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् (विदग्धरोगीव) विवेकशील रोगीके समान (बलाविरोधात्) शक्त्यनुसार (मासार्धमासक्षपणानि कुर्वन्) एक माह तथा अर्धमाहके उपवास करते हुए (अलोलः) तृष्णा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित आपने (क्रमेण) क्रमसे (उग्रं) तीव्र (अनादिरागज्वरवेगं) अनादिकालीन रागरूपी ज्वरके वेगको (निःशेषितवान्) नष्ट किया था।

भावार्थ—जिस प्रकार विवेकी रोगी अपथ्य सेवनकी तृष्णासे रहित हो शक्त्यनुसार एक माह तथा अर्धमासका उपवास करता हुआ अपने पुराने ज्वरके वेगको नष्ट कर देता है उसी प्रकार आपने विषय तृष्णासे निवृत्त हों शक्त्यनुसार एक मास तथा अर्धमासका उपवास करते हुए क्रम-क्रमसे अनादि कालीन रागरूपी ज्वरके तीव्र वेगको नष्ट किया था। तात्पर्य यह है कि आपने अनशनादि तपोंके द्वारा रागरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त की थी ॥६॥

ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसंयमस्त्वम्।
जातः कषायक्षयतोऽक्षरात्मा ज्ञानैकपुञ्जः स्वयमेव साक्षात् ॥७॥

अन्वयार्थ—(ततः) रागरूपी ज्वरका वेग नष्ट होनेके अनन्तर (कथञ्चित्) किसी प्रकार (सकलात्मवीर्यव्यापारपर्यागतसंयमः) सम्पूर्ण आत्मबलके प्रयाससे जिन्हें संयम प्राप्त हुआ है ऐसे (त्वम्) आप (कषायक्षयतः) कषायोंका क्षय होनेसे (स्वयमेव) अपने आप (अक्षरात्मा) अविनाशी और (साक्षात्) प्रत्यक्ष (ज्ञानैकपुञ्जः) ज्ञानके अद्वितीय पुञ्ज (जातः) हो गये।

भावार्थ—हे प्रभो! प्रत्याख्यानावरणके उदयमें होनेवाले रागको दूरकर आपने सकल संयम धारण किया और क्रम क्रमसे समस्त कषायोंका क्षय कर आप अविनाशी सर्वज्ञ हो गये। आपकी यह सर्वज्ञता आत्माकी योग्यतासे स्वयमेव प्रकट हुई, किसी अन्य पुरुषके द्वारा प्रदत्त नहीं है ॥७॥

ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन।
स्वकर्मशेषस्य तथा विपाकमुत्पश्यतादेशि शिवस्य पन्थाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(ततः) सर्वज्ञदशा प्राप्त करनेके बाद (व्याप्तपरापरेण) जिन्होंने स्व और परको व्याप्त-ज्ञात किया है (स्वायुःस्थितिप्राप्तिनियन्त्रितेन) अपनी आयुकी स्थितिकी प्राप्तिसे जो नियन्त्रित हैं—मनुष्यायु कर्मका उदय रहनेसे जो अपनी आयु पर्यन्त इसी मनुष्य शरीरमें स्थित रहते हैं जो (स्वकर्मशेषस्य) अपने शेष कर्मोंके (विपाकं) उदयका (तदा उत्पश्यता) अनुभव कर रहे थे ऐसे (त्वया) आपके द्वारा (शिवस्य) मोक्षका (पन्थाः) मार्ग (आदेशि) बनाया गया।

भावार्थ—हे भगवन्! केवल ज्ञान उत्पन्न होनेपर जिन्होंने ज्ञानकी दृष्टिसे समस्त स्वपर पदार्थोंको व्याप्तकर रक्खा था, जो यद्यपि शरीररूपी कारावाससे मुक्त होना चाहते थे तो भी आयुकी स्थिति पर्यन्त उसीमें नियन्त्रित थे और अपने शेष कर्मोंके विपाकका अनुभव कर रहे थे ऐसे आपने सबके लिये मोक्षका मार्ग दिखलाया। हे भगवन्! आपने अरहन्त अवस्थामें सर्वहितकारी मोक्ष पथका उपदेश दिया ॥८॥

अन्तःकषायक्षपणः प्रसह्य बहिर्यथाशक्तिचारित्रपाकः।
सूत्रार्थसंक्षेपतया त्वयायं प्रदर्शितो नाथ शिवस्य पन्थाः ॥९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे स्वामिन्! जहाँ (प्रसह्य) पुरुषार्थपूर्वक (अन्तःकषायक्षपणः) अन्तरङ्गमें तो कषायोंका क्षय किया जाता है और (बहिः) बहिरङ्गमें (यथाशक्तिचारित्रपाकः)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति अनुसार चारित्र धारण किया जाता है (अयं) यह (शिवस्य) मोक्षका (पन्थाः) मार्ग (सूत्रार्थ-संक्षेपतया) आगमके अर्थका संक्षेप करते हुए (त्वया) आपके द्वारा (प्रदर्शितः) दिखलाया गया है।

भावार्थ—यहाँ मोक्षमार्गके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंका निर्देश करते हुए भगवान्‌का स्तवन किया गया है। अन्तरङ्ग कारण कषायोंका क्षय करना है तथा बहिरङ्ग कारण शक्तिके अनुसार चारित्रका पालन करना है। कषायक्षयरूप अन्तरङ्ग कारणके बिना यथार्थ-चारित्रका पालन नहीं हो सकता और पूर्ण शक्तिसे चारित्रका पालन किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जिस[1] प्रकार बन्धनमें पड़ा व्यक्ति बन्धनका चिन्तन करता रहता है परन्तु छैनी और हथोड़ा लेकर उसे काटनेका प्रयत्न नहीं करता है तो वह बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता इसी प्रकार जो कर्मबन्धनका चिन्तन तो करता है परन्तु चारित्र धारण कर उस कर्मबन्धनको नष्ट करनेका पुरुषार्थ नहीं करता है तो वह कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता है। मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको प्राप्त कर तो यह जीव सागरों पर्यन्त इसी संसारमें पड़ा रहता है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र धारण कर अन्तर्मुहूर्तके भीतर भी संसार सागरसे पार हो जाता है। हे भगवन्! आगमका सार बतलाते हुए आपने संक्षेपमें यही मोक्षमार्ग दिखाया है कि अन्तरङ्गमें कषायोंका क्षय करो और बहिरङ्गमें यथाशक्ति चारित्र धारण करो ॥९॥

बोधप्रधानः किल संयमस्ते ततः कषायक्षयजा शिवाप्तिः।
शिवाप्तिहेतोरपि हेतुहेतुरहेतुवन्निश्चरणस्य बोधः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (ते) आपका (संयमः) चारित्र (बोधप्रधान) ज्ञानप्रधान है अर्थात् ज्ञानके होने पर चारित्र होता है और (ततः) चारित्रसे (कषायक्षयजा) कषायक्षयपूर्वक होनेवाली (शिवाप्तिः) मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार (बोधः) ज्ञान यद्यपि (शिवाप्तिहेतोः हेतुहेतुः अपि) मोक्ष प्राप्तिके हेतु कषायक्षयके हेतु संयमका हेतु है तथापि वह (निश्चरणस्य) चारित्ररहित जीवके (अहेतुवत्) अहेतुके समान है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनोंका प्राप्त होना मोक्षमार्ग है। इन तीनोंमें सम्यग्ज्ञानको बीचमें रखनेका प्रयोजन यह है कि वह सम्यग्दर्शनका कार्य है और सम्यक्‌चारित्रका कारण है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्‌चारित्रकी साधनामें सम्यग्ज्ञानका भी महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि आपने संयम धारण करते समय सम्यग्ज्ञानका भी ध्यान रक्खा है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे संयम-सम्यक्‌चारित्र होता है, सम्यक्‌चारित्रसे कषायोंका क्षय होता है और कषायोंका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार मोक्षप्राप्तिका कारण कषायक्षय, कषायक्षयका कारण संयम और संयमका कारण सम्यग्ज्ञान है। एतावता यद्यपि सम्यग्ज्ञान मोक्षप्राप्तिके कारणके कारणका कारण है तो भी चारित्रहीन मनुष्यका ज्ञान अहेतु-अकारणके समान है। इसी उद्देश्यसे नीतिकारोंने कहा है 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' क्रियाके विना ज्ञान भाररूप है ॥१०॥

---

१. समयसार गाथा—२९१, २९२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः स्वायुःस्थितिज्ञः स विशीर्णबन्धः ।
शिखेव वह्नेः सहजोर्ध्वगत्या तत्सिद्धिधामाऽध्यगमस्त्वमन्ते ॥११॥

अन्वयार्थ—(समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः) जिन्होंने परम यथाख्यातचारित्ररूप संयमके पूर्ण भारको वहन किया है, (स्वायुःस्थितिज्ञः) जो अपने आयुकर्मकी स्थितिको जानते हैं अर्थात् जिनकी मनुष्यायुका अन्तिम क्षण बीत रहा है और (विशीर्णबन्धः) जिनका बन्ध बिखर चुका है—कषाय और योगोंका अभाव होनेके कारण जिनका नवीन बन्ध छूट गया है और सातिशय निर्जरा होनेके कारण जिनका पूर्वबन्ध निर्जीर्ण हो गया है ऐसे (स त्वम्) उन आपने (अन्ते) अन्त समयमें (वह्नेः शिखेव) अग्निकी शिखाके समान (सहजोर्ध्वगत्या) स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिके द्वारा (तत्) उस प्रसिद्ध (सिद्धिधाम) मोक्षस्थानको (अध्यगमः) प्राप्त किया ।

भावार्थ—शीलके चौरासी हजार भेद तथा चौरासी लाख उत्तर गुणोंकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें होती है । इनकी पूर्णता होने पर ही परम याथाख्यात चारित्र होता है, इस प्रकार परम यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति होने पर इस जीवका कर्म बन्धन खुल जाता है उसी समय मनुष्यायुकी समाप्ति होती है और अग्निकी शिखाके समान स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिके द्वारा यह जीव लोकान्तमें १५७५ धनुषप्रमाण तनुवातवलयके अन्तिम ५२५ धनुषप्रमाण क्षेत्रमें जो सिद्धिधाम है वहां पहुँच जाता है । मध्यलोकसे वहां तक पहुँचनेमें इस जीवको मात्र एक समय लगता है ॥११॥

तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः पिबन् दृशा विश्वमशेषमेव ।
समक्षसंवेदनमूर्तिरास्ते स्वगुप्तवीर्यातिशयः सुखेन ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अप्रचलप्रदेशः) जिनके प्रदेश अत्यन्त निश्चल हैं, (दृशा) अनन्त दर्शनके द्वारा (अशेषमेव विश्वं पिबन्) जो समस्त विश्वको ग्रहण कर रहें हैं, (समक्षसंवेदनमूर्तिः) जो प्रत्यक्षज्ञान-केवलज्ञानकी मूर्तिस्वरूप हैं तथा (स्वगुप्तवीर्यातिशयः) जिनका अनन्त बल अपने आपमें सुरक्षित है ऐसे (भवान्) आप (तस्मिन्) उस सिद्धिधाममें (सुखेन आस्ते) सुखसे विराजमान हैं ।

भावार्थ—सिद्धालयमें पहुँचने पर आत्माके प्रदेश सदाके लिये निश्चल हो जाते हैं । वे अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखसे सम्पन्न होते हैं । हे भगवन् ! आप भी सिद्धालयमें पहुँच कर अनन्त चतुष्टयसे सुशोभित हैं ॥१२॥

दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु निराकुलत्वम् ।
निराकुलत्वं तव देव सौख्यं गाढोपयुक्तोऽसि सुखं(सुखे)त्वमेव ॥१३॥

अन्वयार्थ—(वीर्यं) वीर्य-आत्मबल (दृग्बोधयोः) दर्शन और ज्ञानकी (तैक्ष्ण्यविधायि) प्रखरता—अनन्तताको करनेवाला है, (दृग्बोधतैक्ष्ण्येषु) दर्शन और ज्ञानकी तीक्ष्णताके होने पर (निराकुलत्वं) निराकुलता होती है और (निराकुलत्वं) निराकुलता ही (तव) आपका (सौख्यं) सुख है । (देव) हे देव (सुखे) उस निराकुलतारूप सुखमें (त्वमेव) आपही (गाढोपयुक्तः असि) प्रगाढ़रूपसे तन्मयताको प्राप्ति हैं ।

भावार्थ—आत्मामें जो वीर्य नामका गुण है वह दर्शन और ज्ञान गुणके चरम विकासमें कारण है । जब दर्शन और ज्ञान अपनी चरम सीमाको पहुँच जाते हैं तब निराकुलता होती है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो निराकुलता है वही सुख कहलाता है। हे भगवन्! इस निराकुलतारूप सुखमें एक आप ही निरन्तर निमग्न रहते हैं। संसारके भीतर जन्म मरण करनेवाले अन्य जीवोंको इसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? ॥१३॥

वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं दृग्वीर्यसारोऽस्खलितः समन्तात्।
अयं समस्तः सुखहेतुपुञ्जस्तवाभवन्नित्यनिराकुलस्य ॥१४॥

अन्वयार्थ—(वितृष्णता) तृष्णाका अभाव, (अनन्तरायं) बाधारहित (ज्ञानं) ज्ञान और (समन्तात्) सब ओर (अस्खलितः) स्खलित नहीं होनेवाला (दृग्वीर्यसारः) श्रेष्ठ दर्शन और वीर्य (अयं समस्तः) यह सब (नित्यनिराकुलस्य) निरन्तर निराकुल रहनेवाले (तव) आपके (सुखहेतु-पुञ्जः) सुखके कारणका समूह (अभवत्) हुआ।

भावार्थ—संसारका प्राणी तृष्णाके कारण दुखी होता है, ज्ञानकी अल्पता होनेसे अज्ञात वस्तुको न जान सकने और ज्ञात वस्तुके विस्मृत हो जानेके कारण दुःखी रहता है तथा इष्ट पदार्थोंमें स्खलित हो जानेवाले अल्प दर्शन और तुच्छ बलके कारण भी दुखी होता है, परन्तु हे भगवन्! आपको किसी प्रकारकी तृष्णा नहीं है, केवलज्ञानके द्वारा आप चराचर विश्वको एक साथ जानते हैं तथा आपमें ऐसा अनन्त दर्शन और अनन्त बल प्रकट हुआ है जो कहीं भी स्खलित नहीं होता। इस प्रकार सुखके समस्त साधन आपमें स्वयमेव संघटित हुए हैं और उनके संघटित होनेके कारण आप निराकुल हैं ॥१४॥

अनादिसंसारपथादपेतमनन्तसिद्धत्वकृतव्यवस्थम्।
त्रिकालमालायतमात्मतत्त्वं साक्षात् समं पश्यसि बुध्यसे च ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अनादिसंसारपथात् अपेतं) जो अनादि संसारके मार्गसे रहित है, तथा (अनन्त सिद्धात्वकृतव्यवस्थं) अनन्त सिद्धत्वके पदमें स्थित है तथा (त्रिकालमालायतं) तीनों कालकी माला-में विस्तीर्ण है ऐसे (आत्मतत्वं) आत्मातत्वको आप (समं) एक साथ (साक्षात्) प्रत्यक्ष (पश्यसि) देखते (च) और (बुध्यसे) जानते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी जो आत्मा अनादिकालीन संसारके मार्गसे दूर होकर अनन्त—कभी नष्ट नहीं होनेवाली सिद्ध पर्यायको प्राप्त हुई है उसे आप अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव-के कारण सदा प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं ॥१५॥

दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिः समन्ततो नित्यमखण्ड्यमानः।
अत्यन्ततैक्ष्ण्यादविभागखण्डैरनन्तशः खण्डयसीश विश्वम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! (समन्ततः) सब ओरसे (नित्यं) निरन्तर (दृग्बोधवीर्योप-चितात्मशक्तिः) जिनकी आत्मशक्ति दर्शन ज्ञान और वीर्यसे वृद्धिगत है, इसलिए जो (अखण्ड्य-मानः) अविभाज्य हैं—जिनके आत्म प्रदेशोंमें पुद्गलप्रदेशोंके समान खण्डपना नहीं है ऐसे आप (अत्यन्ततैक्ष्ण्यात्) ज्ञान दर्शन गुणकी तीक्ष्णताके कारण (विश्वं) समस्त लोक-अलोकको (अनन्तशः) अनन्तों बार (अविभागखण्डैः) प्रदेशोंके द्वारा तथा अविभागी प्रतिच्छेदोंसे (खण्डयसि) खंड-खंड करते हैं अर्थात् समस्त विश्वके अविभागी प्रतिच्छेदों तकको जानते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके ज्ञान दर्शनकी इतनी तीक्ष्णता—सूक्ष्मग्राहिता है कि उसके द्वारा स्थूल पदार्थोंको जानना तो दूर रहा, आप समस्त विश्वके अर्थात् एक एक अविभाग-प्रतिच्छेदों तकको जानते हैं ॥१६॥

दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः स्वशक्तयो विश्वसभावभासाः ।
विभो न भिन्दन्ति सदा स्वभावं चिदेकसामान्यकृतावताराः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो ! (दृढोपयुक्तस्य) स्वरूपमें दृढतासे उपयुक्त रहनेवाले (तव) आपकी (स्फुटन्त्यः) जो प्रकट अनुभवमें आ रही हैं (विश्वसभावभासाः) समस्त विश्वके समान जिनका प्रकाश है तथा (चिदेकसामान्यकृतावताराः) आपके एक चैतन्य स्वभावमें जिन्होंने अवतरण किया है ऐसी (स्वशक्तयः) आत्मशक्तियां (सदा) सर्वदा—कभी भी (स्वभावं) आपके स्वभावको (न भिन्दन्ति) भेदती नहीं हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने स्वरूपमें सदा दृढ़ हैं तथा आपकी समस्त शक्तियां भी, ऐसी शक्तियां जो अत्यन्त प्रकट अनुभवमें आ रही हैं, तथा सामान्यरूपसे एक चैतन्य स्वभावमें गर्भित हैं, सदा स्वरूपस्थ रहती हैं, कभी अपने स्वभावको नहीं छोड़ती हैं ॥१७॥

प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य प्रमेयरूपेण विवर्तमानाः ।
श्लिष्टावभासा अपि नैकभावं त्वया समं यान्ति पदार्थमालाः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(प्रमातृरूपेण स्थितस्य) प्रमाता-ज्ञायकके रूपमें स्थित (तव) आपके (प्रमेयरूपेण) प्रमेय-ज्ञेयरूपसे (विवर्तमानाः) विद्यमान (पदार्थमालाः) पदार्थोंके समूह (श्लिष्टावभासा अपि) अत्यन्त तन्मयभावको प्राप्त होकर भी (त्वया समं) आपके साथ (एकभावं) एकत्वको (न यान्ति) नहीं प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञायकमात्र हैं—पदार्थोंको जाननेवाले हैं और संसारके समस्त पदार्थ आपके ज्ञेय हैं । अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वे सब पदार्थ आपके ज्ञानमें जब प्रतिबिम्बित होते हैं तब ऐसे जान पड़ते हैं मानों आपके ज्ञानके साथ उनका तादात्म्य हों, परन्तु वास्तवमें वे आपके ज्ञानसे पृथक् हैं । इस तरह आपके साथ उनका एकीभाव नहीं है । तात्पर्य यह है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता रहता है और ज्ञेय सदा ज्ञेय रहता है । ज्ञाता, ज्ञेय नहीं और ज्ञेय, ज्ञान नहीं होता । दोनोंमें ज्ञातृ-ज्ञेयसम्बन्ध ही है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं ॥१८॥

परप्रदेशैर्न परः प्रदेशी प्रदेशशून्यं न हि वस्तु किञ्चित् ।
आलानयन् दर्शनबोधवीर्यं जिन प्रदेशेषु सदैव भासि ॥१९॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (परप्रदेशैः) अन्य द्रव्यके प्रदेशोंसे (परः) अन्य द्रव्य (प्रदेशी) प्रदेशवान् (न) नहीं होता है और (हि) निश्चयसे (किञ्चित्) कोई (वस्तु) द्रव्य (प्रदेशशून्यं) प्रदेशोंसे शून्य (न) नहीं है । आप (दर्शनबोधवीर्यं) दर्शन ज्ञान और वीर्यको (प्रदेशेषु) अपने प्रदेशोंमें (आलानयन्) बद्ध करते हुए (सदैव) सदा ही (भासि) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—आत्मा गुणी है और दर्शन ज्ञान तथा वीर्य उसके गुण हैं । गुणोंके प्रदेश गुणीसे पृथक् नहीं होते हैं, ऐसा सिद्धान्त है परन्तु न्याय दर्शन गुण और गुणीको पृथक् पृथक् स्वीकृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता हुआ गुणके समवायसे किसी अन्य पदार्थको गुणी मानता है। इस न्याय दर्शनका निरसन करते हुए यहां कहा गया है कि हे जिनेन्द्र ! आपमें जो दर्शन ज्ञान और वीर्य गुण हैं उन्हें आप अपने प्रदेशोंमें ही बद्ध किये हुए सुशोभित होते हैं, क्योंकि ऐसा नियम है कि सब पदार्थोंके प्रदेश अपने अपनेमें ही रहते हैं किसी अन्यके प्रदेशोंसे कोई अन्य प्रदेशवान् नहीं होता है। तथा ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो प्रदेश रहित हो और उसे प्रदेशवान् बननेके लिये दूसरे पदार्थके प्रदेशोंका आश्रय लेना पड़े ॥१९॥

आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं दृग्बोधवैचित्र्यमयी विभूतिः ।
तव स्वभावाद् दृशिबोधमूर्तेरेतावदेवोपकृतं परेभ्यः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(स्वभावात्) स्वभावसे ही जो (दृशिबोधमूर्तेः) दर्शन और ज्ञानकी मूर्तिस्वरूप हैं ऐसे (तव) आपकी (इयं) यह (पुष्कला) समस्त (दृग्बोधवैचित्र्यमयी) दर्शन और ज्ञानकी विचित्रतासे युक्त (विभूतिः) संपदा (किल) निश्चयसे (विश्वं) समस्त लोक-अलोकका (आलम्ब्य) आलम्बन लेकर प्रकट हुई है (एतावत् एव) इतना ही आपका (परेभ्यः) अन्य पदार्थोंसे (उपकृतं) उपकार हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन् ! दर्शन ज्ञानकी मूर्ति आप स्वभावसे ही हैं, किन्हीं पदार्थोंने आपमें दर्शन ज्ञानको उत्पन्न कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। इतना अवश्य है कि यह विश्व आपके दर्शन ज्ञानका आलम्बन है अर्थात् दर्शन और ज्ञान इन्हें अपना दृश्य और ज्ञेय बनाते हैं। इतना ही परद्रव्योंसे आपका उपकार हुआ है ॥२०॥

अनन्तधर्मप्रचितैः प्रदेशैर्दृग्बोधयोराश्रयमात्रभूतः ।
दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन साक्षाद्विभो विभास्येव हि विश्वरूपः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! (अनन्तधर्मप्रचितैः) अनन्त धर्मोंसे व्याप्त (प्रदेशैः) प्रदेशोंके द्वारा आप (दृग्बोधयोः) दर्शन और ज्ञानके (आश्रयमात्रभूतः) आधारमात्र हैं। (हि) निश्चयसे आप (दृग्बोधवैचित्र्यमुखेन) दर्शन और ज्ञानकी विचित्रताके माध्यमसे (साक्षात्) प्रत्यक्षमें (विश्वरूपः) विश्वरूप (एव) ही (विभासि) सुशोभित प्रतीत हो रहे हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! ऐसा नहीं है कि आपमें मात्र दर्शन और ज्ञान ही हों किन्तु आपके प्रदेश अनन्त धर्मोंसे व्याप्त हैं। उन अनन्त धर्मोंसे व्याप्त प्रदेशोंके द्वारा आप दर्शन और ज्ञानको धारण कर रहे हैं। आपके दर्शन और ज्ञान भी साधारण नहीं है। उनकी अपनी एक विशेषता है—वह यह कि उनमें समस्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, अतः आप ज्ञेयाकीर्ण ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है ॥२१॥

अभावभावोभयरूपमेकं स्ववस्तु साक्षात् स्वयमेव पश्यन् ।
न सज्जसे क्वापि सदाऽप्रकम्पः स्वभावसीमाङ्कितत्त्वमग्नः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अभावभावोभयरूपं) अभाव, भाव और उभयरूप (एकं) एक (स्ववस्तु) आत्मवस्तुको (स्वयमेव) अपने आप (साक्षात्) प्रत्यक्ष (पश्यन्) देखते हुए आप (क्वापि) किसी अन्य पदार्थमें (न सज्जसे) संलग्न नहीं होते हैं, किन्तु (सदा) सर्वदा (अकम्पः) निश्चल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो (स्वभावसीमाङ्कितस्वमग्नः) स्वयंके स्वभावकी सीमासे युक्त आत्म तत्त्वमें ही मग्न रहते हैं।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ क्रमार्पित दृष्टिमें परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप, स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप और क्रमार्पित उभय दृष्टिमें उभयरूप होता है। आपका आत्मद्रव्य भी अभाव, भाव और उभयरूप है। यद्यपि स्वभावसे एकरूप ही है, परन्तु उपर्युक्त विवक्षासे तीनरूप प्रतीत होता है। सबको जानते हुए भी आप अपने स्वरूपमें ही निमग्न रहते हैं ॥२२॥

भूतं भवद्भावि समस्तविश्वमालम्बमानः सममेव साक्षात् ।
अनन्तविश्वात्मकदिव्यदीप्तिस्तवोपयोगो जिन नास्तमेति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! जो (भूतं भवत् भावि समस्तविश्वं) भूत वर्तमान और भावी—समस्त विश्वका (सममेव) एक ही साथ (साक्षात्) साक्षात् (आलम्बमानः) आलम्बन कर रहा है—उसे जान रहा है तथा (अनन्तविश्वात्मकदिव्यदीप्तिः) जिसकी दिव्य दीप्तिः—अलौकिक प्रकाश अनन्त विश्वात्मक है—ऐसे ऐसे अनन्त लोकोंको जाननेकी क्षमता रखता है ऐसा (तव) आपका (उपयोगः) केवलज्ञानरूपी उपयोग (अस्तं न एति) अस्तको प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—जो भूत भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी विश्वको एक साथ प्रत्यक्ष देखता है तथा ऐसे ऐसे अनन्त विश्वोंको जाननेकी क्षमता रखता है ऐसा आपका केवलज्ञानरूप उपयोग कभी नष्ट नहीं होता है ॥२३॥

समन्ततो दृष्टिरवारितेयं सर्वत्र बोधोऽयमवरुद्धशक्तिः ।
अनन्तवीर्यातिशयेन गाढं सुदुर्द्धरं धारयसि स्वमीश ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! आपकी (इयं) यह (दृष्टि) दर्शन (समन्ततः) सब ओर (अवारिता) अप्रतिहत है—इसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता है और (अयं) यह (बोधः) ज्ञान (सर्वत्र) सब स्थानोंपर (अवरुद्धशक्तिः) अप्रतिहत शक्तिवाला है—इसकी सामर्थ्यको कोई कहीं रोकनेवाला नहीं है। इस प्रकार आप (अनन्तवीर्यातिशयेन) अनन्त वीर्यके अतिशयसे (गाढं सुदुर्द्धरं) अत्यन्त परिपूर्ण (स्वं) अपने आपको (धारयसि) धारण करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी आत्मा अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान और अनन्त बलसे परिपूर्ण है। छद्मस्थ जीवके ज्ञान दर्शन और वीर्य इन्द्रियाधीन होते हैं। इन्द्रियां प्रकाश आदि बाह्य निमित्तोंकी अपेक्षा रखती हैं, इसलिये वे सर्वत्र निर्बाध नहीं होते हैं। परन्तु वीतराग जिनेन्द्रके ज्ञान दर्शन और वीर्य तत् तत् आवरण कर्मोंके क्षयसे प्रकट होते हैं, अतः उन्हें इन्द्रिय तथा बाह्य निमित्तोंकी आवश्यकता नहीं होती। निमित्त निरपेक्ष होनेके कारण वे सर्वत्र अप्रतिहत रहते हैं ॥२४॥

भ्रान्त्वा समग्रं जगदेव दीनं खिन्नात्मना प्राणपणं विधाय ।
वन्दीकृतोऽस्यद्य मयातिलोभात् सर्वस्वमेवाप्य(च)किं विवादैः ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (दीनं यथा स्यात्तथा) दीनतापूर्वक (समग्रमेव जगत् भ्रान्त्वा) समस्त संसारमें भ्रमण कर (खिन्नात्मना) जिसकी आत्मा खिन्न हो चुकी है ऐसे (मया) मैंने (प्राणपणं विधाय) प्राणपण कर—पूरी शक्ति लगा कर (अतिलोभात्) अत्यन्त लोभसे (अद्य) आज (त्वम्) आपको (वन्दीकृतः असि) अपने आपमें निरुद्ध किया है—मैं आपकी शरणमें आया हूं। (त्वमेव) आप हो (मे) मेरे (सर्वः) सब कुछ हो (आप्य च) आपको प्राप्त कर मुझे (विवादैः) विवादोंसे (किं) क्या प्रयोजन है आपकी शरणमें आते ही सब विवाद नष्ट हो चुके हैं।

भावार्थ—हे नाथ ! मिथ्यात्वके कारण चतुर्गतिरूप संसारमें दीनतापूर्वक भ्रमण करते मेरी आत्मा खिन्न हो चुकी है। अब मैं पूरी शक्ति लगाकर आपकी शरणमें आया हूं। रागी द्वेषी देवोंकी आराधनाका कुफल भोग कर अब मैं वीतराग जिनेन्द्रकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ। पूरी दृढ़ताके साथ मैंने आपको अपने हृदयमें निरुद्ध किया है आप मेरे सब कुछ हो, आपको पाकर अब मुझे विवादोंसे क्या प्रयोजन है ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१०)

उपजातिवृत्तम

अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव ।
विशुद्धविज्ञानघनं समन्तात् स्तोष्ये जिनं शुद्धनयैकदृष्ट्या ॥१॥

अन्वयार्थ—(अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं) अन्य नयोंका स्वभाव जिनके भीतर निमग्न हो गया है (स्वभावलीलोच्छलनार्थमेव) स्वभावकी लीलाको प्रकट करना ही जिनका एक प्रयोजन है : और जो (समन्तात्) सब ओरसे (विशुद्धविज्ञानघनं) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण हैं ऐसे (जिनं) जिनेन्द्रदेवकी मैं (शुद्ध नयैकदृष्टचा) एकमात्र शुद्धनयकी दृष्टिसे (स्तोष्ये) स्तुति करूंगा ।

भावार्थ—पर संयोगसे रहित आत्माके शुद्धतत्त्वको ग्रहण करनेवाला नय शुद्धनय[1] कहलाता है । इसे ही परमार्थनय अथवा निश्चयनय कहते हैं । जब इस शुद्धनयकी दृष्टिसे पदार्थका कथन होता है तब उसकी परनिरपेक्ष किन्तु स्वसापेक्ष विशेषताओंका वर्णन किया जाता है । और जिसमें परकी सापेक्षता रहती है वह अशुद्धनय कहलाता है । इसीको अभूतार्थ या व्यवहारनय कहते हैं । जैसे आत्मा कर्मोंसे अबद्ध अस्पृष्ट और ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण है ऐसा कथन करना शुद्धनय है तथा आत्मा कर्मोंसे बद्ध है स्पृष्ट है तथा रूपादिमान् है, यह कथन करना अशुद्धनय है । भगवन् ! अब मैं शुद्धनयका आश्रय लेकर आपकी स्तुति करूँगा । इस शुद्धनयके स्तवनमें अन्य नयोंका निषेध तो नहीं होता परन्तु वे इसी शुद्धनयमें अन्तर्निमग्न हो जाते हैं तथा शुद्धनयसे स्तवन करनेका प्रयोजन यही एक है कि इसके द्वारा स्वभावकी लीला उभरका सामने आ जाती है और विभाव की लीला तिरोहित हो जाती है । स्वमें परकी सहायताके बिना जो प्रकट है तथा अनादि अनन्त-रूपसे त्रिकालमें विद्यमान रहता है उसे स्वभाव कहते हैं और स्वमें परके निमित्तसे जो प्रकट होता है उसे विभाव कहते हैं जैसे ज्ञानदर्शन आत्माके स्वभाव हैं, क्योंकि ये किसी बाह्य कारणसे आत्मामें उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु रागद्वेषादिक विभाव हैं, क्योंकि ये द्रव्यकर्मकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामें उत्पन्न होते हैं । इनका सद्भाव द्रव्यकर्मकी उदयावस्थाके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, अतः उसके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाते हैं । स्वभाव दृष्टिसे भगवान् वीत-राग विज्ञानसे घन है—सान्द्र है और रागादि विभाव भावोंसे रहित है । एक शुद्धनयकी दृष्टिसे भगवान्की स्तुति करनेसे मेरा लक्ष्य अपने स्वभावकी ओर जावेगा और विभावकी ओरसे मेरा ममत्वभाव दूर होगा ॥१॥

निरर्गलोच्छालविशालधाम्नो यदेव चैतन्यचमत्कृतं ते ।
उदारवैशद्यमुदेत्यभेदं तदेव रूपं तव मार्जितश्रि ॥२॥

---

१. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥—समयप्राभृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(निरर्गलोच्छालविशालधाम्नः) निर्बाध उन्नतिसे विशाल तेजसे युक्त (ते) आपका (उदारवैशद्यं) अवाधरूपसे महान् वैशद्यको लिये हुए तथा (अभेदं) भेदसे रहित (यदेव) जो भी (चैतन्यचमत्कृतं) चैतन्य चमत्कार (उदेति) प्रकट होता है (तदेव) वही (मार्जितश्रि) अनन्त-चतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मीसे युक्त (तव) आपका स्वच्छ (रूपं) स्वरूप है।

भावार्थ—शुद्धनय गुण और गुणीमें भेदको स्वीकृत नहीं करता है, उसके सामने गुण और गुणी इस प्रकारके दो पदार्थ हैं भी नहीं। वह मात्र एक ज्ञायकस्वभावको ग्रहण करता है। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि हे भगवन्! आपका जो संपूर्ण चैतन्य चमत्कार है वही आपका स्वरूप है। जिस प्रकार विजलीका स्वरूप उसका कोंदना ही है उसी प्रकार आपका स्वरूप चैतन्यचमत्कार ही है। आपका यह चैतन्यचमत्कार अत्यन्त उत्कृष्ट निर्मलतासे सहित है अर्थात् वीतराग विज्ञानरूप है। आपका यह रूप तब प्रकट होता है जब आपका विशाल तेज निर्बाध रूपसे उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो जाता है एवं यह रूप अनन्त चतुष्टयरूप निर्मल लक्ष्मीसे युक्त होता है। हे भगवन्! यद्यपि आप ज्ञान-दर्शन सुख वीर्य सूक्ष्मत्व अव्याबाधत्व अगुरुलघुत्व और अवगाहतत्व आदि अनेक गुणोंसे युक्त हैं तथापि उनमें एक चैतन्यचमत्कार ही प्रधान है, अतः उसी पर दृष्टि संलग्न हो रही है। जिस प्रकार मिश्री मधुर है उसी प्रकार क्या सफेद, कड़ी और सुगन्धित भी नहीं है? अवश्य है, परन्तु स्वाद लेनेवालेकी दृष्टि उसके मात्र मधुर रसकी ओर रहती है। मिश्री कैसी है? ऐसा पूछनेपर उसके मुखसे यही उत्तर निकलता है कि मधुर है। इसी प्रकार आत्मामें सुख वीर्य आदि अनेक गुण क्या नहीं हैं? अवश्य हैं, परन्तु शुद्धनयकी दृष्टि उसके चैतन्यचमत्कारपर ही संलग्न होती है॥२॥

चिदेकरूपप्रसरस्तवायं निरुध्यते येन स एव नास्ति।
स्वभावगम्भीरमहिम्नि लग्नो विभो विभास्येकरसप्रवाहः॥३॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! (तव) आपका (अयं) यह (चिदेकरूपप्रसरः) चैतन्यका अद्वितीय प्रसार (येन) जिसके द्वारा (निरुध्यते) रोका जाता है (स नास्ति एव) वह है ही नहीं—ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो चैतन्य ज्योतिके प्रसारको रोक सके। अतः (स्वभावगम्भीरमहिम्नि) जो स्वभावकी गम्भीर महिमामें (लग्नः) लीन है (एकरसप्रवाहः) ऐसे चैतन्यरसके एक प्रवाहस्वरूप आप (विभासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह किसीके द्वारा न नष्ट किया जा सकता है और न परिवर्तित हो सकता है। हे भगवन्! सामान्य चैतन्य—ज्ञान-दर्शन आपका स्वभाव है। वह किसीके द्वारा रोका नहीं जा सकता। अथवा आपके ज्ञान-दर्शन गुणका जो केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपसे प्रसार हो रहा है उसे रोकनेकी क्षमता संसारके किसी अन्य द्रव्यमें नहीं है। आप अपने स्वभावकी गम्भीर महिमा—राग-द्वेषसे रहित आत्मीय परिणतिमें सदा लीन रहते हुए सुशोभित हो रहे हैं॥३॥

उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा प्रकाशमानस्त्वमभिन्नधारः।
चिदेकतासङ्कलितात्मभासा समग्रमुच्चावचमस्यसीश॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा) जिनका निर्मल तेज उत्तरोत्तर उछल रहा है—वृद्धिको प्राप्त हो रहा है तथा (अभिन्नधारः) जिनकी ज्ञानकी धारा सदा अखण्ड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहती है, ऐसे (त्वम्) आप (प्रकाशमानः) प्रकाशमान हो रहे हैं। तथा आप (चिदेकतासङ्कलितात्मभासा) चित्स्वभावके एकत्वसे युक्त आत्मदीप्तिके द्वारा (समग्रं) सम्पूर्ण (उच्चावचं) उत्कृष्ट अनुत्कृष्टके भेदको (अस्यसि) दूर कर रहे हैं।

भावार्थ—रागधारा और ज्ञानधारा ये दो धाराएं हैं। मोहकर्मके उदयसे जो मोह तथा रागद्वेषरूप परिणति होती है वह रागधारा कहलाती हैं। इसीको अध्यात्ममें विभाव परिणति कहते हैं और पदार्थका ज्ञाता-द्रष्टा होना यह ज्ञानधारा कहलाती है। इसीको अध्यात्ममें स्वभाव परिणति कहते हैं। इस जीवकी अनादिकालसे रागधारामें परिणति हो रही है अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्थामें जीव यह नहीं समझ पाता है कि मोह तथा राग-द्वेषसे भिन्न भी कोई धारा होती है। परन्तु जब मिथ्यादृष्टि अवस्थाको पारकर जीव सम्यग्दृष्टि अवस्थामें आता है तब वह यह समझने लगता है कि रागधारा मेरा स्वभाव नहीं है, इसके विपरीत ज्ञानधारा ही मेरा स्वभाव है। इस प्रकार श्रद्धाकी दृष्टिसे ज्ञानधाराकी ओर इसका लक्ष्य होने तो लगता है, परन्तु चारित्रमोहका उदय रहनेके कारण स्थायी रूपसे उसपर आरूढ़ नहीं रह पाता। यह अवस्था मिथ्यात्वके अनन्तर दशम गुणस्थानतक चलती है। इसके अनन्तर जब मोहका सर्वथा क्षय हो जानेसे आत्मामें पूर्ण वीतरागता प्रकट होती है तब रागकी धारा सूख जाती है मात्र एक ज्ञानकी धारा प्रवाहित रहती है। हे भगवन्! इस अरहन्त अवस्थामें आपकी रागधाराका सर्वथा अभाव हो चुका है, मात्र एक ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही है अर्थात् आप संसारके इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंको जानते तो हैं, परन्तु उनमें इष्ट अनिष्टकी कल्पना नहीं करते। उस ज्ञानधारामें जब मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानका विकल्प रहता है तब उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टका भेद आता है। केवलज्ञान उत्कृष्ट है और उसके पूर्व मतिज्ञानादि अनुत्कृष्ट हैं। परन्तु जब सामान्य चित्स्वरूप—एक सामान्य ज्ञानगुणकी ओर दृष्टि जाती है तब ज्ञानके भीतर होनेवाले मतिज्ञानादि भेद स्वयं समाप्त हो जाते हैं, एक ज्ञान सामान्य ही अनुभवमें आता है। इस दशामें उत्कृष्ट और अनुत्कृष्टका विकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। शुद्धनय, विशेषको ग्रहण न कर सामान्यको ग्रहण करता है, अतः उसकी दृष्टिमें उत्कृष्ट अनुत्कृष्टका भेद स्वयं ही चला जाता है ॥४॥

समुच्छलत्यत्र तदाद्वितीये महौजसश्चिन्महसो महिम्नि।
जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या विभाव्यते विश्वमपि प्रमृष्टम् ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अत्र) इस लोकमें (तदा) उस शुद्धनयकी दशामें (महौजसः) अतिशय तेजस्वी (चिन्महसः) ज्ञान-दर्शनचैतन्यरूप तेजकी (अद्वितीय) अनुपम (महिम्नि) महिमाके (समुच्छलति 'सति') वृद्धिंगत होनेपर (विश्वमपि) समस्त विश्व भी (जलप्लवप्लावितचित्रनीत्या) जलके प्रवाहसे प्लावित चित्रके समान (प्रमृष्टं) परिमार्जित (विभाव्यते) जान पड़ता है।

भावार्थ—हे भगवन्! इस अरहंत अवस्थामें आपका तेज अत्यन्त विशाल है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरन्तर आपको नमस्कार करते हैं। इस समय आपके चैतन्य ज्ञानदर्शनकी अद्वितीय महिमा सर्वत्र उच्छलित हो रही है—सबसे अधिक प्रतीतिमें आ रही है, इसलिये आपका शेष संसार जलके पूरसे धुले हुए चित्रके समान पुछ गया है—निष्प्रभ हो गया है। यद्यपि आप अभी अन्तिम मनुष्य पर्यायमें हैं तथापि जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं—जीवित रहते हुए भी मुक्तके समान हो गये हैं। अथवा आपके चैतन्यस्वभावकी महिमा बढ़नेपर आपके सुख वीर्य

ल०—१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व और सूक्ष्मत्व आदि गुण तिरोहितके समान हो गये हैं, उन सब गुणोंमें प्रमुखरूपसे एक चैतन्यस्वभावज्ञान-दर्शन गुण ही प्रकट हो रहा है। चैतन्य स्वभावकी महिमा ही इस प्रकारकी है कि उनके प्रकट होनेपर अन्य सब गुण उसीके अन्तर्गत हो जाते हैं ॥५॥

विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः स्वरूपगुप्तस्य चकासतस्ते।
अयं स्फुटः स्वानुभवेन काममुदीर्यते भिन्नरसः स्वभावः ॥६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः) जिनका तेज वीतराग विज्ञान—केवलज्ञानसे सम्बद्ध है तथा जो (स्वरूपगुप्तस्य चकासतः) आत्मस्वरूपसे सुरक्षित होकर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे (ते) आपका (स्वानुभवेन) स्वानुभवसे (स्फुटः) स्पष्ट प्रकट हुआ (भिन्नरसः) विभावपरिणतिसे भिन्न रसवाला (अयं) यह (स्वभावः) स्वभाव (कामं 'यथा स्यात्तथा') अच्छी तरह (उदीर्यते) प्रकट हो रहा है—स्पष्टरूपसे अनुभवमें आ रहा है।

भावार्थ—ज्ञान-दर्शन आत्माका स्वभाव है और राग-द्वेषादिक विभाव हैं। संसारी जीवका स्वभाव, राग-द्वेषरूप विभावपरिणामोंसे संयुक्त होनेके कारण एक वीतराग विज्ञानसे ही संबद्ध नहीं रह पाता है, उसमें राग-द्वेषकी लहर उठनेसे स्वरूप निमग्नता नहीं रह पाती है। परन्तु अरहन्त अवस्थामें राग-द्वेषकी लहरका सर्वथा अभाव हो जानेसे अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावमें ही लीनता रहती है। हे भगवन्! जिस प्रकार वायु रहित स्थानमें रखे हुए दीपककी ज्योति अपने आपमें स्थिर—निमग्न रहती है उसी प्रकार आप भी अपने स्वरूपमें स्थिर—निमग्न हैं। विभाव परिणतिके नष्ट हो जानेसे आपकी यह स्वरूप निमग्नता स्वयं सुशोभित हो रही है। इस दशामें आपका यह ज्ञान-दर्शन-स्वभाव पूर्ववर्ती विभाव परिणतिसे भिन्न स्वादवाला हो गया है, क्योंकि सराग ज्ञानकी अपेक्षा वीतराग विज्ञानकी अनुभूति भिन्न प्रकारकी होती है। सराग ज्ञान, पदार्थको जानते समय उसमें इष्ट-अनिष्टकी अनुभूति भी करता है, परन्तु वीतराग विज्ञान पदार्थको जानते समय इष्ट-अनिष्ट-की अनुभूतिसे सर्वथा रहित हो जाता है। आपका यह स्वभाव, स्वानुभवसे अच्छी तरह प्रकट हो रहा है ॥६॥

अभावभावादिविकल्पजालं समस्तमप्यस्तमयं नयन्नः।
समुच्छलद्बोधसुधाप्लवोऽयं स्वभाव एवोल्लसति स्फुटस्ते ॥७॥

अन्वयार्थ—(नः) हमारे (समस्तम् अपि) सभी प्रकारके (अभावभावादिविकल्पजालं) अभाव तथा भाव आदि विकल्पोंके समूहको (अस्तमयं नयन्) अस्तभावको प्राप्त कराता हुआ (समुच्छलद्बोधसुधाप्लवः) सब ओर उच्छलित होनेवाले ज्ञानरूप अमृतके प्रवाहसे सहित (ते) आपका (अयं) यह (स्फुटः) स्पष्ट (स्वभाव एव) स्वभाव ही (उल्लसति) उल्लसित हो रहा है—प्रतीतिमें आ रहा है।

भावार्थ—नयात्मक श्रुतज्ञानकी अपेक्षा विचार करनेपर पदार्थ पर चतुष्टय पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अभावरूप होता है और स्वतुष्टयसे भावरूप रहता है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य रहता है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य रहता है। सामान्यसे एक है और विशेषसे अनेक है। इस प्रकार नाना प्रकारके विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। परन्तु केवलज्ञान इन सब विकल्पोंको समाप्त कर देता है। उसके होने पर ये सब विकल्प स्वयमेव विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। हे भगवन्!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसमें वीतरागविज्ञानरूप अमृतका पूर उच्छलित होता रहता है ऐसा आपका स्वभाव ही इस अरहन्त अवस्थामें प्रकट हो रहा है, रागादिविभाव समूल नष्ट हो चुका है ॥७॥

स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः स्फुटप्रकाशस्य तवोज्जिहासोः ।
समन्ततः सम्भृतबोधसारः प्रकाशपुञ्जः परितश्चकास्ति ॥८॥

अन्वयार्थ—(स्वभावबद्धाचलितैदृष्टेः) जिनकी दृष्टि स्वभावमें बद्ध होकर अचल-स्थिर हो चुकी है (स्फुटप्रकाशस्य) जिनका ज्ञानरूप प्रकाश अत्यन्त स्पष्ट है तथा (उज्जहासोः) जो ऊर्ध्वगतिस्वभावसे लोकान्तमें विद्यमान सिद्धालयको प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे (तव) आपका (समन्ततः सम्भृतबोधसारः) सब ओरसे श्रेष्ठ ज्ञानसे परिपूर्ण (प्रकाशपुञ्जः) आत्मप्रकाशका समूह (परितः) सभी ओर (चकास्ति) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! चारित्रमोहजन्य चञ्चलताके नष्ट हो जानेसे आपकी दृष्टि, स्वभावमें बद्ध और अचल हो गई है । यद्यपि दर्शनमोहके नष्ट हो जानेसे वह स्वरूपमें बद्ध तो पहले ही हो चुकी थी, तथापि चारित्रमोहजन्य चञ्चलताके कारण उसमें अचलित नहीं हो पाती थी । यतश्च अब वह चञ्चलता नष्ट हो चुकी है, इसलिये वह स्वभावमें बद्ध और अचल हो चुकी है । आपकी अन्तरात्मा अन्तःप्रकाशसे प्रकाशित है तथा आप नियमसे उज्जिहासु-ऊर्ध्वगमन करनेवाले हैं । चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें सत्तास्थित पचासी कर्म प्रकृतियोंका क्षय कर एक समय मात्रमें लोकके शिखर पर विराजमान होनेवाले हैं । लोकालोकावभासी होनेसे केवलज्ञान, समस्त ज्ञानोंमें सारभूत है । इस केवलज्ञानको आपने समस्त आत्मप्रदेशोंमें धारण किया है । इस प्रकार आपका यह आभ्यन्तर प्रकाशका समूह सब ओर सुशोभित हो रहा है तथा शरीरकी दीप्तिरूप बाह्य प्रकाश भी चारों ओर विस्तृत हो रहा है ॥८॥

अनादिमध्यान्तचिदेकभासि प्रकाशमाने त्वयि सर्वतोऽपि ।
एकाखिलक्षालितकश्मलेयं विलासमायात्यनुभूतिरेव ॥९॥

अन्वयार्थ—(अनादिमध्यान्तचिदेकभासि) जिनके चैतन्यकी अद्वितीव दीप्ति आदि मध्य और अन्तसे रहित है ऐसे (त्वयि) आपके (सर्वतोऽपि) सभी ओर (प्रकाशमाने 'सति') प्रकाशमान होनेपर (अखिलक्षालितकश्मला) जिसने सम्पूर्णरूपसे पापोंको नष्ट कर दिया है (इयं) यह ऐसी (एका) एक (अनुभूतिः एव) अनुभूति ही (विलासं) शोभाको (आयाति) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका जो चैतन्यस्वभाव है वह आदि मध्य और अन्तसे रहित है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव त्रैकालिक होता है । ऐसे अद्वितीय चैतन्यस्वभावसे सहित आप जब प्रकाशमान होने लगते हैं अर्थात् मेरी दृष्टि जब एक आपके ही ऊपर केन्द्रित हो जाती है तब मुझे नियमसे आत्मानुभूति होने लगती है । आपके जाननेमात्रसे मेरा लक्ष्य अपने शुद्धस्वरूपकी ओर जाने लगता है और उस स्थितिमें मेरे सब पाप नियमसे विलीन हो जाते हैं । अन्यत्र भी कहा है—जो द्रव्य गुण ओर पर्यायकी अपेक्षा अरहन्तको जानता है वह अपनेको जानता है और अपने आपको जाननेवालेका मोह नियमसे विलीन हो जाता है[1] ।

---

१. जो जणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥८०॥—प्रवचनसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे चकासति व्यापिनि नित्यपूर्णे ।
न खण्डनं कोऽपि विधातुमीशः समन्ततो मे निरुपप्लवस्य ।।१०।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अत्र) इस लोकमें (अनुभूतिमात्रे) एक अनुभूतिरूप (व्यापिनि) व्यापक तथा (नित्यपूर्णे) निरन्तर पूर्ण रहनेवाले (तव) आपके (तेजसि) तेजके (चकासति 'सति') सुशोभित होते हुए (समन्ततः) सब ओरसे (निरुपप्लवस्य) उपद्रवरहित (मे) मेरा (खण्डनं विधातुं) खण्डन करनेके लिये (कोऽपि न ईशः) कोइ भी समर्थ नहीं है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! केवलज्ञानरूप जो आपका तेज है उसका अनुभव तो किया जा सकता हैं, परन्तु शब्दोंके द्वारा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता । वह सर्वत्र व्यापक है अर्थात् लोक-अलोकके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण सर्वत्र व्याप्त कहलाता है और नित्यपूर्ण है—निरन्तर पूर्णताको प्राप्त है । क्षायोपशमिक ज्ञान तो चन्द्रमाकी कलाओंके समान हीनाधिकरूपसे विद्यमान रहता है, परन्तु क्षायिक ज्ञान केवलज्ञान, सूर्य विम्बके समान सदा पूर्ण ही प्रकट होता हैं । इस प्रकारका केवलज्ञानरूप अद्वितीय तेज जब प्रकाशमान हो रहा है तब मैं सभी ओरसे निरुपद्रव हूँ—आपके सर्वज्ञ स्वभावकी श्रद्धा होनेसे मैं अपने आपमें निर्बाध हो गया हूँ । मेरा विश्वास हो गया है कि जैसा सर्वज्ञस्वभाव आपका है वैसा ही मेरा है । मेरी इस श्रद्धाको अन्यथा करनेकी सामर्थ्य अब किसीमें नहीं है । लौकिक दृष्टिसे भी रात्रिके सघन अन्धकारमें ही किसीको अन्य शत्रुओंसे मारे जानेका भय रहता है, परन्तु जब सूर्यका प्रकाश चारों ओर फैल रहा हो तब किसी-को किसी ओरसे मारे जानेका भय नहीं रहता । इसके सिवाय केवलज्ञानका यह एक अतिशय भी है कि जहां केवली भगवान् विद्यमान रहते हैं वहां अदया और उपसर्गका वातावरण स्वयं नष्ट हो जाता है ।।१०।।

चित्तेजसा साकमनादिमग्नचित्तेजसोन्मज्जसि साकमेव ।
न जातुचिन्मुञ्चसि चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इवात्मधाम ।।११।।

अन्वयार्थ—(चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेजके (साकं) साथ (अनादिमग्न) अनादि कालसे मग्न रहनेवाले आप (चित्तेजसा) चैतन्यरूप तेजके (साकमेव) साथ ही (उन्मज्जसि) उन्मग्न-प्रकट होते हैं (चण्डरोचिः स्फुरत्तडित्पुञ्ज इव) तीक्ष्ण कान्ति देदीप्यमान बिजलियोंके समूहके समान (जातुचित्) कभी भी (आत्मधाम) आत्मतेजको (न मुञ्चसि) नहीं छोड़ते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! केवलज्ञानरूप तेज, यद्यपि आपकी आत्माका अद्वितीय गुण है तथापि वह कर्माच्छादित होनेके कारण अनादि कालसे अप्रकट रहा है, परन्तु अब कर्मपटलके विघटित होनेसे वह पूर्णरूपसे प्रकट हुआ है । अब वह सदा देदीप्यमान रहेगा और एक साथ कौंदती हुई बिजलियोंके समूहके समान प्रकाशसे परिपूर्ण होगा । तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी सादि और अनन्त पर्याय है । जिस प्रकार अन्य दर्शन, अपने ईश्वरको अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत करते हैं उस प्रकार जैन दर्शन उसे अनादि सिद्ध और अनादि सर्वज्ञ स्वीकृत नहीं करता । उसकी मान्यता है जो जीव अनादि कालसे कर्मपटलसे आच्छादित तथा अज्ञानी रहा है वही अपनी साधनाओंसे कर्मपटलको विघटित कर वीतराग और सर्वज्ञ होता है ।।११।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्ततः सौरभमातनोति तवैष चिच्छक्तिविकासहासः ।
कस्याप्यमुञ्चिन्मकरन्दपानलौल्येन धन्यस्य दृशो विशन्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपका (एषः) यह (चिच्छक्तिविकासहासः) चैतन्य-शक्तिका विकासरूप हास्य (समन्ततः) सब ओर (सौरभं) सुगन्धको (आतनोति) विस्तृत कर रहा है । सो (कस्यापि धन्यस्य दृशः) किसी भाग्यशाली मनुष्यकी दृष्टि ही (चिन्मकरन्दपानलौल्येन) चैतन्यरूप मकरन्दके पानकी तृष्णासे (अमुं) इस सुगन्धको (विशन्ति) प्राप्त होती है—उसका उपभोग करती है, सबकी नहीं ।

भावार्थ—जिस प्रकार सब ओर फैलनेवाली पुष्पसमूहकी सुगन्धका उपभोग कोई भाग्य-शाली मनुष्य ही कर सकते हैं सब नहीं, उसी प्रकार सब ओर अपना प्रभाव स्थापित करनेवाले आपके चैतन्यस्वभावकी महिमाको कोई निकट भव्य जीव ही श्रद्धाका विषय बना सकते हैं, सब नहीं । तात्पर्य यह है कि वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रकी श्रद्धा उन्हीं निकट भव्य जीवोंको होती है जिनके हृदयमें चैतन्य स्वभावके रसास्वादनकी सदा आकांक्षा रहती है ॥१२॥

त्वमेक एवैकरसस्वभावः सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम् ।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(एकरसस्वभावः) जो एक ज्ञायक स्वभावसे सहित है, (स्वानुभवेन कामं सुनिर्भरः) जो स्वानुभवसे यथेच्छ परिपूर्ण है और (अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीः) जिनकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्यके पिण्डके सहित है ऐसे (एकः) एक (त्वमेव) आप ही (सैन्धव-खिल्यलीलाम्) नमककी डलीकी लीलाको (विगाहसे) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार नमककी डलीका एक एक कण क्षाररससे व्याप्त है उसी प्रकार हे भगवन् ! आपका एक एक प्रदेश ज्ञायक स्वभावसे परिपूर्ण है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान, चारित्रमोहजनित रागसे सहित होता है तब वह नाना ज्ञेयोंमें संलग्न रहता है, परन्तु जब वह रागसे सर्वथा रहित हो जाता है तब स्वरूपमें स्थिर होने लगता है। क्षायिक ज्ञान रागसे रहित ही होता है, क्योंकि पूर्ण वीतरागदशा होनेपर ही उसकी उत्पत्ति होती है, अतः क्षायिक ज्ञान स्वरूपमें स्थिर रहता है इसी अभिप्रायसे आपको स्वानुभवसे यथेच्छ परिपूर्ण कहा है ॥१३॥

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द्र एव स्वरसेन भासि ।
प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतः[1] विशुद्ध चैतन्यके पूरमें सब ओरसे डूबे हुए (त्वम्) आप (स्वरसेन) आत्मरससे (आर्द्रार्द्रः एव) अत्यन्त आर्द्र ही (भासि) सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि (प्रालेयपिण्डः) बर्फका पिण्ड (अद्रवतायुतोऽपि) घनरूपतासे युक्त होने पर भी (सदा) सर्वदा (परितः) सब ओरसे (आर्द्र एव) आर्द्र ही (विभाति) प्रतीत होता है।

---

१. अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥
—समयसारकलश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जिस प्रकार बर्फका पिंड यद्यपि द्रवता—तरलतासे युक्त नहीं है, किन्तु जमकर शिलाके समान अद्रवरूप हो गया है। तथापि वह सदा आर्द्र ही रहता है, उसमेंसे पानी झरता हुआ मालूम होता है उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्यके पूरसे परिप्लुत रहनेवाले आप स्वरस—एक ज्ञायक-स्वभावसे युक्त ही प्रतीत होते हैं ॥१४॥

अपारबोधामृतसागरोऽपि स्वपारदर्शी स्वयमेव भासि।
त्वमन्यथा स्वानुभवेन शून्यो जहासि चिद्वस्तुमहिम्नि नेच्छाम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (अपारबोधामृतसागरोऽपि 'सन्') अपार ज्ञानरूप अमृतके सागर होकर भी (स्वयमेव) अपने आप ही (स्वपारदर्शी) एक आत्माके पारदर्शी (भासि) मालूम हो रहे हैं। (अन्यथा) यदि ऐसा नहीं होता तो (त्वं) आप (स्वानुभवेन) स्वानुभावसे (शून्यः) रहित होते तथा (चिद्वस्तुमहिम्नि) चैतन्यरूप वस्तुकी महिमामें (इच्छाम्) इच्छाको (न जहासि) नहीं छोड़ते।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप अनन्त ज्ञानके सागर हो—लोक-अलोकके ज्ञाता हो तथापि निश्चय नयसे मात्र आत्मदर्शी हो। यदि ऐसा न होता तो आप स्वानुभवसे शून्य होते और चिद्वस्तुकी महिमाकी इच्छासे रहित नहीं होते। यतश्च आप तद्विषयक इच्छासे रहित हो चुके हैं, अतः सिद्ध है कि आप आत्मदर्शी हैं ॥१५॥

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।
ददाति नैवान्तरमुद्धतायाः समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (समग्रपिंडीकृतबोधसारः) जिसमें ज्ञानका सार सम्पूर्णरूपसे एकत्र समाविष्ट किया गया है ऐसा (अयं) यह (तव) आपका (अखण्डितः) कभी खण्डित न होने-वाला (स्वानुभवः) स्वानुभव (समन्ततः) सब ओरसे (उद्धतायाः) बहुत भारी (ज्ञानपरम्परायाः) ज्ञानकी परम्पाराको (अन्तरं) अवकाश (नैव ददाति) नहीं देता है।

भावार्थ—ज्ञानका फल स्वानुभूति है, इसके प्रकट होते ही विकल्पात्मक ज्ञानकी परम्परा स्वयं समाप्त हो जाती है। हे भगवन्! आपने स्वानुभवकी उस अपूर्व अवस्थाको प्राप्त कर लिया है जहां ज्ञान और ज्ञेयका विकल्प समाप्त हो जाता है ॥१६॥

निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्तविश्वोर्मिभरः स्वभावः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अनन्ते) अन्त रहित (स्वमहिम्नि) स्वकीय आत्माकी महिमामें (निषीदतः) स्थित रहनेवाले (ते) आपका (अयं एकः एव) यह एक ही (स्वभावः) स्वभाव (सदा) सदा (उदेति) उदित रहता है जो (निरन्तरप्रस्फुरितानुभूतिः) निरन्तर प्रकट हुई स्वानुभूतिसे सहित है, (स्फुटः) स्पष्ट है और (विश्रान्तविश्वोर्मिभरः) जिसमें समस्त तरङ्गोंका समूह—ज्ञानसन्ततियाँ विकल्पोंका जाल विश्रान्त हो जाता है—शान्त हो जाता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप स्वरूपरमणकी उस उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हो चुके हैं जहाँ निरन्तर स्वकी अनुभूति होती हैं और परज्ञेयका विकल्प दूर हो जाता हैं ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वा क्रिया कारककश्मलैव कर्त्रादिमूला किल तत्प्रवृत्तिः ।
शुद्धः क्रियाचक्रपराङ्मुखस्त्वं भामात्रमेव प्रतिभासि भावः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(सर्वा क्रिया) जो भी क्रिया होती हैं वह सब (कारककश्मला एव) कारकोंसे युक्त ही होती है, क्योंकि (किल) निश्चयसे (तत्प्रवृत्तिः) उस क्रियाकी प्रवृत्ति (कर्त्रादिमूला) कर्ता आदि कारकोंके निमित्तसे होती है। हे भगवन् ! आपका (शुद्धः भावः) शुद्धभाव (क्रियाचक्रपराङ्मुखः) क्रियाकलापसे पराङ्मुख हो चुका हैं, अतः (त्वम्) आप (भामात्रमेव) एक अन्तर्दीप्तिरूप ही (भासि) सुशोभित हो रहे हैं ।

भावार्थ—जहाँ क्रियाका विकल्प होता है वहां कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान और अधिकरण इन छह कारकोंका विकल्प नियमसे आता हैं । प्रारम्भमें भिन्न कारकचक्रका विकल्प रहता हैं पश्चात् धीरे धीरे परकारक चक्रका विकल्प समाप्त होकर अभिन्नकारक चक्रका विकल्प आता हैं और अन्तमें वह विकल्प भी समाप्त होता हैं । यह दशा तब प्रकट होती है जब आत्मा क्रियाचक्रसे पराङ्मुख होता हैं और क्रियाचक्रसे पराङ्मुख तब होता है जब पूर्ण कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त होता है। हे भगवन् ! आप पूर्ण कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त हुए हैं अतः क्रियाचक्रसे पराङ्मुख हैं और यतः क्रियाचक्रसे पराङ्मुख हैं अतः कारकचक्रकी प्रक्रियासे भी उत्तीर्ण हैं। अब तो आप ज्ञानमात्र हैं। कौन जाननेवाला हैं और किसको जानता है यह सब विकल्प स्वतः समाप्त हो गया हैं ॥१८॥

स्वस्मै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसन्नः ।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव भासि ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (इह) यहां (सुप्रसन्नः) अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त हुए (स्वः) आप (स्वस्मिन्) अपने आपमें (स्वस्मै) अपने आपके लिये (स्वतः) अपने आपसे (स्वं एकभावं) एक अपने आपको (स्वयं) अपने आपके द्वारा (पश्यसि) देख रहे हैं—निर्विकल्परूपसे जान रहे हैं। इस प्रकार (ईश) हे नाथ ! आप (अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितः) द्रष्टा और दृश्यके अभेदसे स्थित हैं, (अस्मात्) इसलिये (न कारकाणि) दृष्टि क्रियाके कारक नहीं हैं, आप (दृगेव) दर्शनरूप ही (भासि) सुशोभित हो रहे हैं ।

भावार्थ—पूर्व श्लोकमें जिस प्रकार ज्ञप्तिक्रियासम्बन्धी कारकचक्रसे उत्तीर्ण कर भगवान् को ज्ञानमात्र कहा था उसी प्रकार यहां दृष्टिक्रियासम्बन्धी कारकचक्रसे उत्तीर्ण कर दर्शनमात्र सिद्ध किया है। हे भगवन् ! आप इस उत्कृष्ट भूमिकामें विद्यमान हैं जहां द्रष्टा-देखनेवाला और दृश्य-देखने योग्य पदार्थका विकल्प समाप्त हो जाता हैं ॥१९॥

एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं पूर्वापरीभावविभक्तभावः ।
नित्योदितैकाग्रदृगेकभावो न भाससे कालकलङ्कितश्रीः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(पूर्वापरीभावविभक्तभावः) जिसमें पूर्वभाव और परभावका भेद विभक्त रहता है ऐसा पदार्थ (एकोऽपि) एक होता हुआ भी (कामं) अच्छीतरह (अनेकत्वं) अनेकपनको (उपैति) प्राप्त होता है, परन्तु हे भगवन् ! आप (नित्योदितैकाग्रदृगेकभावः) निरन्तर उदित हुए एकाग्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन सामान्य दर्शन गुणके कारण एकत्वभावको प्राप्त हैं अतः (कालकलङ्कितश्रीः न भाससे) कालसे कलङ्कित लक्ष्मीसे युक्त प्रतीत नहीं होते हैं।

भावार्थ—एक अखण्ड द्रव्यका जब कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंकी अपेक्षा विचार होता हैं तब उसमें 'यह पहले और यह पीछे' इस प्रकारका भेद अनुभवमें आता है और उस अनुभवके आधारपर वह एक होनेपर भी अनेकरूप प्रतीत होता हैं। हे भगवन्! आपका सामान्य दर्शन गुण सदासे उदित हैं, अतः उसमें कालक्रमसे होनेवाले चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवल-दर्शनरूप अनेक भेद नहीं है। इतना ही कहा जाता है कि आप एक दर्शनरूप हैं ॥२०॥

आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः समुच्छलन् खण्डयति स्वभावम्।
अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीरेको भवान् सर्वसर (रस) श्चकास्ति ॥२१॥

अन्वयार्थ—(समुच्छलन्) प्रकट होता हुआ (आद्यन्तमध्यादिविभागकल्पः) आदि अन्त और मध्य आदि विभागोंका विकल्प (स्वभावम्) स्वभावको (खण्डयति) खण्डित कर देता हैं—अनेक भेदोंमें विभक्त कर देता है, परन्तु हे भगवन्! (भवान्) आप (सर्वरसः) अनेकरूप होते हुए भी (अखण्डदृग्मण्डलपिण्डितश्रीः) अखण्ड-एक सामान्य दर्शनगुणसे संयुक्त होनेके कारण (एकः चकास्ति) एक ही सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—एक ही गुणमें जब आदि मध्य और अन्तका विकल्प होता है तब वह एक होने पर अनेकरूप प्रतीत होने लगता है, परन्तु जब उसमें देश क्रमसे होनेवाले विभागक्रमको गौण कर दिया जाता है तब वह एकरूप ही अनुभवमें आता है। यतः शुद्धनय, देशक्रमसे होनेवाले विभागक्रम को गौण कर एक सामान्य—त्रिकालवर्ती भावको ग्रहण करता है अतः उसकी अपेक्षा आपका दर्शनगुण आदि मध्य और अन्तके विकल्पसे रहित होनेसे एक हैं और उससे तन्मय होनेके कारण आप भी एक ही हैं ॥२१॥

भामात्रमित्युत्कलितप्रवृत्तिर्मग्न-क्रिया-कारक-काल-देशः।
शुद्धस्वभावैकज्वलज्ज्वल (जलोज्जल) स्त्वं पूर्णो भवन्नासि निराकुलश्रीः ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् (त्वं) आप ('भामात्रम्' इत्युत्कलितप्रवृत्तिः) जिनके विषयमें 'ज्ञान-मात्र' ऐसा व्यवहार होता है, (मग्नक्रियाकारककालदेशः) जिनमें क्रिया कारक काल और देशका विभाग समाप्त हो गया है, (शुद्धस्वभावैकजलोज्ज्वलः) जो शुद्ध स्वभावरूप एक जलसे उज्ज्वल हैं, (पूर्णः) पूर्णताको प्राप्त हैं और (निराकुलश्रीः) निराकुल लक्ष्मीसे युक्त हैं ऐसे (ना असि) आत्मा हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप क्रिया कारक देश काल आदिके विकल्पसे रहित, शुद्धस्वभावके धारक, पूर्णताको प्राप्त और निराकुललक्ष्मीसे सहित हैं ॥२२॥

एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्त्या।
चकासतः केवलनिर्भरस्य न सङ्करस्तेऽस्ति न तुच्छतापि ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभागभामात्रभावास्खलितैकवृत्त्या) जो एकाग्र—एक आत्मस्वरूपमें स्थिर, पूर्ण, निश्चल और विभागहीन ज्ञानमात्र भावसे च्युत न होनेवाली वृत्तिसे (चकासतः) सुशोभित हो रहे हैं तथा (केवलनिर्भरस्य) 'मात्र अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं ऐसे (ते)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपके (सङ्करः) सङ्कर—अनेक पदार्थोंका मिश्रण (न) नहीं हैं और (तुच्छतापि) शून्यता भी नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जिस भामात्र ज्ञानमात्र—भावसे युक्त है वह एकाग्र है—एक आत्मस्वरूपमें स्थिर है, पूर्ण है—अपने अनन्तानन्त अविभाग प्रतिक्छेदोंसे पूर्णताको प्राप्त है, अविनश्वर हैं और मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदिके विभागसे रहित है। उपर्युक्त शुद्ध स्वभावमें आप सदा स्थिर रहते हैं। आप यद्यपि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं अथवा केवलज्ञानसे युक्त हैं और उसके कारण अनन्त ज्ञेय आपके भीतर प्रतिफलित हैं तो भी आप सङ्कर नहीं हैं—उन ज्ञेयोंके साथ तन्मयताको प्राप्त नहीं हैं। साथ ही आप तुच्छाभावरूप नहीं हैं। तात्पर्य यह हैं कि आप पर द्रव्य गुण पर्यायोंसे रहित होनेके कारण असंकीर्ण हैं और स्वद्रव्य गुण पर्यायोंसे सहित होनेके कारण तुच्छाभावरूप नहीं है ॥२३॥

भावो भवन् भासि हि भाव एव चिताभवंश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यासि चिच्चिदेकः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! (हि) निश्चयसे आप (भावो भवत् भाव एव भासि) भावरूप होते हुए भाव ही प्रतिभासित होते हैं अर्थात् जब आप अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा पदार्थाकार परिणमन करते हैं तब पदार्थ ही प्रतिभासित होते हैं और (चिताभवन् चिन्मय एव भासि) चेतनरूप होते हुए चेतनमय ही जान पड़ते हैं अर्थात् जब आप अन्य पदार्थोंसे निवृत्त हो अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा एक चेतन द्रव्यरूप परिणमन करते हैं तब चेतन द्रव्यसे तन्मय जान पड़ते हैं। (वा) अथवा (भावो न भासि चिदेव जासि) भावरूप—पदार्थरूप प्रतिभासित नहीं होते हैं, चेतनद्रव्य—आत्मद्रव्यरूप ही प्रतिभासित होते हैं, अथवा (चित् न भासि) चैतन्यसे विशिष्ट चित् प्रतिभासित नहीं होते किन्तु (एकः चिन् असि) मात्र एक चैतन्यरूप प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—यहां भाव और भगवान् तथा गुण और गुणीमें अभेद और भेद विवक्षाको दिखलाते हुए भगवान्का स्तवन किया गया है। भाव और भगवान् अथवा गुण और गुणीमें प्रदेशभेद नहीं होता, अतः अभेद माना जाता है और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद स्वीकृत किया जाता है। अभेद विवक्षामें कहा गया है कि आप भावरूप होते हुए भासित होते हैं अतः भाव ही हैं अर्थात् आपमें और आपके भावमें कोई प्रदेशभेद नहीं है। यही अभिप्राय चैतन्य और चेतनके विषयमें जानना चाहिये। आगे कहा गया है कि आप भावरूप भासित नहीं हो रहे हैं किन्तु भाववान् ही सुशोभित हो रहे हैं। यहां भाव और भाववान् दोनोंमें भेद दिखाया गया है ॥२४॥

एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य भावस्य भामारसुनिर्भरस्य।
सदाऽस्खलद्भावनयानयाहं भवामि योगीश्वर भाव एव ॥२५॥

अन्वयार्थ—(योगीश्वर) हे योगीन्द्र ! (अहं) मैं (एकस्य) एक (शुद्धस्य) शुद्धस्य) शुद्ध (निराकुलस्य) आकुलतारहित और (भाभारसुनिर्भरस्य) दीप्तिके समूहसे अत्यन्त भरे हुए (भावस्य) चिद्भावकी (सदा) सर्वदा (अनया) इसे (अस्खलद्भावनया) अखण्डभावनाके द्वारा (भाव एव) चिद्भावरूप ही (भवामि) होता हूँ।

भावार्थ—'जो निरन्तर जिसकी भावना करता है वह उसीरूप हो जाता है' इस सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध भावकी अनवरत भावना करनेसे मैं भी उसीरूप होता हूँ ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

अनुष्टुप् छन्दः

इयं द्राघीयसी सम्यक्परिणाममभीप्सता ।
भवतात्मवता देव क्षपिता मोहयामिनी ॥१॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (सम्यक्परिणामम् अभीप्सता) समीचीन परिणामकी इच्छा रखनेवाले (आत्मवता भवता) आप आत्मज्ञके द्वारा (इयं) यह (द्राघीयसी) सुदीर्घ (मोहयामिनी) मिथ्यात्वरूपी रात्रि (क्षपिता) नष्ट की गई है ।

भावार्थ—यहाँ मिथ्यात्वको रात्रिकी उपमा देते हुए आचार्यने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि जिस प्रकार रात्रिके घनघोर अन्धकारमें कुछ दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयमें भी जीवको कुछ सूझ नहीं पड़ता । जिस प्रकार पित्तज्वरवालेको मीठा दूध भी कडुआ लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्वके रहते हुए इस जीवको सुगुरुओंका सदुपदेश भी अरुचिकर लगता है । यह मिथ्यात्वरूपी रात्रि बहुत बड़ी है अर्थात् अनादिकालसे साथमें लग रही है । हे भगवन् ! किसी अच्छे फलकी इच्छा करते हुए आपने इस मोहरूपी दीर्घ रात्रिको नष्ट किया है । किन्तु कब नष्ट किया ? जब आप आत्मवान् हुए । ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववाले आत्माकी ओर जब आपका लक्ष्य हुआ तभी आप इस मोहरूपी रात्रिको नष्ट कर सके हैं । तात्पर्य यह है कि इस मोह-रूपी रात्रिको नष्ट करनेका श्रेष्ठ उपाय यही है कि परसे भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायोंसे अभिन्न शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्रतीतिकी जाय । इसके बिना मिथ्यात्वका नष्ट होना और सम्यक्त्वका प्राप्त होना संभव नहीं है ॥१॥

सुविशुद्धैश्चिदुद्गारैर्जीर्णमाख्यासि कश्मलम् ।
अज्ञानादतिरागेण यद्विरुद्धं पुराहृतम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानात्) अज्ञानवश (अतिरागेण) तीव्र रागके द्वारा इस जीवने (पुरा) पहले (यत्) जो (विरुद्धं) विरुद्ध–दुःखदायक (कश्मलं) पाप (आहृतं) संचित किया है वह (सुविशुद्धैः) अत्यन्त निर्मल (चिदुद्गारैः) चैतन्यके उद्गारोंसे (जीर्णं) नष्ट हो जाता है ऐसा आप (आख्यासि) उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—मिथ्यात्वदशामें अज्ञानवश बांधे हुए अशुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्ति, सम्यक्त्वके होते ही क्षीण हो जाती है, शुभ कर्मोंकी अनुभाग शक्ति बढ़ जाती है और सत्तामें स्थित कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है । ऐसा आपका उपदेश है ॥२॥

दीप्रः प्रार्थयते विश्वं बोधाग्निरयमञ्जसा ।
त्वं तु मात्राविशेषज्ञस्तावदेव प्रयच्छसि ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(दीप्रः) अत्यन्त तेज (अयं) यह (अञ्जसा बोधाग्निः) सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि (विश्वं) समस्त विश्वको (प्रार्थयते) चाहती है—उसे अपना ज्ञेय बनाना चाहती है (तु) परन्तु (त्वं) आप (मात्राविशेषज्ञः) मात्रापरिणामके विशेषज्ञ हैं अतः (तावदेव) उतना ही ज्ञेय उसे (प्रयच्छसि) प्रदान करते हैं जितनेको वह निराकुलतासे जान सकती है।

भावार्थ—जिस प्रकार तीव्र जठराग्निवाला पुरुष बहुत खाना चाहता है, परन्तु 'कितनी मात्रामें भोजन देना चाहिये' इस बातको समझनेवाला वैद्य उसे उसकी शक्तिके अनुसार ही भोजन देता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ जीव अपने ज्ञानके द्वारा यद्यपि समस्त विश्वको जाननेकी अभिलाषा रखता है, परन्तु आप उसकी ज्ञानशक्तिके पारखी है अतः उसे उतना ही जाननेका उपदेश देते हैं जितना कि वह निराकुलतासे जान सकता है। जिनागममें बहुज्ञानकी नहीं, किन्तु सम्यग्ज्ञानकी प्रतिष्ठा की गई है। ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वोका पाठी मिथ्यादृष्टि जीव, कबतक संसारमें भ्रमण करेगा, इसका निर्णय नहीं, परन्तु अष्टप्रवचनमातृकाके जघन्य सम्यक् श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव नियमसे अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवलज्ञानी बन जाता है और आयुके निषेक क्षीण हो चुके हैं तो उसी अन्तर्मुहूर्तमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

बोधाग्निरिन्धनीकुर्वन् विश्वं विश्वमयं तव।
स्वधातुपोषमेकं हि तनुते न तु विक्रियाम् ॥४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (विश्वं विश्वं) समस्त लोकको (इन्धनीकुर्वन्) अपना ईंधन बनाती हुई—जानती हुई (तव) आपकी (अयं) यह (बोधाग्निः) ज्ञानरूपी अग्नि (हि) निश्चयसे (एकं स्वधातुपोषं) एकमात्र आत्मगुणोंका पोषण, (तनुते) करती है (न तु विक्रियां) किन्तु विकारको नहीं करती।

भावार्थ—जिस प्रकार जठराग्नि उचित भोजन ग्रहणकर उसके द्वारा रक्त-मांस आदि धातुओंका पोषण करती हुई शरीरकी वृद्धि करती है उसी प्रकार हे भगवन्! आपकी यह ज्ञानरूपी अग्नि समस्त संसारको जानकर उसके द्वारा आत्मगुणोंका पोषण करती है। रागादि दोषोंकी वृद्धि नहीं करती है ॥४॥

विश्वग्रासातिपुष्टेन शुद्धचैतन्यधातुना।
रममाणस्य ते नित्यं बलमालोक्यतेऽतुलम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(विश्वग्रासातिपुष्टेन) समस्त वस्तुओंके ग्रहण करनेसे अत्यन्त पुष्ट (शुद्धचैतन्यधातुना) वीतराग विज्ञानके साथ (नित्यं) निरन्तर (रममाणस्य) रमण करनेवाले (ते) आपका (अतुलम्) उपमा रहित (बलम्) वीर्य (आलोक्यते) दिखाई देता है—अनुभवमें आता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अनन्त ज्ञानके धारक हैं, अतः उससे आपके अनन्त बलका अनुमान होता है, क्योंकि अनन्त बलके बिना अनन्त ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती ॥५॥

अनन्तबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन् विभुः।
अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासस्त्वमेवैको विलोक्यसे ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अनन्तबलसन्नद्धं स्वभावं भावयन्) जो अनन्त बलसे युक्त स्वभावकी भावना करता है (विभुः) सामर्थ्ययुक्त है तथा (अन्तर्जीर्णजगद्ग्रासः) जिसने जगत्‌रूपी ग्रासको भीतर ही भीतर जीर्ण कर दिया है—उसे अन्तर्ज्ञेय बनाकर अपने आपमें विलीन कर लिया है ऐसे (त्वमेव एकः) आप ही एक (विलोक्यसे) दिखाई देते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त बलसे युक्त आत्मस्वभावको साक्षात् प्राप्त कर चुके है तथा समस्त विश्वको अपने ज्ञानका विषय बनाकर अपने आपमें विलीन कर चुके हैं ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्यसे युक्त आप ही है ॥६॥

विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः प्रयातस्तृप्तिमक्षयाम् ।
अयं निरुत्सुको भाति स्वभावभर निर्भरः ॥७॥

अन्वयार्थ—जो (विश्वग्रासात्) समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेसे—उनके ज्ञाता होनेसे (अनाकांक्षः) अज्ञात पदार्थके न रहनेके कारण उसे जाननेकी आकांक्षासे रहित हैं, (अक्षयाम्) अविनाशी (तृप्ति) तृप्तिको प्राप्त हैं, (निरुत्सुकः) किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित नहीं है तथा (स्वभावभरनिर्भरः) स्वभावभूत ज्ञान दर्शनादि गुणोंके समूहसे परिपूर्ण हैं ऐसे (अयं) यह आप (भाति) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवका ज्ञान क्रमवर्ती है, अतः वह जब एक पदार्थमें प्रवृत्त होता है तब उसके दूसरे पदार्थके जाननेकी आकांक्षा विद्यमान रहती है। लोभ कषायसे पीड़ित संसारी जीव, अनेक वस्तुओंके प्राप्त होनेपर भी तृप्तिका अनुभव नहीं करता है उसे निरन्तर अलब्ध वस्तुको प्राप्त करनेका लोभ सताता रहता है। लोभी मनुष्य किसी वस्तुको देख तत्काल उसे प्राप्त करनेके लिये उत्सुक हो उठता है और स्वभावकी ओर लक्ष्य न देकर वह सदा विभावभावोंमें ही उलझा रहता है, परन्तु हे भगवन् ! आपकी परिणति, उपर्युक्त परिणतिसे विपरीत है, अतः आप स्तुतिके पात्र है ॥७॥

अनन्तरूपैरुद्यद्भिरुपयोगचमत्कृतैः ।
वहस्येकोऽपि वैचित्र्यं स्वमहिम्ना स्फुटीभवन् ॥८॥

अन्वयार्थ—(स्वमहिम्ना स्फुटीभवन्) जो आत्ममहिमाके द्वारा स्पष्ट अनुभवमें आ रहे हैं ऐसे आप (एकोऽपि) एकरूप होकर भी (उद्यद्भिः) उत्पन्न होनेवाले (अनन्तरूपैः) अनन्त प्रकारके (उपयोगचकत्कृतैः) उपयोगसम्बन्धी चमत्कारोंसे (वैचित्र्यं) विचित्रता—अनेकरूपताको (वहसि) धारण करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आप एक हैं तथापि क्षणमें परिणमनशील उपयोगके अनन्त चमत्कारोंके कारण अनेकरूपताको धारण करते हैं ॥८॥

एक एवोपयोगस्ते साकारेतरभेदतः ।
ज्ञानदर्शनरूपेण द्वितयीं गाहते भुवम् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (ते) आपका (एक एव उपयोगः) एक ही उपयोग (साकारेतरभेदतः) आकार और अनाकारके भेदसे (ज्ञानदर्शनरूपेण) ज्ञान और दर्शनके रूपमें (द्वितयीं भुवम्) द्विरूपताको (गाहते) धारण करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं। इसके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके रूपमें दो भेद हैं। केवली भगवान्‌के दोनों उपयोग युगपत् होनेसे एक ही उपयोग साकार और अनाकारके भेदसे ज्ञान तथा दर्शनके रूपमें द्विरूपताको प्राप्त है।

समस्तावरणोच्छेदान्नित्यमेव निरर्गले।
अपर्यायेण वर्तेते दृग्ज्ञप्ती विशदे त्वयि ॥१०॥

अन्वयार्थ—(समस्तावरणोच्छेदात्) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उच्छेद—सर्वथा नाश हो जानेसे जो (नित्यमेव) निरन्तर ही (निरर्गले) निर्बाध रहते हैं ऐसे (विशदे) अत्यन्त निर्मल (दृग्ज्ञप्ती) दर्शन और ज्ञान (त्वयि) आपमें (अपर्यायेण) एक साथ (वर्तेते) विद्यमान रहते हैं—प्रवर्तते हैं।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवोंके पहले दर्शनोपयोग होता है उसके पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌के दोनों उपयोग एक साथ प्रवृत्त होते हैं। बारहवें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं। ये दोनों ही उपयोग अत्यन्त निर्मल रहते हैं तथा बाधक कारणोंका अभाव हो जानेसे निर्बाध होते हैं। हे भगवन्! क्योंकि आप सर्वज्ञ है, अतः आपके तथोक्त दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग एक साथ प्रवृत्त रहते हैं। दर्शनोपयोग सामान्य अर्थात् आत्माको ग्रहण करता है और ज्ञानोपयोग—विशेष अर्थात् बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करता है ॥१०॥

दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीदमनन्तं वीर्यमूर्जितम्।
सहतेऽनन्तरायं ते न मनागपि खण्डनम् ॥११॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (दृग्ज्ञप्त्योः) दर्शन और ज्ञानका (सहकारि) सहकार करनेवाला—उनके साथ-साथ प्रकट होनेवाला (ऊर्जितं) अत्यन्त शक्तिसम्पन्न (अनन्तरायं) निर्विघ्न (इदं) यह (ते) आपका (अनन्तं वीर्यं) अनन्त बल (मनागपि) किञ्चित् भी (खण्डनं) खण्डनको (न सहते) सहन नहीं करता है।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जिस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका सर्वथा उच्छेद होता है उसी प्रकार अन्तराय कर्मका भी सर्वथा उच्छेद होता है। उसका उच्छेद होनेसे आत्मामें क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य ये पांच गुण प्रकट होते हैं। यहां प्रमुखरूपसे वीर्यगुणका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन्! ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका सहकार करनेवाला आपका अनन्त वीर्य भी सर्वदा निर्बाध रहता है। यह अनन्त वीर्य, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका सहकारी इसलिये होता है कि इसके बिना आत्मा उन उपयोगोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता है। यह क्षायिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी बात रही, परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके लिये भी उनके साथ प्रकट होनेवाले क्षायोपशमिक वीर्यकी आवश्यकता रहती है ॥११॥

अखण्डदर्शनज्ञानप्रागल्भ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुलः सदा तिष्ठन्नेकान्तेन सुखी भवान् ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अखण्डदर्शनज्ञानप्रागल्भ्यग्लापिताखिल:) पूर्ण दर्शन और ज्ञानकी सामर्थ्यसे जिन्होंने सबको गृहीत कर दिया है—एक साथ समस्त पदार्थोंको जान लिया है और इसलिये जो (सदा) निरन्तर (अनाकुल:) आकुलतासे रहित (तिष्ठन्) स्थित हैं ऐसे (भवान्) आप (एकान्तेन) नियमसे (सुखी) सुखसंपन्न हैं।

भावार्थ—ऊपरके दो श्लोकोंमें अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यका वर्णन किया गया था। इस श्लोकमें अनन्त सुखका वर्णन किया जा रहा है। छद्मस्थ अवस्थामें क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। इसलिये अज्ञान और अदृष्ट पदार्थको जानने देखनेकी आकाङ्क्षारूप आकुलता विद्यमान रहती है, परन्तु सर्वज्ञ अवस्थामें ज्ञान और दर्शन एक साथ प्रवर्तते हैं, साथ ही मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे किसी पदार्थके जाननेकी आकाङ्क्षा नहीं रहती, इसलिये पूर्णरूपसे निराकुलता रहती है। यह निराकुलता ही सुख कहलाती है। हे भगवन्। तथोक्त निराकुलतासे युक्त होनेके कारण आप नियमसे सुखी हैं। इस प्रकार आप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख इस अनन्त चतुष्टयसे युक्त हैं ॥१२॥

स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वान्न सुखी सन् प्रमाद्यसि।
नित्यव्यापारितानन्तवीर्य जोन्यसि (जानासि) पश्यसि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(नित्यव्यापारितानन्तवीर्य) जिनका अनन्त वीर्य निरन्तर व्यापारयुक्त है ऐसे हे जिनेन्द्र! आप (सुखी सन्) सुखी रहते हुए (न प्रमाद्यसि) प्रमाद नहीं करते हैं और (स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वात्) स्वयं दर्शन और ज्ञानरूप होनेसे पदार्थोंको (जानासि पश्यसि) जानते देखते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अनन्त वीर्यसे युक्त होते हुए अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं, तथा सुखी होनेपर प्रमाद नहीं करते, एवं स्वयं अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनरूप होनेसे पदार्थोंको जानते देखते हैं। तात्पर्य यह है कि आप अनन्त चतुष्टयसे युक्त हैं।

नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्योर्न तवास्ति मनागपि।
सतः स्वयं दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण वस्तुनः ॥१४॥

अन्वयार्थ—जो (वस्तुन:) वस्तुके (दृशिज्ञप्तिक्रियामात्रेण) दर्शन और ज्ञानकी क्रिया मात्रसे (स्वयं सत:) स्वयं सदा विद्यमान हैं—वस्तुको सदा देखते और जानते रहते हैं ऐसे (तव) आपके (दृशिज्ञप्त्यो:) दर्शन और ज्ञानमें (मनागपि) किञ्चित् भी (नश्वरत्वं) नश्वरपना (नास्ति) नहीं है।

भावार्थ—यतश्च आप संसारके समस्त पदार्थोंको स्वयं जानते देखते रहते हैं, इसलिये आपके दर्शन और ज्ञान सदा विद्यमान रहते हैं उनका कभी रञ्चमात्र भी नाश नहीं होता है ॥१४॥

न ते कर्त्रादि(द्य)पेक्षित्वाद् दृशिज्ञप्त्योरनित्यता।
स्वयमेव सदैवासि यतः षट्कारकीमयः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत:) क्योंकि आप (स्वयमेव) स्वयं ही (षट्कारकीमय:) छह कारकरूप (सदैव) सदैव (असि) हैं, इसलिये (कर्त्राद्यपेक्षात्वात्) कर्ता आदि कारकोंकी अपेक्षा करनेसे (ते) आपके (दृशि-ज्ञप्त्यो:) दर्शन और ज्ञानमें (अनित्यता) अनित्यता (न) नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—अन्य संसारी जीवोंके ज्ञान दर्शन, बाह्य कारक चक्र—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण इन छह कारकोंकी सहायता पर निर्भर होनेके कारण उनके अभावमें प्रकट नहीं हो पाते, परन्तु आप स्वयं षट्कारकरूप हैं—आपने अपने आपको षट्कारक-रूप कर लिया है, अतः कारकचक्रकी अपेक्षा आपके ज्ञान दर्शनके लिये आवश्यक नहीं है। फल-स्वरूप वे सदा प्रकट रहते हैं ॥१५॥

दृश्यज्ञे(य)बहिर्वस्तुसान्निध्यं नात्र कारणम् ।
कुर्वतो दर्शनज्ञाने दृशिज्ञप्तिक्रिये तव ॥१६॥

अन्वयार्थ—(दृशिज्ञप्तिक्रिये) जानने देखनेरूप क्रियाओंको (कुर्वतः) करते हुए (तव) आपके (अत्र दर्शनज्ञाने) इन दर्शन और ज्ञानमें (दृश्य-ज्ञेयबहिर्वस्तुसान्निध्यं) दृश्य और ज्ञेयरूप बाह्य वस्तुओंका सन्निधान (कारणं न) कारण नहीं है।

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी उत्पत्तिमें देखने और जानने योग्य बाह्य वस्तुओंका सन्निधान कारण पड़ता है, परन्तु हे भगवन् ! आप सदा जानते और देखते रहते हैं, आपके इस जानने और देखनेमें बाह्य पदार्थोंका सन्निधान कारण नहीं है। क्षायिक दर्शन और ज्ञानके निरावरण होनेसे उनकी ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य है ॥१६॥

क्रियमाणदृशिज्ञप्ती न ते भिन्ने कथञ्चन ।
स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः कर्मकीर्तनात् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(क्रियमाणदृशिज्ञप्ती) आपके द्वारा किये जानेवाले दर्शन और ज्ञान, यतः (स्वयमेव दृशिज्ञप्तीभवतः) स्वयं ही दर्शन और ज्ञान होनेवाले (ते) आपके (कर्मकीर्तनात्) कर्म कहे गये हैं, अतः (कथंचन) किसी अपेक्षा आपसे (भिन्ने न) पृथक् नहीं हैं।

भावार्थ—यहाँ दर्शन ज्ञानको आपसे अभिन्न कहनेका कारण यह है कि आप स्वयं ही दर्शन ज्ञानरूप होते हैं। निश्चयनयसे कर्तृ-कर्मभाव एक द्रव्यमें ही बनता है, अतः वही कर्ता होता है और वही कर्म ॥१७॥

क्रियां भावत्वमानीय दृशिज्ञप्तीभवन् स्वयम् ।
त्वं दृशिज्ञप्तिमात्रोऽसि भावोऽन्तर्गूढकारकः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(क्रियां) दर्शन-ज्ञानरूप क्रियाको (भावत्वम् आनीय) परिणतिरूपता प्राप्त कराके (स्वयं) अपने आप (दृशिज्ञप्तीभवन्) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (त्वम्) आप (अन्तर्गूढ-कारकः) जिसमें कारकचक्रका विकल्प अन्तर्गूढ हो चुका है ऐसे (दृशिज्ञप्तिमात्रभावः असि) दर्शनज्ञानमात्र भावरूप हुए हैं।

भावार्थ—दर्शन और ज्ञान आत्माके गुण हैं, इन गुणोंकी पदार्थोंको जानने देखनेरूप जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है। गुणोंकी यह क्रिया कारक सापेक्ष होती है, परन्तु हे भगवन् ! आपने गुणोंमें उठनेवाले इस क्रियारूप विकल्पको समाप्त कर दिया है और स्वयं ज्ञान-दर्शनगुणरूप हो गये हैं। क्रियारूप विकल्पके समाप्त हो जानेसे कारकचक्रका विकल्प स्वयमेव समाप्त हो गया है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान दर्शनमय हैं ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं भवनं भवतः क्रिया ।
तस्याः कर्त्रादिरूपेण भवानुल्लसति स्वयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) नित्य ही (दृग्ज्ञप्तीभवतः) दर्शन और ज्ञानरूप होते हुए (भवतः) आपका (भवनं) होना (क्रिया) क्रिया है। (तस्याः) उस क्रियाके (कर्त्रा दिरूपेण) कर्ता कर्म आदि कारकके रूपसे (भवान्) आप (स्वयं) स्वयं ही (उल्लसति) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन-ज्ञानरूप परिणमन करना ही आपकी क्रिया है और उस क्रियाके कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण आप स्वयं हैं। यह अभेदनयसे षट्कारकका वर्णन है ॥१९॥

आत्मा भवसि कर्त्तेति दृग्ज्ञप्तीभवसीति तु ।
कर्मैवमपरे भावास्त्वमेव करणादयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(त्वं भवसि) आप परिणत होते हैं (इति) इसलिये (आत्मा) आपका आत्मा (कर्ता) कर्ता है। (तु) और (दृग्ज्ञप्तीभवसि) आप दर्शन तथा ज्ञानरूप होते हैं (इति) इसलिये आपका आत्मा (कर्म) कर्म है (एवं) इसी तरह (त्वमेव) आप ही (करणादयः अपरे भावाः) करण आदि अन्य भावरूप हैं।

भावार्थ—[1]जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है और जो परिणति है वह क्रिया है। इस तरह कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एक आत्माकी ही परिणातियाँ हैं ॥२०॥

क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः ।
दृशिज्ञप्तिमयो भावो भवान् भावयतां सुखः[2] ॥२१॥

अन्वयार्थ—(क्रियाकारकसामग्रीग्रासोल्लासविशारदः) जो क्रिया कारकरूप सामग्रीके अन्तर्हित करने तथा उल्लसित करनेमें निपुण हैं ऐसे (भवान्) आप (दृशिज्ञप्तिमयः भावः) दर्शन-ज्ञानमय भावरूप हैं और (भावयतां सुखः) इनकी भावना करनेवालोंको सुखदायक है।

भावार्थ—अभेद नयसे विचार करने पर क्रिया तथा कारक आदिकी सामग्री अन्तर्निमग्न हो जाती है और भेद नयसे विचार करने पर वह उल्लसित प्रकट होकर सामने आती है। हे भगवन् ! आप दोनों नयोंके उपदेष्टा हैं अतः क्रिया कारक सामग्रीको ग्रस्त और उल्लसित करनेमें निपुण कहे जाते हैं। भाव और भाववान्में अभेद विवक्षासे चर्चा करने पर आप भावस्वरूप ही अनुभवमें आते हैं आपका वह भाव, दर्शन और ज्ञानरूप है। जो भी पुरुष आपके इस दर्शन ज्ञानमय भावकी भावना करता है वह निराकुलतारूप सुखका पात्र बनता है ॥२१॥

---

१. यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥
समयसार कलश

२. सुखयति इति सुखं, सुखकारीत्यर्थः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाकुलः स्वयं ज्योतिरन्तर्बहिरखण्डितः ।
स्वयंवेदनसंवेद्यो भासि त्वं भाव एव नः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(अनाकुलः) जो आकुलतासे रहित हैं (अन्तर्बहिः) भीतर बाहर (स्वयं ज्योतिः) स्वयं ज्योतिस्वरूप हैं (अखण्डितः) अखण्डित हैं—गुण-गुणीके भेदसे रहित हैं और (स्वयंवेदन-संवेद्यः) स्वसंवेदनके द्वारा संवेदन करनेके योग्य हैं ऐसे (त्वं) आप (नः) हमारे लिये (भाव एवं) भावरूप ही (भासि) प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप मोह और क्षोभसे रहित होनेके कारण आकुलतासे रहित हैं, अन्तर्ज्योति—दर्शन और बहिर्ज्योति—ज्ञानसे तन्मय हैं, प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डित हैं तथा स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव करनेके योग्य हैं, अतः आप हमें भावरूप ही प्रतीत होते हैं। यहां भाव और भाववान्में अभेदनयसे एकत्वका वर्णन करते हुए भगवान्को भावरूप कहा गया है ॥२२॥

एवमेवेति न क्वापि यदुपैष्यवधारणम् ।
अवधारयतां तत्त्वं तव सैवावधारणा ॥२३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण वस्तु (एवमेव) इसी प्रकार है (इति) इस तरह (क्वापि) कहीं भी आप (अवधारणं) नियमको (न उपैषि) प्राप्त नहीं होते हैं (तत्) उस कारण (तव तत्त्वम् अवधारयतां) आपके तत्त्वकी अवधारणा—निश्चय करनेवालोंको (सैव) वही (अव-धारणा) अवधारणा होती है अर्थात् जिस प्रकार आप किसी विषयमें एकरूपता—एकान्तदृष्टिका अवलम्बन नहीं लेते उसी प्रकार आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वका अवधारण करनेवाले पुरुष भी एकरूपता-एकान्त दृष्टिका अवलम्बन नहीं करते।

भावार्थ—नयोंका अवतार विभिन्न-विभिन्न विवक्षाओंको लेकर हुआ है, अतः किसी एक नयके एकांतपक्षसे तत्त्वका चिन्तन करनेवाले मनुष्योंको आपका पूर्णरूपसे अवधारण नहीं हो सकता है।

तीक्ष्ण्यो-(तीक्ष्णो) पयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः ।
अनन्तशक्तिभिः स्फारस्फुटं भासि परिस्फुटम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(तीक्ष्णोपयोगनिर्व्यग्रगाढग्रहहठाहतः) जो तीक्ष्ण उपयोगकी व्यग्रतारहित सुदृढ़ पकड़से हठपूर्वक आहत हैं ऐसे आप (अनन्तशक्तिभिः) अनन्त शक्तियोंके द्वारा (स्फारस्फुटं) परि-पूर्ण तथा (परिस्फुटं) स्पष्ट (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप उन अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं जो मात्र लब्धिरूप नहीं हैं, किन्तु साक्षात् उपयोगरूप हैं। शक्तियोंका लब्धिरूप होना छद्मस्थ अवस्थामें बनता है, सर्वज्ञ अवस्थामें नहीं। यतश्च आप सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त हैं, अतः आपकी समस्त शक्तियां अपने अपने कार्यमें उपयुक्त हैं—क्रियाशील हैं ॥२४॥

त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मास्मि भवन्मयः ।
अयं दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या न संशयः ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(त्वद्भावभावनाव्याप्तविश्वात्मा) जिसका समग्र आत्मा आपके भाव—ज्ञान-दर्शनादि गुणोंकी भावनासे व्याप्त है ऐसा (अयं) यह मैं (दीपानलग्रस्तवर्तिनीत्या) दीपकसम्बन्धी अग्निसे व्याप्त वत्तीकी नीतिसे (भवन्मयः) आपसे तन्मय (अस्मि) हो रहा हूँ इसमें (न संशयः) संशय नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपककी अग्निसे व्याप्त वत्ती स्वयं अग्निरूप हो जाती है उसी प्रकार आपके ज्ञान दर्शनादिगुणोंकी भावना करनेसे मैं आपरूप हो रहा हूं। हे भगवन् ! आपका चिन्तन करनेसे मुझे विश्वास हो गया है कि जिस प्रकार आप ज्ञान-दर्शनसे तन्मय हैं उसी प्रकार मैं भी ज्ञान-दर्शनसे तन्मय हूं। अन्तर, मात्र व्यक्त और अव्यक्तका है। आपके ज्ञान-दर्शन पूर्णमात्रा में व्यक्त हो चुके हैं और मेरे अव्यक्त हैं। यदि मैं भी पुरुषार्थ करूँ तो मेरे भी ज्ञान-दर्शन आपके ही समान व्यक्त हो सकते हैं। इसमें संशयकी बात नहीं है ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

जिनाय जितरागाय नमोऽनेकान्तशालिने ।
अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे ॥१॥

अन्वयार्थ—(जितरागाय) जिन्होंने रागको जीत लिया है (अनेकान्तशालिने) जो अनेकान्त से सुशोभित हो रहे हैं और (अनन्तचित्कलास्फोटस्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे) जिनका स्पष्ट आत्मतेज अविनाशी चैतन्यकलाके विकाससे स्पृष्ट हो रहा है—संसक्त हो रहा है ऐसे (जिनाय) कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले आप जिनेन्द्र भगवान्के लिये (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दशम गुणस्थानके अन्तमें राग-द्वेषपर पूर्ण विजय प्राप्त कर आप वीतराग हुए हैं और उस वीतराग होनेके फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्तके भीतर सर्वज्ञ होकर तेरहवें गुण-स्थानमें हितोपदेष्टा हुए हैं । हितोपदेष्टा वही मनुष्य हो सकता है जो अपने शुक्लध्यानरूपी तेजके द्वारा समस्त विकारोंको भस्म कर देता है । विकारोंके भस्म होते ही जिसका आत्मा चैतन्यशक्ति के उत्कृष्ट विकासरूप केवलज्ञानसे जगमगा उठता है और इन सबके होते ही जिसे जिन, जिनेन्द्र या अरहन्त संज्ञा प्राप्त हो जाती है । जिनेन्द्रका उपदेश अनेकान्तसे सुशोभित होता है । परस्पर विरोधी अनेक अन्तों—धर्मोंको नय विवक्षासे गौण और मुख्य करते हुए ग्रहण करना—जानना अनेकान्त कहलाता है और तदनुसार ही स्यात् शब्दके प्रयोग से कथंचित् भावको लिये हुए उसका कथन करना स्याद्वाद कहलाता है । आप अन्तरङ्गमें वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं और बाह्यमें स्याद्वाद की शैलीसे पदार्थका उपदेश करते हैं, अतः सच्चे हितोपदेष्टा—हितोपदेशी आप ही हैं ॥१॥

अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं ज्ञानमेकमनाकुलम् ।
ज्ञानमेव भवन्भासि साक्षात् सर्वत्र सर्वदा ॥२॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (त्वम्) आप (अनेकोऽपि) अनेकरूप भी (असि) हैं तथापि (एकं अनाकुलं ज्ञानं) एक अनाकुल ज्ञानरूप हैं ऐसा मैं (मन्ये) मानता हूँ, क्योंकि आप (साक्षात्) साक्षात् (सर्वत्र सर्वदा) सब स्थानों तथा समस्त कालोंमें (ज्ञानमेव भवन्) ज्ञानरूप ही होते हुए (भासि) भासित हो रहे हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनेक गुणरूप होनेसे यद्यपि अनेक हैं तथापि प्रधानताकी अपेक्षा आकुलता रहित एक ज्ञानगुणरूप हैं ऐसा कहा जाता है और उसका कारण भी यह है कि आप सर्वत्र और सर्वदा एक ज्ञानरूप होते हुए ही अनुभवमें आते हैं । स्वपरप्रकाशक होनेके कारण आत्माके अनन्त गुणोंमें एक ज्ञानगुण ही अपना विशिष्ट स्थान रखता है, इसलिये यहां अन्य अनेक गुणोंको गौणकर एक ज्ञानगुणको ही मुख्यता देते हुए स्तवन किया गया है ॥२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतएव वियत्कालौ तद्गता द्रव्यपर्यया: ।
ज्ञानस्य ज्ञानतामीश न प्रमार्ष्टुं तदे (वे) शते ॥३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (अतएव) जिस कारण आप सब क्षेत्र सब कालोंमें ज्ञानरूप प्रतिभासित होते हैं उस कारण (वियत्कालौ) आकाश और काल तथा (तद्गता:) उनमें रहनेवाले सब द्रव्य और सब पर्याय (तव) आपके (ज्ञानस्य) ज्ञानकी ज्ञानताको (प्रमार्ष्टुं) नष्ट करनेके लिये (न ईशते) समर्थ नहीं हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! यत: आप ज्ञानभप होते हुए ज्ञानमय प्रतीत होते हैं, अत: आकाश और कालद्रव्य तथा उनमें रहनेवाले सब द्रव्य और सव पर्याय आपकी ज्ञानरूपताको नष्ट नहीं कर सकते । ऊपरके श्लोकमें सर्वत्र और सर्वदा शब्दके द्वारा जो आकाश और कालका उल्लेख किया गया था उसे ही यहां स्पष्ट किया गया है अर्थात् सब स्थानों और सब कालोंमें आप ज्ञानरूप रहते हैं ॥३॥

स्वरूपपररूपाभ्यां त्वं भवन् न भवन्नपि ।
भावाभावौ विदन् साक्षात् सर्वज्ञ इति गीयसे ॥४॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (स्वरूपपररूपाभ्यां) स्वरूप-स्वचतुष्टय और पररूप-परचतुष्टयकी अपेक्षा (भवन् न भवन्नपि) हो भी रहे हैं और नहीं भी हो रहे हैं तथा (भावाभावौ) भाव और अभावको (साक्षात् विदन्) साक्षात् जानते हैं, अत: (सर्वज्ञ: इति गीयसे) 'सर्वज्ञ हैं' ऐसे कहे जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा हो रहे हैं—विद्यमानरूप हैं और परकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नहीं हो रहे हैं—अविद्यमानरूप हैं । साथ ही ज्ञेयों—जानने योग्य पदार्थोंके इन दोनों भावाभावात्मक रूपोंको साक्षात् जानते हैं इसलिये आप सर्वज्ञ हैं ।

इदमेवमितिच्छिन्दन् निखिलार्थाननन्तश: ।
स्वयमेकमनन्तं त्वं ज्ञानं भूत्वा विवर्तसे ॥५॥

अन्वयार्थ—(इदम् एवम्) यह ऐसा है (इति) इस प्रकार (निखिलार्थान्) समस्त पदार्थोंको (अनन्तश:) अनन्तों बार (छिन्दन्) जानते हुए (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (एकं ज्ञानं भूत्वा) एक ज्ञानरूप होकर (अनन्तं ज्ञानं) अनन्त ज्ञानरूप (विवर्तसे) परिणम रहे हैं ।

भावार्थ—एक ज्ञान, अनन्त ज्ञेयोंको जाननेके कारण अनन्त कहलाता है । हे भगवन् ! यत: आपका ज्ञान समस्त पदार्थोंको—संसारके अनन्त ज्ञेयोंको 'यह ऐसा है' इस प्रकार अनन्तों बार जान रहा है, अत: वह ज्ञेयोंकी अपेक्षा अनन्त है । आप इसी अनन्त ज्ञानरूप होकर परिणमन कर रहे हैं ॥५॥

अखण्डमहिमानन्तविकल्पोल्लासमांसल: ।
अनाकुल: प्रभो भासि शुद्धज्ञानमहानिधि: ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे स्वामिन् ! (अखण्डमहिमा) जो अखण्ड महिमासे सहित हैं, (अनन्तविकल्पोल्लासमांसलः) अनन्त विकल्पोंके प्रादुर्भावसे परिपुष्ट हैं, (अनाकुलः) अकुलतासे रहित हैं और (शुद्धज्ञानमहानिधिः) शुद्ध ज्ञानके महान् भाण्डार हैं ऐसे आप (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी महिमा अखण्ड है, इसीलिये तो सौ इन्द्र निरन्तर आपको नमस्कार करते हैं। आप अनन्त ज्ञेयोंके विकल्पसे युक्त हैं—अनन्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब आपके ज्ञानमें दर्पणके समान झलकते हैं। एकसाथ समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये अज्ञान पदार्थको जाननेकी अकुशलतासे रहित हैं तथा वीतराग-विज्ञानके महान् भाण्डार हैं। इस प्रकार आपकी महिमा अद्वितीय है ॥६॥

अक्रमात्क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनोः ।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते ॥७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (परात्मनोः) स्वपरविषयक (इयम्) यह (अनन्ता बोधधारा) अनन्त ज्ञानधारा (क्रमम् आक्रम्य अक्रमात् कर्षन्ती अपि) क्रमको उल्लङ्घन कर अक्रम से खींचती हुई भी (क्रमेण) क्रमसे (कृष्यते) खींची जा रही है।

भावार्थ---हे भगवन् ! आपकी स्वपरविषयक—निज और परको जाननेवाली ज्ञानकी धारा छद्मस्थ अवस्थामें पदार्थोंको क्रमसे जानती थी पर अब सर्वज्ञ दशामें वह क्रमको छोड़कर अक्रम—एकसाथ जानने लगी है इस प्रकार यद्यपि वह स्वभावकी अपेक्षा अक्रमवर्ती है तथापि ज्ञेयोंकी अपेक्षा क्रमवर्ती है अर्थात् कालक्रमसे होनेवाली ज्ञेयोंकी अनन्त परिणतियोंको उसी क्रमसे जानती है जिस क्रमसे वे होनेवाली हैं ॥७॥

भावास्सहभुवोऽनन्ता भान्ति क्रमभुवस्तु (स्तु) ते ।
एक एव तथापि त्वं भावो भावान्तरं तु न ॥८॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (ते) आपके (सहभुवः) साथ होनेवाले-- गुणरूप (तु) और (क्रमभुवः) क्रमसे होनेवाले पर्यायरूप (भावाः) भाव (अनन्ताः) अनन्ता (भान्ति) सुशोभित हो रहे हैं (तथापि) तो भी—गुण और पर्यायोंकी अपेक्षा अनन्तरूप होते हुए भी द्रव्यकी अपेक्षा (त्वं) आप (एक एव भावः) एक ही भावरूप हैं (भावान्तरं तु न) अन्य भावरूप नहीं हैं।

भावार्थ—साथ-साथ होनेके कारण गुण सहभावी कहलाते हैं और पर्यायें क्रम-क्रमसे होनेके कारण क्रमवर्ती कहलाती हैं। प्रत्येक द्रव्यके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें होती हैं, अतः जब उन गुण और पर्यायोंको दृष्टिमें रखकर कथन होता है तब एक द्रव्य अनेकरूप प्रतीत होता है, परन्तु जब उन गुण और पर्यायोंके आधारभूत द्रव्यको दृष्टिमें रखकर कथन होता है तब वह एकरूप अनुभवमें आता है। साथ ही वह द्रव्य, उसी द्रव्यरूप रहता है त्रिकालमें भी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें अत्यन्ताभाव रहता है। हे भगवन् ! द्रव्यस्वभावकी ऐसी व्यवस्था होनेसे आप भी गुण और पर्यायोंकी अपेक्षा यद्यपि अनन्त हैं तथापि स्वरूपकी अपेक्षा आप एक ही हैं और कभी भी आप अन्य द्रव्यरूप नहीं होंगे ॥८॥

वृत्तं तत्त्वमनन्तं त्वमनन्तं वर्त्स्यदूर्जितम् ।
अनन्तं वर्त्तमानं च त्वमेको धारयन्नसि ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (अनन्तं वृत्तं) अनन्त भूत (अनन्तं वर्त्स्यंत्) अनन्त भविष्यत् (च) और (अनन्तं वर्तमानं) अनन्त वर्तमान (ऊर्जितं) शक्तिसम्पन्न (स्वं तत्त्वं) आत्मतत्त्वको (धारयन्) धारण करते हुए (एकः असि) एक हैं।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्यकी अनन्त पर्यायें वीत चुकी हैं, अनन्त पर्यायें आगे आनेवाली हैं और एक पर्याय वर्तमानमें है। इन पर्यायोंकी अपेक्षा यद्यपि द्रव्य अनेकरूप है तथापि स्वकीय प्रदेशोंकी अपेक्षा वह एक ही रहता है। इसी अभिप्रायको लेकर यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आप इन भूत भविष्यत् और वर्तमानकी अनन्त पर्यायोंको धारण करते हुए भी एक है अथवा आप इतने ऊर्जित—शक्ति सम्पन्न हैं कि एक होकर भी इतनी पर्यायोंको धारण करते हैं। अन्य ग्रन्थोंमें भूत और भविष्यत्की पर्यायोंको अनन्त और वर्तमानकी पर्यायको एक कहा गया है, परन्तु यहाँ वर्तमानको भी अनन्त कहा गया है सो उसकी संगति अनन्त गुणोंका आधार होनेसे वर्तमानकी एक पर्यायको अनन्तरूप माननेमें होती है, अथवा स्थूल ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा वर्तमानकी एक पर्याय, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा होनेवाली एक समयवर्ती पर्यायोंकी अपेक्षा अनन्त होती है ॥९॥

उत्तानयसि गम्भीरं तलस्पर्शं स्वमानयन्।
अतलस्पर्श एव त्वं गम्भीरोत्तानितोऽपि नः ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप (गम्भीरं) गम्भीर—मोह और क्षोभसे रहित (स्वं) अपने आपको (तलस्पर्शं) तलस्पर्शको (आनयन्) प्राप्त कराते हुए अर्थात् उसकी गहराई तक पहुँचते हुए (उत्तानयसि) ऊपर उठाते हैं समुन्नत बनाते हैं, परन्तु (नः) हम लोगोंके लिये (त्वं) आप (गम्भीरोत्तानितोऽपि) अत्यन्त गम्भीर और ऊपर उठे हुए होकर भी (अतलस्पर्श एव) अतलस्पर्श ही हैं—हम आपके तलका स्पर्श नहीं कर सके हैं—आपकी गम्भीरता और उत्कृष्टताकी सीमा नहीं जान सके हैं।

भावार्थ—जो राग-द्वेषका प्रसङ्ग होनेपर भी उनसे दूर रहता है वह गम्भीर कहलाता है और जो किसी पदार्थके सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बड़ेसे बड़े रूपको जानता है वह तलस्पर्शी कहलाता है। इन परिभाषाओंके आधार पर आपने अपने आपको गम्भीर और तलस्पर्शी बनाया है, परन्तु हम लोग इतने अज्ञानी हैं कि आपकी गहराई और ऊँचाईको नहीं जान सके हैं ॥१०॥

अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः।
दृङ्मात्रीभवदाभाति भवतोऽन्तर्बहिश्च यत् ॥११॥

अन्वयार्थ—(अनन्तवीर्यव्यापारधीरस्फारस्फुरद्दृशः) अनन्त वीर्यके व्यापारसे जिनका दर्शन गुण उत्कृष्टरूपसे विकसित हो रहा है ऐसे (भवतः) आपका (यत्) जो (अन्तर्बहिः) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकाश है वह सब (दृङ्मात्रीभवत्) दर्शनमात्र होता हुआ (आभाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके जो केवलदर्शन प्रकट हुआ है वह अनन्त वीर्यके व्यापारसे सहकृत है, क्योंकि उसके बिना न अनन्त ज्ञान प्रकट हो सकता है और न अनन्त दर्शन। आत्माके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तः प्रकाशको दर्शन और बाह्य प्रकाशको ज्ञान कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें अन्तः प्रकाशको आत्मावलोकन या सामान्यावलोकन और बाह्य प्रकाशको पदार्थावलोकन या विशेषावलोकन कहा जाता हैं। यहाँ अन्तःप्रकाशको दर्शनरूप कहा सो उचित है, परन्तु बाह्य प्रकाश—ज्ञानको भी दर्शनरूप कहा सो उसकी संगति इस प्रकार है कि निश्चयनयसे केवलज्ञान आत्माको ही जानता है वह लोकालोकका ज्ञाता व्यवहारनयसे है। इस प्रकार निश्चयनयसे ज्ञानका विषय भी दर्शनकी तरह आत्मावलोकन होता है। यह अभिप्राय मनमें रखकर आचार्यने ज्ञानको भी दर्शनमात्र होता हुआ कहा है ॥११॥

आक्षेपपरिहाराभ्यां खचितस्त्वमनन्तशः।
पदे पदे प्रभो भासि प्रोत्खात प्रतिरोपितः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(प्रभो !) हे नाथ ! (अनन्तशः) अनन्तों वार (आक्षेप-परिहाराभ्यां) विधि और निषेधके द्वारा (खचितः) व्याप्त (त्वं) आप (पदे पदे) अर्थके वाचक प्रत्येक पदपर (प्रोत्खात प्रतिरोपितः) नास्तित्व और अस्तित्वको प्राप्त होते हुए (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हें भगवन् ! आपमें अनन्त धर्म है और वे सब धर्म, विधि तथा निषेधरूपको लिये हुए हैं। जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, तत्-अतत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि। जब उक्त धर्मोंकी विधिरूपसे विवक्षा की जाती है तब उन धर्मोंसे तन्मय होनेके कारण आप विधिरूपको प्राप्त होते है और जब उन धर्मोंकी निषेधरूपसे विवक्षाकी जाती है तब उनसे तन्मय होनेके कारण आप निषेधरूपको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उक्त धर्मोंके प्रतिपादक शब्दोंका जितनी बार प्रयोग होता है उतनी ही बार आप अस्तित्व और नास्तित्वको प्राप्त होते हैं। इसी अपेक्षासे आपको पद पदपर प्रोत्खात—नास्तिरूप और प्रतिरोपित—अस्तिरूप कहा गया है ॥१२॥

बिभ्रता तदतद्रूपस्वभावं स्वं स्वयं त्वया।
महान् विरुद्धधर्म्माणां समाहारोऽनुभूयसे(ते) ॥१३॥

अन्वयार्थ—(स्वं) अपने (तदतद्रूपस्वभावं) तत्—अतत्रूप—विधि-निषेधरूप स्वभावको (बिभ्रता) धारण करनेवाले (त्वया) आपके द्वारा (स्वयं) स्वयं (विरुद्धधर्म्माणां) परस्पर विरोधी धर्मोंका (महान्) बहुत भारी (समाहारः) समूह (अनुभूयते) अनुभूत होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यतः आप तत् और अतत् स्वभावको स्वयं ही धारण करते हैं, अतः आप अनेक विरोधी धर्मोंके समूहका अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभावके कारण आपमें अनेक विरोधी धर्मोंका समूह निवास कर रहा है ॥१३॥

स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयोऽखिलाः।
असाधारणतां यान्ति धर्माः साधारणास्त्वयि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(स्वरूपसत्तावष्टम्भखण्डितव्याप्तयः) आपकी निज स्वरूपसत्ताके आलम्बनसे जिनकी अन्यत्र व्याप्ति खण्डित हो गई है ऐसे (अखिलाः) समस्त (साधारणाः धर्माः) साधारण धर्म (त्वयि) आपमें (असाधारणतां) असाधारणताको (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—महासत्ताकी अपेक्षा जो अस्तित्व आदि गुण साधारण कहे जाते हैं, अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा वे ही गुण असाधारण हो जाते हैं। जब आपके विभिन्न गुणों—धर्मोंमें सत् असत्,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत् अतत् आदि धर्मोंकी विवक्षा की जाती है तब उनकी आपमें ही व्याप्ति रहती है, अन्य द्रव्योंमें नहीं। इस प्रकार साधारण होनेपर भी वे आपमें असाधारणताको प्राप्त हो जाते हैं ॥५॥

अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरं रूपमात्मनः ।
इदमेकपदे विष्वग्बोधशक्त्यावगाहसे ॥१५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् आप (बोधशक्त्या) ज्ञानशक्तिके द्वारा (अनन्तधर्मसम्भारनिर्भरम्) अनन्त धर्मोंके समूहसे परिपूर्ण (आत्मनः) आत्माके (इदं) इस (रूपं) रूपमें—ज्ञाता-द्रष्टास्वभावमें (एकपदे) एकसाथ (विष्वक्) सब ओरसे (अवगाहसे) प्रवेश कर रहे हैं।

भावार्थ—आत्मा, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनन्त गुणों अथवा नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेद, अभेद आदि परस्पर विरोधी अनन्त धर्मोंके समूहसे परिपूर्ण है ऐसा अपनी ज्ञानशक्तिके द्वारा ज्ञात कर आप उसमें सब ओरसे एकसाथ लीन हो रहे हैं प्रवेश कर रहे अर्थात् लीनताको प्राप्त हो रहे हैं। अज्ञान दशामें यह जीव, आत्मा और कर्म नोकर्मरूप पुद्‌गलके संयोगसे उत्पन्न मनुष्यादि असमानजातीय द्रव्यपर्यायको अपना स्वरूप समझ उसीमें तन्मय हो रहा है—उसीमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर रागद्वेषके वशीभूत हो रहा है। परन्तु स्वपर भेदविज्ञानरूप ज्ञानकी महिमासे आप असमान जातीय पर्यायमें इस बातका निर्णय अच्छी तरह कर चुके हैं कि इसमें आत्मा क्या है और पुद्‌गल तथा उसके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला विभाव क्या है। स्वभाव और विभावका भेद होते ही आप विभावको नष्ट करनेके प्रयत्नमें संलग्न हो गये और उसके फलस्वरूप समस्त विभावोंको नष्ट कर अपने ज्ञाता द्रष्टारूप स्वभावमें लीन हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आप वीतरागविज्ञानसे परिपूर्ण हैं तथा साधककी उस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं जहां ज्ञान, ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१५॥

अन्वया व्यतिरेकेषु व्यतिरेकाश्च तेष्वमी ।
निमज्जन्तो निमज्जन्ति त्वयि त्वं तेषु मज्जसि ॥१६॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अमी) ये (अन्वयाः) अन्वय—गुण (व्यतिरेकेषु) व्यतिरेकों—पर्यायों में (च) और (व्यतिरेकाः) पर्यायें (तेषु) गुणोंमें (निमज्जन्तः) निमग्न होती हुई (त्वयि) आपमें (निमज्जन्ति) निमग्न होती हैं और (त्वं) आप (तेषु) उन अन्वय व्यतिरेकों–गुणपर्यायोंमें (मज्जसि) निमग्न हो रहे हैं।

भावार्थ—साथ साथ रहनेके कारण गुण अन्वय कहलाते हैं और एकके बाद एक होनेके कारण पर्यायें व्यतिरेक कहलाती हैं। ऐसा अवसर नहीं आता जब गुणके बिना पर्याय हो और पर्यायके बिना गुण हो तथा इन दोनोंके बिना द्रव्य हो। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि गुण, पर्यायोंमें और पर्यायें, गुणोंमें रहते हैं; और यतः आप गुण और पर्यायोंके समूहरूप हैं अतः वे गुण और पर्यायें आपमें निमग्न हैं और आप उनमें निमग्न हैं ॥१६॥

प्रागभावादयोऽभावाश्चत्वारस्त्वयि भावताम् ।
श्रयन्ते श्रयसे तेषु त्वं तु भावोऽप्यभावताम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(प्रागभावादयः) प्रागभाव आदि (चत्वारः) चार (अभावाः) अभाव (त्वयि)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपमें (भावतां) भावरूपताको (श्रयन्ते) प्राप्त होते हैं (त्वं तु) और आप (भावोऽपि) भावरूप होते हुए भी (तेषु) उन अभावोंमें (अभावतां) अभावरूपताको (श्रयसे) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव ये चार अभाव हैं। कार्योत्पत्तिकी पूर्वावस्थाको प्रागभाव कहते हैं। जैसे घटकी पूर्वपर्याय स्थास-कोश-कुसूल आदि घटका प्रागभाव है। कार्यके नष्ट हो जानेपर जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं जैसे घटके फूट जानेपर उसकी कपाल आदि अवस्था घटका प्रध्वंसाभाव है। वस्तुकी एक पर्यायमें दूसरी पर्यायके न रहनेको अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे पुद्गल द्रव्यकी घट पर्यायमें पट पर्यायका अभाव है। और एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें जो त्रैकालिक अभाव है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। हे भगवन्! ये चारों अभाव आपमें भावरूपताको प्राप्त हैं और आप भावरूप होकर भी उनमें अभावरूपताको प्राप्त हैं, क्योंकि आपमें इनका अभाव है। वह इस प्रकार है कि आपकी अरहन्त पर्याय शक्तिकी अपेक्षासे आपमें अनादिकालसे विद्यमान है, अतः प्रागभावका अभाव है। अरहन्त अवस्थामें प्रकट होनेवाले अनन्त चतुष्टयादि गुणोंका आपमें कभी नाश नहीं होता, इसलिये प्रध्वंसाभावका अभाव है। आपमें जो सामान्य ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं वे आपकी समस्त पर्यायोंमें विद्यमान रहते हैं, इसलिये अन्योन्याभावका अभाव है। तथा आपके जीवद्रव्यसे दूसरा जीवद्रव्य यद्यपि पृथक् है—भिन्न द्रव्य है तथापि आपके और उसके गुणोंमें सादृश्य है। जिस प्रकार जीवका पुद्गलमें अत्यन्ताभाव भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि विवक्षावश चारों अभाव आपमें भावरूपताको प्राप्त हैं। और आप स्वभावसे भावरूप होकर भी उन अभावोंमें अभावरूपताको प्राप्त हैं। इसका कारण उपर्युक्त विवक्षासे स्पस्ट है ॥१७॥

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छसि ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अनेकोऽपि) अनेक भी (त्वां) आपको (प्रपद्य) प्राप्त कर (एकत्वं) एकपनेको (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है और (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होकर भी (अनेकं) अनेकको (प्राप्य) प्राप्त कर (अनेकत्वं) अनेकपनेको (गच्छसि) प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—गुण और पर्याय संख्याको अपेक्षा अनेक तथा द्रव्य एक है। वे अनेक गुण पर्याय द्रव्यरूप आपको प्राप्त कर एक हो जाते हैं और द्रव्यरूप होनेसे एकरूप होकर भी आप गुण पर्यायोंकी अपेक्षा अनेकरूपताको प्राप्त हैं ॥१८॥

साक्षादनित्यमप्येतद्याति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे ॥१९॥

अन्वयार्थ—(एतत्) यह पर्यायरूप तत्त्व (साक्षात्) साक्षात् (अनित्यमपि) अनित्य होकर भी (त्वां प्राप्य) द्रव्यस्वरूप आपको प्राप्त कर (नित्यतां याति) नित्यपनेको प्राप्त होता है (तु) और (त्वं) आप (नित्योऽपि) नित्य होकर भी (अनित्यं प्राप्य) अनित्यरूप पर्यायको प्राप्तकर (अनित्यत्वं) अनित्यपनेको (गाहसे) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—द्रव्य, पर्यायसे तन्मय रहता है, अतः जब पर्यायको गौणकर द्रव्यको प्रधान बनाया जाता है तब अनित्य तत्त्व नित्यत्वको प्राप्त होता है और जब द्रव्यको गौणकर पर्यायको प्रधा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नता दी जाती है तब नित्य तत्त्व, अनित्यत्वको प्राप्त होता है। हे भगवन् ! अनित्य पर्याय, आपका आश्रयकर नित्य हो जाती हैं और आप, अनित्य पर्यायका आश्रयकर अनित्य हो जाते हैं ॥१९॥

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयसे स्वयम् ।
स एव ध्रुवतां धत्से य एवास्तमितोदितः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(य एव त्वं) जो ही आप (अस्तम् उपैषि) व्ययको प्राप्त होते हैं (स एव) वही आप (स्वयं) स्वयं (उदीयसे) उत्पादको प्राप्त होते हैं और (य एव अस्तमितोदितः) जो ही आप व्यय होकर उत्पादको प्राप्त होते हैं (स एव) वही (ध्रुवतां) ध्रुवपनेको (धत्से) धारण करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे तन्मय हैं। व्ययकी विवक्षामें आप अस्तको प्राप्त होते हैं, उत्पादकी विवक्षामें उदयको प्राप्त होते हैं और ध्रौव्यकी विवक्षामें अस्त तथा उदय—दोनों अवस्थाओंकी बीचकी ध्रुवताको प्राप्त होते हैं। नवीन पर्यायकी उत्पत्तिको उत्पाद, पूर्व पर्यायके नाशको व्यय और दोनों पर्यायोंमें व्यापक रहनेवाले अंशको ध्रौव्य कहते हैं ॥२०॥

अभावतां नयन् भावमभावं भावतां नयन् ।
भाव एव भवन् भासि तावुभौ परिवर्तयन् ॥२१॥

अन्वयार्थ—आप (भावं अभावतां नयन्) भावको अभावता प्राप्त कराते हैं और (अभावं भावतां नयन्) अभावको भावता प्राप्त कराते हैं इस प्रकार (तौ उभौ) उन दोनों—भाव-अभावको (परिवर्तयन्) परिवर्तित करते हुए आप स्वयं (भाव एव भवन्) भावरूप ही होते हुए (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—जो पर्याय वर्तमान क्षणमें भावरूप है वही उत्तर क्षणमें अभावरूप हो जाती है, और जो पर्याय वर्तमानमें अभावरूप है वही उत्तर क्षणमें भावरूप हो जाती है। इस प्रकार आप पूर्व क्षण और उत्तर क्षणकी पर्यायोंको यद्यपि अभाव तथा भावरूप करते रहते हैं तथापि स्वयं सत्सामान्यकी अपेक्षा भावरूप ही रहते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वोत्तर क्षणवर्ती पर्यायोंकी अपेक्षा आप व्यय तथा उत्पादरूप हैं और सामान्यकी अपेक्षा ध्रौव्यरूप हो रहे हैं।

हेतुरेव समग्रोऽसि समग्रो हेतुमानसि ।
एकोऽपि त्वमनाद्यनन्तो यथापूर्वं यथोत्तरम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (त्वम्) आप (समग्रः हेतुः एव असि) पूर्ण कारण ही हैं और (समग्रः हेतुमान् असि) पूर्ण कार्य है तथा आप (एकोऽपि सन्) एक होते हुए भी (अनाद्यनन्तः) अनादि-अनन्त हैं (यथापूर्वं) जैसे पूर्वमें थे और (यथोत्तरं) जैसे आगे होंगे।

भावार्थ—हे भगवन् ! पूर्व क्षणकी अपेक्षा आप कारण हैं और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य हैं तथा आपका यह कारण और कार्यभाव समग्ररूपसे होता है अंशरूपसे नहीं। अर्थात् पूर्व क्षणमें आपके समस्त प्रदेश कारण व्यवहारको प्राप्त होते हैं और उत्तर क्षणमें समस्त प्रदेश कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारको प्राप्त होते हैं। सिद्धान्तके अनुसार कारणका क्षय होना ही कार्यका उत्पाद कहलाता है। अध्यात्मभाषामें कारण समयसारका नाश ही कार्य समयसारका उत्पाद कहलाता है। इस प्रकार पूर्वोत्तर क्षणकी अपेक्षा पदार्थमें व्यय और उत्पाद सिद्ध होते हैं, परन्तु सामान्य सत्की अपेक्षा वह अनादि अनन्त रहता है—वह जैसा पूर्वमें रहता है वैसा ही आगे भी रहता है ॥२२॥

न कार्यं कारणं नैव त्वमेव प्रतिभाससे।
अखण्डपिण्डितैकात्मा चिदेकरसनिर्भरः ॥२३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (न कार्यं प्रतिभाससे न कारणम् एव प्रतिभाससे) सत् सामान्यकी अपेक्षा आप न कार्यरूप प्रतिभासित होते हैं और न कारणरूप ही। किन्तु (अखण्डपिण्डितैकात्मा) अखण्ड पिण्डरूप है स्वरूप जिनका तथा जो (चिदेकरसनिर्भरः) एक चैतन्य रससे परिपूर्ण हैं ऐसे (त्वमेव प्रतिभाससे) एक आप ही प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—भेदनयसे आपमें कारण और कार्यका विभाग रहता है, परन्तु अभेद नयसे आप भेदसे रहित एक अखण्ड द्रव्य प्रतिभासित होते हैं ॥२३॥

भृतोऽपि रिक्ततामेषि रिक्तोऽपि परिपूर्यसे।
पूर्णोऽपि रिच्यसे किञ्चित् किञ्चिद्रिक्तोऽपि वर्द्धसे ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (भृतोऽपि) परिपूर्ण होनेपर भी (रिक्ततां) रहितपनेको (एषि) प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् स्वभावसे परिपूर्ण होते हुए भी विभावसे रिक्तपनेको प्राप्त हो रहे हैं और (रिक्तोऽपि) रहित होनेपर भी (परिपूर्यसे) पूर्णताको प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वैभाविक भावोंसे रहित होते हुए स्वाभाविक भावोंसे परिपूर्ण हो रहे हैं। तथा (पूर्णोऽपि) पूर्ण होते हुए भी (किञ्चित् रिच्यसे) कुछ रिक्त होते हैं—हानिको प्राप्त होते हैं और (किञ्चिद् रिक्तोऽपि) कुछ रिक्त होते हुए भी (वर्द्धसे) पुनः वृद्धिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अगुरुलघु गुणोंके कारण होनेवाली षड्गुणी हानिके समय आप कुछ हानिको प्राप्त होते हैं और षड्गुणी वृद्धिके समय कुछ वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! यह जीव अनादि कालसे शुभ-अशुभ—पुण्य-पापरूप विभाव भावोंसे युक्त हो रहा है परन्तु जब शुभ-अशुभ भावोंके कारणभूत मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है तब यह यथाख्यात चारित्ररूप स्वभावभाव-शुद्धभावसे परिपूर्ण हो जाता है। आपका आत्मा भी अनादि कालसे शुभाशुभ भावोंसे परिपूर्ण रहा है, परन्तु अब मोहकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेके कारण आप स्वभावभावसे परिपूर्ण हो रहे हैं। तथा परिपूर्ण होकर भी सदा कूटस्थ नित्य नहीं रहते, क्योंकि कालद्रव्यरूप सामान्य प्रत्यय और अपने-अपने अगुरुलघु गुणरूप आभ्यन्तर प्रत्ययके कारण अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि इन षड्गुणी वृद्धियों और हानियोंके होते रहनेसे आप पूर्ण होकर भी—वृद्धिके चरम अंशको प्राप्त होकर भी कुछ हानिको प्राप्त हो रहे हैं और हानिके चरम अंशको प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं। यह हानि और वृद्धि केवल ज्ञानादि गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा होती है। यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि केवलज्ञानादि गुणोंके अविभाग-प्रतिच्छेद स्वभावसे अनन्त हैं तथा हानि वृद्धि होनेपर भी वे अनन्त ही रहते हैं, क्योंकि अनन्त, अनन्त प्रकारका होता है ॥२४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

**विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनो मम ।
स्फुरन्त्वश्रान्तमार्द्रार्द्रास्तवामूरनुभूतयः ॥२५॥**

अन्वयार्थ—(विज्ञानघनविन्यस्तनित्योद्युक्तात्मनः) केवलज्ञानसे परिपूर्ण आपके शुद्ध स्वभावमें जिसकी आत्मा संसक्त—संलग्न होकर उसी ओर निरन्तर तत्पर हो रही है ऐसे (मम) मुझ स्तुतिकर्तांके (तव) आपकी (अमूः) ये (आर्द्रार्द्राः) नवीन-नवीन (अनुभूतयः) अनुभूतियां (अश्रान्तं) किसी विश्रामके बिना नित्य ही (स्फुरन्तु) प्रकट होवें।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप विज्ञानघनस्वभाव हैं—केवलज्ञानसे आपका प्रत्येक प्रदेश परिपूर्ण है। उसी विज्ञानघनस्वभाववाले आप आराध्यदेवमें मेरा आत्मा अर्थात् मेरा हृदय संलग्न होकर निरन्तर उसी ओर उद्युंक्त-तत्पर हो रहा है, इसलिये इस स्तुतिके फलस्वरूप मैं किसी सांसारिक विभूतिकी आकांक्षा नहीं करता हूँ, किन्तु यह आकांक्षा करता हूँ कि आपकी ये अनुभूतियाँ मुझे भी प्राप्त होवें ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१२)

मञ्जुभाषिणी

सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति ।
स्वपरप्रकाशभरभावनामयं तदकृत्रिमं किमपि भाति ते वपुः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपताप्रतिभासमाननिखिलार्थसन्तति) जिसके स्वाभाविक तथा निर्मल चैतन्य स्वभावमें समस्त पदार्थोंका समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो (स्वपरप्रकाशभरभावनामयं) निज-और परके प्रकाश समूहकी भावनासे तन्मय है और (अकृत्रिमं) अकृत्रिम है किसीका किया हुआ नहीं है ऐसा (ते) आपका (तत्) वह (किमपि कोई अद्भुत (वपुः) ज्ञानशरीर (भाति) सुशोभित हो रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञानशरीर है—ज्ञान ही आपका शरीर है । वह ज्ञान सहज है—स्वाभाविक होनेसे सदाकाल आपके साथ रहनेवाला है । पहले मिथ्यात्वदशामें वह ज्ञान मलिन हो रहा था, परन्तु अब मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेके कारण अत्यन्त प्रमार्जित है–निर्मल हो गया है । उस ज्ञानमें स्वभावसे ही लोक-अलोकके समस्त पदार्थ प्रतिबिम्वित हो रहें हैं । क्यों हो रहें हैं ? इसका उत्तर यह है कि वह स्व-परप्रकाशक भावनासे तन्मय है । उसकी यह विशेषता है कि उसमें निज और पर पदार्थोंका प्रतिफलन स्वयमेव होता है । वह अकृत्रिम है—किसीका किया हुआ नहीं है तथा वचनोंके अगोचर है—अनुभवमें तो आता है परन्तु वचनोंके द्वारा कहा नहीं जा सकता ॥१॥

क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया प्रभवावसानपरिमुक्तया तव ।
प्रसृतस्य नित्यमचलं समुच्छलज्जिन चिच्चमत्कृतमिदं विलोक्यते ॥२॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (प्रभवावसानपरिमुक्तया) उत्पत्ति और अन्तसे रहित (क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया) क्रमसे होनेवाली पर्यायोंके समूहकी मालासे (प्रसृतस्य) विस्तारको प्राप्त हुए (तव) आपका (इदं) यह (नित्यं) नित्य (अचलं) चञ्चलतासे रहित और (समुच्छलत्) सब ओर छलकता हुआ (चिच्चमत्कृतं) चैतन्यका चमत्कार (विलोक्यते) दृष्टिगोचर होता है अनुभवमें आता है ।

भावार्थ—पर्यायकी दृष्टिसे संसारके अनन्तानन्त पदार्थ अपने क्रमसे उत्पन्न और विनष्ट हो रहे हैं । उनकी उत्पत्ति और विनाशका यह क्रम अनादि कालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा । ये सब पदार्थ आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित हो रहें हैं इस लिये ज्ञेयकी अपेक्षा आप सर्वत्र-लोक अलोकमें विस्तारको प्राप्त हैं । अर्थात् लोक और अलोकगत ज्ञेयको जाननेके कारण आपका ज्ञान लोक और अलोकमें विस्तृत है और उस ज्ञानसे तन्मय होनेके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण आप भी सर्वत्र विस्तारको प्राप्त हैं। हे जिनेन्द्र ! आपका यह चैतन्यसम्बन्धी चमत्कार नित्य है, सामान्य ज्ञानस्वभावकी अपेक्षा त्रैकालिक है और केवलज्ञानकी अपेक्षा सादि अनन्त है। जिसप्रकार वायुका वेग समाप्त हो जानेसे जलाशयका जल चञ्चलतासे रहित होकर स्वरूपमें स्थिर हो जाता है उसी प्रकार कषाय और योगजनित चञ्चलताके दूर हो जानेसे आपका चैतन्य चमत्कार भी चञ्चलतासे रहित होकर स्वरूपमें स्थिर हो गया है। साथ ही यह चैतन्य चमत्कार सब ओर छलक रहा है—सभी ओरके पदार्थोंको प्रतिभासित कर रहा है। यद्यपि अमूर्तिक होनेसे यह चमत्कार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है तथापि अनुभूतिका विषय अवश्य है, हमारे अनुभवमें यह आ रहा है कि आपके चैतन्य गुणका सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ है ॥२॥

इदमेव देव सहभाविनीं तव स्फुटयत्यनन्तनिजधर्ममण्डलीम् ।
तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात् ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव ! (इदमेव) यह चैतन्य चमत्कार ही (तदभिन्नभिन्नसुखवीर्यवैभवप्रभृतिस्वशक्तिसमकालवेदनात्) उससे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न सुख, वीर्य-वैभव आदि समस्त स्वकीय शक्तियोंका एक साथ वेदन होनेसे (तव) आपकी (सहभाविनीं) साथ साथ रहनेवाली (अनन्तनिजधर्ममण्डलीम्) अनन्त आत्मधर्मोंके समूहको (स्फुटयति) प्रकट करता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका चैतन्य चमत्कार यद्यपि सामान्यरूपसे एक ही है तथापि वह सुख और वीर्य आदिका भी साथ साथ अनुभव करता है। चैतन्य-ज्ञानदर्शन और सुख तथा वीर्यके प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं है, इसलिये उन सबमें अभेद है और सबका भिन्न भिन्न अनुभव होता है इसलिये भेद भी है। उनका यह भेद और अभेद कथंचित् है। इन सब गुणोंका अनुभव सिद्ध करता है कि आपकी आत्मामें अनन्त धर्मों—गुणोंका समूह विद्यमान है ॥३॥

त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्नुपयोगलक्षणमुखेन भाससे ।
न हि तावतायमुपयोगमात्रतां श्रयसे निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अयं त्वम्) यह आप (अनन्तधर्मभरभावितः अपि सन्) अनन्त धर्मोंके समूहसे युक्त होते हुए भी (उपयोगलक्षणमुखेन) एक उपयोगरूप लक्षणके द्वारा (भाससे) सुशोभित हो रहे हैं। परन्तु (हि) निश्चयसे (तावता) उतने मात्रसे—उपयोगलक्षणसे युक्त होनेमात्रसे (उपयोगमात्रतां) उपयोगमात्रपनेको (न श्रयसे) प्राप्त नहीं हैं—इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आपमें मात्र उपयोग ही पाया जाता है अन्य गुण नहीं, क्योंकि (निराश्रयगुणाप्रसिद्धितः) निराधार गुणोंकी सिद्धि नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि आपमें अनन्त गुण विद्यमान हैं तथापि उन सबमें ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगकी ही प्रधानता है। वही आपका लक्षण माना गया है। उपयोग ही लक्षण माना गया है। इसका यह तात्पर्य ग्राह्य नहीं है कि आपमें अन्य गुण नहीं हैं। अवश्य हैं और उनकी अनुभूति होती है। जब अनुभूति होती है तब उनका नास्तित्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता। गुण द्रव्यके आश्रय ही रहते हैं, निराश्रय रहनेवाले गुणोंका आस्तित्व आगममें स्वीकृत नहीं किया गया है ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजडत्वमात्रमवयन्ति चेतनामजडः स्वयं न जडतामियात् परात् ।
न हि वस्तुशक्तिहरणश्रमः परः स्वपरप्रकाशनमबाधितं तव ॥५॥

अन्वयार्थ—बुद्धिमान् पुरुष (अजडत्वमात्रं) जडताका अभाव होनेमात्रको (चेतनाम्) चेतना (अवयन्ति) जानते हैं अर्थात् जडताका अभाव और चेतना एक ही वस्तु है। जो (स्वयं अजडः) स्वयं चेतना है वह (परात्) दूसरे द्रव्यसे (जडतां न इयात्) जडता-अचेतनताको प्राप्त नहीं होता है। (हि) क्योंकि (परः) परद्रव्य (वस्तुशक्तिहरणक्षमः न) अन्य द्रव्यकी शक्तिके हरण करनेमें समर्थ नहीं है। इसप्रकार (तव) आपका (स्वपरप्रकाशनं) स्वपरप्रकाशीपन (अबाधितं) निर्बाध है।

भावार्थ—संसारमें चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारके पदार्थ हैं। जीव द्रव्य चेतन है और शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। जो चेतन है वह सदा चेतन ही रहता है और जो अचेतन है वह सदा अचेतन ही रहता है। कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल यद्यपि जीवके साथ अनादि कालसे संलग्न हो रहे हैं तथापि वे जीवके जीवत्वको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं, क्योंकि यह शाश्वतिक नियम है कि अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्यकी शक्तियोंके हरण करनेमें समर्थ नहीं है। इस तरह आपका जो स्वपर प्रकाशनस्वरूप गुण है वह सदा अबाध रहता है। प्रतिपक्षी कर्मोंकी उदयावस्थामें यद्यपि कितने ही गुण तिरोहित हो जाते हैं तथापि स्वपर प्रकाशनरूप जो सामान्य ज्ञानगुण है वह कभी तिरोहित नहीं होता ॥५॥

अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते स्वपरप्रमेयमितिरित्यबाधिता ।
अविदन् परं न हि विशिष्यते जडात्परवेदनं च न जडाग्रकारणम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(इति) इसप्रकार (त्वयि विभौ अजडप्रमातरि स्थिते) आप सामर्थ्यवन्त प्रबुद्ध ज्ञाताके रहते हुए (स्वपरप्रमेयमितिः) स्वपर प्रमेयका जानना (अबाधिता) निर्बाध सिद्ध है, (हि) क्योंकि (परं अविदन्) जो पर को नहीं जानता है वह (जडात्) अचेतनसे (न विशिष्यते) पृथक् नहीं होता है (च) और (परवेदनं) परका जानना (जडाग्रकारणं न) जड़रूप होनेका प्रमुख कारण नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो पदार्थको जानता है वह प्रमाता कहलाता है, जो जाना जाता है वह प्रमेय कहलाता है और जानना प्रमिति कहलाती है। आत्मा प्रमाता है और प्रमेय भी। शेष पदार्थ प्रमेय ही हैं, प्रमाता नहीं। हे भगवन्! आप चैतन्य गुणसे संपन्न प्रमाता है तथा स्व और पर आपके प्रमेय हैं अर्थात् आप स्वको जानते हैं और परको भी। यद्यपि निश्चयनयसे आप स्वके ही ज्ञाता हैं परके नहीं तथापि व्यवहारनयसे आप स्वपरके ज्ञाता कहे जाते हैं, क्योंकि जो परको नहीं जानता है वह व्यवहारनयकी दृष्टिमें जड़से भिन्न नहीं है—जड़के समान ही है। परका जानना जड़रूप अज्ञानी होनेका कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि परको जानना बन्धका कारण नहीं है, किन्तु परको अपना मानना बन्धका कारण है ॥६॥

जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना समुदेति सा तु यदि नाजडादपि ।
ध्रुवमस्तमेति जड़वेदना तदा जड़वेदनास्तमयतः क्व वेदना ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(जडस्य) अचेतन पदार्थका (वेदना) ज्ञान (जडतः) अचेतनसे (न अभ्युदेति) उत्पन्न नहीं होता अर्थात् चेतनसे ही उत्पन्न होता है। (यदि) यदि इसके विपरीत (सा तु) वह अचेतनका ज्ञान (अजडादपि) चेतनसे भी (न समुदेति) उत्पन्न नहीं होता है (तदा) तो (ध्रुवं) निश्चित ही (जडवेदना) अचेतनका ज्ञान (अस्तमेति) नष्ट हो जावेगा और (जडवेदनास्तमयतः) अचेतनका ज्ञान नष्ट होनेसे (वेदना) ज्ञान (क्व) कहां हो सकता है ?

भावार्थ—एकान्तसे निश्चयका पक्ष स्वीकृत करनेवाले लोगोंका कहना है कि आत्मा मात्र स्वको जानता है परको नहीं। परमें आत्मासे अतिरिक्त अन्य चेतन द्रव्य और पुद्गलादि पांच अचेतन द्रव्य आते हैं, क्योंकि परका जानना एक विकल्प है और विकल्प होनेसे बन्धका कारण है। यहां आचार्य उस निश्चयकी एकान्त मान्यताका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि आत्मासे भिन्न अन्य द्रव्योंका जो ज्ञान होता है वह किससे होता है ? जड़से तो हो नहीं सकता, क्योंकि जड़में ज्ञातृत्व शक्तिका अभाव है। शक्तिके न होते हुए भी यदि जड़से उसकी उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय तो निश्चित ही अचेतन पदार्थके ज्ञानका अभाव हो जावेगा। उसका कारण यह है कि जड़से उत्पन्न हुआ ज्ञान जड़में रहेगा, आत्मामें नहीं और जो जड़के ज्ञानको—अचेतन पदार्थके ज्ञानको नष्ट कर देता है—अस्वीकृत कर देता है उसके वेदना—सामान्य ज्ञान भी कहां हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। 'आत्मा स्वका ही ज्ञायक है परका नहीं' इस एकान्त मान्यताका खण्डन करते हुए आचार्यने सिद्ध किया है कि आत्मा जिस प्रकार स्वका ज्ञायक है उसी प्रकार परका भी ज्ञायक है। यह जुदी बात है कि जिसप्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित घट-पटादि पदार्थ दर्पणरूप हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा प्रतिबिम्बित—विकल्पको प्राप्त हुए अचेतन—आत्मातिरिक्त पदार्थ आत्मारूप हो जाते हैं और आत्मामें उन्हींको जानता है, इसलिये आत्मा, आत्माका ही ज्ञायक है परका नहीं। परन्तु आत्मामें पड़नेवाले उन विकल्पोंका कारण अन्य पदार्थ ही हैं, अतः उनका भी ज्ञाता आत्मा ही है, अन्य जड पदार्थ नहीं ॥७॥

न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः परवेदनाविरह एव सिध्यति।
अविदन् परं स्वमयमाकृतिं विना कथमन्धबुद्धिरनुभूतिमानयेत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(परवेदनाविरहे) परके ज्ञानके अभावमें (सदा) निरन्तर (आत्मना) अपनें द्वारा (आत्मनि) अपनेमें (आत्मनः) आत्माका (वेदना) ज्ञान (सिध्यति) सिद्ध होता है [इति]न चैव) ऐसा नहीं है, क्योंकि (परम् अविदन्) परको न जाननेवाला (अयम् अन्धबुद्धिः) यह अज्ञानी (आकृतिं विना) परके विकल्प बिना (स्वम् अनुभूतिं कथम् आनयेत्) स्वकी अनुभूति कैसे कर सकता है ?

भावार्थ—सिद्धान्त-पक्षका कहना है कि आत्माके ज्ञानस्वरूपमें जो पर पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं वे यद्यपि आत्मस्वरूप हैं, तथापि उन पर पदार्थोंके प्रतिबिम्बित होनेमें उन पर पदार्थोंकी आकृति भी कारण है क्योंकि उनकी आकृतिको यदि सर्वथा स्वीकृत नहीं किया जाता है तो आकृतिके बिना उनकी अनुभूति कैसे होगी ? मैं घटज्ञानवान् हूँ, पटज्ञानमय हूँ ऐसा जो अनुभव प्रत्यक्ष हो रहा है, वह तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक ज्ञानमें घटाकार और पटाकार परिणतिको स्वीकृत नहीं किया जाता है। ज्ञानकी जो घटाकार और पटाकार परिणति है यही परका जानना है। इसप्रकार परके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है उसे एकान्त मान्यताके कारण सर्वथा निरस्त नहीं किया जा सकता ॥८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न कदाचनापि परवेदनां विना निजवेदना जिन जनस्य जायते।
गजमीलनेन निपतन्ति बालिशाः परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः ॥९॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (जनस्य) मनुष्यको (परवेदनां विना) परके ज्ञानके बिना (कदाचनापि) कभी भी (निजवेदना) निजका ज्ञान (न जायते) नहीं होता है। यह निश्चित है फिर भी (परशक्तिरिक्तचिदुपासिमोहिताः) परकी रचनासे रहित चेतनकी उपासनासे मोहित (बालिशाः) अज्ञानी जीव (गजमीलनेन) हाथीके समान नेत्र बन्दकर (निपतन्ति) पतित होते हैं।

भावार्थ—यह निश्चित है कि परके ज्ञान बिना निजका ज्ञान नहीं होता फिर भी जिसका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा यदि परको जानता है तो परकी रञ्जनासे उसमें अशुद्धता आती है और हम परकी रञ्जनासे रहित शुद्ध आत्माकी उपासना करना चाहते हैं। वे आत्माको परके ज्ञानसे रहित मानते हैं। परन्तु जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है। उनका ऐसा मानना तो इस प्रकार है कि जिसप्रकार हाथी नेत्र बन्दकर यह समझने लगता है कि हमारे सामने कुछ नहीं है उसीप्रकार तथोक्त मान्यतावाले यह समझने लगते हैं कि आत्मा परको नही जानता है ॥९॥

परवेदनास्तमयगाढसंहृता परितो दृगेव यदि देव भासते।
परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता नितरां किल भाति केवला ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (यदि) यदि (परितः) सब ओर (परवेदनास्तमयगाढसंहृता) पर पदार्थोंके ज्ञानके नाशसे अत्यन्त संकोचको प्राप्त हुआ कोई गुण (भासते) सुशोभित होता है तो (दृगेव) एक दर्शन गुण ही सुशोभित होता है, क्योंकि (केवला) मात्र (दृगेव) दर्शन ही (किल) निश्चयसे (नितरां) अत्यन्त (परवेदनाभ्युदयदूरविस्तृता) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञानके अभ्युदयसे दूर रहता है।

भावार्थ—आत्मावलोकनको दर्शन और पदार्थावलोकनको ज्ञान कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार दर्शन गुण ही परपदार्थसम्बन्धी ज्ञानसे रहित होता है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो स्वपरावभासी ही है अर्थात् निजको जानना है और परको भी जानता है ॥१०॥

परवेदना न सहकार्यसम्भवे परिनिर्वृतस्य कथमप्यपोह्यते।
द्वयवेदना प्रकृतिरेव संविदः स्थगितैव सात्र(य)करणान्यपेक्षते ॥११॥

अन्वयार्थ—(परिनिर्वृतस्य) पूर्ण स्वाधीनताको प्राप्त हुए आत्माके (सहकारि-असम्भवे) सहकारी कारणोंका अभाव होनेपर (परवेदना) परपदार्थसम्बन्धी ज्ञान (कथमपि) किसी भी तरह (न अपोह्यते) दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि (द्वयवेदना) निज और पर—दोनोंको जानना (संविदः) ज्ञानका (प्रकृतिरेव) स्वभाव ही है (स्थगिता एव सा) यदि वह स्वभाव स्थगित होता है—आच्छादित होता है तभी वह (अन्यकरणानि अपेक्षते) अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा करता है।

भावार्थ—यदि यहां किसीका अभिप्राय हो कि हे भगवन् ! यतः आप परिनिर्वृत हैं—पूर्णस्वाधीनताको प्राप्त हो चुके हैं, अतः सहकारी कारणोंका अभाव हो जानेसे परपदार्थोंको नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानते हैं तो इसका उत्तर यह है कि निज और पर दोनोंको जानना ज्ञानका स्वभाव ही है। यदि स्वभाव परिवर्तित हो सके तो ही वह अन्य कारणोंकी अपेक्षा कर सकता है अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि आपके ज्ञानके लिये अन्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं है ।।११।।

न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयसे परमाश्रयन् विभजसे निजाः कलाः ।
स्थितिरेव सा किल तदा तु वास्तवी पशवः स्पृशन्ति परमात्मघातिनः ।।१२।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! आप (परावमर्शरसिकः 'सन्') परपदार्थोंके सम्बन्धके रसिक होते हुए (न अभ्युदीयसे) अभ्युदयको प्राप्त नहीं हो रहे हैं और न (परम् आश्रयन्) परका आश्रय लेते हुए (निजाः कलाः) अपनी कलाओंको (विभजसे) प्राप्त हो रहे हैं (तु) किन्तु (किल) निश्चयसे (तदा) उस समय (सा) वह (वास्तवी) वास्तविक (स्थितिः एव) स्थिति ही है—स्वभाव ही है। क्योंकि (आत्मघातिनः) आत्मघाती (पशवः) अज्ञानी ही (परं) परपदार्थका (स्पृशन्ति) स्पर्श करते हैं—उसके सहकारकी प्रतीक्षा करते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप जो आर्हन्त्यरूप परम अभ्युदय—उत्कृष्ट ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं सो पर पदार्थोंके सम्बन्धकी इच्छा रखते हुए नहीं प्राप्त हुए हैं और इस समय जो केवलज्ञान केवलदर्शन आदि आपकी कलाएँ—आत्मगुणोंकी विशेषताएँ प्रकट हुई हैं वे भी पर पदार्थोंके आश्रयसे नहीं प्रकट हुई हैं। आपका यह वास्तविक स्वभाव है। स्वभावके लिये पर सहकारी पदार्थोंकी प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती है। जो आत्माकी स्वतन्त्र स्वभाव सत्ताको नहीं मानते हैं ऐसे अज्ञानी मनुष्य ही परका आलम्बन चाहते हैं। ऊपरके श्लोकमें प्रतिवादीने जो यह पक्ष रक्खा था कि सहकारी कारणोंके अभावमें परपदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान आपके नहीं बनता है उसका उत्तर देते हुए आचार्यने इस श्लोकमें कहा है कि यतः स्वपरको जानना ज्ञानका स्वभाव है अतः उसे सहकारी कारणोंकी प्रतीक्षा नहीं करना पड़ती है ।।१२।।

विषया इति स्पृशति वीर रागवान् विषयीति पश्यति विरक्तदर्शनः ।
उभयोः सदैव समकालवेदने तदविप्लवः क्वचन विप्लवः क्वचित् ।।१३।।

अन्वयार्थ—(वीर) हे वर्धमान जिनेन्द्र ! (रागवान्) रागी और (विरक्तदर्शनः) सम्यग्दर्शनसे रहित मनुष्य (विषया इति) ये विषय—ज्ञेय है और यह (विषयी) उन्हें विषय करनेवाला—जाननेवाला ज्ञायक है ऐसा (स्पृशति पश्यति) स्पर्श करता तथा श्रद्धान करता है—मानता है (उभयोः) दोनों—विषय और विषयीका (सदा) निरन्तर (समकालवेदने) एक साथ वेदन-अनुभवन होता है (तत्) इसलिये (क्वचन) कहीं—भेद विवक्षामें (अविप्लवः) बाधाका अभाव और (क्वचन) कहीं—अभेद विवक्षामें (विप्लवः) बाधाका सद्भाव प्रतीत होता है।

भावार्थ—स्वपर पदार्थ आत्माके विषयी विषय हैं—ज्ञेय हैं और आत्मा उन्हें विषय करनेवाला ज्ञायक है। इस प्रकार रागी द्वेषी मिथ्यादृष्टि जीव एक ही आत्माको ज्ञेय और ज्ञायकके भेदसे दो रूपमें विभक्त कर देता है परन्तु ज्ञानी जीव उसे भेद और अभेदकी विवक्षासे सदा ही दोनोंरूप मानता है अतः भेद विवक्षासे आत्माको दो रूप और अभेद विवक्षासे एकरूप माननेमें बाधा नहीं है ।।१३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयमेव देव भुवनं प्रकाश्यतां यदि याति यातु तपनस्य का क्षतिः ।
सहजप्रकाशभरनिर्भरोंऽशुमान्न हि तत्प्रकाशनधिया प्रकाशते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (यदि) यदि (भुवनं) संसार (स्वयमेव) स्वयं ही (प्रकाश्यतां) प्रकाश्यपनेको (याति) प्राप्त होता है तो (यातु) प्राप्त हो, इसमें (तपनस्य) सूर्यकी (का क्षतिः) क्या हानि है ? (हि) क्योंकि (सहजप्रकाशभरनिर्भरः) अपने स्वाभाविक प्रकाशके समूहसे परिपूर्ण (अंशुमान्) सूर्य (तत्प्रकाशनधिया) संसारको प्रकाशित करनेकी इच्छासे (न प्रकाशने) प्रकाशित नहीं होता है ।

भावार्थ—सूर्य प्रकाशक है और संसार प्रकाश्य है । यहां दोनोंका प्रकाशक और प्रकाश्यपना स्वाश्रित है—पराश्रित नहीं हैं । इस दृष्टान्तसे ज्ञेय और ज्ञायककी स्वाश्रित अवस्थाका वर्णन किया गया है अर्थात् ज्ञेय ज्ञायकके अधीन नहीं है और ज्ञायक ज्ञेयके अधीन नहीं है ॥१४॥

स्वयमेव देव भुवनं प्रमेयतां यदि याति यातु पुरुषस्य का क्षतिः ।
सहजावबोधभरनिर्भरः पुमान्नहि तत्प्रमाणवशतः प्रकाशते ॥१५॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (यदि) यदि (भुवनं) संसार (स्वयमेव) स्वयं ही (प्रमेयतां) प्रमेयपनको (याति) प्राप्त होता है तो (यातु) प्राप्त हो (पुरुषस्य) आत्माकी (का क्षतिः) क्या हानि है । (हि) क्योंकि (सहजावबोधनिर्भरः) सहज—स्वाभाविक ज्ञानके भारसे परिपूर्ण (पुमान्) पुरुष—आत्मा (तत्प्रमाणवशतः) संसारको प्रमेय बनानेंकी इच्छासे (न प्रकाशते) प्रकाशित नहीं होता है ।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ प्रमेय हैं और आत्मा प्रमाता है, परन्तु दोनोंका प्रमेय और प्रमातापन एक दूसरेके आश्रित नहीं है । आत्माके आश्रयके बिना संसार प्रमेय रहे इसमें आत्माकी कोई हानि नहीं है और आत्मा संसारका प्रमाता रहे इसमें संसारकी कोई प्रेरणा नहीं है । इतना अवश्य है कि आपका वीतराग विज्ञान संसारको जानता है ॥१५॥

उदयन् प्रकाशयति लोकमंशुमान् भुवनप्रकाशनमतिं विनापि चेत् ।
घनमोहसन्नहृदयस्तदेष किं परभासनव्यसनमेति बालकः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (उदयन्) उदित होता हुआ (अंशुमान्) सूर्य (भुवनप्रकाशनमतिं विनापि) संसारको प्रकाशित करनेकी बुद्धिके बिना ही (लोकं) संसारको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है (तत्) तो (घनमोहसन्नहृदयः) जिसका हृदय तीव्र मिथ्यात्वसे ग्रस्त हो रहा है ऐसा (एष बालकः) यह अज्ञानी प्राणी (परभासनव्यसनं) परपदार्थको प्रकाशित करनेके व्यसनको (किम् एति) क्यों प्राप्त हो रहा है ?

भावार्थ—जब हम देखते हैं कि सूर्य संसारको प्रकाशित करनेकी इच्छाके बिना ही उदित होता हुआ संसारको प्रकाशित करता है तब आत्माके लिये परपदार्थोंको प्रकाशित करनेकी इच्छाकी क्या आवश्यकता है ? कुछ भी नहीं । स्वतः—स्वभावसे आत्मा स्वपरपदार्थोंका ज्ञाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। अज्ञानी जीव, मोहाच्छादित हृदयके होनेके कारण व्यर्थ ही उस इच्छाकी कल्पना करता है ॥१६॥

बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः स्वपरप्रकाशनगुणः स्वभावतः।
त्वमयं चिदेक नियतः परः षरं भ्रममेति देव परभासनोन्मुखः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(बहिरन्तः अप्रतिहतप्रभाभरः) जिनकी दीप्ति—ज्ञातृत्व शक्तिका समूह बाह्य और भीतर—दोनों ही जगह अप्रतिहत है—निर्बाधरूपसे अपनी क्रिया करता है तथा (स्वपर-प्रकाशनगुणः) निज और परको प्रकाशित करना जिनका गुण है ऐसे (अयं त्वम्) यह आप (स्वभावतः) स्वभावसे (चिदेकनियतः) ज्ञानमें—पदार्थोंके जाननेमें प्रमुखरूपसे संलग्न हैं (परं) किन्तु (देव) हे देव! (परः) अन्य मिथ्यादृष्टि जीव (परभासनोन्मुखः) परपदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये सन्मुख होता हुआ (भ्रमं) भ्रमको (एति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे देव! आप स्वतः—स्वभावसे पदार्थोंको जानते हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि भ्रमवश अन्य पदार्थोंमें कारणपनेकी कल्पना करता है ॥१७॥

स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्स्वसमीकरोति किल कारकोत्करम्।
न हि हीयते कथमपीह निश्चयव्यवहारसंहतिमयी जगत्स्थितिः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(वस्तु) जो वस्तु (ते) आपके लिये (स्फुटभावमात्रमपि भवत्) अत्यन्त स्पष्ट हो रही है वह भी (किल) निश्चयसे (कारकोत्करम्) कारकोंके समूहको (स्वसमीकरोति) अपने अनुरूप करती है। (हि) क्योंकि (इह) इस लोकमें (निश्चयव्यवहारसंहतिमयी) निश्चय और व्यवहारके समुदायरूप (जगत्स्थितिः) जगत्की स्थिति (कथमपि) किसी भी तरह (न हीयते) ह्रासको प्राप्त नहीं होती है।

भावार्थ—निश्चयनय अभेदकारक चक्रको और व्यवहारनय भेदकारक चक्रको आश्रय देता है। संसारकी परिणति निश्चय और व्यवहारनयके संघटनसे चलती है इसलिये जहां जैसी विवक्षा होती है वहां उसीके अनुरूप सामञ्जस्य बैठाया जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परको जानता है, यह व्यवहारनयका विषय है और आत्मा स्वको जानता है, यह निश्चयनयका विषय है ॥१८॥

सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना परिणामिनोऽत्र परजा विभक्तयः।
न विभक्तिकारणतया बहिर्लुठन्नपनीतमोहकलुषस्य ते परः ॥१९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अत्र) इस लोकमें (परिणामिनः) परिणमनशील और (अपवीत-मोहकलुषस्य) मोहजन्य कलुषयतासे रहित (ते) आपकी जो (शुद्धचेतना) शुद्ध चेतना (सदा स्फुरति) सदा स्फुरायमान हो रही है, वह (सहजा) स्वाभाविक है और (विभक्तय.) जितने उसमें विभेद है—विभाग हैं वे सब (परजाः) परसे उत्पन्न हैं। (वहिर्लुठन्) बाहर रहनेवाला (परः) पर-द्रव्य (विभक्तिकारणतया) विभागके कारणरूपसे (ते) आपको (न) नहीं है—आपको स्वाकार्य नहीं है। (ते) आपके (न) नहीं है।

भावार्थ—जिसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है ऐसी सामान्य शुद्ध चेतना आत्मस्वभाव होनेसे सहज है—किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं है, परन्तु उसमें जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभेद है वह परके निमित्तसे उत्पन्न है अर्थात् मतिज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमादिरूप अन्तरङ्ग निमित्त तथा शास्त्र, प्रकाश आदि अन्य कारणोंसे उत्पन्न है। यतः परिणमन करना वस्तुका स्वभाव है, अतः आपमें भी परिणमन होता है और आपमें परिणमन होनेसे आपकी चेतना भी सामान्य-विशेषरूप परिणमन करती है। तात्पर्य यह है कि चेतनामें जो विशेष—विभागरूप परिणमन होता है वह ऊपर कहे अनुसार अन्यसे उत्पन्न है, परन्तु वह अन्य द्रव्य आपसे बाहर ही रहता है, अन्तरङ्गमें उसका प्रवेश नहीं होता। मोहजन्य कलुषता—मोह तथा राग-द्वेषके रहते हुए पहले उसमें आत्मबुद्धि हुआ करती थी, परन्तु अब मोहजन्य कलुषताके दूर हो जानेसे उसमें आत्मबुद्धि भी नहीं होती है ॥१९॥

अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो न विभक्तयोऽपि विजहत्यनेकताम् ।
तदनेकमेकमपि चिन्मयं वपुः स्वपरौ प्रकाशयति तुल्यमेव ते ॥२०॥

अन्वयार्थ—(अवबोधशक्तिः) ज्ञानशक्ति (ऐक्यतः) अभेदसे (न अपयाति) दूर नहीं हटती है और (विभक्तयोऽपि) विभेद भी (अनेकतां) अनेकताको (न विजहति) नहीं छोड़ते हैं अर्थात् सामान्य ज्ञातृत्वशक्ति अभेदरूप है और उसके विशेष भेदरूप हैं। (तत्) इसलिये (अनेकम् एकम् अपि) अनेक और एकरूप—अभेद और भेदरूप (ते) आपका जो (चिन्मयं वपुः) चैतन्यरूप शरीर है वह (तुल्यमेव) समानरूपसे (स्वपरौ) निज और परको (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी चेतना, सामान्यकी अपेक्षा एक है, परन्तु विशेषकी अपेक्षा ज्ञान-चेतना दर्शन-चेतना तथा उनके अवान्तर भेदोंके भेदसे अनेक प्रकारकी है। चेतना ही आपका शरीर है और वह चेतना निज तथा पर—दोनोंको समानरूपसे जानती है ॥२०॥

त्वमनन्तवीर्यबलबृंहितोदयः सततं निरावरणबोधदुर्द्धरः ।
अविचिन्त्यशक्तिर(स)हितस्तटस्थितः प्रतिभासि विश्वहृदयानि दारयन् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तवीर्यबलबृंहतोदयः) अनन्त वीर्य और बलके द्वारा जिनका उदय—ऐश्वर्य वृद्धिको प्राप्त हुआ है, जो (सततं) निरन्तर (निरावरणबोधदुर्द्धरः) निरावरण—क्षायिक ज्ञानसे दुर्धर हैं, जो (अविचिन्त्यशक्तिसहितः) अचिन्त्य शक्तियोंसे सहित हैं तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण (तटस्थितः) मध्यस्थ हैं ऐसे (त्वम्) आप (विश्वहृदयानि) विश्वके रहस्योंको (दारयन्) खोलते हुए अथवा समस्त पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करते हुए (प्रतिभासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—जिसके कारण आत्माके समस्त गुण अपने-अपने स्वरूपमें स्थिर रहते हैं उस गुणको वीर्य कहते हैं और शारीरिक शक्तिको बल कहते हैं। हे भगवन् ! आपके वीर्य और बल दोनों ही अनन्त अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं साथ ही निरावरण—सदा उद्घाटित रहनेवाले केवलज्ञानसे आप परिपूर्ण हैं, अचिन्त्य शक्तियोंसे सहित हैं और राग-द्वेषका अभाव होनेसे तटस्थ हैं। इस प्रकार आत्माके अनन्त अभ्युदयसे युक्त होकर आप दिव्यध्वनिके द्वारा समस्त पदार्थोंके हार्द—वास्तविक स्वरूपको प्रकट कर रहे हैं ॥२१॥

बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया परमानयन्नपि निमित्तमात्रताम् ।
स्वयमेव पुष्कलविभक्तिनिर्भरं परिणाममेषि जिन केवलात्मना ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया) बहिरङ्ग कारणोंकी निश्चित व्यवस्थाके कारण (परम्) अन्य पदार्थको (निमित्तमात्रतां) निमित्त मात्रपना (आनयन्नपि) प्राप्त कराते हुए भी आप (स्वयमेव) स्वयं ही (केवलात्मना) केवल अपने द्वारा (पुष्कलविभक्तिनिर्भरं) अत्यधिक विभेदोंसे परिपूर्ण (परिणामं) परिणमनको (एषि) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—पदार्थमें जो परिणमन होता है उसके दो कारण हैं—एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो स्वयं कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं और जो उसमें सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। उपादान कारण, स्वद्रव्य होता है और निमित्त-कारण परद्रव्य। यतश्च निमित्त कारण, स्वयं कार्यरूप परिणमन नहीं करता, अतः वह सदा निमित्त ही रहता है और उपादान, कार्यरूप परिणत होनेके कारण कार्य संज्ञाको प्राप्त हो जाता है। उपादान और निमित्त, इन दो कारणोंमें उदापान वस्तुकी योग्यताको प्रकट करता है और निमित्त उसमें सहायक होता है। यद्यपि कार्य अपनी योंग्यतासे होता है तथापि बाह्य कारणकी सापेक्षता भी आवश्यक रहती है। इसी शाश्वतिक व्यवस्थाके कारण हे भगवन् ! आपके परिणमन में भी उपादान और निमित्त दोनो कारण आवश्यक हैं। कार्योत्पत्तिकी इस व्यवस्थाके कारण यद्यपि पर पदार्थ, आपके परिणमनमें निमित्त कारण रहते हैं तथापि उस परिणमनके उपादान आप ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥२२॥

इदमेकमेव परिणाममागतं परकारणाभिरहितों (तं) विभक्तिभिः।
तव बोधधाम कलयत्यनङ्कुशामवकीर्णविश्वमपि विश्वरूपताम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(विभक्तिभिः) पृथक्पनेके कारण जो (परकारणाभिरहितं) अन्य-निमित्त कारणोंसे रहित होता हुआ (परिणाममागतं) अविभाग प्रतिच्छेदोंकी षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणामको प्राप्त हुआ है तथा (एकमेव) एक होकर ही (अवकीर्णविश्वमपि) जिसने समस्त विश्व—लोकालोकको व्याप्त कर लिया है ऐसा (तव) आपका (इदं) यह (बोधधाम) केवलज्ञानरूप तेज (अनङ्कुशां) निर्बाध (विश्वरूपतां) नानारूपताको (कलयति) प्राप्त कर रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके केकलज्ञानमें जो परिणमन हो रहा है वह स्वयंकी योग्यतासे हो रहा है, क्योंकि कालद्रव्य आदि बाह्य कारण उससे सर्वथा पृथक् हैं। वह केवलज्ञान यद्यपि एक है तथापि समस्त विश्वको जाननेके कारण विश्वरूपता—नानारूपताको प्राप्त हो रहा है ॥२३॥

जिन केवलैककलया निराकुलं सकलं सदा स्वपरवस्तुवैभवम्।
अनुभूतिमानयदनन्तमप्ययं तव याति तत्त्वमनुभूतिमात्रताम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! जिसने (केवलैककलया) केवलज्ञानरूप एक—अद्वितीय कलाके द्वारा (निराकुलं 'यथा स्यात्तथा') निराकुलतापूर्वक (अनन्तमपि) अनन्त परिणामसे युक्त होनेपर भी (सकलं) समस्त (स्वपरवस्तुवैभवं) स्व-पररूप वस्तुकी महिमाको (सदा) सर्वदा (अनुभूतिमानयत्) अनुभूति प्राप्त करायी थी ऐसा (अयं) यह प्राणी (तव) आपके (अनुभूतिमात्रतां तत्त्वं) अनुभूति मात्र तत्त्वको (याति) प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी उपासनाके फलस्वरूप यह जीव केवलज्ञानको प्राप्त होता है और उसके द्वारा समस्त स्व-पर पदार्थोंको जानता हुआ आपके यथार्थ तत्त्वको प्राप्त होता है ।।२४।।

अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थितं द्वितयस्वभावमिह तत्त्वमात्मनः ।
ग्लपयन्त्यशेषमियमात्मवैभवादनुभूतिरेव जयतादनङ्कुशा ।।२५।।

अन्वयार्थ—(आकुलप्रलपितैः) आकुलतापूर्ण प्रलाप करनेसे (अलं) रुको। (इह) इस जगत्में (आत्मनः) आत्माका (तत्त्वं) स्वरूप (द्वितयस्वभावं) स्व और परको प्रकाशित करनेरूप दो प्रकारके स्वभावसे युक्त है यह (व्यवस्थितं) निश्चित हो गया। (आत्मवैभवात्) अपनी सामर्थ्यसे (अशेषं ग्लपयन्ती) अन्य समस्त मान्यताओंको नष्ट करनेवाली (इयं) यह (अनङ्कुशा) निर्बाध (अनुभूतिरेव) अनुभूति ही (जयतात्) जयवन्त प्रवर्ते।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि व्यर्थके प्रलापसे क्या प्रयोजन है ? उपर्युक्त विवेचनसे यह निर्णीत हो गया कि आत्माका स्वरूप स्वपरावभासनरूप दो प्रकारके स्वभावसे युक्त है अर्थात् आत्मा स्वको भी जानता है और परको भी जानता है। ऐसा एकान्त नहीं है कि मात्र स्वको ही जानता है, परको नहीं जानता अथवा परको ही जानता है स्वको नहीं जानता। जब आत्माके इस स्वभावकी अनुभूति होती है तब अन्य मान्यताएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं ।।२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१४)

तोटक छन्द :

चितिमात्रमिदं दृशिबोधमयं तव रूपमरूपमनन्तमहः ।
अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात् क्रमतोऽक्रमतश्च नुमः प्रतपत् ।।१।।

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (अविखण्डविखण्डितशक्तिभरात्) गुण-गुणीके अभेद और भेदरूप शक्तिके भारसे (चितिमात्रं) सामान्य. विवक्षामें एक चैतन्यमात्र और विशेष विवक्षामें (दृशिबोधमयं) दर्शन और ज्ञानरूप, (अरूपं) रूप रस गन्ध स्पर्शसे रहित (अनन्तमहः) अनन्त तेजसे युक्त (प्रतपत्) प्रतपनशील (तव) आपके (इदं) इस (रूपं) रूप—स्वरूपकी हम (क्रमतः) क्रमसे (च) और (अक्रमतः) एक साथ (नुमः) स्तुति करते हैं ।

भावार्थ—आत्मामें भेद और अभेद-दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं । इन शक्तियोंमें जब भेद शक्तिकी विवक्षा होती है तब संज्ञा, संख्या लक्षण आदिके भेदसे गुण और गुणीमें भेदका अनुभव होना है । जैसे आत्मा पृथक् है और ज्ञानादि गुण पृथक् हैं । यहाँ आत्मा गुणी है और ज्ञानादि गुण पृथक् हैं । परन्तु जब अभेद शक्तिकी अपेक्षा विचार होता है तब आत्मा और ज्ञानादि गुणोंके प्रदेश पृथक्-पृथक् न होनेसे दोनोंमें अभेद सिद्ध होना है । हे भगवन् ! हम आपके जिस स्वरूपकी स्तुति कर रहे हैं वह अभेद विवक्षामें आपसे अखण्ड—अभिन्न रूप है और भेद विवक्षामें विखण्ड विभेदरूप है । आपका स्वरूप ज्ञान-दर्शनरूप है । सामान्यरूपसे यह ज्ञान-दर्शन एक चैतन्य-गुणकी पर्याय है, इसलिये जब सामान्यकी विवक्षा करते हैं तब वह एक चितिमात्र—चैतन्यमात्र है और जब चैतन्यगुणके द्विविध परिणमनकी विवक्षा करते हैं तब वह दर्शन और ज्ञानरूप प्रतीत होता है । आत्मा रूप रस गन्ध और स्पर्शसे रहित है, अतः उसका चैतन्य गुण भी उनसे रहित है एतावता आपका वह स्वरूप अरूप है—रूपादिसे रहित है । आपके यह ज्ञान दर्शन गुण, केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप परिणत होनेसे अनन्त तेजरूप हैं अथवा अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होनेके कारण अनन्तरूप हैं । इसके अतिरिक्त आपका यह स्वभाव सदा प्रतपनशील है—सदा उपयोगस्वरूप है । क्षायोपशमिक दर्शन और ज्ञान क्रमवर्ती होनेसे लब्धि और उपयोग—दोनोंरूप होते हैं परन्तु क्षायिक, ज्ञान और क्षायिक दर्शन सदा उपयोगात्मक ही रहते हैं । हे नाथ ! हम आपके इस स्वरूपकी गुण-गुणीकी अभेद विवक्षामें एक साथ स्तुति करते हैं और भेद विवक्षामें पहले गुणकी और उसके पश्चात् उस गुणके धारक आपकी स्तुति करते हैं ।।१।।

त्वमनेकचिदर्च्चिकदम्बि (म्ब) रुचा रुचिरं रचयन् जिन चित्रमिदम् ।
न परामृशतोऽपि विभूतिलवान् दृशिगोचर एव परीतदृशः ।।२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (अनेकचिदर्च्चिकदम्बरुचा) अनेक चैतन्यरूप ज्योतिः-समूह की कान्तिके द्वारा जो अपने आपको (रुचिरं जनयन्) सदा रुचिमन्त—देदीप्यमान कर रहे हैं ऐसे (त्वम्) आप, (विभूतिलवान् परामृशतः अपि) अल्पतम ऐश्वर्यके धारक तथा (परीतदृशः अपि) दृष्टि सम्पन्न मनुष्यके भी (दृशिगोचरः) दृष्टिके विषयभूत (न एव) नियमसे नहीं है (इदम्) यह (चित्रम्) आश्चर्यकी बात है।

भावार्थ—ज्योतियुक्त पदार्थ, नेत्रवाले मनुष्यको न दिखे यह आश्चर्यकी बात है। हे भगवन्! आप अपने आपको अनेक ज्योतिःसमूहकी कान्तिसे देदीप्यमान कर रहे हैं फिर भी उस नेत्रवान् मनुष्यको आप दिखाई नहीं देते जो लौकिक दृष्टिसे कुछ विभूतिको भी धारण कर रहा है यह आश्चर्यकी बात है। यहाँ आचार्यने यह भाव प्रकट किया है कि हे भगवन्! आपका आभ्यन्तर स्वरूप मात्र चर्मचक्षुओंके द्वारा नहीं देखा जा सकता उसके लिये श्रद्धा और ज्ञानरूप दो अन्तरङ्ग नेत्रोंकी आवश्यकता है। आप अनन्त ज्ञानराशिसे देदीप्यमान हैं इसकी श्रद्धा उन मिथ्यादृष्टि जीवोंको नहीं हो सकती है जो भले ही अल्पतम लौकिक विभूतिको प्राप्त हों ॥२॥

अनवस्थमवस्थित एष भवानविरुद्धविरोधिनि धर्म्मभरे।
स्वविभूतिविलोकनलोलदृशामनवस्थमवस्थितिमादिशति ॥३॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अविरुद्धविरोधिनि) अनेकान्तकी दृष्टिसे अविरुद्ध परन्तु एकान्त दृष्टिसे विरुद्ध (धर्म्मभरे) नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि धर्मोंके समूहमें (अनवस्थं 'यथा स्यात्तथा') अनवस्थितरूपसे (अवस्थितः) स्थित रहनेवाले (एषः भवान्) यह आप, (स्वविभूति-विलोकन[1] लोलदृशाम्) आत्मवैभवके देखनेमें सतृष्ण दृष्टिवाले मनुष्योंके लिये (अनवस्थं 'यथा स्यात्तथा') अनवस्थितरूपसे (अवस्थितिम्) स्थितिको (आदिशति) प्ररूपित करते हैं—कहते हैं।

भावार्थ—नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरुद्ध दिखते हैं तथापि नयविवक्षासे वे अविरुद्ध हो जाते हैं। जैसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नित्य है तो पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य है। सामान्यकी अपेक्षा एक है तो विशेषकी अपेक्षा अनेक है। संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिमें भेद होनेसे गुण और गुणीमें भेद है तो प्रदेशभेद न होनेसे उनमें अभेद भी है। इस तरह अविरुद्ध होनेपर भी विरुद्ध दिखने वाले अनेक धर्मोंके समूहमें आप अवस्थित हैं। 'आप धर्मोंके समूहमें अवस्थित हैं' यह कथन भी धर्म और धर्मीमें भेद विवक्षा होनेपर ही संगत होता है। जब धर्म और धर्मीमें अभेद मानकर धर्मोंको धर्मरूप कहा जाता है तब यह नहीं कहा जा सकता कि आप धर्मोंके समूहमें स्थित हैं इसलिये 'अनवस्थितं यथा स्यात्तथा'—अनवस्थितरूपसे आप उन अविरुद्ध-विरोधी धर्मोंके समूहमें अवस्थित हैं यह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कथंचित् आप उन अविरुद्ध विरोधी धर्मोंमें अवस्थित हैं और कथंचित् उन धर्मस्वरूप होनेसे अनवस्थित भी हैं। हे भगवन्! आप स्वयं ऐसे हैं, तथा जो आपके वैभव अथवा स्वकीय आत्मवैभवको देखनेके लिये लालायित हैं—उत्कण्ठित हैं उन्हें भी आप यही उपदेश देते हैं कि हे संसारके प्राणियों! आप लोग कथंचित् अपने अविरुद्ध-विरोधी धर्मोंके समूहमें अवस्थित हैं और कथंचित् अवस्थित नहीं भी हैं अर्थात् उन धर्मस्वरूप ही हैं। अतः ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे गुण और गुणीका यह विकल्प भी समाप्त हो जावे ॥३॥

१. 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित् ।
अनुभूयत एव विभो भवतो भवतोऽभवतश्च विभूतिभरः ॥४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (भवतः) जो आर्हन्त्य पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न हो रहे हैं (च) और सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षा जो (अभवतः) उत्पन्न नहीं हो रहे हैं ऐसे (भवतः) आपका (अयम्) यह (स्वपरप्रविभागविजृम्भितवित्) स्वपर विभागके विस्तारको जाननेवाला (विभूति-भरः) ज्ञान-दर्शन रूप विभूतिका समूह (ऊर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः) सबलशक्तिके चमत्कारसे युक्त मनुष्योंके द्वारा (अनुभूयते एव) नियमसे अनुभूत हो रहा है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पद्यमान हैं—उत्पन्न हो रहे हैं और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनुत्पद्यमान हैं—उत्पन्न नहीं हो रहे हैं। ऐसे आपकी स्वपरावभासी ज्ञानदर्शनरूप विभूतिका जो समूह है वह अपनी सबल शक्तिके चमत्कारसे युक्त मनुष्योंके द्वारा नियमसे अनुभूत हो रहा है। ज्ञानदर्शनका स्वभाव स्व और परके विभागको जानना है सो आपके इस स्वभावका अनुभव, उन पुरुषोंको सदा होता रहता है जो प्रचण्ड आत्मबलसे सहित हैं ॥४॥

न किलैकमनेकतया घटते यदनेकमिहैक्यमुपैति न तत् ।
उभयात्मकमन्यदिवासि महः समुदाय इवावयवाश्च भवन् ॥५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (इह) इस जगत्में (यत्) जो (एकं) एक है (तत्) वह (अनेक-तया) अनेकरूपसे (न घटते) घटित नहीं होता है और (यत्) जो (अनेकं) अनेक है (तत्) वह (ऐक्यं) एकपनेको (न उपैति) प्राप्त नहीं होता है परन्तु आप उस (उभयात्मकं) एक अनेकात्मक (महः) तेजःस्वरूप हो जो (अन्यदिव) अन्यके समान जान पड़ता है। हे भगवन् ! आप (समुदाय इव भवन्) समुदायके समान हैं (च) और (अवयवाः भवन्) अवयव रूप भी हो रहे हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! एक और अनेक, ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं क्योंकि जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता और जो अनेक है वह एक नहीं हो सकता परन्तु आप एकानेक इन दोनों धर्मोंसे युक्त हैं और इसीलिये अन्यके समान जान पड़ते हैं। आपके एक तथा अनेक रूप होने का कारण यह है कि जब अवयवोंके समुदायकी ओर दृष्टि जाती है तब आप एक हैं और जब अवयवोंकी ओर दृष्टि जाती है तब अनेक हैं। लोकमें अवयव अनेक, और अवयवी एक रूपसे प्रसिद्ध है ही ॥५॥

क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य सनातनता ।
क्षणिकत्वमथापि चिदेकरसप्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य तव ॥६॥

अन्वयार्थ—(क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिकानिकुरम्बमयस्य) क्षणभङ्गसे रहित चैतन्य कलि-काओंके समूह स्वरूप (तव) आपके यद्यपि (सनातनता) नित्यपना है (अथापि) तो भी (चिदेकरस-प्रसरार्द्रितचित्कणिकस्य) चैतन्य रूप एकरसके समूहसे आर्द्रित चैतन्य कणोंसे युक्त (तव) आपके (क्षणिकत्वं) क्षणिकपना भी है ।

---

१. भातीति भवान् तस्य भवतः तव इत्यर्थः, २. भवतीति भवन् तस्य, ३. न भवतीति अभवन् तस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आप नित्यानित्य रूप हैं क्योंकि क्षणभङ्गसे रहित चैतन्यरूप कलिकाओंके समूहसे युक्त होनेके कारण आपमें नित्यता है तो एक चैतन्यरूप रससे आर्द्रित चैतन्यरूप कणोंसें युक्त होनेके कारण आपमें क्षणिकता—अनित्यता भी है। ज्ञान सामान्य, उत्पत्ति और विनाशसे रहित होनेके कारण नित्य है तो क्षण-क्षणमें परिवर्तित होनेवाले ज्ञानकण—ज्ञानकी विशिष्ट परिणति अनित्य भी है। आप इन दोनों—सामान्य विशेष रूप ज्ञानोंसे युक्त होनेके कारण नित्यनित्यात्मक हैं ॥६॥

उदगाद्यदुदेति तदेव विभौ यदुदेति च भूय उदेष्यति तत् ।
जिन कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽप्यसि निष्कलचिज्जलधिः ॥७॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (विभौ) महिमाशाली आपमें (यत्) जो ज्ञान (उदगात्) उत्पन्न हुआ था (तदेव) वही ज्ञान (उदेति) इस समय उदित हो रहा है (च) और (यत्) जो (उदेति) इस समय उदित हो रहा है (तत्) वही (भूयः) पुनः (उदेष्यति) उदित होगा। हे भगवन् ! इस प्रकार आप (कालकलङ्कितबोधकलाकलनेऽपि) कालसे कलङ्कित अर्थात् कालत्रयमें परिणमन करनेवाले ज्ञानकी कलासे युक्त होने पर भी (निष्कलचिज्जलधिः) कलारहित-अनाद्यनन्त ज्ञान सागरसे सहित हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जब आप घातिचतुष्कको नष्ट कर जिनेन्द्र अवस्थाको प्राप्त हुए तब आपका वैभव निराला हो गया। आप विभु कहलाने लगे। उस समय जो आपको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था वही आज उत्पन्न हो रहा है—लोकालोकको जान रहा है और अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा जो आज उत्पन्न हो रहा है वही आगे फिर भी उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि ज्ञानगुणकी केवलज्ञानरूप पर्याय सादि अनन्त पर्याय है—एक बार प्रकट होकर कभी नष्ट नहीं होती। यद्यपि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेसे उसमें भी अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते रहते हैं तथापि सामान्य केवलज्ञानकी अपेक्षा वह सदा ध्रुवरूप रहती है। विशेष, सामान्यसे पृथक् नहीं होता है और सामान्य भी विशेषसे पृथक् नहीं रहता है। ज्ञानसामान्य, आत्माका अनादि अनन्त गुण है और केवलज्ञान सादि अनन्तरूप विशेष ज्ञान है। जब विशेष ज्ञानकी ओर दृष्टि देकर कथन किया जाता है, तब यह कहा जाता है कि हे भगवन् ! परिणमन करनेवाले आप कालसे कलङ्कित—अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा कालत्रयमें केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं परन्तु जब सामान्य ज्ञानस्वभावकी ओर दृष्टि रखकर कहा जाता है तब यह कथन होता है कि हे भगवन् ! आप कलासे रहित सामान्य चैतन्य-ज्ञानस्वभावरूप सागरसे सहित हैं ॥७॥

त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कलनां न जहासि सदैकतयापि लसन् ।
तुहिनोपलखण्डलकेऽम्बुकणा अविलीनविलीनमहिम्नि समाः ॥८॥

अन्वयार्थ—(सदा) सर्वदा (एकतया) एकत्वरूपसे (लसन् अपि) सुशोभित होते हुए भी (त्वम्) आप (अनन्तचिदुद्गमसंकलनां) ज्ञानके अनन्त विकल्पोंकी संकलना-संग्रहको (न जहासि) नहीं छोड़ रहे हैं अर्थात् अखण्ड सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा आप एक हैं और अनन्त ज्ञान विकल्पोंकी अपेक्षा अनेक भी हैं। दोनों ही स्थितियोंमें ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या समान ही रहती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है क्योंकि (अविलीनविलीनमहिम्नि) सघन और पिघली हुई—दोनों अवस्थाओंसे युक्त (तुहिनोपल-खण्डलके) बर्फके खण्डमें (अम्बुकणाः) पानीके कण (समाः) समान होते हैं।

भावार्थ—यहाँ एक अखण्ड ज्ञानकी अपेक्षा आपमें एकत्व है और उसके अनन्त विकल्पोंकी अपेक्षा अनेकत्व है। दोनों ही अवस्थाओंमें बर्फखण्डमें जलकणोंके समान अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या समान ही रहती है ॥८॥

घटितो घटितः परितो झटसि झटितो झटितः परितो घटसे।
झटसीश न वा न पुनर्घटसे जिन जर्ज्जरयन्निव भासि मनः ॥९॥

अन्वयार्थ—(हे ईश ! हे जिन !) हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ! आप (घटितो घटितः) अविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा वृद्धिको प्राप्त होते हुए (परितः) सब ओरसे (झटसि) हानिको प्राप्त होते हैं और (झटितो झटितः) हानिको प्राप्त होते हुए भी (परितः) सब ओरसे पुनः (घटसे) वृद्धिको प्राप्त होते हैं (वा) अथवा (न झटसि न पुनः घटसे) न हानिको प्राप्त होते हैं और न पुनः वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आप (मनः) मेरे मनको (जर्ज्जरयन्निव) जर्जर करते हुएके समान (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमें वृद्धिका प्रसंग आनेपर अगुरुलघु गुणके निमित्तसे अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुण-वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि यह छह प्रकारकी वृद्धि होती है तथा हानिका प्रसङ्ग आनेपर उपर्युक्त छह प्रकारकी हानि होती है। हे भगवन् ! द्रव्यगत स्वभावके कारण आप भी अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा उपर्युक्त छह प्रकार की वृद्धिको प्राप्त कर पुनः छह प्रकारकी हानिको प्राप्त करते हैं इसलिये कहा जाता है कि आप सब ओरसे वृद्धिको प्राप्त होकर भी हानिको प्राप्त होते हैं और हानिको प्राप्त होकर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि भाववती शक्तिके कारण आपमें अर्थपर्यायरूप परिणमन निरन्तर चालू रहता है परन्तु विशेषता यह है कि इस अर्थपर्याय-रूप परिणमनसे आपके द्रव्य और गुणोंमें कोई ऐसा परिणमन नहीं होता जिससे उसके बाह्यरूप में कोई विशेषता अङ्कित की जा सके। भाव यह है कि सामान्य द्रव्य तथा गुणकी अपेक्षा आपमें न वृद्धि होती है और न हानि होती है। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायगत स्वभावके कारण समी-क्षक मनुष्यका मन यद्यपि असमंजसमें पड़ता हुआ जर्जर हो जाता है तथापि वस्तुस्वभावका विचार करने पर मनकी वह जर्जरता दूर हो जाती है ॥९॥

प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी प्रकृतौ च वृथैव वितर्ककथा।
वहसि त्व (वहसि त्व) मखण्डितधारचिता सदृशेतरभावभरेण भृतः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भवतः) आपका (प्रकृतिः) स्वभाव (परिणाममयी) परिणमनशील है (च) और (प्रकृतौ) स्वभावके विषयमें (वितर्ककथा) ऐसा क्यों होता है ? ऐसे तर्ककी चर्चा (वृथैव) वृथा ही है (अखण्डितधारचिता) अखण्ड सन्ततिसे युक्त (सदृशेतरभावभरेण) समान और अस-मान—वृद्धि और हानिरूप परस्पर विरोधी धर्मोंके समूहसे (भृतः) परिपूर्ण (त्वम्) आप (वहसि) उपर्युक्त प्रकृति-स्वभावको धारण कर रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! द्रव्यका यह स्वभाव है कि वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमनसे युक्त होता है। उसका स्वभाव ऐसा क्यों है? इसमें तर्क नहीं किया जा सकता है क्योंकि—'स्वभावोऽतर्कगोचरः' स्वभाव तर्कका विषय नहीं है। इस सिद्धान्तके अनुसार आप भी परिणमनशील हैं और उस परिणमनशीलताके विषयमें कोई तर्क नहीं किया जा सकता है। यह परस्पर विरोधी परिणमन आपमें अनादिकालसे अखण्डधाराके रूपमें चला आ रहा है और आप इस प्रकारके परिणमनरूप स्वभावको धारण करते आ रहे हैं ॥१०॥

अपरोक्षतया त्वयि भाति विभावपरोक्षपरोक्षतया(र्थ)थ गतिः।
न तथाप्यपरोक्षविभूतिभरं प्रतियं पेति (प्रतियन्ति वि) मोहहताः पशवः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अर्थगतिः) पदार्थका ज्ञान (अपरोक्षपरोक्षतया) प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे होता है [यद्यपि] (विभौ त्वयि अपरोक्षतया भाति 'सति') लोकोत्तर सामर्थ्यसे युक्त आप प्रत्यक्षरूपसे सुशोभित हो रहे हैं (तथापि) तो भी (विमोहहताः पशवः) मिथ्यात्वसे पीडित अज्ञानी जन आपके (अपरोक्षविभूतिभरं) प्रत्यक्षविभूतिके समूहकी (न प्रतियन्ति) प्रतीति नहीं करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! यह ठीक है कि पदार्थका निर्णय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाणों से होता है परन्तु आप तो प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले वैभवसे सुशोभित हो रहे हैं फिर भी आश्चर्य है कि विभ्रमसे पीड़ित हुए अज्ञानी जन आपके इस प्रत्यक्ष वैभवकी प्रतीति नहीं कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थका निर्णय यद्यपि कहीं प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है और कहीं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष प्रमाणोंसे भी होता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है उसका निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाणसे होता है और जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है उसका निर्णय परोक्ष प्रमाणसे होता है। कदाचित् परोक्ष पदार्थके निर्णय करनेमें अज्ञानी जनोंको बाधा हो सकती है परन्तु प्रत्यक्ष पदार्थके निर्णयमें बाधा नहीं होती। आश्चर्य यह है कि आपकी विभूतियोंका समूह यद्यपि प्रत्यक्ष है तथापि अनादि विमोह—मिथ्यात्वसे पीड़ित अज्ञानी जन उसकी श्रद्धा नहीं कर पा रहे हैं ॥११॥

स्वपराकृतिसङ्कलनाकुलिता स्वमपास्य परे पतिता परदृक्।
भवतस्तु भरादभिभूय परं स्वमहिम्नि निराकुलमुच्छलति ॥१२॥

अन्वयार्थ—(स्वपराकृतिसङ्कलनाकुलिता) निज और परकी आकृतिके ग्रहण करनेमें आकुलित रहनेवाली (परदृक्) अन्य—मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी दृष्टि (स्वम् अपास्य) निजको छोड़कर (परे) पर पदार्थमें (पतिता) जा पड़ी है (तु) परन्तु (भवत्) आपकी दृष्टि (भरात्) बलपूर्वक (परम् अभिभूय) परको छोड़कर (निराकुलं 'यथास्यात्तथा') निराकुलरूपसे (स्वमहिम्नि) अपनी महिमामें ही (उच्छलति) उच्छलित हो रही है।

भावार्थ—हे भगवन् ! यद्यपि ज्ञानका स्वभाव स्वपरग्राही है परन्तु मिथ्यादृष्टि मनुष्यका ज्ञान स्वको छोड़कर पर पदार्थको ही अपना ज्ञेय बनाता है और आपका ज्ञान पर पदार्थको छोड़कर अपने आपको ही ज्ञेय बना रहा है अर्थात् अपने आपको ही जान रहा है। परमार्थसे आप आत्मज्ञ ही हैं और व्यवहारसे लोकालोकज्ञ हैं ॥१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृशि दृश्यतया परितः स्वपरावितरेतरमीश्वरसंविशतः ।
अतएव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधिः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(ईश्वर) हे भगवन् ! (स्वपरौ) निज और पर पदार्थ (दृश्यतया) दर्शनका विषय होनेसे (दृशि) दर्शनगुणमें (इतरेतरम्) परस्पर (परितः) सब ओरसे (संविशतः) प्रविष्ट हो रहे हैं (अतएव) इसलिये (भवता) आपके द्वारा (विवेककृते) स्व और परका भेद विज्ञान करने के लिये (विधिप्रतिषेधविधिः) विधि और निषेधकी पद्धतिका (निरणायि) निर्णय किया गया है ।

भावार्थ—जिस प्रकार स्वपरपदार्थ ज्ञानगुणके विषय हैं उसी प्रकार दर्शनगुणके भी विषय हैं । ज्ञानगुणके विषय होनेसे उन्हें ज्ञेय कहते हैं और दर्शनगुणका विषय होनेसे उन्हें दृश्य कहते हैं । ज्ञान और दर्शनमें जो विषय आते हैं वे परस्पर संवलित रूपसे आते हैं अतः कौन स्व है ? और कौन पर है ? इसका भेद करनेके लिये हे भगवन् ! आपने विधि और निषेधकी पद्धति को स्वीकृत किया है । जिसके साथ विधिका व्यवहार होता है वह स्व है जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि । और जिसके साथ प्रतिषेधका व्यवहार होता है वह पर है जैसे राग, द्वेष, काम. क्रोध आदि । ज्ञान दर्शन आदि आत्माके हैं क्योंकि ये परावलम्बनके बिना आत्मामें स्वतः विद्यमान रहते हैं और राग-द्वेष आदि आत्माके नहीं हैं, क्योंकि ये परावलम्बनसे आत्मामें प्रकट होते हैं ॥१३॥

यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि व्यतिरेकभरोऽन्वयमन्वगमत् ।
दृशिरेव तदा प्रतिभातु परं किमु दृश्यभरेण दृशं हरता ॥१४॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (दृश्यनिमित्तकः) दृश्यके निमित्तसे होनेवाला (एषः) यह (व्यतिरेकभरः) पर्याय समूह (दृशि) दर्शनमें (अन्वयम्) अन्वयको (अन्वगमत्) प्राप्त होता है अर्थात् दृश्य पदार्थोंके निमित्तसे ही दर्शनगुणकी पर्यायोंकी सन्तति चलती है (तदा) तो (दृशिरेव) एक दर्शन-ही (परं) अत्यन्त (प्रतिभातु) प्रतिभासित हो (दृशं हरता) दर्शनको हरनेवाले (दृश्यभरेण किमु) दृश्य पदार्थोंके समूहसे क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पणकी स्वच्छतासे दर्पणमें अनेक पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है परन्तु परमार्थसे वह सब प्रतिबिम्ब, दर्पणका ही परिणमन है पदार्थोंका नहीं । इसी प्रकार दर्शन गुणमें उसकी स्वच्छतासे अनेक दृश्योंका विकल्प आता है, परन्तु वह सब विकल्प दर्शनका ही परिणमन है पदार्थोंका नहीं । इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि यदि दृश्य—पदार्थोंके निमित्तसे दर्शनगुणमें अनेक पर्यायोंका समूह अन्वयको प्राप्त होता है तो परमार्थसे वह दर्शनगुणका ही परिणमन है दृश्य—पदार्थों का नहीं ।

यद्यपि दर्शन निर्विकल्पक माना गया है और ज्ञान सविकल्पक, तथापि छद्मस्थ जीवका ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है और सर्वज्ञका ज्ञान दर्शनके साथ उत्पन्न होता है इसी अभिप्रायसे यहाँ दर्शनमें दृश्यके विकल्पका उल्लेख किया गया है ऐसा जान पड़ता है ॥१४॥

यदिदं वचसां विषयाविषयस्तदभूत्तव दृश्यमशेषमपि ।
अथवाचलचिद्भरधीरतया जिन दृश्यविरक्तविभूतिरसि ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (इदम्) यह दर्शनगुण (वचसां विषयाविषयः) वचनोंके विषयका अविषय है अर्थात् सूक्ष्म होनेके कारण वचनोंसे उल्लिखित नहीं होता है (तत्) उस कारण (तव) आपका (अशेषं दृश्यमपि) समस्त दृश्य भी (वचसां विषयाविषयः) वचनों के विषय का अविषय है अर्थात् वचनोंसे उल्लिखित नहीं होता है। (अथवा) अथवा (जिन) हे जिनेन्द्र! (अचलचिद्भरधीरतया) अचल चैतन्यके समूहमें स्थिर होनेके कारण आप (दृश्यविरक्तविभूतिः असि) दृश्यपदार्थोंसे विरक्तविभूतिवाले हैं।

भावार्थ—दर्शनगुणका परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि वचनोंके द्वारा उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। वचनोंसे जिसका उल्लेख होता है वह ज्ञानका विषय होता है। इसी अभिप्रायसे दर्शनको निर्विकल्प माना जाता है अर्थात् उसमें दृश्यके निमित्तसे विकल्पकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। इस प्रकार हे भगवन्! आप दृश्यके विकल्पसे रहित हैं। अथवा चैतन्य एक गुण है उसका ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो रूप परिणमन होता है। जब इन दो रूप परिणमनोंकी विवक्षा रहती है तब दर्शन-दृश्य और ज्ञान-ज्ञेयका व्यवहार होता है परन्तु जब एक अविनाशी चैतन्यगुणकी ही विवक्षा रहती है तब इनका व्यवहार नहीं होता, एक चैतन्य और चैत्यका ही व्यवहार होता है। इस स्थितिमें यह कहा जाता है कि हे भगवन्! आपकी विभूति दृश्य से विरक्त है अर्थात् दृश्यके विकल्पसे रहित है ॥१५॥

महतात्मविकासभरेण भृशं गमयन्त्य इवात्ममयत्वमिमाः।
जिन विश्वमपि स्फुटयन्ति हठात् स्फुटितस्फुटितास्तव चित्कलिकाः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (महता) बहुत बड़े (आत्मविकासभरेण) आत्मविकासके समूहसे (भृशं) अत्यधिक दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंको (आत्ममयत्वं) आत्मरूपताको (गमयन्त्य इव) प्राप्त कराती हुई के समान (तव) आपकी (इमाः) ये (स्फुटितस्फुटिताः) अतिशयरूप प्रकट हुई (चित्कलिकाः) ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यगुणकी परिणतियाँ (हठात्) हठपूर्वक (विश्वमपि) समस्त-पदार्थोंको भी (स्फुटयन्ति) प्रकट करती हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके चैतन्यगुणका जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह आत्मविकासका उत्कृष्ट रूप है। उसमें जो भी पदार्थ दृश्य और ज्ञेयरूप होकर आते हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानों आत्मा के साथ तन्मयताको हो प्राप्त हो रहे हों। ये केवलदर्शन और केवलज्ञान स्वयं अत्यन्त स्फुटित हैं—प्रकटरूप हैं और समस्त विश्वको भी अपने भीतर स्फुटित करते हैं ॥१६॥

अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा रचयन्ति वितानमिवाविरतम्।
अवभासितविश्वतयोच्छलिता विततद्युतयस्तव चित्तडितः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(अवभासितविश्वतया) समस्त लोकालोकरूप विश्वको प्रकाशित करनेके कारण जो (उच्छलिताः) उत्कृष्टरूपसे प्रकट हो रही हैं तथा (विततद्युतयः) जिनकी दीप्ति अत्यन्त विस्तृत है ऐसी (तव) आपकी (चित्तडितः) चैतन्यज्ञानदर्शनरूप बिजलियाँ (अचलात्मचमत्कृतचन्द्र-रुचा) अविनाशी आत्माके चमत्काररूप चन्द्रमाकी कान्तिके द्वारा (अविरतम्) निरन्तर (वितान-मिव रचयन्ति) मानों चँदेवा ही रच रही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके चैतन्यगुणका जो केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप परिणमन है वह बिजलीके समान अत्यन्त प्रकाशमान है। बिजली सीमित क्षेत्रको जब कभी अपनी कौंदसे प्रकाशित करती है परन्तु केवलदर्शन और केवलज्ञान अपनी कौंदसे निरन्तर लोकालोकको प्रकाशित करते रहते हैं। उनका प्रकाश तो ऐसा छाया रहता है मानों आत्मज्ञानरूप चन्द्रमाकी चाँदनीके द्वारा एक सदा स्थायी रहने वाला चँदेवा ही तान दिया गया हो ॥१७॥

इदमद्य ददद्विशदानुभवं बहुभावसुनिर्भरसत्त्वरसम् ।
तव बोधमुखे कवलग्रहवत् परिवृत्तिमुपैति समग्रजगत् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(विशदानुभवं ददत्) जो स्पष्ट अनुभवको दे रहा है तथा जो (बहुभावसुनिर्भर-सत्त्वरसम्) अनेक पदार्थसमूहकी अतिशय सत्तारूपी रससे युक्त है ऐसा (इदम्) यह (समग्रजगत्) सम्पूर्ण लोक (अद्य) आज (तव) आपके (बोधमुखे) केवलज्ञानरूप मुखमें (कवलग्रहवत्) ग्रासग्रहणके समान (परिवृत्ति) परिवर्तनको (उपैति) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार अनेक रसोंसे युक्त ग्रास, मुखमें पहुँच कर अपने आपका रसास्वाद कराता हुआ घुलमिल जाता है उसी प्रकार अनेक पदार्थों के अस्तित्वसे परिपूर्ण यह समस्त संसार आपके केवलज्ञानमें अपना स्पष्ट अनुभव कराता हुआ घुलमिल रहा है अर्थात् ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहा है ॥१८॥

बहुरूपचिदुद्गमरूपतया वितथैव वपुः प्रतिबिम्बकथा ।
अनुभूतिमथापतितं युगपन्ननु विश्वमपि प्रतिमा भवतः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(बहुरूपचिदुद्गमरूपतया) ज्ञान-दर्शनके भेदसे विविधरूपताको प्राप्त चैतन्यके उद्गमस्वरूप होनेके कारण (भवतः) आपके (वपुः प्रतिबिम्बकथा) शरीरके प्रतिबिम्ब की कथा करना (वितथैव) व्यर्थ ही है (अथ) एक सर्वज्ञदशाके प्रकट होनेके अनन्तर तो (युगपत्) एक साथ (अनुभूतिम् आपतितम्) अनुभूतिको प्राप्त होने वाला (विश्वमपि) समस्त विश्व भी (ननु) निश्चयसे (भवतः) आपकी प्रतिमा—प्रतिबिम्ब हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! परमार्थसे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि रूप जो चैतन्यका परिणमन है वही आपका स्वरूप है अतः आपके शरीरके प्रतिबिम्बकी चर्चा करना व्यर्थ है परन्तु आपकी आत्मामें एक साथ प्रतिफलित होने वाले अनन्तानन्त पदार्थोंको ओर लक्ष्य देकर जब चर्चा की जाती है तब ऐसा लगता है कि यह समस्त विश्व ही आपकी प्रतिमा है। ज्ञेय—पदार्थका जब ज्ञानमें विकल्प आता है तब ज्ञान, ज्ञेयाकार हो जाता है ऐसा व्यवहार है, इसी व्यवहारके अनुसार आपके ज्ञानमें समस्त विश्वका विकल्प आ रहा है अतः आपका ज्ञान विश्वाकार हो रहा है। यद्यपि परमार्थसे न ज्ञान, ज्ञेयरूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञानरूप होता है तथापि व्यवहारसे ऐसा वर्णन होता है कि ज्ञेयको जाननेके कारण ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है और ज्ञेय, ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानाकार हो जाता है ॥१९॥

ह्रियते हि परैर्विषयैर्विषयी स्वमतः कुरुतां विषयं विषयी ।
स (यतो)हृतो विषयैर्विषयस्तु भवेदहृतो विषयी न पुनर्विषयः ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(हि) जिस कारण (विषयी) पदार्थोंको विषय करनेवाला—जाननेवाला आत्मा (परैः विषयैः) अन्य विषयोंके द्वारा (ह्रियते) हरा जाता है—तद्रूप हो जाता है (अतः) इस कारण (विषयी) आत्मा (स्वम्) अपने आपको (विषयं कुरुताम्) विषय करे—परज्ञेयोंसे निवृत्त होकर स्व को जाने। (तु) और (यतो) जिस कारण (सः) वह स्वकीय आत्मा (विषयः) विषय होता है उस कारण वह (विषयैः) अन्य विषयोंके द्वारा (अहृतो भवेत्) अहृत होता है—अन्यरूप नहीं होता है उस समय वह आत्मा (विषयी) विषय करनेवाला—ज्ञायक ही होता है (न पुनर्विषयः) विषयरूप नहीं होता।

भावार्थ—जो आत्मा अन्य पदार्थोंको जानता है वह ज्ञेयाकार परिणमन करनेके कारण उनरूप हो जाता है इसलिये उपरितन भूमिकामें आत्मा अन्य पदार्थोंका विकल्प छोड़कर अपने आपको जानता है। जब आत्मा अपने आपको विषय बनाता है अर्थात् अपने आपको जानता है तब वह अन्य ज्ञेयाकार नहीं होता, अतः विषयी–ज्ञायक ही रहता है विषय—ज्ञेयरूप नहीं होता है ॥२०॥

दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो भवबीजहरस्तव शक्तिभरः।
न विविक्तमतिः क्रियया रमते क्रिययोपरमत्यपथादथ तु ॥२१॥

अन्वयार्थं—(दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयः) दर्शन और ज्ञानमें निश्चलवृत्तिरूप जो (तव) आपकी (शक्तिभरः) शक्तियोंका समूह है वह (भवबीजहरः) संसारके बीज—कारणको नष्ट करनेवाला है (तु) किन्तु (विविक्तमतिः) पवित्र ज्ञानका धारक–भेदविज्ञानी मनुष्य (क्रियया) क्रियाके द्वारा (न रमते) रमता नहीं है अर्थात् मात्र क्रियामें तल्लीन नहीं होता है (अथ) अपितु प्रारम्भिक अवस्थामें (क्रियया) क्रियाके द्वारा (अपथात्) कुमार्गसे (उपरमति) निवृत्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! आत्मा ज्ञाता द्रष्टा-स्वभाव वाला है अतः आत्माकी समस्त शक्तियोंका समूह जब आत्मस्वभावमें स्थिर हो जाता है तब संसार अवस्थाका नाश कर वह मुक्त अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमें स्थिर होना ही परम यथाख्यातचारित्र है और परम यथाख्यातचारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण है। ज्ञानमें अपवित्रता मोहके निमित्तसे आती है, जिसके मोहका सम्बन्ध छूट जाता है उसका ज्ञान पवित्र हो जाता है। जब तक इस जीव के साथ मोहका सम्बन्ध रहता है तभी तक इसकी सामायिक छेदोपस्थापना आदि क्रियारूप चारित्रमें प्रवृत्ति होती है। बारहवें आदि गुणस्थानोंमें मोहका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है अतः उन गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंके एक यथाख्यातचारित्र ही होता है क्रियारूप चारित्र नहीं होता। इस उपरितन भूमिकामें पहुँचनेके पहले जो क्रियारूप चारित्रमें प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा इस जीवकी अशुभोपयोगि कुमार्गसे निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनयकी अपेक्षा निवृत्तिका अंश ही चारित्र कहलाता है प्रवृत्तिका अंश नहीं। यह निवृत्तिरूप चारित्र संसार-निवृत्तिका कारण है और प्रवृत्तिरूप चारित्र पुण्यबन्धका कारण है ॥२१॥

क्रिययेरितपुद्गलकर्मरसश्चिति पाकमकम्पमुपैति पुमान्।
परिपक्वचितस्त्वपुनर्भवता भवबीजहठोद्धरणान्नियतम् ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(क्रियया) चारित्ररूप क्रियाके द्वारा (ईरितपुद्गलकर्ममलः) जिसका पुद्गल कर्म-रूपीमल निरस्त हो गया है ऐसा (पुमान्) पुरुष (चिति) ज्ञानस्वभावमें (अकम्पं) कभी नष्ट न होने-वाले (पाकं) परिणामको (उपैति) प्राप्त होता है (तु) और (परिपक्वचितः) जिसका ज्ञानस्वभाव परि-पक्व हो चुका है अर्थात् केवलज्ञानरूप पर्यायको प्राप्त कर परिपूर्ण हो चुका है उसके (नियतम्) निश्चितरूपसे (भवबीजहठोद्धरणात्) संसारके कारणोंको बलपूर्वक नष्ट कर देनेसे (अपुनर्भवता) मुक्ति होती है।

भावार्थ—यथाख्यातचारित्रके द्वारा जिसके घातिचतुष्टयका क्षय हो चुका है ऐसा पुरुष केवलज्ञान प्राप्त करता है और जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है ऐसा पुरुष नियमसे मुक्तिका पात्र होता है। हे भगवन्! आप उपर्युक्त विधिसे कर्ममलको नष्ट कर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं अतः यह निश्चय है कि अब आपको पुनर्जन्म धारण नहीं करना है। संसारका कारणस्वरूप जो कर्ममल था उसे आपने आत्मपुरुषार्थसे बलपूर्वक निरस्त कर दिया है ॥२२॥

यदि बोधमबोधमलालुलितं स्फुटबोधतयैव सदोद्वहते।
जिन कर्तृतयाकुलितः प्रपतंस्तिमिवन्न विवर्त्तमुपैति तदा ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (यदि) जब आप (स्फुटबोधतया) स्पष्ट—प्रत्यक्ष ज्ञानसे युक्त होनेके कारण (सदा एव) निरन्तर ही (अबोधमलालुलितं) अज्ञानरूपी मलसे अचञ्चल अथवा अदूषित (बोधं) केवलज्ञानको (उद्वहते) धारण करते हैं (तदा) तब (कर्तृतया) कर्तृत्वभावसे (आकु-लितः) आकुलित हो (प्रपतन्) मुक्ति स्थानसे पतित होते हुए (तिमिवत्) मत्स्यावतारके समान (विवर्तम्) अवतारको (न उपैति) प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—अन्यमतकी मान्यता है कि विष्णु मुक्ति स्थानको प्राप्त होकर[1] शिष्टानुग्रह और दुष्टनिग्रह करनेकी भावनासे आकुल हो मुक्तिस्थानसे नीचे आकर पुनः अवतारको ग्रहण करता हैं जैसी कि कथा है—एक बार पृथिवी जलमें डूब गयी तब उसका उद्धार करनेके लिये विष्णुने मत्स्यावतार धारण किया। यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आप निरन्तर उस केवलज्ञानको धारण करते हैं जो कभी अज्ञान मलसे चञ्चल या दूषित नहीं होता। केवलज्ञान होनेपर आप कृतकृत्य हो जाते हैं—शिष्टानुग्रह तथा दुष्टनिग्रह जैसी कर्तृत्वकी भावना आपको कभी उत्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि आप मुक्ति स्थानसे वापिस आकर फिर कभी अन्य अवतारको धारण नहीं करते हैं ॥२३॥

तव सङ्गमेव वदन्ति सुखं जिन दुःखमयं भवता विरहः।
सुखिनः खलु ते कृतिनः सततं सततं जिन येष्वसि सन्निहितः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (तव) आपके (सङ्गमेव) समागमको ही (सुखं वदन्ति) सुख कहते हैं और (भवता) आपके साथ जो (अयं) यह (विरहः) वियोग है उसे (दुःखं) दुःख

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥—भगवद् गीता, अध्याय ४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं (खलु) निश्चयसे (ते कृतिनः) वे भाग्यशाली मनुष्य (सततं सुखिनः) निरन्तर सुखी हैं (जिन) हे जिनेन्द्र ! (येषु) जिनमें आप (सततं) सदा (सन्निहितः) निकटस्थ (असि) हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऋषिगण आपके समागमको ही सुख और आपके वियोगको ही दुःख कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिन जीवोंकी आपमें सदा भक्ति रहती है वे सुखको प्राप्त होते हैं और जिन जीवोंकी आपमें भक्ति नहीं है वे सदा दुःखको प्राप्त होते हैं। हे नाथ ! संसारमें वे ही भाग्यशाली मनुष्य सदा सुखी रहते हैं जिनके निकट आप रहते हैं ॥२४॥

कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं सकलं सकलाः किल केवलिनः।
तव देव चिदञ्चललग्नमपि ग्लपयन्ति कषायमलानि न माम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (सकलाः) समस्त (केवलिनः) केवली भगवान् (भवन्तं) आपको (अनन्तकलं) अनन्त कलाओंसे सहित (सकलं) सकल परमात्मा (कलयन्ति) कहते हैं। (देव) हे नाथ ! (तव) आपके (चिदञ्चललग्नं माम अपि) ज्ञानरूप अञ्चलके एक देशसे संलग्न मुझे भी (कषायमलानि) कषायरूपी मल (न ग्लपयन्ति) नष्ट नहीं करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जीवनमुक्त अरहंत हैं अतः समस्त केवली आपको सकल-सदेह परमात्मा कहते हैं। यतः आप केवलज्ञानरूपी पूर्णचैतन्य ज्योतिसे देदीप्यमान हैं अतः कर्मरूपी मल आपको म्लान कर ही कैसे सकते हैं मैं यद्यपि आपके चैतन्य ज्योतिके एक अञ्चलको ही प्राप्त कर सका हूँ तथापि कर्मरूपी मल मुझे भी म्लान नहीं कर सकते हैं। आपकी श्रद्धा ही इस जीवको कर्ममलके संसर्गसे दूर रखनेमें समर्थ है ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१९)

वियोगिनी छन्दः

अभिभूय कषायकर्मणामुदयस्पर्द्धकपङ्क्तिमुत्थिताः ।
जिन केवलिनः किलाद्भुतं पदमालोकयितुं तवेश्वराः ।।१।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (किल) निश्चयसे (कषायकर्मणां) क्रोधादि कषायोंको उत्पन्न करनेवाले मोहकर्म अथवा क्रोधादि कषायों और ज्ञानावरणादि शेष घातिकर्मोंके उदयावलीमें प्राप्त स्पर्द्धकोंके समूहको (अभिभूय) नष्ट कर जो (उत्थिताः) अभ्युदयको प्राप्त हुए हैं ऐसे (केवलिनः) केवली भगवान् (तव) आपके (अद्भुतं) आश्चर्य कारक (पदम्) पदको (आलोकयितुं) जाननेके लिये (ईश्वराः) समर्थ हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके आश्चर्यकारक पदको प्रत्यक्षरूपसे देखनेके लिये वे केवली भगवान् ही समर्थ हैं जो उदयागत कर्मपटलोंको नष्ट कर अभ्युदयको प्राप्त हुए हैं ।।१।।

तव बोधकलामहर्निशं रसयन् बाल इवेक्षुकाणिकाम् ।
न हि तृप्तिमुपैत्ययं जनो बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः ।।२।।

अन्वयार्थ—(इक्षुकाणिकां रसयन् बाल इव) गन्नाकी गंडेरीका (रसयन्) स्वाद लेने वाले बालकके समान (बहुमाधुर्यहृतान्तराशयः) अत्यधिक मिठास, पक्षमें आनन्दसे हृत हृदय (अयं जनः) यह मनुष्य (अहर्निशं) दिनरात (तव) आपकी (बोधकलां) ज्ञानरूपी कलाका (रसयन्) रस लेता हुआ—अनुभव करता हुआ (तृप्ति न हि उपैति) तृप्तिको प्राप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार गन्नाकी गंडेरीको चूसने वाला बालक उसके मिठासके वशीभूत होता हुआ तृप्त नहीं होता है उसी प्रकार आपके केवलज्ञानकी कलाका रातदिन अनुभव करने वाला यह प्राणी तृप्त नहीं होता है क्योंकि उसकी दिव्य सामर्थ्यका अनुभव करता हुआ यह प्राणी आश्चर्यसे चकित हो जाता है ।।२।।

इदमीश निशायितं त्वया निजबोधास्त्रमनन्तशः स्वयम् ।
अतएव पदार्थमण्डले निपतत्क्वापि न याति कुण्ठताम् ।।३।।

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (त्वया) आपके द्वारा (इदम्) यह (निजबोधास्त्रं) स्वकीय ज्ञानरूपी शस्त्र (अनन्तशः) अनन्त बार (स्वयं) अपने आप (निशायितं) तीक्ष्ण किया गया है (अतएव) इसीलिये वह (पदार्थमण्डले) पदार्थोंके समूह पर (निपतत्) पड़ता हुआ (क्वापि) कहीं भी (कुण्ठतां) मोथलेपनको (न याति) नहीं प्राप्त होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जिस प्रकार बार-बार घिसकर पैना किया हुआ शस्त्र इतना तीक्ष्ण हो जाता है कि वह किसी भी पदार्थ पर गिराये जाने पर कुण्ठित नहीं होता किन्तु उसे अवश्य ही काट देता है, इसी प्रकार अपने ज्ञानरूपी शस्त्रको आपने अनन्तों बार इतना तेज किया है कि वह पदार्थ समूहको जाननेमें कुण्ठित नहीं होता। हे भगवन्! आपका ज्ञान केवलज्ञानरूपमें परिवर्तित हुआ है अतः वह लोकालोकको जाननेमें सदा तत्पर रहता है ॥३॥

इदमेकमनन्तशो हठादिह वस्तून्यखिलानि खण्डयन्।
तव देव दृगस्त्रमीक्ष्यते युगपद्विश्वविसर्पिविक्रमम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (इह) इस संसारमें (हठात्) हठ पूर्वक (अखिलानि वस्तूनि) समस्त पदार्थोंको (अनन्तशः) अनन्तों बार (खण्डयन्) खण्ड-खण्ड करता हुआ (तव) आपका (इदं) यह (एकं) एक (दृगस्त्रम्) दर्शनरूपी शस्त्र (युगपत्) एक साथ (विश्वविसर्पिविक्रमम्) जिसका पराक्रम लोकालोकमें फैल रहा है ऐसा (ईक्ष्यते) दिखाई देता है।

भावार्थ—हे स्वामिन्! जिस प्रकार आपका ज्ञान, केवलज्ञानमें परिवर्तित होकर लोकालोकको जाननेमें समर्थ हो गया है उसी प्रकार आपका दर्शन भी, केवल दर्शनरूपमें परिवर्तित होकर समस्त लोकालोकको देखनेमें समर्थ हो गया है ॥४॥

समुदेति विनैव पर्ययैर्न खलु द्रव्यमिदं विना न ते।
इति तद्द्वितयावलम्बिनी प्रकृतिर्देव सदैव तावकी ॥५॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (द्रव्यं) द्रव्य (पर्ययैः विना) पर्यायोंके बिना (न समुदेति) उदयको प्राप्त नहीं होता और (ते) पर्यायें भी (इदं विना) द्रव्य के बिना (न 'समुद्यन्ति') उदयको प्राप्त नहीं होतीं (इति) इसलिये (देव) हे देव! (तावकी) आपकी (प्रकृतिः) स्वभाव (सदैव) निरन्तर ही (तद्द्वितयावलम्बिनी) उन दोनों—द्रव्य और पर्यायोंको अवलम्बन देनेवाला है।

भावार्थ—पर्यायसे रहित द्रव्य और द्रव्यसे रहित पर्याय कभी नहीं होता इसीलिये हे भगवन्! आप दोनोंका अवलम्बन करते हैं। संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक है। उन सबको आप जानते हैं ॥५॥

न विनाश्रयिणः किलाश्रयो न विनैवाश्रयिणः स्युराश्रयम्।
इतरेतरहेतुता तयोर्नियतार्कातपभास्वरत्ववत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (आश्रयिणः विना) आश्रयीके बिना (आश्रयः न) आश्रय नहीं रहता और (आश्रयं विना) आश्रयके बिना (आश्रयिणः) आश्रयी (नैव स्युः) नहीं रहते, इसलिये (तयोः) आश्रयी और आश्रयमें (अर्कातपभास्वरत्ववत्) सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश के समान (इतरेतरहेतुता) परस्परकी कारणता (नियता) निश्चित है।

भावार्थ—द्रव्य आश्रय कहलाता है और गुण तथा पर्याय आश्रय कहलाता है। ये दोनों परस्पर एक दूसरेके बिना नहीं रह सकते जैसे कि सूर्य और उसके आतप तथा प्रकाश ॥६॥

विधिरेष निषेधबाधितः प्रतिषेधो विधिना विरूक्षितः।
उभयं समतामुपेत्य तद्यतते संहितमर्थसिद्धये ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(एषः) यह (विधिः) अस्तिपक्ष (निषेधबाधितः) नास्तिपक्षसे बाधित है और (प्रतिषेधः) नास्तिपक्ष (विधिना) अस्तिपक्षके द्वारा (विरूक्षितः) बाधित है परन्तु (तद् उभयं) वे दोनों—अस्ति और नास्तिपक्ष (समतामुपेत्य) समताको प्राप्त कर (संहितं) परस्पर मिले हुए (अर्थसिद्धये) प्रयोजन अथवा पदार्थकी सिद्धिके लिये (यतते) यत्न करते हैं।

भावार्थ—पदार्थके सद्भावको बतलाने वाला पक्ष अस्तिपक्ष कहलाता है और असद्भावको बतलाने वाला पक्ष नास्तिपक्ष कहलाता है। ये दोनों पक्ष परस्परके विरोधी होनेसे मिलते नहीं हैं, पर तु आपने नय विवक्षासे इन दोनोंको एक साथ मिलाया है। आपने कहा है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय—अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टय—परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। जब ये दोनों पक्ष परस्पर विरुद्ध रहते हैं—अपने विरोधी पक्षका सर्वथा निषेध कर देते हैं तब उनसे पदार्थका वास्तविक रूप सिद्ध नहीं होता और न वैसा माननेसे कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है ॥७॥

न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिज्जिन वस्तूनि तथा भवन्त्यपि ।
समकालतयावतिष्ठते प्रतिषेधो विधिना समं ततः ॥८॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (यतः) क्योंकि (वस्तूनि) पदार्थ (तथा भवन्ति अपि) स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होते हुए भी (क्वचित्) कहीं (अन्यथा न भवन्ति) परचतुष्टयकी अपेक्षा नहीं होते हैं (ततः) इस कारण (प्रतिषेधः) नास्तिपक्ष (विधिना समं) अस्तिपक्षके साथ (समकालतया) एक कालमें (अवतिष्ठते) अवस्थित रहता है।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए अस्तिपक्ष और नास्तिपक्ष जब पृथक्-पृथक् विवक्षित होते हैं तब वे स्वतन्त्र रूपसे सामने आते हैं परन्तु जब उनकी क्रमसे एक साथ विवक्षा की जाती है तब एक ही साथ पदार्थमें अनुभूत होते हैं। ऊपरके श्लोकमें 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' इन दो भङ्गोंकी चर्चा की गई थी। यहाँ 'स्यात् अस्ति नास्ति' इस तृतीय भंगकी चर्चा की गई है ॥८॥

नहि वाच्यमवाच्यमेव वा तव माहात्म्यमिदं द्व्यात्मकम् ।
उभयैकतरत् प्रभाषितां (णां) रसना नः शतखण्डतामियात् ॥९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! वस्तु (नहि वाच्यम्) न वाच्यरूप है (वा) और (नहि अवाच्यमेव) न अवाच्यरूप ही है किन्तु (द्व्यात्मकम्) दोनों रूप है। (इदं) यह (तव) आपका (माहात्म्यम्) माहात्म्य है। (उभयैकतरत्) दोनोंमें से मात्र एकका (प्रभाषिणां) कथन करने वाले (नः) हमारी (रसना) जिह्वा (शतखण्डताम् इयात्) सौ खण्डको प्राप्त हो।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी यही महिमा है कि आपने वस्तुको सर्वथा वाच्य या अवाच्य न कहकर दोनों रूप कहा है। उन दोनों धर्मोंमें से मैं यदि मात्र एकका कथन करता हूँ तो मेरी जिह्वाके सौखण्ड हो जावें ॥९॥

क्रमतः किल वाच्यतामियाद्युगपद् द्व्यात्मकमेत्यवाच्यताम् ।
प्रकृतिः किल वाङ्मयस्य सा यदसौ शक्तिरशक्तिरेव च ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे प्रभो ! (किल) निश्चयसे वस्तु (क्रमतः) क्रमसे (वाच्यताम्) वाच्यरूपताको (इयात्) प्राप्त होती है और (युगपद्) एक साथ (द्वयात्मकं 'सत्') उभयधर्मात्मक होती हुई (अवाच्यताम्) अवाच्यरूपताको (एति) प्राप्त होती है (किल) वास्तवमें (वाङ्मयस्य) शब्द-समूहका (सा—असौ) वह (प्रकृतिः) स्वभाव है (यत्) कि (शक्तिः च अशक्तिः) क्रमसे कहनेमें उसकी शक्ति है और युगपत् कहनेमें अशक्ति है'।

भावार्थ—दो विरोधी धर्मोंको क्रमसे कहनेकी शब्दोंमें शक्ति है परन्तु एक साथ कहनेकी शक्ति नहीं है अतः विरोधी धर्मोंकी जब क्रमसे विवक्षा की जाती है तब वे वाच्य होते हैं और जब एक साथ विवक्षा की जाती है तब अवाच्य होते हैं ॥१०॥

स्वयमेकमनेकमप्यदस्तवयत्तत्त्वमतर्कितं परैः।
इदमेव विचारगोचरं गतमायाति किलार्थगौरवम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(परैः अतर्कितं) अन्य वादी जिसकी कल्पना नहीं कर सके हैं ऐसा (तव यत् अदः तत्त्वम्) आपका जो यह तत्त्व है वह (स्वयं) स्वयं (एकम् अपि अनेकं) एक होकर भी अनेक है। (इदमेव) यही परस्पर विरोधी तत्त्व (विचारगोचरं सत्) विचारके विषयको प्राप्त होता हुआ (अर्थगौरवम्) अर्थके गौरवको (आयाति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य एक, अनेक और उभयात्म—एकानेक रूप धर्मका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्‌का स्तवन करते हैं—हे प्रभो ! आपने जिस तत्त्वका निरूपण किया है वह विवक्षावश एक, अनेक तथा एकानेकात्मक है। समुदायकी अपेक्षा तत्त्व एक है, अवयवोंकी अपेक्षा अनेक है और दोनोंकी एक साथ विवक्षा करने पर एकानेक है। यही भाव आगेके श्लोकमें स्पष्ट करते हैं ॥११॥

न किलैकमनेकमेव वा समुदायावयवोभयात्मकम्।
इतरा गतिरेव वस्तुनः समुदायावयवौ विहाय न ॥१२॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे वस्तु (न एकं) न एकरूप ही है (वा) और (न अनेकमेव) न अनेकरूप ही है किन्तु (समुदायावयवोभयात्मकं) समुदाय और अवयव—अंशी और अंश—दोनों रूप है। क्योंकि (समुदायावयवौ) समुदाय और अवयवोंको (विहाय) छोड़कर (वस्तुनः) वस्तुकी (इतरा) अन्य (गतिरेव न) गति ही नहीं है।

भावार्थ—संसारकी प्रत्येक वस्तु समुदाय और अवयवको छोड़कर अन्य रूप नहीं है। अतः जब समुदायकी ओर दृष्टिपात कर कथन होता है तब वस्तु एक रूप प्रतीत होती है और जब

---

१. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव ते।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तरोः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्व हेतुतः ॥१६॥—आप्तमीमांसा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके अवयवों की ओर दृष्टिपात कर कथन करते हैं तब वही वस्तु अनेकरूप प्रतीत होती है। जब इन एक और अनेक दोनों रूपोंकी क्रमसे विवक्षा होती है तब वस्तु उभयात्मक अनुभवमें आती है और जब दोनोंकी एक साथ विवक्षा होती है तब वह अनुभयात्मक-अवाच्य प्रतीत होती है ॥१२॥

त्वमनित्यतयावभाससे जिन नित्योऽपि विभासि निश्चितम् ।
द्वितयी किल कार्यकारितां तव शक्तिः कलयत्यनाकुलम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (एवम्) आप (अनित्यतया) अनित्यरूपसे (अवभाससे) प्रतीतिमें आते हैं और (निश्चितं) निश्चितरूपसे (नित्योऽपि) नित्यरूप भी (विभासि) प्रतीतिमें आ रहे हैं। (तव) आपकी यह (द्वितयी शक्तिः) नित्यानित्यरूप द्विविधधर्मता (अनाकुलं) निःसन्देह (कार्यकारितां) अर्थ कार्यकारित्वको (किल) निश्चयसे (कलयति) प्रकट करती है।

भावार्थ—यहाँ नित्य, अनित्य और नित्यानित्य धर्मको दृष्टिमें रखकर आचार्यने भगवान्‌का स्तवन किया है—हे जिनेन्द्र ! आप द्रव्यकी अपेक्षा नित्य हैं, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य हैं और यह द्विरूपता ही अर्थ क्रियाकारी है। यही बात आगेके श्लोकमें स्पष्ट करते हैं ॥१३॥

किमनित्यतया विना क्रमस्तमनाक्रम्य किमस्ति नित्यता ।
स्वयमारचयन् क्रमाक्रमं भगवन् द्वयात्मकतां जहासि किम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(किम् अनित्यतया विना क्रमः) क्या अनित्यताके बिना क्रम होता है ? अर्थात् नहीं होता और (क्रमम् अनाक्रम्य) क्रमको नष्ट किये बिना (किं नित्यता अस्ति) क्या नित्यता है ? अर्थात् नहीं है। इस प्रकार (भगवन्) हे भगवन् ! (स्वयं) अपने आप (क्रमाक्रमं) क्रम और अक्रमको (आरचयन्) प्रकट करते हुए आप (द्वयात्मकतां) नित्यानित्यरूपताको (किं जहासि) क्या छोड़ते हैं ? अर्थात् नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—क्रमकी अनित्यताके साथ और अक्रमकी नित्यताके साथ व्याप्ति है। पर्याय दृष्टिसे आप क्रमको और द्रव्यदृष्टिसे अक्रमको स्वयं ही आलम्बन दे रहे हैं अतः नित्यानित्यात्मकपनेको आप कैसे छोड़ सकते हैं ? अर्थात् नहीं छोड़ सकते हैं ॥१४॥

न किल स्वमिहैककारणं न तवैकः पर एव वा भवन् ।
स्वपरावलम्ब्य वल्गतो द्वितयं कार्यत एव कारणम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (इह) यहाँ (स्वं) स्व (एककारणं न) एक कारण नहीं है (वा) और (भवन्) होता हुआ (एकः पर एव न) एक पर ही कारण नहीं है किन्तु (स्वपरौ) निज और परका (अवलम्ब्य) अवलम्बन लेकर (वल्गतः) उद्यम करने वाले (तव) आपके मतमें (कार्यतः) कार्यकी सिद्धिमें (द्वितयम् एव कारणम्) स्व और पर दोनों ही कारण हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌का स्तवन करते हुए कहा गया है कि कार्यकी सिद्धि स्वपर कारणों से होती है। स्व, उपादान कारण और पर निमित्त कारण कहलाता है। दोनों कारण परस्पर सापेक्ष हैं ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न हि बोधमयत्वमन्यतो न च विज्ञानविभक्तयः स्वतः ।
प्रकटं तव देव केवले द्वितयं कारणमभ्युदीयते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि (बोधमयत्वं) आपका ज्ञानसे तन्मयपना (अन्यतः न) दूसरे कारणोंसे नहीं हुआ है किन्तु स्वतः है (च) और (विज्ञानविभक्तयः) आपके ज्ञानमें जो विभक्ति—विभाग हैं वे (स्वतः न) स्वयं नहीं हैं किन्तु पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार (देव) हे नाथ ! (प्रकटं) स्पष्ट रूपसे (तव) आपके केवल ज्ञानमें (द्वितयं कारणं) दो प्रकारका कारण (अभ्युदीयते) संमुख होता है।

भावार्थ—हे देव ! आपकी जो ज्ञानरूपता है वह द्रव्यस्वभावके कारण स्वतः सिद्ध है उसमें अन्य द्रव्य कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेयोंके आश्रयसे ज्ञानमें जो विभाग हैं वे पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार आपके केवल ज्ञानमें स्व और पर अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारण हैं ॥१६॥

स्वपरोभयभासि ते दिशां द्वितयीं यात्युपयोगवैभवम् ।
अनुभूतय एव तादृशं बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(स्वपरोभयभासि) स्व और पर—दोनोंको प्रकाशित करनेवाला (ते) आपका (उपयोगवैभवम्) उपयोगरूपी वैभव (द्वितयीं दिशाम्) दो रूपता—स्वपररूपताको (याति) प्राप्त होता है और (बहिरन्तर्मुखहासविक्रमैः) बहिर्मुख तथा अन्तर्मुख प्रतिभासके विक्रमसे वह उपयोग-वैभव (तादृशम् एव) वैसा ही—स्वपरावभासी रूप ही (अनुभूयते) अनुभवमें आता है।

भावार्थ—आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। उपयोगका कार्य स्व-परको प्रकाशित करना है, उसमें दर्शनका काम स्वआत्माको प्रकाशित करना है और ज्ञानका काम स्व तथा परको प्रकाशित करना है ॥ १७॥

विषयं परितोऽवभासयन् स्वमपि स्पष्टमिहावभासयन् ।
मणिदीप इव प्रतीयसे भगवन् द्वयात्मकबोधदर्शनः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो ! (द्वयात्मकबोधदर्शनः) जिनका ज्ञान दर्शन दो प्रकारका है ऐसे आप (विषयं) घट-पटादि पदार्थोंको (परितः) सब ओरसे (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए तथा (स्वमपि) अपने आपको भी (स्पष्टं) स्पष्टरूपसे (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए (इह) इस लोकमें (मणिदीप इव) मणिमय दीपकके समान (प्रतीयसे), प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार मणिमय दीपक स्व-पर प्रकाशक होता है उसी प्रकार आप भी स्व-पर प्रकाशक दर्शन और ज्ञानसे तन्मय होनेके कारण स्व-पर प्रकाशक हैं ॥१८॥

न परानवभासयन् भवान् परतां गच्छति वस्तुगौरवात् ।
इदमत्र परावभासनं परमालम्ब्य यदात्मभासनम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(वस्तुगौरवात्) वस्तुके गौरवसे अर्थात् 'एक द्रव्य दूसरे रूप नहीं होता' इस गौरवके कारण (परान्) घट-पटादि परपदार्थोंको (अवभासयन्) प्रकाशित करते हुए (भवान्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप (परतां) पररूपताको (न गच्छति) नहीं प्राप्त होते हैं क्योंकि (परमालम्ब्य) परका आलम्बन लेकर (यत्) जो (आत्मभासनम्) आत्माका प्रकाशित करना है (इदम्) यही (अत्र) यहां (परावभासनं) परका प्रकाशित करना है।

भावार्थ—आत्मा पर पदार्थोंको जानता है इतने मात्रसे वह पररूप नहीं हो जाता है क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी मर्यादा है कि वह सदा अपने रूप ही रहती है अन्यरूप नहीं होती। आत्मा परपदार्थको जानता है इसका इतना ही अर्थ विवक्षित है कि वह पर पदार्थका आलम्बन लेकर अपने आपको जानता है ॥१९॥

व्यवहारदृशा पराश्रयः परमार्थेन सदात्मसंश्रयः।
युगपत् प्रतिभासि पश्यतां द्वितयी ते गतिरीशतेतरा ॥२०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (व्यवहारदृशा) व्यवहार दृष्टिसे (पश्यतां) देखने वालोंके लिये आप (पराश्रयः) परका आलम्बन लेनेवाले और (परमार्थेन) निश्चय दृष्टिसे देखने वालोंके लिये (सदा) निरन्तर (आत्मसंश्रयः) स्वका आलम्बन लेने वाले (युगपत्) एक कालमें (प्रतिभासि) प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार (ते गतिः द्वितयी) आपकी स्थिति स्वाश्रयी और पराश्रयीके भेदसे दो प्रकारकी है। हे प्रभो! आपकी (ईशता) प्रभुता—लोकोत्तर सामर्थ्य (इतरा) अन्य लोगोंसे विभिन्न ही है।

भावार्थ—किसी द्रव्यकी निजकी परिणतिमें परके आलम्बनको व्यवहारनय स्वीकृत करता है और निश्चयनय सदा अपने आपके आलम्बनको स्वीकृत करता है। हे भगवन्! व्यवहारनयकी दृष्टिसे आप पराश्रयी और निश्चयनयकी दृष्टिसे स्वाश्रयी हैं। यह आपकी लोकोत्तर प्रभुता है कि आपमें दोनों अवस्थाएँ नयभेदसे युगपत् प्रतिभासित होती हैं ॥२०॥

यदि सर्वगतोऽपि भाससे नियतोऽत्यन्तमपि स्वसीमनि।
स्वपराश्रयता विरुध्यते न तव द्व्यात्मकतैव भासि (ति) तत् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि आप (सर्वगतोऽपि) सर्वव्यापक भी (भाससे) प्रतीत होते हैं तो (स्वसीमनि) अपनी सीमामें (अत्यन्तं नियतः अपि) अत्यन्त नियत भी प्रतीत होते हैं। (तत्) इसलिये (तव) आपकी (स्वपराश्रयता) स्व-परकी आश्रयता (न विरुध्यते) विरुद्ध नहीं है किन्तु (द्व्यात्मकता एव) द्विरूपता ही (भाति) प्रतीत होती है।

भावार्थ—सर्वगत ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा यद्यपि आप सर्वगत—सर्वव्यापक जान पड़ते हैं तथापि आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा अपनी सीमामें ही नियत हैं—उससे बाहर नहीं जाते हैं। इस तरह व्यवहारनयकी अपेक्षा पराश्रयता और निश्चयनयकी अपेक्षा स्वाश्रयता आपमें एक साथ रहती है, इसमें विरोध नहीं मालूम होता है क्योंकि द्विविधरूपता स्पष्ट ही अनुभव में आ रही है ॥२१॥

अपवादपदैः समन्ततः स्फुटमुत्सर्गमहिम्नि खण्डिते।
महिमा तव देव पश्यतां तदतद्रूपतयैव भासते ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(देव) हे विभो ! (अपवादपदैः) प्रतिषेधात्मक शब्दोंके द्वारा (समन्ततः) सब ओर (स्फुटं) स्पष्टरूपसे (उत्सर्गमहिम्नि) उत्सर्ग—सामान्य-विधिपक्षके (खण्डिते) खण्डित हो जाने-पर (पश्यतां) देखनेवाले—अनुभव करनेवाले पुरुषोंके लिये (तव) आपकी (महिमा) महिमा (तदतद्रूपतया एव) तत्-अतत्रूपसे ही—विधि-निषेधरूपसे ही (भासते) प्रतिभासित होती है।

भावार्थ—निश्चयनयके पक्षको उत्सर्ग और व्यवहारनयके पक्षको अपवाद कहते हैं। यद्यपि अपवादके द्वारा उत्सर्गकी महिमा खण्डित होती है अर्थात् व्यवहार पक्षसे निश्चय पक्षका निषेध होता है तथापि वस्तुस्थितिका अनुभव करनेवालोंके लिये वस्तु तत्-अतद् दोनों रूप प्रतीत होती है ॥२२॥

अनवस्थितिमेवमाश्रयन्नृभवत्वे विदधद् व्यवस्थितिम् ।
अतिगाढविघट्टितोऽपि ते महिमा देव मनाङ् न कम्पते ॥२३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे विभो ! जो (एवं) इस प्रकार (अनवस्थितिं) अवस्थितिके अभावका (आश्रयन्) आश्रय करती हुई (नृभवत्वे) मनुष्य पर्यायमें (व्यवस्थितिं) अवस्थितिके सद्भावको (विदधत्) कर रही है अर्थात् निश्चयनयसे यद्यपि आप किसी गतिमें अवस्थित नहीं हैं तथापि व्यवहारनयसे मनुष्य पर्यायमें आप अवस्थित हैं। ऐसी (ते) आपकी (महिमा) प्रभुता (अतिगाढ-विघट्टितोऽपि) परस्पर विरोधके कारण अत्यन्त विघट्टित होनेपर भी (मनाक्) रञ्चमात्र भी (न कम्पते) विचलित नहीं होती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी महिमा यद्यपि ऊपर कहे अनुसार तद्रूप और अतद्रूप होनेसे अवस्थित—एकरूप नहीं है और इस प्रकारके विरोधसे परस्पर व्याघातको भी प्राप्त हो रही है तथापि वह रञ्चमात्र भी कम्पित नहीं होती है। क्योंकि नयविवक्षासे सब व्याघातोंका परिहार हो जाता है ॥२३॥

हठघट्टनयाऽनया तव दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव ।
स्वरसप्लव एष उच्छलन् परितो मां ब्रुडितं करिष्यति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(तव) आपकी (अनया) इस (हठघट्टनया) इस सुदृढ़ आक्रान्तिसे—युक्तियुक्त विवेचनासे (दृढनिःपीडितपौण्ड्रकादिव) अत्यन्त पीडित गन्नासे निकलते हुए रस प्रवाहके समान (एषः) यह (स्वरसप्लवः) आत्मरसका पूर (उच्छलन्) छलकता हुआ (मां) मुझे (परितः) सब ओरसे (ब्रुडितं) निमग्न (करिष्यति) कर देगा।

भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार अत्यन्त दबाये हुए गन्नासे निकलता हुआ रसका पूर समीपवर्ती मनुष्यको अपने आपमें निमग्न कर लेता है उसी प्रकार आपके स्तवनसे प्रकट हुआ आत्मरसका प्रवाह मुझे अपने आपमें सब प्रकारसे निमग्न कर लेगा। यहाँ भगवत्स्तुतिके फलका निरूपण करते हुए आचार्यने आकांक्षा प्रकट की है कि आपकी स्तुतिसे मुझे आत्मानुभूति प्रकट हो और उसमें मैं सर्व ओरसे लीन हो जाऊँ ॥२४॥

विरता मम मोहयामिनी तव पादाब्जगतस्य जाग्रतः ।
कृपया परिचर्य भाक्तिकं भगवन् क्रोडगतं विधेहि माम् ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(भगवन्) हे स्वामिन् ! (तव) आपके (पादाब्जगतस्य) चरणकमलको प्राप्त तथा (जाग्रतः) जागृत रहनेवाले (मम) मेरी (मोहयामिनी) मोहरूपी रात्रि (विरता) व्यतीत हो चुकी है अतः (कृपया) करुणाभावसे (मां भाक्तिकं) मुझ भक्तको (परिवर्त्य) उठा कर (क्रोडगतं) गोदमें स्थित (विधेहि) कीजिये।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनादिकालसे मैं अन्य देवी-देवताओंकी शरणमें जाकर भव वनमें भटकता रहा हूँ। अब बड़े सौभाग्यसे मुझे आपके चरणकमलोंकी शरण प्राप्त हुई है जिसके फलस्वरूप मेरी मिथ्यात्वरूपी रात्रि बीत चुकी है तथा तन्द्रा दूर हो जानेसे मैं निरन्तर जाग रहा हूँ। मैं एक आपका ही भक्त हूँ अतः मुझे उठाकर अपनी गोद में स्थान दीजिये। अपने स्नेहपूर्ण उपदेशसे मेरा कल्याण कीजिये ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१६)

पुष्पिताग्राछन्दः

अयमुदयदनन्तबोधशक्तिस्त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा ।
धृ[1]तपरमपरारुचिः स्वतृप्तः स्फुटमनुभूयत एव ते स्वभावः ॥१॥

अन्वयार्थ—(उदयदनन्तबोधशक्तिः) जिसमें अनन्त ज्ञानकी शक्ति अथवा अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य प्रकट हो रहे हैं, (त्रिसमयविश्वसमग्रघस्मरात्मा) जो त्रिकालवर्ती विश्व-लोकालोकको सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण करने वाला है, (धृतपरमपरारुचिः) जिसने उत्कृष्ट रूपसे पर पदार्थोंमें अरुचि-को धारण किया है तथा जो (स्वतृप्तः) अपने आपमें संतुष्ट है ऐसा (अयं) यह (ते) आपका (स्वभावः) स्वभाव (स्फुटं 'यथास्यात्तथा') स्पष्ट रूपसे (अनुभूयते एव) अनुभवमें आ ही रहा है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के स्वभावका वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका स्वभाव अनन्तज्ञान और अनन्त बलसे सहित है। वह तीनकाल संबंधी समस्त द्रव्योंकी समय-समयवर्ती पर्यायोंको ग्रहण करने वाला है। पर पदार्थोंमें उसकी रञ्चमात्र भी रुचि नहीं है तथा अपने आपमें ही संतोषको प्राप्त है। तात्पर्य यह है कि आपके वीतराग विज्ञान स्वभावका अनुभव मुझे स्पष्ट रूपसे होने लगा है। अनादि कालसे कुदेवोंकी आराधना कर मैं संसारमें परि-भ्रमण करता रहा हूँ परन्तु अब संसार दशाके क्षीण होनेसे मुझे आपकी शरण प्राप्त हुई है और स्पष्टरूपसे मुझे आपके स्वभावका अनुभव होने लगा है। आपके स्वभावका अनुभव होते ही मुझे अपने स्वभावका भी अनुभव होने लगा है। मेरी श्रद्धा हो रही है कि जैसा वीतराग—विज्ञान-मयस्वभाव आपका है वैसा ही स्वभाव तो मेरा है। मैं अपने स्वभावकी ओर आजतक दृष्टि नहीं दे सका और उसके कारण परपदार्थोंमें आसक्त रहा परन्तु अब मुझे परपदार्थोंमें अत्यन्त अरुचि होने लगी है और आत्मस्वरूपमें अभिरुचिकी प्राप्ति होने लगी है ॥१॥

जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः स्फुरसि मनागपि नीरसो न जातु ।
अनवरतमुपर्युपर्यभीक्ष्णं निरवधिबोधसुधारसं ददासि ॥२॥

अन्वयार्थ—(जिनवर) हे जिनेन्द्र ! (परितः) सभी ओरसे (पीडयमानः अपि) पीडयमान—अनुभूयमान होते हुए भी आप (जातु) कदाचित् (मनागपि) रञ्चमात्र भी (नीरसः) नीरस (न स्फुरसि) नहीं मालूम होते हैं किन्तु (अनवरतं) निरन्तर (उपर्युपरि) उत्तरोत्तर (अभीक्ष्णं) नित्य (निरवधिबोधसुधारसं), अनन्तज्ञानरूपी अमृतरसको (ददासि) प्रदान करते रहते हैं।

भावार्थ—इक्षु आदि पदार्थ अत्यन्त पीडित होने पर—दवाये जाने पर अपना रस छोड़ देते हैं और उसके पश्चात् नीरस हो जाते हैं तथा दूसरोंके लिये रस देना बन्द कर देते हैं परन्तु हे भगवन् ! आप सब ओरसे पीडित होने पर—संसारके अनन्त प्राणियों के द्वारा एक साथ अनुभूयमान

१. धृता परमा-उत्कृष्टा परस्मिन् अरुचिर्येन सः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने पर भी कभी नीरस नहीं होते किन्तु उत्तरोत्तर निरन्तर अनन्तज्ञानरूप सुधारसको प्रदान करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी आराधना करने वाले जीव अनन्तकाल तक अपने ज्ञानस्वभावकी अनुभूति करते रहेंगे ॥२॥

शमरसकलशावलीप्रवाहैः क्रमविततैः परितस्तवैष धौतः ।
निरवधिभवसन्ततिप्रवृत्तः कथमपि निर्गलितः कषायरङ्गः ॥३॥

अन्वयार्थ—(क्रमविततैः) क्रमसे विस्तारको प्राप्त हुए (शमरसकलशावलीप्रवाहैः) शान्तरस के कलश समूहके प्रवाहोंके द्वारा (परितः) जो सब ओरसे (धौतः) धुला है ऐसा (निरवधिभव-सन्ततिप्रवृत्तः) अनन्त पर्यायोंसे साथ लगा हुआ (तव) आपका (एषः) यह (कषायरङ्गः) कषाय रूपी रंग (कथमपि) किसी प्रकार (निर्गलितः) निकल गया था।

भावार्थ—हे भगवन्! जैसा आपका वीतरागविज्ञान स्वभाव वर्तमानमें प्रकट है—व्यक्त है वैसा अनादि कालसे व्यक्त नहीं था। अनादि कालसे आपका स्वभाव भी कषायरूपी रंगसे आच्छादित था परन्तु शान्तरसरूप कलशोंके समूहसे धुलते-धुलते वह कषायरूपी रंग किसी तरह अब निकल चुका है। श्लोकका एक भाव यह भी अनुभव में आता है कि—हे भगवन्! आपकी आराधना करने के फल स्वरूप मुझमें जो लोकोत्तर शान्ति प्रकट हुई है उसके द्वारा मेरा अनादिकालीन कषाय रूपी रंग छूट गया है ॥३॥

सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्तव तडिति त्रुटतात्मवन्ननेन ।
अतिभरनिचितोच्छ्वसत्स्वशक्तिप्रकरविकाशमवापितः स्वभावः ॥४॥

अन्वयार्थ—(आत्मवन्) हे आत्मज्ञ! (सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्) अच्छी तरहसे आचरित सम्यग्ज्ञान रूपी तीक्ष्ण शस्त्र के पातसे (तडिति त्रुटता) तड़तड़ कर टूटते हुए (अनेन) इस कषाय के द्वारा (तव) आपका (स्वभावः) वीतराग विज्ञानस्वभाव (अतिभरनिचतोच्छ्वसत्स्वशक्ति-प्रकरविकाशं) अत्यन्त भारसे व्याप्त प्रकट होती हुई आत्मशक्तियोंके समूहके विकाशको (अवा-पितः) प्राप्त कराया गया है।

भावार्थ—हे भगवन्! ज्योंही आपने भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण शस्त्रका प्रयोग किया त्योंही आपका कषायरूपी बन्धन तड़तड़ कर टूट गया और टूटते ही उसने आपके वीतराग विज्ञानरूप स्वभावको प्रकट कर दिया। स्वभावके प्रकट होते ही अनन्तकालसे आच्छादित अनन्तशक्तियोंका समूह स्वयमेव विकासको प्राप्त हो गया ॥४॥

निरवधिभवभूमिनिम्नखातात् सरभसमुच्छलितो महद्भिरोघैः ।
अयमतिविततस्तवाच्छबोधस्वरसभरः कुरुते समग्रपूरम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(निरवधिभवभूमिनिम्नखातात्) जो अनन्तभवरूपी भूमिके निम्नगर्तसे (सर-भसम्) बड़े वेग सहित (महद्भिः ओघैः) बहुत भारी प्रवाहोंके साथ (उच्छलितः) प्रकट हुआ है तथा (अतिविततः) अत्यन्त विस्तृत है ऐसा (तव) आपका (अयम्) यह (अच्छबोधस्वरसभरः) निर्मल ज्ञानके स्वरसका समूह (समग्रपूरम्) परिपूर्ण प्रवाहको (कुरुते) करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! अनन्तभवोंकी साधनाके अनन्तर जो आपके अत्यन्त विस्तृत केवलज्ञान प्रकट हुआ है वह समस्त पदार्थोंको जानता है और एक अखण्ड धारामें प्रवाहित होता रहता है ॥५॥

निरवधि च दधासि निम्नभावं निरवधि च भ्रियसे विशुद्धबोधैः ।
निरवधि दधतस्तवोन्नतत्वं निरवधि स्वे[च]विभो विभाति बोधः ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! आप (निरवधि च) सीमातीत (निम्नभावं) गम्भीरताको (दधासि) धारण करते हैं तथा (विशुद्धबोधैः) निर्मल ज्ञानके द्वारा (निरवधि) अन्त रहित रूपसे (भ्रियसे) भरे जाते हैं। साथ ही (निरवधि) सीमातीत (उन्नतत्वं) औदार्यको (दधतः) धारण करने वाले (तव) आपका (बोधः) ज्ञान (निरवधि) निःसीम रूपसे (स्वे) अपने आपमें (विभाति) सुशोभित होता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अनन्त गाम्भीर्य गुणको धारण करते हैं। अनन्त निर्मल ज्ञानसे परिपूर्ण हैं। अनन्त उदारताको धारण करते हैं और आपका ज्ञान पर ज्ञेयोंसे विमुख हो स्व ज्ञेयमें विलसित हो रहा है ॥६॥

अयमनवधिबोधनिर्भरः सन्ननवधिरेव तथा विभो विभासि ।
स्वयमथ च मितप्रदेशपुञ्जः प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवोऽसि ॥७॥

अन्वयार्थ—(तथा विभो) और हे नाथ ! (अयम्) यह आप (अनवधिबोधनिर्भरः सन्) अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण होते हुए (अनवधिरेव) अनन्त ही (विभासि) मालूम होते हैं (अथ च) और (स्वयं) स्वयं (मितप्रदेशपुञ्जः) परिमितप्रदेशसमूहसे युक्त होते हुए भी (प्रसभविपुञ्जितबोधवैभवः) अत्यधिक एकत्रित ज्ञानके वैभवसे युक्त (असि) हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अवधिरहित अनन्त ज्ञानसे परिपूर्ण होते हुए स्वयं भी अवधिरहित-अनन्त हैं। और यद्यपि आप स्वयं असंख्यात प्रदेशी हैं तथापि आपमें अनन्तानन्तअविभागप्रतिच्छेदोंसे युक्त केवलज्ञान रूपी वैभव इकट्ठा हुआ है ॥७॥

श्रितसहजतया समग्रकर्मक्षयजनिता न खलु स्खलन्ति भावाः ।
अनवरतमनन्तवीर्यगुप्तस्तव तत एव विभात्यनन्तबोधः ॥८॥

अन्वयार्थ—(समग्रकर्मक्षयजनिताः) समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए (भावाः) भाव (खलु) निश्चयसे (श्रितसहजतया) सहज-स्वभावका आश्रय लेनेसे जिस कारण (यतो) जिस कारण (न स्खलन्ति) नष्ट नहीं होते हैं (तत एव) उसी कारण (अनवरतं) निरन्तर (अनन्तवीर्यगुप्तः) अनन्तवीर्यसे सुरक्षित (तव) आपका (अनन्तबोधः) अनन्त ज्ञान (विभाति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! समस्त कर्मोंके क्षयसे जो भाव प्रकट होते हैं वे कभी नष्ट नहीं होते। इसीलिये ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला आपका केवलज्ञान कभी नष्ट नहीं होता किन्तु अनन्तवीर्यसे सुरक्षित होता हुआ सदा सुशोभित रहता है ॥८॥

दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं तव भरतः प्रविशद्भिरर्थसार्थैः ।
निरवधिमहिमावगाहहीनैः पृथगचला क्रियते विहारसीमा ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र ! (दृगवगमगभीरं) दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण (आत्मतत्त्वं) आत्मतत्त्वको (प्रविशद्भिः) प्रवेश करनेवाले किन्तु (अवगाहहीनैः) अवगाहसे रहित (अर्थसार्थैः) पदार्थोंके समूहसे (भरतः) भरते हुए (तव) आपकी (निरवधिमहिमा) अनन्तमाहात्म्यसे युक्त (अचला) अविनाशी (विहारसीमा) विहारकी सीमा (पृथक्) अन्य सब द्रव्योंसे भिन्न (क्रियते) की जाती है।

भावार्थ—हे भगवन् ! दर्शन ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण आत्मतत्त्वकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि अनन्तपदार्थोंका समूह प्रवेश करता है अर्थात् वह अनन्त पदार्थोंको अपने स्थानपर स्थित रहकर ही जानता है। इसके साथ विचित्रता यह है कि वे पदार्थ आपकी आत्मामें प्रवेश करनेपर भी अवगाहसे हीन रहते हैं अर्थात् उसमें स्थान नहीं पाते हैं इस प्रकार आपकी यह क्रीड़ा अनन्त-महिमासे युक्त है, अविनाशी है और सब द्रव्योंसे भिन्न है। भाव यह है कि जिस प्रकार दर्पणमें[1] पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है। परन्तु प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी क्या पदार्थ दर्पणके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं। पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं मात्र उनके सम्मुख स्थित होनेसे दर्पणका पदार्थाकार परिणमन हो जाता है परमार्थसे दर्पण, दर्पण रहता है और पदार्थ, पदार्थ रहते हैं इसी प्रकार ज्ञानगुणकी स्वच्छताके कारण पदार्थोंका प्रतिबिम्ब—ज्ञेयाकार विकल्प आत्मामें पड़ता है परन्तु इस विकल्पके पड़ने पर भी क्या पदार्थ आत्मामें प्रविष्ट हो जाते हैं ? नहीं। पदार्थ पदार्थ ही रहते हैं और आत्मा आत्मा ही रहता है। ज्ञानज्ञेय स्वभावकी ऐसी ही अद्भुत महिमा है कि वे दोनों पृथक्-पृथक् रहकर भी अपृथक् के समान जान पड़ते हैं। ज्ञान ज्ञेयका का यह स्वभाव अचल है—कभी नष्ट नहीं होता है और आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता है अतः उनसे पृथक् है ॥९॥

निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये तव परितस्तरतीव देव विश्वम् ।
तिमिकुलमिव सागरे स्वगात्रैः प्रविरचयन्निजसन्निवेशराजीः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (सागरे) समुद्रमें (स्वगात्रैः) अपने शरीरके द्वारा (निज-सन्निवेशराजीः) अपने सन्निवेशकी रेखाओंको (प्रविरचयत्)) रचने वाले (तिमिकुलमिव) मच्छोंके समूहके समान (विश्वं) यह लोक-अलोकका समूह (तव) आपके (निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये) अनन्त आत्मज्ञानरूप समुद्रके बीचमें (परितः) चारों ओरसे (तरतीव) तैरता हुआ-सा जान पड़ता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मगर-मच्छोंका समूह समुद्रमें तैरता है और तैरते समय उसके शरीरके संघर्षसे जलमें रेखाएँ भी बनती जाती हैं उसी प्रकार आपके अगाध ज्ञानसागरमें यह समस्त विश्व तैर रहा है और उसकी विकल्परूप रेखाएँ भी बनती जाती हैं परन्तु जिस प्रकार समुद्रके जलमें मगर-मच्छोंके शरीरकी रेखाएँ स्थिर नहीं रहतीं उसी प्रकार विश्वकी विकल्परूप रेखाएँ भी आपके ज्ञानमें स्थिर नहीं रहतीं। वीतराग विज्ञानकी ऐसी ही अद्भुत महिमा है कि वह जानता तो समस्त विश्वको है परन्तु किसी भी पदार्थके साथ उसका आत्मीयभाव नहीं होता ॥१०॥

---

१. तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता भुवनभरस्य विवेचयत्स्वशक्तीः ।
त्वदवगमगरिम्ण्यनन्तमेतद्युगपदुदेति महाविकल्पजालम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(एवम्) इस प्रकार जो (प्रतिपदम्) पद पद पर (भुवनभरस्य) समस्त संसारके सामने (इति) इस प्रकारकी (अनन्ताः स्वशक्तिः) अपनी अनन्त शक्तियोंको (विवेचयत्) प्रकट कर रहा है ऐसा (एतत्) यह (अनन्तं) अनन्त (महाविकल्पजालं) बहुत भारी विकल्पोंका समूह (त्वत्अवगमगरिम्णि) आपके ज्ञानकी गरिमामें (युगपत्) एक साथ (उदेति) उदित हो रहा है—उत्पन्न हो रहा है।

भावार्थ—हे विभो ! आपका ज्ञान अनन्तशक्तियोंका भाण्डार है यह बात समस्त संसारके समक्ष प्रकट है ॥११॥

विधिनियममयाद्भुतस्वभावात् स्वपरविभागमतीवगाहमानः ।
निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं दधदपि बोधमुपैषि सङ्करं न ॥१२॥

अन्वयार्थ—(विधिनियममयाद्भुतस्वभावात्) जो विधि और निषेधरूप अद्भुत स्वभावसे (स्वपरविभागम्) निज और परके विभागको (अतीवगाहमानः) अतिशयरूपसे प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (निरवधिमहिमाभिभूतविश्वं) अपनी अनन्त महिमासे विश्व समस्त लोकालोकको आक्रान्त करने वाले (बोधं) ज्ञानको (दधदपि) यद्यपि धारण करते हैं तो भी (सङ्कर) सङ्कर दोषको—ज्ञान और ज्ञेयके एकीभावको (न उपैषि) नहीं प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव विधि और निषेधरूप है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु विधि-रूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेधरूप है। 'ज्ञानमें ज्ञेय है' यह विधिपक्ष है और 'ज्ञानमें ज्ञेय नहीं है' यह निषेधपक्ष है। 'ज्ञानमें ज्ञेयका विकल्प आता है' इस अपेक्षासे विधिपक्षकी सिद्धि होती है और 'ज्ञानमें ज्ञेयके प्रदेश नहीं आते हैं' इस अपेक्षासे निषेधपक्षकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार दर्पणमें पड़ा हुआ मयूरका प्रतिबिम्ब दर्पणसे भिन्न नहीं है उसी प्रकार ज्ञानमें आया हुआ ज्ञेयका विकल्प ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें अभेद है परन्तु जब दर्पण और सामने खड़े हुए मयूरकी अपेक्षा विचार करते हैं तब दर्पण जुदा है और मयूर जुदा है, ऐसा प्रतीत होता है उसी प्रकार जब ज्ञान और उसमें आने वाले पदार्थकी अपेक्षा विचार करते हैं तब ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी अनन्त सामर्थ्यसे समस्त पदार्थोंको जानता है अर्थात् वे समस्त पदार्थ विकल्पकी अपेक्षा आपके ज्ञानमें आते हैं तो भी उनके साथ आपके ज्ञान अथवा गुण-गुणीकी अभेद विवक्षासे आपमें संकर भाव प्राप्त नहीं होता अर्थात् आप पदार्थरूप नहीं होते और पदार्थ आपरूप नहीं होते। आप सदा स्व-परके विभागको धारण करते रहते हैं ॥१२॥

उदयति न भिदा समानभावाद्भवति भिदैव समन्ततो विशेषैः ।
द्वयमिदमवलम्ब्य तेऽतिगाढं स्फुरति समक्षतयात्मवस्तुभावः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(समानभावात्) सामान्यकी अपेक्षा (भिदा) भेद (न उदयति) उदित नहीं होता और (विशेषैः) विशेषोंकी अपेक्षा (समन्ततः) सब ओरसे (भिदैव) भेद ही (भवति) होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ते) आपका (आत्मवस्तुभावः) आत्मा नामक पदार्थ (अतिगाढं) अत्यन्त गाढ रूपसे (इदं द्वयम्) इन भेद और अभेद दोनोंका (अवलम्ब्य) आलम्बन लेकर (समक्षतया) प्रत्यक्ष रूपसे (स्फुरति) प्रकट हो रहा है—अनुभवमें आ रहा है।

भावार्थ—यहाँ अभेद और भेद इन दो विरोधी धर्मोंका एकत्र समन्वय करते हुए भगवान्‌का स्तवन किया जा रहा है। पदार्थ समान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक है। सामान्यकी अपेक्षा पदार्थमें अभेद रहता है और विशेषपर्यायकी अपेक्षा भेद रहता है। हे भगवन् ! आपका आत्मद्रव्य भी सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे अभेद और भेदरूप है। इन दोनों विरोधी धर्मोंका अवलम्बन लेकर आपका आत्मा अन्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१३॥

इदमुदय(द)मनन्तशक्तिचक्रं समुदयरूपतया विगाहमानः ।
अनुभवसि सदाऽप्यनेकमेकं तदुभयसिद्धमिमं विभो स्वभावम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन् ! (समुदयरूपतया) समुदायरूपसे (उदयत्) प्रकट होनेवाले (इदं) इस (अनन्तशक्तिचक्रं) अनन्तशक्ति समूहको (विगाहमानः) अवगाहन करते हुए आप (सदापि) निरन्तर ही (अनेकं एकं) अनेक, एक और (तदुभयसिद्धं) उन दोनोंसे सिद्ध (इमं) इस (स्वभावं) स्वभावका सदा (अनुभवसि) अनुभव करते हैं।

भावार्थ—यहाँ एकानेकके भङ्गसे भगवान्‌का स्तवन किया जा रहा है। हे भगवन् ! आप उदयमें आने वाली अनन्त शक्तियोंके समूहमें अवगाहन करते हुए पदार्थको एक, अनेक अथवा दोनों रूप ग्रहण करते हैं। सामान्यकी अपेक्षा वस्तु एक परन्तु पर्यायकी अपेक्षा अनेक है। क्रम विवक्षामें दोनों पृथक्-पृथक् हैं और युगपद् दोनोंकी क्रमिक विवक्षामें एकानेकरूप हैं ॥१४॥

निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः ।
अनुभवनमिहात्मनः स्फुटं ते वरद यतोऽस्ति तदप्यनन्तमेतत् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(वरद) हे उत्कृष्ट मोक्षपदके दायक ! (यतः) जिस कारण (इह) इस जगत् में (ते) आपको (निरवधिघटमानभावधारापरिणमिताक्रमवर्त्यनन्तशक्तेः) अवधिरहितरूपसे—अनादि कालसे विद्यमान भावोंकी सन्ततिसे परिणमित होनेवाली अक्रमवर्ती—युगपत् अनन्त शक्तियाँ जिसमें विद्यमान हैं ऐसे (आत्मनः) आतमतत्त्वका (अनुभवनं) अनुभव (स्फुटं) स्पष्ट रूपसे हो रहा है (तत्) उस कारणसे (एतत् अनुभवनमपि) यह अनुभव भी (अनन्तम् अस्ति) अनन्त है।

भावार्थ—अनादिकालसे इस आत्मामें जो नाना प्रकारके भावोंकी सन्तति उत्पन्न होती आ रही है उससे आत्माकी अनन्तशक्तियोंका बोध होता है और वे अनन्तशक्तियाँ भी क्रमवर्ती न होकर अक्रमवर्ती हैं—एक साथ आत्मामें विद्यमान हैं। यतश्च ऐसी आत्माका अनुभवन आपको स्पष्ट रूपसे हो रहा है अतः आपका वह अनुभवन—ज्ञान भी अनन्त है। तात्पर्य यह है कि अनन्त-शक्तियोंको साक्षात् जानने वाला आपका ज्ञान भी अनन्त ही है ॥१५॥

प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः स्वपरनिमित्तवशादनन्तभावैः ।
तव परिणमतः स्वभावशक्त्या स्फुरति समक्षमिहात्मवैभवं तत् ॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थं—(स्वपरनिमित्तवशात्) स्वपर निमित्तके वश (स्वभावशक्त्या) स्वभाव शक्तिसे (प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः) जिनकी विभूतिका भाव प्रतिसमय उल्लसित हो रहा है ऐसे (अनन्तभावैः) अनन्तभावों रूप (परिणमतः) परिणमन करने वाले (तव) आपका (तत्) वह अद्वितीय (आत्मवैभवं) आत्मसम्बन्धी वैभव (इह) इस जगत्में (समक्षं) प्रत्यक्षरूपसे (स्फुरति) प्रकट हो रहा है।

भावार्थ—पदार्थका परिणमन करनेका स्वभाव है और वह परिणमन स्वपरनिमित्तोंके द्वारा होता है। स्वनिमित्तसे अन्तरङ्ग कारण और परनिमित्तसे बहिरङ्ग कारण अपेक्षित है। वह सभी द्रव्योंके परिणमनमें सहायक होता है। इस साधारण परनिमित्तके अतिरिक्त जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य परस्पर भी एक दूसरेके निमित्त होते हैं अर्थात् जीवके निमित्तसे पुद्गलद्रव्यमें कर्मरूप परिणमन होता है और कर्मरूप पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे जीवद्रव्यमें रागादिरूप परिणमन होता है। परिणमन करनेकी शक्ति सब द्रव्योंकी अपनी-अपनी निज की है निमित्तकारण मात्र सहायक होता है। हे भगवन्! आपकी आत्मामें प्रतिसमय जो अनन्त-भाव उल्लसित हो रहे हैं वे स्व-पर कारणोंसे उल्लसित हो रहे हैं। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। यद्यपि निमित्तका परिणमन निमित्तमें हो रहा है और वस्तुरूप उपादानका परिणमन वस्तुमें हो रहा है तथापि निमित्तके साथ अन्वयव्यतिरेक होनेसे वस्तुका परिणमन निमित्तसापेक्ष होता है निमित्तनिरपेक्ष नहीं। आपका यह आत्मवैभव प्रत्यक्ष ही अनुभवका विषय हो रहा है ॥१६॥

इममचलमनाद्यनन्तमेकं समगुणपर्ययपूर्णमन्वयं स्वम्।
स्वयमनुसरतश्चिदेकधातुस्तव पिबतीव परान्वयानशेषान् ॥१७॥

अन्वयार्थं—(अचलं) चलाचलसे रहित (अनाद्यनन्तं) अनादि अनन्त (समगुणपर्ययपूर्णं) समस्त गुण और पर्यायोंसे पूर्ण (एकं) एक (इमं) इस (स्वं) स्वकीय (अन्वयं) आत्मद्रव्यका (स्वयं) (अनुसरतः) अनुसरण करने वाले (तव) आपकी (चिदेकधातुः) चैतन्यरूप अद्वितीयधातु केवलज्ञान (अशेषान् परान्वयान्) समस्त परद्रव्योंको (पिबतीव) मानों पी रहा है—जान रहा है।

भावार्थ—समस्त कालोंमें विद्यमान रहनेसे द्रव्यको अन्वय और क्रमवर्ती होनेसे पर्यायको व्यतिरेक कहते हैं। आपका जो स्वद्रव्य है वह अचल है—चलाचलसे रहित अविनाशी है, अनादि और अनन्त है, समस्त गुणों और पर्यायोंसे पूर्ण है तथा एक है—स्वतन्त्र द्रव्य है। इस आत्मद्रव्यका निरन्तर आश्रय लेनेसे ही आपकी यह अरहन्त पर्याय प्रकट हुई है। इस अरहन्त पर्यायकी विशेषता यह है कि इसमें प्रकट होने वाली चैतन्यधातु—केवलज्ञान, स्वद्रव्यको तो जानता ही है—साथमें अन्य समस्त द्रव्योंको भी मानों पी रहा है अर्थात् ज्ञेय बनाकर उन्हें अपने आपमें निगीर्ण कर रहा है ॥१७॥

अतिनिशितमनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरमातदन्त्यभेदात्।
प्रतिपदमतिदारयत् समग्रं जगदिदमेतदुदेति ते विदस्त्रम् ॥१८॥

अन्वयार्थं—जो (अतिनिशितं) अत्यन्त तीक्ष्ण है तथा (अनंशमूलसत्ताप्रभृतिनिरन्तरं) अखण्ड मूलसत्ता आदिसे परिपूर्ण (इदं समग्रं जगत्) इस समस्त संसारको (आतदन्त्यभेदात्) उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तिमभेद पर्यन्त (प्रतिपदं) पद-पद पर (अतिदारयत्) अत्यन्त विदीर्ण करता हैं—खण्ड-खण्ड कर जानता है ऐसा (ते) आपका (एतत्) यह (विदस्त्रम्) ज्ञानरूपी शस्त्र (उदेति) उदित हुआ है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपका ज्ञानरूपी शस्त्र इतना तीक्ष्ण है कि वह इस अखण्ड संसार-को उसके अन्तिमभेद तक खण्ड खण्ड कर देता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्मग्राही है ॥१८॥

विघटितघटितानि तुल्यकालं तव विदतः सकलार्थमण्डलानि।
अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीरखिलतमा सममेव निर्विभाति ॥१९॥

अन्वयार्थ—(विघटितघटितानि) खण्ड-खण्ड अवस्थाको प्राप्त तथा संयुक्त दशासे मुक्त (सकलार्थमण्डलानि) समस्त पदार्थोंके समूहको (तुल्यकालं) एक साथ (विदितः) जानने वाले (तव) आपकी (अखिलतमा) संपूर्ण (अवयवसमुदायबोधलक्ष्मीः) अवयव और समुदायको जानने वाली ज्ञानलक्ष्मी (सममेव) एक ही साथ (निर्विभाति) अत्यन्त सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ अपने अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा विघटित हैं—बिखरे हुए हैं और अवयवीकी अपेक्षा घटित हैं—मिले हुए हैं। उन समस्त पदार्थोंको आप एक साथ जानते हैं अर्थात् पदार्थोंके अखण्डरूपको तो जानते ही हैं उनके एक एक प्रदेशको भी जानते हैं इस प्रकार आपकी ज्ञानलक्ष्मी अवयव और समुदाय दोनोंको एक साथ जानने वाली है ॥१९॥

जडमजडमिदं चिदेकभावं तव नयतो निजशुद्धबोधधाम्ना।
प्रकटयति तवैव बोधधाम प्रसभमिहान्तरमेतयोः सुदूरम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(निजशुद्धबोधधाम्ना) अपने शुद्धज्ञानके तेजसे (इदं) इस (जडमजडं) चेतन अचेतन जगत्को (चिदेकभावं नयतः) एक चैतन्यभावको प्राप्त कराने वाले (तवैव) आपका ही (बोधधाम) ज्ञानरूपी तेज (इह) इस संसारमें (प्रसभं) बलपूर्वक (एतयोः) इन चेतन अचेतनके (सुदूरं) बहुत भारी (अन्तरं) अन्तर को (प्रकटयति) प्रकट करता है।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ, चेतन और अचेतनके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। अपने शुद्धज्ञानके द्वारा जब आप उन्हें जानते हैं तब अन्तर्ज्ञेय बन कर वे आपके ज्ञानमें आते हैं। इस अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा यद्यपि सब पदार्थ एक चैतन्यभाव को प्राप्त हो रहे हैं तथापि आपका ज्ञान उन दोनोंके महान् अन्तर को प्रकट करता है। वह बतलाता है कि बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा पदार्थ चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं परन्तु अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा सब चेतन ही हैं। जिस प्रकार दर्पणमें पड़ा हुआ मयूरादिका प्रतिबिम्ब परमार्थसे दर्पण का ही परिणमन है उसी प्रकार आपके ज्ञानमें आया हुआ चेतन अचेतन ज्ञेयोंका समूह परमार्थसे ज्ञानका ही परिणमन है। यतश्च ज्ञान चेतनरूप है अतः उसमें आये हुए अन्तर्ज्ञेय भी चेतनरूप हैं। वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा चेतन और अचेतन दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं अतः इनमें महान् अन्तर है। हे प्रभो! इसे आपका ज्ञान ही प्रकट कर रहा है ॥२०॥

तव सहजविभाभरेण विश्वं वरद विभात्यविभामयं स्वभावात्।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव विरहे भुवनं न किञ्चिदेव ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(वरद) हे वरदायक! (स्वभावात्) स्वभावसे (अविभामयं) अप्रकाशमय (विश्वं) जगत् (तव) आपके (सहजविभावरेण) स्वाभाविक ज्ञानके समूहसे (विभाति) प्रकाशित हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि (उष्णरश्मेः) सूर्यके (महोभिः) तेजसे (स्नपितमपि) नहलाये जाने पर भी—प्रकाशित होनेपर भी (भुवनं) जगत् (तव विरहे) आपके अभावमें (न किञ्चिदेव स्नपितं) कुछ भी प्रकाशित नहीं होता है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्‌के स्वाभाविक ज्ञानप्रकाश का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हे मनोवाञ्छितफलको देनेवाले जिनेन्द्र ! यह अप्रकाशमय विश्व आपकी स्वाभाविक विभा—ज्ञान-ज्योतिसे ही विभासित हो रहा है। इसमें दृष्टान्त दिया है कि यह जगत् सूर्यके तेजसे प्रकाशित होनेपर भी अप्रकाशितके ही समान है। भावार्थ यह है कि आपका तेज सूर्यके तेजसे विलक्षण है ॥२१॥

स्पृशदपि परमोद्गमेन विश्वं वरद परस्य न तेऽस्ति बोधधाम।
धवलयदपि सौधमिद्धधारं धवलगृहस्य सुधाम्बु न स्वभावः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(वरद) हे इच्छितपदार्थके देनेवाले जिनेन्द्र ! (ते) आपका (बोधधाम) ज्ञानरूपी तेज (परमोद्गमेन) अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्यसे (विश्वं) समस्त विश्वका (स्पृशदपि) स्पर्श करता हुआ भी—उसे जानता हुआ भी (परस्य) अन्यका—विश्वका (न अस्ति) नहीं है जैसे (इद्धधारं) उज्ज्वल धारासे युक्त (सुधाम्बु) चूना का पानी (सौधं) भवनको (धवलयदपि) धवल करता हुआ भी (धवलगृहस्य) धवल महल—श्वेतभवन का (स्वभावः न) स्वभाव नहीं होता।[1]

भावार्थ—जिस प्रकार कलई मकान को सफेद करती हुई भी मकानसे भिन्न रहती है, मकानका स्वभाव नहीं बन जाती उसी प्रकार आपका ज्ञान अपनी उत्कृष्ट सामर्थ्यसे यद्यपि पर पदार्थों को जानता है तथापि उनसे भिन्न रहता है परपदार्थरूप नहीं होता। यहाँ ज्ञान और ज्ञेयके पृथक्त्वभावका वर्णन किया गया है ॥२२॥

परिणतसकलात्मशक्तिसारः स्वरसभरेण जगत्त्रयस्य सिक्तः।
तव जिन जरठोपयोगकन्दः श्रयति बहूनि समं रसान्तराणि ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (परिणतसकलात्मशक्तिसारः) जिसकी अपनी समस्त शक्तियोंका सार परिणत हुआ है—पूर्णताको प्राप्त हुआ है तथा जो (स्वरसभरेण) आत्मरसके समूहसे (सिक्तः) सींचा गया है—आत्मस्वभावसे परिपूर्ण है ऐसा (तव) आपका (जरठोपयोगकन्दः) उपयोगरूपी पुराना कन्द (जगत्त्रयस्य) तीनों जगत्‌के (बहूनि) बहुसंख्यक (रसान्तराणि) अन्य रसों को (समं) एकसाथ (श्रयति) ग्रहण करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार भूमिमें पड़ा हुआ पुराना जमीकन्द, पानीसे सींचा जानेपर समीपवर्ती मिट्टी पानी आदि अन्य पदार्थोंको अपना बनाकर अङ्कुरित हो उठता है उसी प्रकार आपका पुरातन—पूर्ववर्ती—ज्ञानोपयोग भी अपनी ज्ञातृत्वशक्तिके कारण तीनों लोकोंके अन्यपदार्थों को

१. शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेषमन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमिर्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥
—समयसार कलश २१६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक साथ ग्रहण करता है अर्थात् उन्हें अपने आपमें प्रतिबिम्बित कर अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानरूप परिणमा लेता है ।।२३।।

त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि स्फुटमहिमा परमागमप्रकाशः ।
अयमिह तव संविदेककोणो(णे)कलयति कीटमणेः किलाह्नि लीलाम् ।।२४।।

अन्वयार्थ—(स्फुटमहिमा) जिसकी महिमा अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट है ऐसा (अयं) यह (परमागमप्रकाशः) परमागमरूप प्रकाश (इह) इस जगत्में (त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि 'सन्') तीनकाल और तीनलोकके पदार्थोंको प्रकट करनेके लिये अद्वितीय दीपक होता हुआ भी (तव) आपके (संविदेककोणे) केवलज्ञानके एक कोनेमें (अह्नि) दिनमें (कीटमणेः) जुगनूकी (लीलां) लीलाको (कलयति) प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार दिनके समय जुगनू निष्प्रभ रहता है उसी प्रकार आपके लोकालोकावभासी केवलज्ञानके सामने श्रुतज्ञानका प्रकाश निष्प्रभ है। यद्यपि श्रुतज्ञानका विषय भी बहुत है तथापि वह परोक्ष और सान्त होनेके कारण प्रत्यक्ष और अनन्त केवलज्ञानके सामने गौरवहीन ही रहता है ।।२४।।

निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशवि[१]सं(शं)कटां क्रमेण ।
अविकलविलसत्कलौघशाली वरद विशाशु ममैकवित् स्फुलिङ्गाम् ।।२५।।

अन्वयार्थ—(वरद) हे वरदायक भगवन्! (अविकलविलसत्कलौघशाली) पूर्णरूपसे विलसित होने वाली कलाओंके समूहसे सुशोभित (एकवित्) अद्वितीय केवलज्ञान (आशु) शीघ्र ही (मम) मेरी उस (स्फुलिङ्गाम्) श्रुतज्ञानरूप चिनगारीमें (क्रमेण) क्रमसे (विश) प्रवेश करे जो कि (निजगरिमनिरन्तरावपीडप्रसभविकाशविशंकटां) निज गौरवके निरन्तर अवपीडन—दबावसे हठपूर्वक होने वाले विकाससे विशाल है।

भावार्थ—यहाँ स्तुतिकर्त्ता आचार्य जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हैं कि हे वरदायक भगवन्! आपका केवलज्ञान परिपूर्ण कलाओंके समूहसे सुशोभित है और मेरा श्रुतज्ञान उसके समक्ष एक चिनगारी (आगके तिलगा) के समान है। फिर भी मेरा श्रुतज्ञान आत्मज्ञानके गौरवसे निरन्तर विकाशके सम्मुख हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि केवलज्ञान शीघ्र ही मेरे श्रुतज्ञानरूपी चिनगारी में प्रवेश करे अर्थात् मेरा श्रुतज्ञान केवलज्ञानरूप पर्यायसे युक्त हो जावे। यह उचित भी है क्योंकि श्रेणीमें आरूढ़ हुआ क्षपक जैसे-जैसे मोहजन्य कालिमाको दूर करता जाता है वैसे-वैसे ही उसका श्रुतज्ञान सराग दशासे वीतराग दशाको प्राप्त होता जाता है। यहाँ तक कि बारहवें गुण स्थानमें उसका श्रुतज्ञान पूर्णरूपसे वीतराग हो जाता है और अन्तर्मुहूर्तके भीतर नियमसे केवलज्ञानके रूपमें परिवर्तित हो जाता है ।।२५।।

■

---

१. 'वेः शालच् शंकटचौ' इति सूत्रेण वेः शङ्कटच् प्रत्ययः। विशाला विशङ्कटा इति पर्यायवाचिनौ शब्दौ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१७)

प्रहर्षिणी छन्दः

वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावादेकांशे परिणतशक्तयः स्खलन्तः ।
तत्त्वार्थं वरद वदन्त्यनुग्रहात्ते स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन शब्दाः ॥१॥

अन्वयार्थं—(वरद) हे वरदायक ! (परिणतशक्तयः) अभिधाशक्तिसे सम्पन्न (शब्दाः) शब्द (वस्तूनां) जीवाजीवादिपदार्थोंके (विधिनियमोभयस्वभावात्) विधि और निषेध—दोनों स्वभावरूप होनेसे (एकांशे) विधि या निषेधरूप एक अंशमें (स्खलन्तः) स्खलित होते हुए (ते) आपके (अनुग्रहात्) अनुग्रहसे (स्याद्वादप्रसभसमर्थनेन) स्याद्वादके प्रबल समर्थनके द्वारा (तत्त्वार्थं) वस्तुस्वरूपको (वदन्ति) कहते हैं ।

भावार्थं—संसारके प्रत्येक पदार्थ विधि और निषेध–दोनों स्वभावोंसे युक्त हैं अर्थात् स्वकीय चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति आदि विधिरूप हैं और परचतुष्टयकी अपेक्षा निषेध आदि नास्तिरूप हैं । इधर वस्तुका स्वभाव ऐसा है उधर उसका कथन करनेवाले शब्द अभिधाशक्तिके कारण नियन्त्रित होनेसे दो विरोधी धर्मोंमें से एकको कह-कर क्षीणशक्ति हो जाते हैं—दूसरे धर्मको कहनेकी उनमें सामर्थ्य नहीं रहती । एक अंशके कहनेसे वस्तुका पूर्णस्वरूप कथनमें नहीं आ पाता । इस स्थितिमें हे भगवन् ! आपके अनुग्रहसे स्याद्वादका—कथंचित्वादका आविर्भाव हुआ । उसके प्रबल समर्थनसे शब्द दोनों स्वभावोंसे युक्त तत्त्वार्थका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होते हैं । स्याद्वादका समर्थन प्राप्त कर ही शब्द, यह कहनेमें समर्थ होते हैं कि अमुक अपेक्षासे पदार्थ अस्तिरूप है और अमुक अपेक्षासे नास्तिरूप है ॥१॥

आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्यः शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्परः सन् ।
प्रत्यक्षस्फुरदिदमेवमुच्चनीचं नीत्वास्तं त्रिभुवनमात्मनास्तमेति ॥२॥

अन्वयार्थं—(अनिवारितात्मवाच्यः) निर्बाध आत्मा ही जिसका वाच्य है ऐसा (आत्मेति ध्वनिः) आत्मा यह शब्द (शुद्धात्मप्रकृतिविधानतत्परः सन्) शुद्ध आत्मस्वभावको प्रकट करनेमें तत्पर होता हुआ (प्रत्यक्षस्फुरत्) प्रत्यक्षरूपसे स्फुरित होनेवाले (एवम्) इसी प्रकारके (उच्चनीचं) ऊँचे-नीचे (इदं त्रिभुवनं) इस त्रिलोकको (अस्तं नीत्वा) अस्तको प्राप्त कराकर (आत्मना) अपने आपके द्वारा (अस्तम् एति) अस्तको प्राप्त होता है ॥२॥

तस्यास्तंगमनमनिच्छता त्वयैव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानशक्तिम् ।
सापेक्षां प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—जो (तस्य) उस आत्माके (अस्तंगमनं) अस्तभाव—निषेधपक्षकी (अनिच्छता) इच्छा नहीं करते हैं तथा (स्यात्काराश्रयणगुणात्) स्याद्वादके आश्रयसे समुत्पन्न गुणसे (सापेक्षां) अपेक्षा सहित (विधानशक्ति) विधि शक्तिको (प्रविदधता) करते हैं ऐसे (त्वयैव) आपके द्वारा ही (असौ) यह (निषेधशक्तिः) निषेधशक्ति (दत्ता) दी गई है और वह निषेधशक्ति (इह) जगत्में (स्वरसभरेण) स्वकीय महिमासे (वलाति) क्रियाशील है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपको आत्माका नास्तित्व इष्ट नहीं है अतः आपने स्याद्वादका आश्रय लेकर कहा है कि आत्मा अस्ति और नास्ति-उभयरूप है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है। जिस प्रकार अस्तिपक्षको सूचित करनेवाली विधि-शक्ति स्वरससमूह—स्वकीय महिमासे क्रियाशील है उसी प्रकार नास्तिपक्षको सूचित करनेवाली निषेधशक्ति भी स्वरससमूहसे क्रियाशील है ॥३॥

तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा अप्येते कटुककठोरमारटन्ति ।
स्वस्यास्तंगमनभयान्निषेधमुच्चैः स्वाकूतादवचनमेव घोषयन्तः ॥४॥

अन्वयार्थ—(तद्योगात्) उस निषेध शक्तिके योगसे (एते) ये शब्द (विधिमधुराक्षरं) विधि-पक्षके मिष्ट अक्षरोंको (ब्रुवाणा अपि) कहते हुए भी (स्वस्य) अपने आपके (अस्तंगमनभयात्) नष्ट होनेके भयसे (अवचनमेव) चुपचाप ही (स्वाकूतात्) अपनी चेष्टामात्रसे (निषेधं) निषेधपक्षकी (उच्चैः) उच्च (घोषयन्तः) घोषणा करते हुए (कटुककठोरं आरटन्ति) कटुक और कठोर घोषणा करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि विधिपक्ष मधुर है और निषेधपक्ष कटुक और कठोर है फिर भी शब्द अपनी दोनों प्रकारकी शक्तियोंके योगसे दोनों पक्षोंका कथन करते हैं क्योंकि इसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता है ॥४॥

त्रैलोक्यं विधिमयतां नयन्न चासौ शब्दोऽपि स्वयमिह गाहतेऽर्थरूपम् ।
सत्येवं निरवधिवाच्यवाचकानां भिन्नत्वं विलयमुपैति दृष्टमेतत् ॥५॥

अन्वयार्थ—(त्रैलोक्यं) तीनों लोकोंको (विधिमयतां) विधिरूपताको (नयन्) प्राप्त करानेवाला (असौ) यह (शब्दोऽपि) शब्द भी (इह) इस जगत्में (स्वयं) अपने आप (अर्थरूपं) अर्थरूपताको (न च गाहते) प्राप्त नहीं होता क्योंकि (एवं सति) ऐसा होनेपर (निरवधिवाच्यवाचकानां) असंख्य शब्द और अर्थोंकी (दृष्टं) देखी हुई (एतत्) यह (भिन्नत्वं) भिन्नता (विलयं) विनाशको (उपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—यद्यपि शब्द तीनों लोकोंको विधिरूपताको प्राप्त कराते हैं—उनके अस्तिपक्षको सूचित करते हैं तो भी वे स्वयं अर्थरूप नहीं होते अर्थात् शब्द, शब्द ही रहते हैं और अर्थ, अर्थ ही रहते हैं। इसके विपरीत यदि शब्द अर्थरूप होने लगें तो असंख्य शब्द और अर्थोंमें जो भिन्नरूपता दिखाई देती है वह नष्ट हो जावेगी, दोनोंमें एकरूपता हो जावेगी ॥५॥

शब्दानां स्वयमपि कल्पितेऽर्थभावे भाव्येत भ्रम इति वाच्यवाचकत्वम् ।
किन्त्वस्मिन् नियममृते न जातु सिद्ध्येद् दृष्टोऽयं घटपट (घट) शब्दयोर्विभेदः ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(शब्दानां) घट आदि शब्दोंकी (स्वयमपि) स्वयं भी (अर्थभावे कल्पिते 'सति') अर्थरूपता माननेपर (वाच्यवाचकत्वम्) उनमें जो वाच्यवाचकपना है वह (भ्रम इति भाव्येत) भ्रम है ऐसा समझा जावेगा (किन्तु) परन्तु (अस्मिन्) इस भ्रममें (नियमम् ऋते) नियमके विना (दृष्टः) देखा गया (अयं) यह (घटघटशब्दयोः) घट पदार्थ और घट शब्दका (विभेदः) भिन्नपना (जातु) कभी (न सिद्धयेत्) सिद्धिके लिये नहीं हो सकता।

भावार्थ—यदि ऐसा माना जावे कि जो शब्द हैं वे स्वयं ही अर्थरूप हो जाते हैं तो ऐसा माननेपर शब्द और अर्थमें जो वाचक और वाच्यका भेद है वह भ्रमरूप हो जावेगा अर्थात् असत्यवत् हो जावेगा और उसके असत्यवत् होनेपर घटपदार्थ और घट शब्दमें देखा गया भेद असत्य हो जावेगा ॥६॥

अप्येतत् सदिति वचोऽत्र विश्वचुम्बि सत्सर्वं नहि सकलात्मना विधत्ते ।
अर्थानां स्वयमसतां परस्वरूपात् तत्कुर्यान्नियतमसद्वचोऽप्यपेक्षाम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस जगत्में (सदिति वचः) 'सत्' यह शब्द (विश्वचुम्बि अपि सत्) समस्त पदार्थोंका ग्राही होता हुआ भी (हि) निश्चयसे (सकलात्मना) सम्पूर्णरूपसे (सर्वं) सबको (सत् न विधत्ते) सत् नहीं करता है क्योंकि (तत्) वह सत् शब्द (असत् वचोऽपि) असत् अर्थको भी कहता हुआ (परस्वरूपात्) पर स्वरूपसे (स्वयम् असताम्) स्वयं न रहनेवाले (अर्थानाम्) पदार्थोंकी (नियतम्) नियमसे (अपेक्षां कुर्यात्) अपेक्षा करता है।

भावार्थ—यद्यपि 'सत्' शब्दके कहनेसे संसारके समस्त पदार्थोंका ग्रहण होता है तथापि वह सर्वरूपसे सबको सत् नहीं कह सकता क्योंकि समस्त पदार्थ स्व-स्वरूपकी अपेक्षा ही सत् रूप होनेपर भी परस्वरूपकी अपेक्षा असत् रूप भी हैं—तात्पर्य यह है कि सत् और असत् ये दोनों पक्ष परस्पर सापेक्ष हैं। जहाँ किसी पदार्थको स्वस्वरूपकी अपेक्षा सत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थको परस्वरूपकी अपेक्षा असत् भी कहा जाता है और जहाँ किसी पदार्थको परस्वरूपकी अपेक्षा असत् कहा जाता है वहाँ उसी पदार्थको स्वस्वरूपकी अपेक्षा सत् भी कहा जाता है ॥७॥

अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(समन्ततः) सब ओरसे (अस्तीति) 'अस्ति' इस प्रकारका (विकल्पे स्फुरति) विकल्प स्फुरित होनेपर (स्वयं) अपने आप (उल्लसन्ती) प्रकट होती हुई (असौ) यह (स्पष्टा अनुभूतिः) स्पष्ट अनुभूति जहाँ (इदं चित्तत्त्वं) इस जीवतत्त्वको (निजात्मना) स्वस्वरूपसे (विहितं) विधिपक्षसे युक्त (उच्चैः) उच्च स्वरसे (वदति) कहती है वहाँ उसे (परात्मना) परस्वरूपसे (प्रव्यक्तं) स्पष्टरूपसे (निषिद्धं) नास्तिपक्षसे युक्त भी (वदति) कहती है।

भावार्थ—यहाँ चेतनतत्त्व-जीवतत्त्वके अस्ति और नास्ति पक्षका उदाहरण देते हुए पदार्थों में रहने वाले विधि और निषेध धर्मको स्पष्ट किया गया है। जब जीवतत्त्वको 'अस्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमें अस्तित्वका विकल्प सब ओरसे प्रकट होता है और अस्तित्वकी स्पष्ट अनुभूति भी होती है परन्तु वह निजात्मा—स्वस्वरूपकी अपेक्षा होती है परन्तु जब उसी जीवतत्त्वको

ल०–२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्वरूपकी अपेक्षा 'नास्ति' ऐसा कहा जाता है तब उसमें नास्तित्वका विकल्प प्रस्फुरित होता है और नास्तित्वकी अनुभूति भी होने लगती है ॥८॥

नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे स्पष्टासौ स्वयमनुभूतिरुल्लसन्ती ।
प्रव्यक्तं वदति परात्मना निषिद्धं चित्तत्त्वं विहितमिदं निजात्मनोच्चैः ॥९॥

अन्वयार्थ—(समन्ततः) सब ओरसे (नास्तीति विकल्पे स्फुरति 'सति') 'नास्ति' ऐसा विकल्प स्फुरित—प्रकट होने पर (स्वयं) अपने आप (उल्लसन्ती) प्रकट होती हुई (असौ) यह (स्पष्टा) स्पष्ट (अनुभूतिः) अनुभूति (चित्तत्त्वं) चेतनतत्त्वको (परात्मना) परस्वरूपकी अपेक्षा (प्रव्यक्तं) व्यक्त रूपसे (निषिद्धं) निषेधरूप—नास्तिपक्षसे युक्त (वदति) कहती है और (निजात्मना) स्व-स्वरूपकी अपेक्षा (इदं) इस चेतनतत्त्वको (उच्चैः) उच्चस्वरसे (विहितं) विधिरूप—अस्तिपक्षसे युक्त (वदति) कहती है।

भावार्थ—श्लोकका भाव पूर्वश्लोकके भावसे स्पष्ट है, विशेषता यह है कि यहाँ नास्ति-पक्षकी मुख्यता और विधिपक्षकी गौणता है ॥९॥

सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे किं ब्रूयात् विधिनियमाद्वयात् स शब्दः ।
प्रब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेदः प्रब्रूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् विश्वं स्वपरविभेदभाजि सति) जब कि यह विश्व—जगत्, स्व और परके भेदको प्राप्त है तब (स शब्दः) वह शब्द (विधिनियमाद्वयात्) विधि और निषेधके अद्वैतसे—विधि और निषेधमें-से किसी एक पक्षके द्वारा (किं ब्रूयात्) क्या कह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। (यदि) यदि वह (विधिमेव प्रब्रूयात्) विधिपक्ष—भेदको ही (प्रब्रूयात्) कहता है तो (भेदः नास्ति) 'भेद नहीं है', यह बात सामने आती है और यदि (नियमं प्रब्रूते) निषेधपक्ष—अभेदको कहता है तो (जगत् प्रमृष्टं) संसार साफ होता है—संसारकी विविधता नष्ट होती है, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

भावार्थ—'संसार स्व और परके भेद को प्राप्त है' यह विधिपक्ष है और 'संसार स्वपरके भेदको प्राप्त नहीं है', यह निषेधपक्ष है। इन दोनों पक्षोंके रहते हुए शब्द किसी एक पक्षका निरूपण नहीं कर सकते क्योंकि एक पक्षका निरूपण करने पर सर्वथा भेद या अभेदकी बात सामने आती है जो कि इष्ट नहीं है ॥१०॥

एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि विश्वं स्पृष्ट्वापि स्फुटमवगाहते निषेधम् ।
सन्तोऽर्था न खलु परस्परानिषेधाद् व्यावृत्तिं सहजविजृम्भितां व्रजेयुः ॥११॥

अन्वयार्थ—(सदिति वचः) 'सत्' इसप्रकार का वचन (एकान्तात्) एकान्तसे (विसर्पि विश्वं) विस्तृत विश्वका (स्पृष्ट्वापि) स्पर्श करके भी (स्फुटं) स्पष्टरूपमें (निषेधं) निषेधपक्ष का (अवगाहते) अवगाहन करता है क्योंकि (खलु) निश्चयसे (सन्तः अर्थाः) सत्रूप पदार्थ (परस्परा-निषेधात्) परस्पर एक दूसरे का निषेध न करनेसे (सहजविजृम्भितां) स्वभाव सिद्ध (व्यावृत्तिं) पृथक्त्वको (न व्रजेयुः) प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

भावार्थ—यद्यपि सत् शब्द समस्त विश्वका वाचक है तथापि वह निषेध पक्षको भी प्रति-पादित करता है अर्थात् सबका वाचक नहीं है क्योंकि एकान्तसे यदि ऐसा मान लिया जावे कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत् समस्त पदार्थों को विषय करता है तो एक पदार्थ की अन्य पदार्थसे व्यावृत्ति—पृथक्ता नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह है कि महासत्ता की अपेक्षा सत् शब्द, समस्त विश्वको ग्रहण करता है परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा समस्त विश्वको ग्रहण न कर घट, पट आदि विशिष्ट पदार्थोंको ही ग्रहण करता है। ऐसा मानने पर घट पटादि पदार्थोंका परस्पर पार्थक्य सिद्ध हो जाता है उसमें कोई बाधा नहीं आती ॥११॥

एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं स्पृष्ट्वापि श्रयति विधिं पुरः स्फुरन्तम्।
अन्योऽन्यं स्वयमसदप्यनन्तमेतत् प्रोत्थातुं न हि सहते विधेरभावात् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(एकान्तात्) एकान्तरूपसे (असदिति गीः) 'असत्' यह शब्द (समग्रं जगत्) समस्त संसारका (स्पृष्ट्वापि) स्पर्श करके भी (पुरःस्फुरन्तं) सामने स्फुरित होनेवाली विधि—सत्पक्षका (श्रयति) आश्रय लेता है क्योंकि (एतत् अनन्तं) यह अनन्त जगत् (अन्योऽन्यं) परस्पर (स्वयं) स्वयं (असदपि) असत् होता हुआ भी (विधेरभावात्) विधि—सत्पक्षके बिना (प्रोत्थातुं) उठनेके लिये (न हि सहते) समर्थ नहीं है।

भावार्थ—जगत् एकान्तसे असत् सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सत् पदार्थ ही द्रव्यादि चतुष्टयमें भेद होनेसे असत् हुआ करता है। जो पदार्थ अभावरूप होता है वह भी किसी क्षेत्र आदिकी अपेक्षा भावरूप होता है जैसे [1]पुष्पका अभाव आकाशमें कहा जाता है उसका वृक्षपर सद्भाव पाया जाता है अर्थात् आकाशरूप क्षेत्रकी अपेक्षा पुष्प असत् है परन्तु वृक्षरूप क्षेत्रकी अपेक्षा सत्‌रूप है। तात्पर्य यह है कि सत् और असत्—दोनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे ही सिद्ध होते हैं सर्वथा रूपसे नहीं ॥१२॥

भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावोऽभावो वा स्वपरगतव्यपेक्षया तौ।
एकत्र प्रविचरतां द्विरूपशक्तिः शब्दानां भवति यथा कथञ्चिदेव ॥१३॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन्) इस जगत्में (भावः) सद्भाव (वा) अथवा (अभावः) असद्भाव (भुवनभरात्) संसारस्थ पदार्थोंके समूहसे (भिन्नो न) भिन्न नहीं है क्योंकि (तौ) वे दोनों भाव (स्वपरगतव्यपेक्षया) स्वगत और परगतकी अपेक्षा सिद्ध होते हैं अर्थात् स्वगतकी अपेक्षा सद्भाव और परगतकी अपेक्षा असद्भाव सिद्ध होता है। इस तरह (एकत्र) किसी एक अर्थमें (प्रविचरतां) प्रवृत्त होनेवाले (शब्दानां) शब्दोंकी (द्विरूपशक्तिः) सद्भाव और असद्भाव अर्थको सूचित करनेवाली शक्ति (यथाकथञ्चित्) किसी अपेक्षासे (भवति एव) होती ही है।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनों धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी हैं तथापि संसारके प्रत्येक पदार्थमें रहते अवश्य हैं। स्वगतकी अपेक्षा भाव और परगतकी अपेक्षा अभाव, इस प्रकारकी विवक्षासे दोनों विरोधी धर्मोंका अस्तित्व एक ही पदार्थमें सिद्ध हो जाता है। यह ठीक है कि अभिधाशक्तिके अनुसार शब्द किसी एक अर्थको ही सूचित करनेमें समर्थ होते हैं परन्तु स्याद्वादका आश्रय उनमें उभयअर्थको सूचित करनेकी शक्तिका अवतार करता है ॥१३॥

---

१. 'सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥'—स्वयंभूस्तोत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्यान्यत् कुर्याद्विधिमयमेव नैव विश्वम् ।
स्वस्यार्थं परगमनान्निवर्तयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(अस्तीति ध्वनिः) अस्ति–पदार्थ सद्रूप है इस प्रकारका शब्द (अनिवारितः) अनिवारितरूपसे (अन्यत्) असद्रूपको (प्रशम्य) शान्त कर–सर्वथा निषिद्ध कर (विश्वम्) विश्वको (विधिमयमेव) एकान्तसे विधिरूप ही (नैव कुर्यात्) नहीं कर सकता है क्योंकि (तत्) वह (स्वस्यार्थं) अपने अर्थको (परगमनात्) परगमनसे (निवर्तयन्तं) दूर करनेवाले (निषेधं) निषेधका (नूनं) निश्चयसे (साक्षात्) साक्षात् (स्पृशति एव) स्पर्श करता ही है।

भावार्थ—'पदार्थ अस्तिरूप है' यह शब्द किसी रुकावटके विना विश्वको अस्तिरूप सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि वह नास्तिरूपका भी साक्षात् आश्रय लेता है। 'घटः अस्ति' यहाँ घटका स्वार्थ घटमें है पटमें नहीं है अतः विधिपक्ष घटकी, पटादिसे निवृत्ति भी करता रहता है ॥१४॥

नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचाराद्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम् ।
तन्नूनं नियमपदे तदात्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (नास्तीति ध्वनितं) नास्ति यह शब्द (अनङ्कुशप्रचारात्) स्वच्छन्दगतिसे (विश्वं) विश्वको (झगिति) शीघ्र ही (शून्यं) अभावरूप (नैव करोति) नहीं ही करता है (तत्) उस कारण (तदा) उस समय (तत्) वह विश्व (आत्मभूमौ) स्वक्षेत्रमें (नियमपदे) नियमसे (स्वयं) अपने आप (अस्तीति ध्वनितं) अस्ति इस शब्दकी (अपेक्षते) अपेक्षा करता है।

भावार्थ—ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि जिसप्रकार 'अस्ति' शब्द 'नास्ति' शब्दकी अपेक्षा रखता है उसीप्रकार 'नास्ति' शब्द 'अस्ति' शब्दकी अपेक्षा रखता है ॥१५॥

सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तत्स्वस्यार्थं ननु विधिरेव नाभिधत्ते ।
विध्यर्थः स खलु परान्निषिद्धमर्थं यत् स्वस्मिन्नियतमसौ स्वयं ब्रवीति ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (सापेक्षः) निषेधपक्ष की अपेक्षासे सहित (विधिः) अस्तिका पक्ष (न विधीयते) नहीं किया जाता है (तत्) तो (ननु) निश्चयसे (स्वस्य अर्थं) अपने अर्थ को (विधिरेव) मात्र विधिपक्ष (नाभिधत्ते) नहीं कहता है क्योंकि (खलु) निश्चयसे (सः असौ विध्यर्थः) वह यह विधि—अस्तिका पक्ष (स्वस्मिन् नियतं) अपने आपमें नियत अर्थ को (परात् निषिद्धं) परसे निवृत्त (स्वयं ब्रवीति) स्वयं कहता है।

भावार्थ—यदि विधिपक्षको निषेधपक्षसे सापेक्ष नहीं माना जावे तो वह अपने पक्ष का कथन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि विधिपक्ष अपने आपमें रहने वाले जिस अर्थका निरूपण करता है वह दूसरे पदार्थसे उसे अपने आप व्यावृत्त सूचित करता है जैसे विधिपक्षने कहा—यह घट है। यहाँ बिना कहे ही निषेधपक्षने आकर कह दिया कि वह पट नहीं है ॥१६॥

स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा शब्दानामयमुभयात्मिकां स्वशक्तिम् ।
यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृतिः किं नासत्याः करणमिह प्रसह्य युक्तम् ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अयं) यह (स्यात्कारः) स्यात् शब्द (शब्दानां) शब्दों की जिस (उभयात्मिकां) विधि और निषेधरूप द्विविध शक्तिको (कुरुते) करता है सो (किमु) क्या (असतीं कुरुते सतीं वा) अविद्यमान शक्ति को करता है या विद्यमान शक्ति को करता है ? (यदि सा शक्तिः स्वरसत एव अस्ति) यदि वह शक्ति स्वभावसे ही उसमें विद्यमान है तो (किं कृतिः) स्यात् शब्द का क्या कार्य हुआ—उसने क्या किया ? और यदि वह शक्ति असती—अविद्यमान है तो (इह) इस संसारमें (असत्याः) अविद्यमान शक्ति का (प्रसह्य, हठपूर्वक (करणं) करना (युक्तं न) युक्त नहीं है—शक्य नहीं है।

भावार्थ—शब्दोंमें उभयात्मक शक्ति स्वतः, विद्यमान हैं। स्यात् शब्द उन्हें सूचितमात्र करता है क्योंकि शक्तियों का सद्भाव यदि स्वयं न माना जावे तो अविद्यमान—नवीन शक्ति की उत्पत्ति संभव नहीं है ॥१७॥

शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः शक्तस्तां स्वयमसतीं परो न कर्तुम् ।
न व्यक्तिर्भवति कदाचनापि किन्तु स्याद्वादं सहचरमन्तरेण तस्याः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(शब्दानां) शब्दों की (उभयात्मिका) द्विविधरूप शक्ति (स्वयं) स्वयं (अस्ति) है अतः (परः) दूसरा पदार्थ (तां) उसे (असतीं कर्तुम्) अविद्यमान करनेके लिये (स्वयं न शक्तः) स्वयं समर्थ नहीं है (किन्तु) परन्तु (तस्या व्यक्तिः) उस द्विविध शक्ति की व्यक्ति (स्याद्वादं सहचरमन्तरेण) स्याद्वादरूप मित्रके बिना (कदाचनापि) कभी भी (न भवति) नहीं होती है।

भावार्थ—शब्दोंमें जो शक्ति स्वयं विद्यमान है उसे अविद्यमान करने की क्षमता किसी दूसरे पदार्थमें नहीं है क्योंकि ऐसा नियम है कि असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश कभी नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार शब्दोंमें विधिशक्ति स्वयं है उसी प्रकार निषेधशक्ति भी स्वयं है। कोई शक्ति न नवीन उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। इतना अवश्य है कि उन शक्तियोंकी व्यक्ति 'स्यात्' शब्दसे होती है। 'स्यात् घटः' यहाँ विधिपक्ष स्पष्ट है परन्तु नास्तिपक्ष स्यात् शब्दसे प्रकट होता है और 'स्यात् अघटः' यहाँ नास्तिपक्ष प्रकट है परन्तु विधिपक्ष स्यात् शब्दसे प्रकट होता है ॥१८॥

एकस्मादपि वचसो द्वयस्य सिद्धौ किन्न स्याद्विफल इहेतरप्रयोगः ।
साफल्यं यदि पुनरेति सोऽपि तत्किं क्लेशाय स्वयमुभयाभिधायितेयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्में (एकस्मादपि वचसः) एक ही वचनसे (द्वयस्य सिद्धौ 'सत्यां') दो अर्थोंकी सिद्धि होने पर (इतरप्रयोगः)-दूसरे वचनका प्रयोग (विफलः) निष्फल (किं न स्यात्) क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा और (सोऽपि) वह दूसरे शब्दका प्रयोग भी (यदि पुनः) यदि फिर (साफल्यम्) सफलता को (एति) प्राप्त होता है (तत्) तो (स्वयं) अपने आप (इयं) यह (उभयाभिधायिता) शब्दोंकी यह उभयाभिधायिता—दोनों अर्थोंका प्रतिपादन (क्लेशाय किम्) क्लेशदायक क्यों है।

भावार्थ—जब एक ही शब्दसे विधि और निषेध—दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है तब अन्य शब्दके प्रयोगकी क्या आवश्यकता है ? जैसे 'घटः अस्ति' यह घड़ा है ऐसा कहनेसे घटके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्वका बोध होता है वैसे ही उससे 'घटेतरो नास्ति' घटसे भिन्न पटादि नहीं है। इस अर्थकी प्रतीति हो जाती है। जब यह स्थिति है तब दूसरे शब्दका प्रयोग निष्फल हो जाता है। इसके विपरीत यदि दूसरे शब्दके प्रयोगको सफल माना जाता है तो फिर एक ही शब्द तो फिर शब्दोंकी उभयअर्थको प्रतिपादित करनेवाली शक्तिसे क्लेश क्यों होता है? ।।१९।।

तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्यदुक्तं स्याद्वादाश्रयणगुणोदितस्तु गौणः।
एकस्मिन्नुभयमिहानयोर्ब्रुवाणे मुख्यत्वं भवति हि तद्‌द्वयप्रयोगात् ।।२०।।

अन्वयार्थ—(यत्) जो (विधिनियमद्वयात् उक्तं) विधि और निषेध इन दो स्वभावोंसे कहा गया है (तत्) वह (मुख्यं) मुख्य है (तु) किन्तु (स्याद्वादाश्रयणगुणोदितः) जो स्याद्वादके आश्रयरूप गुणसे कहा जाता है वह (गौणः) गौण कहलाता है। (इह) इस जगत्‌में (अनयोः) विधि-निषेधमें (उभयं) दोनों को (ब्रुवाणे) कहनेवाले (एकस्मिन्) एक शब्दमें (हि) निश्चयसे (तद्‌द्वय-प्रयोगात्) उन दोनोंका प्रयोग होनेसे दोनों की (मुख्यत्वं) मुख्यता (भवति) होती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने मुख्य और गौण की परिभाषा बतलाते हुए कहा है कि जो विधि और निषेध-दोनों स्वभावोंकी अपेक्षा लेकर कहा जाता है वह मुख्य कहलाता है और गौण शब्द का अर्थ यह है कि जो स्याद्वादके आश्रयरूप गुणसे कहा गया है वह गौण है। आगे विवक्षित और अविवक्षितकी अपेक्षा मुख्य और गौण का कथन करते हैं।।२०।।

मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात् गौणत्वं व्रजति विवक्षितो न यः स्यात्।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो(ते)द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम् ।।२१।।

अन्वयार्थ—(साक्षात्-विवक्षितस्य) वक्ता जिसे साक्षात् कहना चाहता है उसके (मुख्यत्वं) मुख्यपना (भवति) होता है और (यः) जो (विवक्षितो न स्यात्) विवक्षित नहीं होता है वह (गौणत्वं) गौणपने—अमुख्यपने को (व्रजति) प्राप्त होता है। (तत्) इसलिये (इह) इस जगत्‌में (एकस्मिन्) एक धर्मके (विवक्षिते 'सति') विवक्षित होनेपर (द्वितीयः) दूसरा धर्म (गौणत्वं) गौण-पने को (दधत्) धारण करता हुआ (मुख्यसख्यम्) मुख्य की मैत्री को (उपयाति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—वक्ता जिस धर्म को साक्षात् कहना चाहता है वह मुख्य कहलाता है और जिस धर्मको नहीं कहना चाहता है वह गौण या अमुख्य कहलाता है[1]। यहाँ विवक्षा और अविवक्षा की अपेक्षा मुख्य तथा गौण का निरूपण किया गया है। इस मुख्य और गौणके निरूपणमें यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि गौण धर्म मुख्यका बाधक न हो कर उसका साधक ही होता है अर्थात उसके साथ मैत्रीभावको प्राप्त होता है।।२१।।

भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते संघट्टे महति परात्मनोरजस्रम्।
सीमानं विधिनियमावसंस्पृशन्तौ स्यात्काराश्रयणमृते विसंवदाते ।।२२।।

---

१. 'विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते'। —स्वयंभूस्तोत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(भावानां) भावोंके (अनवधिनिर्भरप्रवृत्ते) असंख्यभारसे प्रवृत्त होनेवाले (महति संघट्टे 'सति') बहुत भारी संघट्टके रहते हुए यदि (विधिनियमौ) विधि और निषेध (अजस्रं) निरन्तर (परात्मनोः) पर और अपनी (सीमानं) सीमाका (अस्पृशन्तौ) स्पर्श नहीं करते हैं तो वे (स्यात्काराश्रयणम् ऋते) स्याद्वादके आश्रयके बिना (विसंवदाते) विसंवाद—विरोध करने लगते हैं।

भावार्थ—विधि और निषेध ये दोनों धर्म परस्पर विपरीत स्वभाववाले हैं अतः इनमें विसंवादका अवसर निरन्तर रहता है। इस विसंवादको दूर करनेके लिये आचार्योंने दोनोंकी सीमाएँ निर्धारित करते हुए कहा है कि विधिकी सीमा स्व है और निषेधकी सीमा पर है। इन दोनोंको स्याद्वादकी आज्ञाका पालन करते हुए अपनी अपनी सीमामें स्थिर रहना चाहिये। यदि इस आज्ञाका उल्लंघन किया गया तो भावोंका संघट्ट होकर विसंवाद उत्पन्न हो जावेगा ॥२२॥

धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्रीं साकाङ्क्षा वहति विधिं निषेधवाणी।
स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्यौ वाख्यातो विधिनियमौ निजार्थमित्थम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(असौ) यह (विधिः) अस्तिपक्ष (अधिकं) अधिक रूपसे (निषेधमैत्रीं) निषेधपक्षके साथ मित्रताको (धत्ते) धारण करता है और (साकाङ्क्षा निषेधवाणी) साकांक्षा निषेधवाचक शब्द (विधिं) विधिपक्षको (वहति) धारण करता है। (इत्थं) इस प्रकार (स्यात्काराश्रयणसमर्थितात्मवीर्यौ) स्याद्वादके आश्रयसे अपनी शक्तिको बढ़ानेवाले (विधिनियमौ) विधि और निषेध (निजार्थं) अपने अर्थको (आख्यातः) कहते हैं।

भावार्थ—स्यात् शब्दकी सामर्थ्यसे विधि और निषेध वाचक शब्द परस्पर मैत्रीभावको रखते हुए ही अपने-अपने अर्थका प्रतिपादन करते हैं ॥२३॥

इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं वस्त्वेकं विधिनियमो(भया)भिधेयम्।
स्यात्कारे निहितभरे विवक्षितः सन्नेकोऽपि क्षमत इहाभिधातुमेतत् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(इत्येवं) इस प्रकार (इह) इस जगत्में (स्यात्कारे निहितभरे 'सति') जिसके ऊपर भार निहित है ऐसे स्याद्वादके रहते हुए (स्फुटसदसन्मयस्वभावं) जिसका स्वभाव स्पष्ट ही सत् और असत्से तन्मय हैं तथा (विधिनियमोभयाभिधेयम्) विधि और निषेध दोनों ही जिसके वाच्य हैं ऐसी (एतत्) इस (एकं वस्तु) एक वस्तुको (एकोऽपि) एक सत् शब्द ही (विवक्षितः सन्) विवक्षित होता हुआ (अभिधातुं) कहनेके लिये (क्षमते) समर्थ है।

भावार्थ—संसारका प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् स्वभावसे युक्त है तथा विधि और निषेधरूपसे वाच्य है। उसका कथन करनेके लिये स्यात्कारके आश्रयसे एक 'सत्' शब्द भी समर्थ है। तात्पर्य यह है कि 'स्यात् वस्तु सत्'—'वस्तु कथंचित् सत् है' इस एक शब्दसे ही वस्तुके अस्तिपक्ष के साथ नास्तिपक्षका भी बोध हो जाता है ॥२४॥

स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः क्षेत्राद्यैरपि हि निजेतरैः क्रमोऽयम्।
इत्युच्चैः प्रथममिह प्रताड्य भेरीं निर्बाधं निजविषये चरन्तु शब्दाः ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(स्वद्रव्यात्) स्वद्रव्यकी अपेक्षा (अयं) यह विधि—अस्तिपक्ष है और (अन्यथा) परद्रव्यकी अपेक्षा (निषेधः) नास्तिपक्ष है। (हि) निश्चयसे (निजेतरैः) निज और पर (क्षेत्राद्यैः अपि) क्षेत्र आदिकी अपेक्षा भी (अयं क्रमः) यह क्रम है अर्थात् स्व क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तिपक्ष है और पर क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा नास्तिपक्ष है। (इति) इस प्रकार (इह) इस जगत्में (प्रथमं) पहले (उच्चैः) जोरसे (भेरीं प्रताड्य) डंका पीट कर (शब्दाः) शब्द (निजविषये) अपने विषयमें (निर्बाधं) निर्बाधरूपसे (चरन्तु) विचरण करें।

भावार्थ—'स्वचतुष्टयकी अपेक्षा विधिपक्ष है और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिपक्ष है' इतना स्पष्ट कर देनेपर परस्पर विरोधी शब्दोंका विरोध दूर हो जाता है और पदार्थमें परस्पर विरोधी धर्मोंकी सिद्धि हो जाती है ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

¹मत्तमयूरं छन्दः

आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मकदुर्गाद्भुततत्त्वं कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम् ।
मोहध्वान्तं ध्वंसयदत्यन्तमनन्तं पश्याम्येतन्निर्दयमन्तः प्रविदार्य ॥१॥

अन्वयार्थ—मैं (अन्तः) अन्तरङ्गमें विद्यमान (एतत्) इस (अनन्तं) बहुतभारी (मोहध्वान्तं) मोहरूपी तिमिरको (निर्दयं 'यथा स्यात्तथा') निर्दयता पूर्वक (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (प्रविदार्य) चीर कर—नष्ट कर (द्वयात्मकदुर्गाद्भुततत्वं) जिसका यथार्थरूप द्वयात्मक—विधि-निषेधात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग—गढ़से आश्चर्य कारक है (कर्मज्ञानोत्तेजितयोगागमसिद्धम्) जो कर्म—कर्मनय और ज्ञान—ज्ञाननयसे उत्तेजित योगागम शुक्लध्यानकी प्राप्तिसे सिद्ध है तथा (अनन्तं) अन्तसे रहित है ऐसी (आद्यं ज्योतिः) केवलज्ञानरूप प्रथम ज्योतिका (पश्यामि) अवलोकन कर रहा हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं उस केवलज्ञानरूपी ज्योतिका अवलोकन कर रहा हूँ जिसका यथार्थरूप विधि-निषेधात्मक—सामान्य-विशेषात्मक दुर्ग—गढ़से अद्भुत है अर्थात् जो पदार्थके उपर्युक्त द्विविधरूपको जानता है, जिसकी सिद्धि कर्मनय—क्रियारूप चारित्रका पालन तथा ज्ञाननय—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञाननय—निश्चयदृष्टिसे वृद्धिको प्राप्त होनेवाले शुक्लध्यानकी प्राप्तिसे होती है तथा जो होकर फिर कभी नष्ट न होनेसे अनन्त है। यह केवलज्ञानरूपी ज्योति, अन्तरङ्गमें विद्यमान मोहरूपी गाढ़ तिमिरका निर्दयतापूर्वक अत्यन्त- सर्वथा क्षय करनेसे ही प्रकट होती है इसलिये उसके क्षय करनेकी बात कही गई है। केवलज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम भी आगममें यही बताया गया है—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'—मोहकर्मका क्षय और उसके अनन्तर ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तरायकर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यानके प्रभावसे दशम—सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहकर्मका सर्वथा क्षय होता है और उसके अन्तर्मुहूर्तके बाद 'एकत्ववितर्क-वीचार' नामक द्वितीय शुक्लध्यानके प्रभावसे बारहवें—क्षीणमोह नामक गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणादि शेष तीन घातिया कर्मोंका क्षय होनेपर केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान की विशेषता यह है कि वह विधि निषेधात्मक अथवा सामान्य विशेषात्मक उभय धर्मोंसे युक्त पदार्थोंको जानता है और स्वयं भी उभयधर्मात्मक है। सर्वोत्कृष्ट होनेसे इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिको आद्य ज्योति कहा जाता है ॥१॥

---

१. 'वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्'—इति वृत्तरत्नकरे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एको भावस्तावक एष प्रतिभाति व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्न्येकनिषन्नः (ण्णः) ।
यो नानेकव्यक्तिषु निष्णातमतिः स्यादेको भावस्तस्य तवैषो[1] विषयः स्यात् ॥२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तावकः) आपका (एषः) यह (एको भावः) एक भाव (व्यक्तानेकव्यक्तिमहिम्नि) प्रकट हुई अनेक पर्यायोंकी महिमामें (एकनिषण्णः) एक पर निर्भर अर्थात् सामान्यग्राही होनेसे अनेकोंमें एकत्वको स्थापित करनेवाला (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है (यो वा) जो पुरुष (अनेकव्यक्तिषु) अनेक पदार्थोंमें (निष्णातमतिः स्यात्) निपुणमति है—पदार्थोंके अनेकत्वको स्वीकृत करता है (तस्य एको भावः स्यात्) उसीके एक भाव है—एकत्वका अनेकत्वके साथ अविनाभाव स्वीकृत है और (एषः) यही एनेकात्मक भाव (तव विषयः स्यात्) आपका ज्ञेय है ।

भावार्थ—यहाँ एक और इन दो विरोधी धर्मोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे भगवन् ! आपका यह एक भाव अनेक पदार्थोंमें व्यापक रहनेसे उनके साथ अविनाभावी है और अनेक एकके साथ अविनाभावी है । यह एकानेकात्मक भाव आपका ज्ञेय है—आपके ज्ञानका विषय है । तात्पर्य यह है कि यह एकत्व और अनेकत्वभाव परस्पर सापेक्ष है, अतः पदार्थके एकत्वको वही ग्रहण कर सकता है जो अनेकत्वको भी ग्रहण करनेमें कुशल है और अनेकत्वको भी वही ग्रहण कर सकता है जो एकत्वके ग्रहण करनेमें निपुण है ॥२॥

नो सामान्यं भाति विनैवात्मविशेषैर्निःसामान्याः सन्ति कदाचिन्न विशेषाः ।
यत् सामान्यं भाति त एवात्र विशेषास्त्वं वस्तु स्याः स्वीकृतसामान्यविशेषः ॥३॥

अन्वयार्थ—(आत्मविशेषैः विना) अपने विशेष रूपोंके बिना (सामान्यं नो भाति) सामान्य नहीं होता है और (निःसामान्याः) सामान्यके बिना (विशेषाः) विशेष (कदाचित्) कभी भी (न सन्ति) नहीं होते हैं (अत्र) इस जगत्में (यत् सामान्यं) जो सामान्य है (ते एव विशेषाः) वे ही विशेष हैं अर्थात् सामान्य और विशेष पदार्थ पृथक्-पृथक् नहीं हैं । हे भगवन् ! (त्वं) आप (स्वीकृत सामान्यविशेषः) सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकृत करनेवाले हैं, अतः (वस्तु स्याः) यथार्थ वस्तु स्वरूप हैं ।

भावार्थ—पदार्थमें रहनेवाले सामान्य और विशेष धर्म परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि विशेषके विना सामान्य नहीं होता और सामान्यके बिना विशेष नहीं होते । अतः जो सामान्य है वही विशेष है और जो विशेष हैं वही सामान्य है । द्रव्यके बिना पर्याय नहीं होती और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं रहता । द्रव्यको सामान्य और पर्यायको विशेष कहते हैं । इस प्रकार संसारका प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक है । विवक्षावश जब द्रव्यको प्रधानता दी जाती है तब पदार्थ सामान्य या एक अनुभवमें आता है और जब पर्यायको प्रधानता दी जाती है तब विशेष या अनेक अनुभवमें आता है । जिनेन्द्र भगवान् सामान्य और विशेषके एकान्तसे रहित हैं, अतः वे स्वयं वस्तुस्वरूप हैं ॥३॥

---

१. 'एषो विषयः' यहाँ सु का लोप आचार्य वैकल्पिक मानते हैं ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि 'एष प्रतिभाति' यहाँ लोप किया है । ऐसा ही एक प्रयोग पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी पाया जाता है जैसे—'नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' ॥११७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्येणैको नित्यमपीशासि समन्ताद् देवानेकः स्फूर्जसि पर्यायभरेण ।
एकानेको वस्तुत एष प्रतिभासित्वं पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (द्रव्येण) द्रव्यकी अपेक्षा आप (नित्यमपि) सदा ही (समन्तात्) सब ओरसे (एकः असि) एक हैं और (देव) हे देव ! (पर्यायभरेण) पर्याय समूहकी अपेक्षा आप (अनेकः स्फूर्जसि) अनेक प्रतिभासित होते हैं। (वस्तुतः) परमार्थसे (एष त्वं) यह आप (पर्यायद्रव्यसमाहारमयात्मा) द्रव्य और पर्यायके समूहसे तन्मय हैं अतः (एकानेक प्रतिभासि) एक अनेक प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—'द्रव्यमेकं पर्यायास्त्वनन्ताः' इस सिद्धान्तके अनुसार द्रव्य एक और पर्याय अनेक है। हे नाथ ! जब द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते हैं तब आप एक मालूम होते हैं और जब भूत-भविष्यत्कालकी अनन्त पर्यायोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब अनेक प्रतीत होते हैं। यतः आप द्रव्य और पर्यायोंके समूहरूप हैं अतः आप एकानेकः हैं अर्थात् कथंचित् एक हैं और कथंचित् अनेक हैं ॥४॥

दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन विनैको यश्चानेकः सोऽपि विनैकेन न सिद्धः ।
सर्वं वस्तु स्यात् समुदायेन सदैकं देवानेकं स्वावयवैर्भाति तदेव ॥५॥

अन्वयार्थ—(कश्चित् एकः) कोई एक (अनेकेन) अनेकके बिना (कस्मिन्) कहाँ (दृष्टः) देखा गया है ? अर्थात् कहीं नहीं। (यश्च अनेकः) और जो अनेक है (सोऽपि) वह भी (एकेन विना) एकके बिना (न सिद्धः) सिद्ध नहीं है। (समुदायेन) समुदायकी अपेक्षा (सर्वं वस्तु) सभी पदार्थ (सदा) सदा (एकं स्यात्) एक हैं और (देव) हे देव ! (तदेव) वही एक पदार्थ (स्वावयवैः) अपने अवयवोंकी अपेक्षा (अनेकं भाति) अनेक मालूम होता है।

भावार्थ—संसारमें कहीं कोई एक ऐसा नहीं देखा गया है जो अनेकके बिना हो और ऐसा एक भी नहीं देखा गया है जो अनेकके बिना हो। तात्पर्य यह है कि संसारके समस्त पदार्थ एक और अनेकात्मक हैं। यह एक और अनेकपना जिस प्रकार द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा बनता है उसी प्रकार अवयवी और अवयवकी अपेक्षा भी बनता है। अवयवीके अपेक्षा पदार्थ एक है और अवयवोंकी अपेक्षा अनेक है। जैसे शाखा प्रशाखा पत्ते फल तथा पुष्पोंके समूहकी अपेक्षा वृक्ष एक है परन्तु अपने उपर्युक्त अवयवोंकी अपेक्षा अनेक है ॥५॥

एकानेकौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने ।
एकं द्रव्यं नूनमनेके व्यतिरेका एकानेको न्यायत एवास्युभयात्मा ॥६॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्परमें विरुद्ध हैं और (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमें रहते हैं (तौ) वे (एकानेकौ द्वौ) एक और अनेक नामक धर्म (त्वयि) आपमें (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं क्योंकि (नूनं) निश्चयसे (द्रव्यम् एकम्) द्रव्य एक है और (व्यतिरेकाः) पर्याय (अनेके) अनेक हैं ('त्वम्' उभयात्मा असि) आप उभयरूप हैं—द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः (न्यायत एव) न्यायसे ही (एकानेकः) एकानेक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—एक और अनेक ये दोनों धर्म पूर्व और पश्चिमकी तरह परस्पर विरोधी है तथा भिन्न-भिन्न मार्गमें स्थित हैं परन्तु आपमें एक साथ संगत होकर रहते हैं उसका कारण यह है कि एकत्व धर्म तो द्रव्यसे सम्बन्ध रखता है और अनेकत्व धर्म पर्याय से। द्रव्य एक है और पर्याय अनेक हैं और यतः आप द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः एकानेकात्मक हैं अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षा एक हैं और पर्यायकी अपेक्षा अनेक हैं ॥६॥

यत् तद्द्रव्यं रक्षति नित्यत्वमनन्तं पर्याया ये ते रचयन्ति क्षणभङ्गम्।
नित्यानित्यं वस्तु तवोदेति समन्तान्नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात् ॥७॥

अन्वयार्थ—(यत् द्रव्यं तत्) जो द्रव्य है वह (अनन्तं) कभी नष्ट न होनेवाले (नित्यत्वं) नित्यत्व धर्मको (रक्षति) रखता है और (ये पर्यायाः) जो पर्याय हैं (ते) वे (क्षणभङ्गम्) क्षण-क्षणमें नश्वरता—अनित्यवत्व धर्मको (रचयन्ति) रचती हैं। इसीलिये (तव) आपके मतमें (समन्तात्) सब ओरसे (नित्यानित्यद्रव्यविशेषैकमयत्वात्) नित्य द्रव्य और अनित्य विशेष-पर्यायसे एकरूप होनेके कारण (वस्तु) पदार्थ (नित्यानित्यं) नित्यानित्य (उदेति) सिद्ध होता है।

भावार्थ—यहाँ नित्य और अनित्य इन दो विरोधी धर्मोंकी संगति सिद्ध करते हुए आचार्यने कहा है कि भगवन्! आपके मनमें वस्तु नित्यानित्यात्मक है क्योंकि वह वस्तु, द्रव्य और पर्यायसे तन्मय है तथा द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य हैं ॥७॥

नित्यं किं हि स्यात् क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं नित्यादन्यः स्यात्क्षणभङ्गी कतरोऽत्र।
नित्यावृत्तिः स्यान्न विनांशैः क्षणिकैः स्वैर्नित्यावृत्तिं स्युर्न विनांशाः क्षणिकास्ते ॥८॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (नित्यं) नित्य रहनेवाला द्रव्य (किं) क्या (क्षणभङ्गिव्यतिरिक्तं) अनित्य पर्यायसे पृथक् (स्यात्) है? अर्थात् नहीं है और (क्षणभङ्गी) क्षण-क्षणमें नष्ट होने वाला (कतरः) कौनसा पर्याय (नित्यात्) नित्य-द्रव्यसे (अन्यः) पृथक् है? अर्थात् कोई नहीं है। (अत्र) इस जगत्में (निल्यावृत्तिः) नित्य रहनेवाला द्रव्य (क्षणिकैः स्वैः अंशैः विना) क्षण-क्षणमें नष्ट होने-वाले पर्यायरूप अपने अंशोंके बिना (न स्यात्) नहीं हो सकता और (क्षणिकाः ते अंशाः) क्षण-क्षणमें नष्ट होने वाले वे अंश (नित्यावृत्तिं विना) द्रव्यके विना (न स्युः) नहीं हो सकते।

भावार्थ—यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, पर्यायसे और पर्याय, द्रव्यसे पृथक् नहीं है। जब दोनों पृथक् नहीं हैं तब द्रव्यकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व धर्म, एक साथ एक ही वस्तुमें सिद्ध होते हैं ॥८॥

नित्यानित्यौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने नित्यम्।
द्रव्यं नित्यमनित्या व्यतिरेका नित्यानित्यौ(त्यो)न्यायत एवास्युभयात्मा ॥९॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) परस्पर विरोधी तथा (नित्यं) निरन्तर (भिन्ने पथि) भिन्न मार्गमें (वृत्तौ) प्रवृत्त होनेवाले (नित्यानित्यौ द्वौ) नित्य और अनित्य ये दो धर्म (त्वयि) आपमें (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं, क्योंकि (द्रव्यं) द्रव्य (नित्यं) नित्य है और (व्यतिरेकाः) पर्याय (अनित्याः) अनित्य हैं। आप (उभयात्मा असि) द्रव्य और पर्याय रूप हैं अतः (न्यायत एव) न्यायसे ही (नित्यानित्यः) नित्यानित्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—ऊपर जिस प्रकार द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा आपमें एकानेकत्व धर्म सिद्ध किया गया है उसी प्रकार यहाँ द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध किया गया है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है और आप द्रव्यपर्यायात्मक हैं अतः आपमें एक साथ नित्यानित्यत्व धर्म सिद्ध है ॥९॥

स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि भावस्त्वमिहान्यद्रव्याद्यैस्तु व्यक्तमभावः प्रतिभासि।
भावाभावो वस्तुतयासीश समन्ताद् भावाभावावैक्यमुपानीय कृतो यत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (इह) इस जगत्में (त्वम्) आप (स्वद्रव्याद्यैः) स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भावसे (भावः) भावरूप-अस्तिरूप (स्फूर्जसि) प्रतीत होते हैं (तु) और (अन्यद्रव्याद्यैः) अन्य पदार्थके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा (व्यक्तं) स्पष्ट ही (अभावः) अभावरूप—नास्तिरूप (प्रतिभासि) मालूम होते हैं (यत्) जिस कारण आपने (समन्तात्) सब ओरसे (भावाभावौ) भाव और अभावको (ऐक्यमुपानीय कृतः) एकरूपता प्राप्त करायी है अतः आप (वस्तुतया) परमार्थसे वस्तुस्वभावके कारण (भावाभावः असि) भावाभावरूप हैं।

भावार्थ—यहाँ जिनेन्द्र देवमें आचार्यने भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मोंकी संगति सिद्ध करते हुये कहा है कि आप स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावको अपेक्षा भावरूप हैं और परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अभावरूप हैं, अतः आप परमार्थसे भावाभावरूप हैं ॥१०॥

भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र विधेयोभावो वा स्यात्कीदृग भावेन विनासौ।
तौ वस्त्वंशौ द्वौ स्वपराभ्यां समकालं पूर्णं शून्यं वस्तु किलाश्रित्य विभातः ॥११॥

अन्वयार्थ—(अत्र) इस जगत्में (भावात् भिन्नः) भावसे भिन्न (अभावः) अभाव (कीदृग् विधेयः) कैसे किया जा सकता है ? (वा) अथवा (अभावेन बिना) अभावके विना (असौ भावः) यह भाव (कीदृग् विधेयः) कैसा किया जा सकने योग्य (स्यात्) है ? (तौ द्वौ) वे दोनों भाव और अभाव (वस्त्वंशौ) वस्तुके अंश हैं तथा (स्वपराभ्यां) निज और पर चतुष्टयकी अपेक्षा (समकालं) एक ही साथ (पूर्णं) पूर्ण और (शून्यं) शून्यरूप (वस्तु) वस्तुका (किल) निश्चयसे (आश्रित्य) आश्रयकर (विभातः) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनों वस्तुके अंश हैं तथा परस्पर सापेक्ष हैं। भावसे भिन्न-पृथक् अभाव और अभावसे भिन्न भाव नहीं होता है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप है। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु पूर्ण कहलाती है परचतुष्टयकी अपेक्षा शून्य कही जाती है इस प्रकार पूर्ण और शून्य वस्तुका आश्रय लेकर वे भाव और अभाव धर्म एक ही साथ सुशोभित होते हैं ॥११॥

भावाभावौ द्वौ सममन्योन्यविरुद्धौ सङ्गच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
भावः स्वांशाद् व्यक्तमभावस्तु परांशाद् भावाभावो न्यायत एवास्युभयात्मा ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्पर विरुद्ध हैं तथा (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमें स्थित हैं (तौ) वे (भावाभावौ द्वौ) भाव और अभावरूप दोनों धर्म (त्वयि) आपमें (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं (व्यक्तं) स्पष्ट ही (भावः) भाव (स्वांशात्) स्व अंश—निजचतुष्टयकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा है (तु) और (अभावः) अभाव (परांशात्) पर अंशकी अपेक्षा है। यतश्च आप (उभयात्मा) दोनोंरूप हैं अतः (न्यायतः) न्यायसे (भावाभावः) भावाभावरूप (एव) ही (असि) हैं।

भावार्थ—भाव और अभाव धर्म यद्यपि परस्पर विरुद्ध हैं और भिन्न मार्गमें स्थित हैं तथापि स्वांश और परांशकी अपेक्षा आपमें एक साथ सिद्ध होते हैं। उन दोनों धर्मोंकी अपेक्षा आप भावाभावरूप हैं ॥१२॥

सर्वं वाच्यं द्वयात्मकमेतत्क्रमतः स्याद्देवावाच्यं तद्युगपद् वक्तुमशक्तेः।
तौ पर्यायौ द्वौ सह बिभ्रद् भगवंस्त्वं वाच्यावाच्यं वस्त्वसि किञ्चिज्जगतीरं(ह) ॥१३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे स्वामिन्! (द्वयात्मकं) द्विविध रूपको धारण करनेवाली (एतत्) यह (सर्वं) समस्त वस्तु (क्रमतः) क्रमसे (वाच्यं स्यात्) वाच्य है और (तद्) वही वस्तु (युगपत्) एक साथ (वक्तुमशक्तेः) कहनेकी असमर्थता होनेसे (अवाच्यं) अवाच्य है (भगवन्) हे भगवन्! (तौ द्वौ पर्यायौ) उन दोनों वाच्य-अवाच्य धर्मोंको (सह) एक साथ (बिभ्रद्) धारण करते हुये (त्वम्) आप (इह जगति) इस संसारमें (किञ्चित्) कोई-विलक्षण (वाच्यावाच्यं) वाच्य और अवाच्यरूप (वस्तु असि) वस्तु हैं।

भावार्थ—यहाँ वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मका समन्वय करते हुये कहा गया है कि विधि निषेध, एक अनेक, नित्य अनित्य और भाव अभाव आदि द्विविध रूपको धारण करने वाली वस्तु क्रमसे वाच्य है परन्तु एक साथ दोनों विरोधी धर्म नहीं कहे जा सकते, इसलिए अवाच्य है। यह वाच्य और अवाच्य दोनों पर्याय हैं। इन दोनोंको एक साथ धारण करते हुए आप वाच्यावाच्य—वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मरूप कोई अद्भुत वस्तु हैं ॥१३॥

वाच्यादन्यत् किञ्चिदवाच्यं न हि दृष्टं वाच्यं चैतन्नेष्टमवाच्यव्यतिरिक्तम्।
वागाश्रित्य स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती वस्तु द्वयात्मकं हि गृणीयान्न गृणीयात् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (किञ्चित्) कोई भी (अवाच्यं) अवाच्य (वाच्यात् अन्यत्) वाच्यसे पृथक् (न दृष्टं) नहीं देखा गया है (च) और (एतत् वाच्यं) यह वाच्य (अवाच्यव्यतिरिक्तं) अवाच्यसे भिन्न (न इष्टम्) इष्ट नहीं है—माना नहीं गया है। (वाक्) वचन, (स्वक्रमवृत्त्यक्रमवृत्ती) अपनी क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्तिका आश्रय लेकर (हि) निश्चयसे (द्वयात्मकं वस्तु) दो रूप वस्तुको (गृणीयात्) निगीर्ण करता है और (न गृणीयात्) निगीर्ण नहीं करता है अर्थात् क्रमवृत्ति का आश्रय लेनेपर वचन द्वयात्मक वस्तुको कहता है और अक्रमवृत्तिका आश्रय लेने पर नहीं कहता है।

भावार्थ—वस्तुमें अवक्तव्य और वक्तव्य ये दो धर्म हैं। ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष हैं क्योंकि वाच्यसे भिन्न अवाच्य और अवाच्यसे भिन्न वाच्य देखनेमें नहीं आता। जब वचन, किन्हीं दो विरोधी धर्मोंका क्रमसे वर्णन करता है तब वस्तु वक्तव्य होती है और जब एक साथ वर्णन करना चाहता है तब दोनों धर्मोंका वर्णन एक साथ न कर सकनेके कारण अवक्तव्य होती है ॥१४॥

वाच्यावाच्यौ द्वौ समसमन्योऽन्यविरुद्धौ संगच्छाते तौ त्वयि वृत्तौ पथि भिन्ने।
वाच्यौ व्यस्तौ व्यक्तमवाच्यस्तु समस्तो वाच्यावाच्यो न्यायत एवास्युभयात्मा ॥१५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अन्योन्यविरुद्धौ) जो परस्पर विरुद्ध हैं और (भिन्ने पथि वृत्तौ) भिन्न मार्गमें स्थित हैं (तौ) वे (वाच्यावाच्यौ) वाच्य और अवाच्य—वक्तव्य और अवक्तव्य दो विरोधी धर्म (त्वयि) आपमें (समं) एक साथ (संगच्छाते) संगत होते हैं। (व्यस्तौ) पृथक्-पृथक् रहते हुये स्पष्ट ही (वाच्यौ) वाच्य हैं (तु) और (समस्तः अवाच्यः) समस्त-मिले हुये (अवाच्यः) अवाच्य हैं। यतः आप (उभयात्मा) उभयरूप हैं अतः (न्यायत एव) न्यायसे ही (वाच्यावाच्यः असि) वाच्य अवाच्य-रूप हैं।

भावार्थ—यद्यपि वाच्य और अवाच्य धर्म परस्पर विरोधी हैं और विरुद्ध मार्गमें स्थित हैं तथापि हे भगवन् ! आपमें दोनों धर्म एक साथ संगत हैं—अतः न्यायसे आप उभयात्मा हैं—वाच्या-वाच्य अथवा वक्तव्य और अवक्तव्य धर्मसे सहित हैं ॥१५॥

सोऽयं भावः कर्म यदेतत् परमार्थाद्धत्ते योगं यद्भवनेन क्रियमाणम् ।
शुद्धो भावः कारकचक्रे तव लीनः शुद्धे भावे कारकचक्रं च निगूढम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यदेतत् कर्म) जो यह कर्म है (सोऽयं भावः) वही क्रिया है क्योंकि (यत् क्रियमाणं) जो किया जा रहा कर्म है वह (परमार्थात्) वास्तवमें (भवनेन) क्रियाके साथ (योगं धत्ते) योग—सम्बन्धको धारण करता है (तव) आपका (शुद्धो भावः) शुद्ध भाव (कारकचक्रे) कारकसमूहमें (लीनः) लीन है (च) और (कारकचक्रं) कारक समूह (शुद्धे भावे) शुद्ध भावमें (निगूढं) निगूढ़ है।

भावार्थ—यहाँ कर्म और क्रियाका अभेद वर्णन करते हुये कहा गया है कि जो कर्म है वह भाव—क्रियाके साथ सम्बन्धको धारण करता है। परमार्थसे शुद्ध भाव—क्रिया कारक समूहमें लीन है और कारक समूह शुद्ध भावमें लीन है ॥१६॥

जातं जातं कारणभावेन गृहीत्वा जन्यं जन्यं कार्यतया स्वं परिणामम् ।
सर्वेऽपि त्वं कारणमेवास्यसि कार्यं शुद्धो भावः कारणकार्याविषयोऽपि ॥१७॥

अन्वयार्थ—(कार्यतया) कार्यरूपसे (जातं) उत्पन्न हुआ (जन्यं जन्यं) उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक पदार्थ (कारणभावेन) कारणरूपसे (स्वं परिणामं) अपने ही परिणामको (गृहीत्वा) ग्रहण कर (जातं) उत्पन्न हुआ है अतः (त्वं) आप (सर्वोऽपि) सम्पूर्णरूपसे (कारणमेव असि) कारण ही हैं और (कार्यम् एव असि) कार्य ही हैं जब कि (शुद्धो भावः) शुद्ध भाव (कारणकार्याविषयोऽपि) कारण और कार्यका विषय नहीं हैं।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पन्न होता है और न कोई विनशता है इसलिये उसमें कारण—कार्यभावकी चर्चा नहीं है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि शुद्ध भाव कारण कार्यका विषय नहीं है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे पदार्थ उत्पन्न होता है और विनशता है अतः उसमें कारण—कार्यभावकी चर्चा आती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है और उसमें जो निमित्त पड़ता है वह कारण कहलाता है। यहाँ कारणके लिये उपादानकी दृष्टिसे कर्ता भी कहा जाता है। परमार्थसे जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है और जो परिणमन है वह कर्म कहलाता है 'यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म' ऐसा समयसार कलश में भी कहा है। उत्पन्न होनेवाला प्रत्येक कार्य अपने परिणमनको ही कारणरूपसे स्वीकृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता है अन्य पदार्थको नहीं। जैसे मिट्टीसे घट बनता है। यहाँ घट कार्य है और मिट्टी उसका कारण अथवा कर्ता है। अध्यात्मकी दृष्टिमें कर्तृकर्म अथवा कारण कार्यभाव एक ही द्रव्यमें बनता है दो द्रव्योंमें नहीं। दो द्रव्योंमें निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है इसलिये जो द्रव्य कार्य है वही द्रव्य उसका कारण होता है मात्र पूर्व और उत्तर क्षणकी अपेक्षा उसमें कारण और कार्यका भेद होता है। पूर्वक्षणवर्ती पर्याय कारण है और उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है। जब इस प्रकार की तत्त्वव्यवस्था है तब हे भगवन्! आप ही संपूर्ण रूपसे कारण हैं और आप ही संपूर्णरूपसे कार्य हैं। संपूर्णरूपसे कहनेका तात्पर्य यह है कि आपकी आत्माके जितने असंख्य प्रदेश हैं वे पूर्वक्षणमें सबके सब कारण थे और उत्तर क्षणमें सबके सब कार्य हुए हैं। ऐसा नहीं है कि कुछ प्रदेश कारण रहे हों और कुछ प्रदेश कार्य हो गये हों[1] ।१७।।

वल्गन्त्वन्ये ज्ञाननिमित्तत्वमुपेता बाह्यो हेतुर्हेतुरिहान्तर्न किल स्यात्।
स्वस्माद्देवोज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषाज्जातो विश्वव्यापकविज्ञानघनस्त्वम् ।।१८।।

अन्वयार्थ—(ज्ञाननिमित्तत्वम् उपेताः) ज्ञानके निमित्तपनेको प्राप्त हुए (अन्ये) अन्य पदार्थ भले ही (वलगन्तु) गतिशील रहें परन्तु (किल) परमार्थरूपसे (इह) कार्योत्पत्तिमें (बाह्यो हेतुः) बाह्य कारण (अन्तः हेतुः) अन्तरङ्ग कारण (न स्यात्) नहीं होता है। (देव) हे भगवन्! (त्वम्) आप (स्वस्मात्) अपने (उज्जृम्भितचिद्वीर्यविशेषात्) वृद्धिको प्राप्त हुए ज्ञान और बलके विशेषसे (विश्वव्यापकविज्ञानघनः) विश्वव्यापक अर्थात् लोकालोकको जाननेवाले केवलज्ञानसे सान्द्र (जातः) हुए हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जो लोकालोकावभासी केवलज्ञानसे सान्द्ररूपताको प्राप्त हुए हैं इसमें अन्तरङ्ग कारण आप ही हैं। आप ही के ज्ञान और वीर्यगुणमें जो विशिष्ट परिणमन हुआ है उसीसे यह अवस्था प्रकट हुई है। यद्यपि बाह्य कारण अनेक होते हैं सो रहें उनका निषेध नहीं है परन्तु परमार्थसे कारण कार्यकी चर्चामें बाह्य कारणको कारण न मानकर अन्तरङ्ग कारण को कारण स्वीकृत किया गया है।।१८।।

अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत् स्थितिरेषा यः कर्ता त्वं कर्म तदेवास्याविशेषात्।
देवाकार्षीस्त्वं किल विज्ञानघनं यः सोऽयं साक्षात् त्वं खलु विज्ञानघनोऽसि ।।१९।।

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (कर्ता) कर्ता (अन्यः) अन्य है और (कर्म) कर्म (अन्यत्) अन्य है (एषा स्थितिः) यह स्थिति है—व्यवहारनयकी यह मान्यता है परन्तु (यः त्वं कर्ता) जो आप कर्ता हैं (अविशेषात्) सामान्यकी अपेक्षा (तदेव कर्म असि) वही आप कर्म हैं (देव) हे नाथ! (यः त्वं किल) जिन आपने (विज्ञानघनं) विज्ञान घनको (अकार्षीः) किया था (सोऽयं त्वं) वही तुम (खलु) निश्चयसे (साक्षात्) साक्षात् (विज्ञानघनः असि) विज्ञानघन हैं।

भावार्थ—व्यवहारनयके आश्रयसे कहा जाता है कि कर्ता अन्य होता है और कर्म अन्य होता है परन्तु निश्चयनयकी मान्यता है कि जो कर्ता होता है वही कर्म होता है क्योंकि परमार्थ से कर्ता क्रिया और कर्म ये तीनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आप ही कर्ता हैं और

1. विशेष ज्ञानके लिये समयसारका कर्तृकर्माधिकार द्रष्टव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप ही कर्म हैं। जैसे आपने विज्ञानघन स्वभावको किया। यहाँ आप कर्ता हैं और विज्ञानघन स्वभाव कर्म है परन्तु विज्ञानघन स्वभाव आपसे भिन्न नहीं है अतः आप ही कर्ता हैं और आप ही कर्म हैं। निश्चयनय कर्तृकर्मभावको एक ही द्रव्यमें स्वीकृत करता है क्योंकि व्याप्य-व्यापकभाव एक ही द्रव्यमें बनता है और व्यायप्व्यापकभाव ही कर्तृकर्मभावका आधार है ॥१९॥

विष्वग्व्याप्यः सत्यविशेषे स्वगुणानां देवाधारस्त्वं स्वयमाधेयभरोऽपि।
एकाधाराधेयतयैव ज्वलितात्मा तेनैवोच्चैर्वल्गसि विज्ञानघनोऽयम् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (अविशेषे सति) समानताके रहते हुए (त्वं) आप (विश्वग् व्याप्यः) सब ओर व्याप्त होकर रहने योग्य (स्वगुणानां) अपने गुणोंके (आँधारः) आधार हैं और (स्वयं) स्वयं (आधेयभरोऽपि) आधेयके समूह भी हैं। यतश्च आप (एकाधाराधेयतया) एक आधाराधेयभावसे (ज्वलितात्मा) प्रकाशित आत्मावाले हैं (तेनैव) उसी कारण (अयं त्वम्) यह आप (उच्चैः) उच्चरूपसे (विज्ञानघनः) विज्ञानघन होते हुए (वल्गसि) प्रवर्तमान हैं।

भावार्थ—व्यवहारनय दो भिन्न पदार्थोंमें आधार-आधेयभावको स्वीकृत करता है, परन्तु निश्चयनय एक ही पदार्थमें आधारआधेयभावको स्वीकृत करता है। इस स्थितिके अनुसार निश्चयनयसे आप ही अपने गुणोंके आधार हैं और आप ही आधेय हैं। आधार होनेसे आप ही व्यापक हैं और आधेय होनेसे आप ही व्याप्य हैं। गुण और गुणीमें प्रदेशभेद न होनेसे निश्चयनय अभेदको स्वीकृत करता है। विज्ञानघनस्वभाव आपका आधेय है और आप ही उसके आधार हैं क्योंकि आपमें और विज्ञानघनस्वभावमें प्रदेशभेद न होनेसे पृथक् भाव नहीं है ॥२०॥

आत्मा माता मेयमिदं विश्वमशेषं सम्बन्धेऽस्मिन् सत्यपि नान्योन्यगतौ तौ।
प्रत्यासत्तिः कारणमैक्यस्य न सा स्यादर्थो वाच्यं वक्त्रभिधानं च विभिन्ने ॥२१॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (माता) ज्ञाता है और (इदं अशेषं विश्वं) यह समस्त विश्व (मेयम्) ज्ञेय है (अस्मिन् सम्बन्धे सत्यपि) इस माता-मेय अथवा ज्ञानज्ञेय सम्बन्धके रहनेपर भी (तौ) वे दोनों (अन्योन्यगतौ न) परस्पर एक दूसरेमें गत नहीं हैं। (ऐक्यस्य) एकताका कारण (प्रत्यासत्तिः) अत्यन्त निकटता है परन्तु (सा न स्यात्) वह प्रत्यासत्ति नहीं है क्योंकि (वाच्यं अर्थः) वाच्यरूप अर्थ (च) और (वक्त्रभिधानं) वक्ताका वचन दोनों (विभिन्ने) पृथक्-पृथक् हैं।

भावार्थ—जो पदार्थ को जानता है उसे माता और जो जाना जाता है उसे मेय कहते हैं। आत्मा माता है और समस्त विश्व मेय है। यद्यपि आत्मा और विश्वमें माता और मेय का सम्बन्ध है तथापि वे दोनों एक दूसरेमें अनुप्रविष्ट नहीं है। पृथक्-पृथक् हैं। दोनों की एकता का कारण प्रत्यासत्ति हो सकती है परन्तु वह नहीं हैं। यह बहिर्ज्ञेय की अपेक्षा कथन है। अन्तर्ज्ञेय की अपेक्षा दोनोंमें अभेद माना जाता है जैसे वाच्य पदार्थ है और वाचक वक्ता का शब्द है इस तरह दोनोंमें भेद है फिर भी दोनोंमें वाचकवाच्य सम्बन्ध माना जाता है। वैसे ही माता और मेयमें भेद होने पर भी परस्परमें मातामेय सम्बन्ध माना गया है ॥२१॥

यः प्रागासीर्नास्त्यर्यदपेक्षः खलु सिद्धः प्रत्युत्पन्नः सम्प्रति सिद्धोऽसि स एव।
प्रत्युत्पन्नायतो[ते]वरक्तिरिहासीद् [या]भूतापेक्षा सम्प्रति[ते]सा किल रक्तिः ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (यः) जो आप (वर्त्स्यदपेक्षः) भविष्यत् की अपेक्षा (प्राक्) पहले (सिद्धः आसीः) सिद्ध थे (स एव) वही आप (सम्प्रति) अब (प्रत्युत्पन्नः सिद्धः असि) वर्तमान सिद्ध हैं। (इह) इस जगत्में (ते) आपकी (या) जो (अवरक्तिः) विरक्त दशा (प्रत्युत्पन्नायते) वर्तमानके समान मालूम होती है (किल) वास्तवमें (सा) वह (भूतापेक्षा) भूतकाल की अपेक्षा (रक्तिः) सरागावस्था (आसीत्) थी।

भावार्थ—हे भगवन्! जो आप पहले भविष्यत् की अपेक्षा सिद्ध कहे जाते थे वही अब वर्तमान सिद्ध कहलाते हैं। इस कालकी अपेक्षा पर्यायभेद होनेपर भी द्रव्यकी अपेक्षा दोनों पर्यायोंमें एकत्व स्थापित किया गया है। इसी प्रकार वर्तमान की अपेक्षा जो विरक्त दशा है वह भूत की अपेक्षा सरागावस्था थी। इसलिए यहाँ भी पर्याय की अपेक्षा भेद होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा अभेद प्ररूपण किया गया है ॥२२॥

एकं भावं शाश्वतमुच्चैरभिषिञ्चन् भूत्वाभूत्वा त्वं भवसीश स्वयमेव।
एतद्भूत्वा यद्भवनं पुनरन्यन्न (तत्) त्रैकाल्यं सङ्कलयन् त्वामनुयाति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ! (त्वं) आप (एकं शाश्वतं भावं) एक शाश्वत—त्रैकालिक भाव का (उच्चैः अभिषिञ्चन्) उत्कृष्ट अभिषेचन करते हुए अर्थात् सामान्य त्रैकालिक भावकी रक्षा करते हुए (भूत्वाभूत्वा) हो होकर (स्वयमेव) अपनेआप (भवसि) होते हैं सो (एतद् भूत्वा पुनः यद्भवनं) यह होकर पुनः जो होता है वह (अन्यत् न) अन्य नहीं है अर्थात् अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है (त्रैकाल्यं सङ्कलयन् 'भावः') तीन कालका संग्रह करनेवाला भाव (त्वाम्) आपका (अनुयाति) अनुगमन करता है।

भावार्थ—पदार्थ द्रव्य और पर्यायरूप है। इनमें द्रव्यांश त्रैकालिक है और पर्यायांश परिवर्तित होता रहता है। जब द्रव्यांशको प्रधानता देकर कथन किया जाता है तब कहा जाता कि पदार्थ अपरिवर्तनीय—त्रैकालिक है और जब पर्यायांश को प्रधानता देकर कथन होता है तब कहा जाता है कि पदार्थ परिवर्तनीय है। यतश्च द्रव्य पर्यायसे भिन्न नहीं है और पर्याय द्रव्यसे भिन्न नहीं है अतः यहाँ कहा गया है कि हे ईश! आप शाश्वतभाव—त्रैकालिक द्रव्यांश की रक्षा करते हुए ही अपनी उपादान शक्तिसे स्वयं हो रहे हैं, नूतन नूतन परिणतिसे युक्त हो रहे हैं परन्तु आपकी वह नूतन परिणति आपके द्रव्यांशसे पृथक् नहीं है। इस प्रकार तीनों कालका संकलन करनेवाला जो द्रव्यांश है वह सदा आपके साथ रहता है। तात्पर्य यह है कि आप द्रव्यपर्यायात्मक होनेसे भावाभावात्मक हैं ॥२३॥

एकः साक्षादक्षरविज्ञानघनस्त्वं शुद्धः शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः।
अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैरेकोऽप्युद्गच्छसि वैचित्र्यमनन्तम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वं) आप (एकः) एक हैं (साक्षात् अक्षरविज्ञानघनः) साक्षात् अविनाशी विज्ञानघन स्वभावसे युक्त हैं (शुद्धः) शुद्ध हैं तथा (शुद्धस्वावयवेष्वेव निलीनः,) अपने शुद्ध अवयवोंमें ही निलीन हैं। इस तरह (एकोऽपि सन्) एक होते हुए भी (अन्तर्मज्जद्दृक्सुखवीर्यादिविशेषैः) अन्तरमें निमग्न होनेवाले दर्शन सुख और वीर्य आदि विशिष्ट गुणों की अपेक्षा (अनन्तं वैचित्र्यम्) अनन्त प्रकारकी विचित्रता—नानारूपता को (उद्गच्छसि) प्राप्त हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—यहाँ एकानेक भङ्गकी अपेक्षा भगवान् की स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आप यद्यपि अपने विज्ञानघनस्वभाव की अपेक्षा एक हैं तथापि अन्तरङ्गमें विद्यमान दर्शन सुख और वीर्य आदि गुणों की अपेक्षा अनेक भी हैं ॥२४॥

अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धोद्धतधर्मैः स्याद्वादेन प्रविभक्तात्मविभूतिः ।
स्वामिन् नित्यं त्वं निजतत्त्वैकपराणां किञ्चिद् दत्सेऽत्यन्तमगाधोऽप्यवगाहम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! यद्यपि (त्वं) आप (नित्यं) निरन्तर (अन्योऽन्यविरुद्धोद्धत-धर्मैः) परस्पर विरुद्ध अनेक उद्धत धर्मोंसे (अध्यारूढः) सहित हैं तथापि (स्याद्वादेन) स्याद्वादसे (प्रविभक्तात्मविभूतिः) विभाग को प्राप्त आत्मवैभवसे युक्त हैं अतः (अगाधोऽपि) अत्यन्त गंभीर होते हुए भी (निजतत्त्वैकपराणां) स्वतत्त्व की एक आराधनामें तत्पर रहनेवालोंके लिये (किञ्चिद्) कुछ (अवगाहं दत्से) प्रवेश देते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! ऊपर कहे अनुसार यद्यपि आप परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंसे युक्त हैं और वे धर्म इतने उद्धत हैं कि सब, आपके समस्त आत्मप्रदेशोंपर अधिकार जमाये हुए हैं तथापि स्याद्वादका आलम्बन लेकर आपने अपनी आत्मविभूतिका ऐसी सुन्दरताके साथ विभाग किया है कि सब विरोधी धर्मोंका पारस्परिक विरोध अपने आप शान्त हो गया है। इस तरह यद्यपि आपका समझना अत्यन्त कठिन है तथापि जो निरन्तर आत्मतत्व की आराधना में तत्पर रहते हैं उन्हें आपका समझना सरल हो गया है, इसी दृष्टिसे कहा गया है कि आप अगाध होते हुए भी अपनी आराधनामें तत्पर रहनेवाले पुरुषोंके लिये कुछ अवगाह—प्रवेश देते हैं ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(१९)

वियोगिनीछन्दः[1]

अजरः पुरुषो जिन स्वयं सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः ।
अयमद्भुतसत्यवैभवस्त्वमसि द्वयात्मकदृष्टिगोचरः ॥१॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्र ! (अजरः) जो वृद्धावस्थासे रहित हैं, (पुरुषः) आत्मस्वरूप हैं, (स्वयं) अपने आप (सहजज्योतिरजय्यचिद्भरः) स्वाभाविक ज्ञानज्योतिसे जीता न जा सके ऐसे चैतन्यके समूहसे युक्त हैं और (अद्भुतसत्यवैभवः) आश्चर्य-कारक सत्यवैभवसे सहित हैं ऐसे (अयं त्वम्) यह आप (द्वयात्मकदृष्टिगोचरः) विधिनिषेधके भेद-से द्विविधरूपताको धारण करनेवाली दृष्टिके गोचर हैं ।

भावार्थ—अन्यत्र पुरुष अर्थात् आत्माका लक्षण लिखते हुए कहा है—'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः । गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः[2] ॥ अर्थात् चैतन्य जिसका स्वरूप है, जो स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे रहित है—अमूर्त है, गुण और पर्यायोंसे तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित है ऐसा पुरुष—आत्मा है । हे भगवन् ! आप इसी आत्म-द्रव्यरूप हैं, वृद्धावस्थासे रहित हैं क्योंकि वृद्धावस्था शरीररूप पुद्गलद्रव्यकी परिणति है, सहज चैतन्यसे सहित हैं आश्चर्यकारी आत्मवैभवसे सहित हैं—सबको आश्चर्यमें डालनेवाले केवलज्ञानादि गुणोंसे तन्मय हैं । आपके इस स्वरूपको जाननेके लिये विधि और निषेध इन दोनों दृष्टियोंका ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि उनके बिना आपका यथार्थरूप जानना संभव नहीं है ॥१॥

न पराश्रयणं न शून्यता न च भावान्तरसङ्करोऽस्ति ते ।
यदसंख्यनिजप्रदेशकैर्विहितो वस्तुपरिग्रहः स्वयम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके (न पराश्रयणं) न परका आश्रय है (न शून्यता) न शून्यरूपता है (च) और (न भावान्तरसङ्करः अस्ति) अन्य भावोंका संकर—संमिश्रण है (यतः) क्योंकि (असंख्य-निजप्रदेशकैः) अपने असंख्यात प्रदेशोंके द्वारा (स्वयं) स्वयं (वस्तुपरिग्रहः) वस्तुका परिग्रहण (विहितः) किया गया है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जो अनन्त गुण और पर्यायरूप वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं अर्थात् उससे तन्मय हो रहे हैं सो इस कार्यमें आपको पर द्रव्यका आश्रय नहीं लेना पड़ा है, न इन गुणों का आपमें अभाव है और न अन्य भावोंसे आपका संकरपना है मात्र अपने असंख्यातप्रदेशों द्वारा स्वयं ही उस चैतन्य वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं ॥२॥

---

१. 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरालोऽथ गुरुर्वियोगिनी'—वृत्तरत्नाकर

२. पुरुषार्थसिद्धयुपाये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदमूर्त इति स्फुटोदयं सहजं भाति विशेषणं विभोः ।
तदिहात्मपरायणो भवान् सह भेदं समुपैति पुद्गलैः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण (विभोः) आपका (अमूर्तः) अमूर्त (इति) यह (स्फुटोदयं) अत्यन्त स्पष्ट और (सहजं) स्वाभाविक (विशेषणं) विशेषण (भाति) सुशोभित होता है (तत्) इस कारण (इह) इस लोकमें (आत्मपरायणः) आत्माराधनामें लीन रहनेवाले (भवान्) आप (पुद्गलैः सह) पुद्गलोंके साथ (भेदं) पृथक्त्वको (समुपैति) प्राप्त हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके अनेक विशेषणोंमें 'अमूर्त' यह भी एक विशेषण है । जो स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे रहित है उसे अमूर्त कहते हैं । आपका यह 'अमूर्त' विशेषण अत्यन्त स्पष्ट और सहज—स्वाभाविक है । 'मूर्त' विशेषण पुद्गल द्रव्यमें संगत होता है क्योंकि वही स्पर्श रस गन्ध और वर्णसे सहित है । अरहन्त अवस्थामें यद्यपि आप शरीररूप पुद्गलमें निवास करते हैं तथापि उससे आप सर्वथा पृथक् हैं । शरीररूप पुद्गलके साथ आपका एकत्व नहीं है ॥३॥

चिदितीस(श)विशेषणं दधत्सहजं व्यापि- कुतोऽप्यबाधितम् ।
उपयासि भिदामचेतनैरखिलैरेव समं समन्ततः ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जिस कारण आप (सहजं) स्वाभाविक (व्यापि) व्यापक और (कुतोऽपि) किसी भी कारणसे (अबाधितं) बाधित न होनेवाले (चिद् इति विशेषणं) 'चित्' इस विशेषणको (दधत्) धारण कर रहे हैं उस कारण आप (समन्ततः) सब ओरसे (अखिलैः एव अचेतनैः) सभी अचेतन द्रव्योंके (समं) साथ (भिदां) भेदको (उपयासि) प्राप्त हो रहे हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! अमूर्त विशेषणके समान एक 'चित्' यह भी आपका विशेषण है । आपका यह चित् विशेषण सहज है—स्वाभाविक है, सब अवस्थाओंमें व्यापक है और किसी भी कारणसे उसमें बाधा नहीं आती है । इस विशेषण की महिमासे आप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँचों अचेतन द्रव्योंसे पृथक् सिद्ध होते हैं । 'अमूर्त' विशेषणसे तो आपका मात्र पुद्गलद्रव्यसे पृथक्त्व सिद्ध होता है—धर्म, अधर्म, आकाश और कालसे नहीं । परन्तु 'चित्' विशेषणसे जीवातिरिक्त सभी अचेतन द्रव्योंसे पृथक्त्व सिद्ध होता है ॥४॥

विशदेन सदैव सर्वतः सहजस्वानुभवेन दीव्यतः ।
सकलैः सह चेतनान्तरैरुदितं दूरमिदं तवान्तरम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(सदैव) सदा ही (सर्वतः) सब ओरसे (विशदेन) निर्मल (सहजस्वानुभवेन) सहज स्वानुभवसे (दीव्यतः) रमण करनेवाले (तव) आपका (सकलैः) समस्त (चेतनान्तरैः सह) अन्य चेतन द्रव्योंके साथ (इदं) यह (दूरं) बहुत दूरका (अन्तरं) अन्तर (उदितं) कहा गया है ।

भावार्थ—'चित्' विशेषणसे अचेतन द्रव्योंके साथ तो आपका पृथक्त्व सिद्ध हो गया था परन्तु अन्य चेतन द्रव्योंके साथ पृथक्त्व सिद्ध नहीं हुआ था । 'अब आप सहज स्वानुभवसे सहित हैं' इस विशेषणके द्वारा समस्त अन्य चेतन द्रव्योंसे आपका बहुत दूरका अन्तर सिद्ध होता है, यह बात सिद्ध की गई है । संसारमें जितने चेतन द्रव्य हैं वे सब अपना-अपना स्वतन्त्र पृथक् अस्तित्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए हुए हैं क्योंकि सबका स्वानुभव पृथक्-पृथक् है। यदि सब चेतन एक ही ब्रह्माके विवर्तरूप होते तो सबका अनुभव एकरूप ही होता परन्तु सबका अनुभव अपना-अपना जुदा-जुदा है अतः सब पृथक्-पृथक् हैं। हे भगवन्! आपका भी सहज स्वानुभव पृथक् है अतः आप अन्य चेतन द्रव्योंसे पृथक् हैं ॥५॥

निजभावभृतस्य सर्वतो निजभावेन सदैव तिष्ठतः।
प्रतिभाति परैरखण्डितः स्फुटमेको निजभाव एव ते ॥६॥

अन्वयार्थ—जो (सर्वतः) सब ओरसे (निजभावभृतस्य) निजभावसे भरे हुए हैं तथा (सदैव) सदा ही (निजभावेन) निजभावके साथ (तिष्ठतः) स्थित रहते हैं ऐसे (ते) आपका (परैः अखण्डितः) परसे खण्डित नहीं होनेवाला (एकः) एक (निजभाव एव) निजभाव ही (स्फुटं) स्पष्टरूपसे (प्रतिभाति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—यतश्च प्रत्येक द्रव्य निजभावसे परिपूर्ण है, सदा निजभावसे ही युक्त रहता है और उसका वह निजभाव परके द्वारा खण्डित नहीं होता है। यह वस्तुस्वभावकी मर्यादा है तदनुसार आप भी एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हैं अतः आपका भी निजभाव सदा परसे अखण्डित है ॥६॥

अजडादिविशेषणैरयं त्वमनन्तैर्युगपद्विशेषितः।
भवसि स्वयमेक एव चेत् प्रकटा तत्तव भावमात्रता ॥७॥

अन्वयार्थ—(अनन्तैः अजडादिविशेषणैः) अजड़—चेतन आदि अनन्त विशेषणोंके द्वारा (युगपत्) एक साथ (विशेषितः) विशेषताको प्राप्त हुए (अयं त्वम्) यह आप (चेत्) यदि (स्वयं) स्वयं (एक एव भवसि) एक ही हैं (तत्) तो (तव) आपकी (भावमात्रता) सामान्यरूपता (प्रकटा) प्रकट है—स्पष्ट है।

भावार्थ—'यद्यपि शब्द-शब्दमें अर्थभेद होता है' इस मान्यताके अनुसार अनन्त विशेषणोंसे युक्त होनेके कारण आपमें अनन्तरूपता होना चाहिए तथापि आप एक ही हैं अर्थात् एक ही व्यक्तिके अनन्त विशेषण हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन विशेषताओंके होने पर भी आपमें एक ऐसी सामान्यरूपता है जिसके कारण आपका सब विशेषणोंमें अनुगमन होता रहता है ॥७॥

त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्निदमस्तीत्यविभिन्नधारया।
अविभावितपूर्वपश्चिमः प्रतिभासि ध्रुव एव पश्यताम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन्! (उपर्युपरि) ऊपर-ऊपर अर्थात् आगामी प्रत्येक क्षणमें (भवन्) होते हुए (त्वम्) आप (इदमस्ति) 'यह हैं' (इति अविभिन्नधारया) इस प्रकार अखण्डधारासे (अविभावितपूर्वपश्चिमः) पूर्व और उत्तरके विकल्पसे रहित (प्रतिभासि) सुशोभित होते हैं अतः (पश्यताम्) देखनेवालोंके लिए (ध्रुव एव प्रतिभासि) ध्रुव—नित्यरूप ही प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—द्रव्य स्वभावके कारण यद्यपि आपमें प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय होता रहता है और उसके कारण आप अध्रुवरूप हैं तथापि 'यह वही हैं' इस प्रकारकी अखण्डधारासे—अवि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

च्छिन्नरूपसे होने वाले प्रत्यभिज्ञानके कारण आपके पूर्व और उत्तरका विभाग अनुभवमें नहीं आता है इसलिए आप देखनेवालोंके लिए एक ध्रुवरूप ही अनुभवमें आते हैं ॥८॥

अयमेकविशेष्यतां गतस्त्वमनन्तात्मविशेषणस्रजः ।
प्रभवन्नविमुक्तधारया भगवन् भासि भवन्निरन्तरः ॥९॥

अन्वयार्थ—(अनन्तात्मविशेषणस्रजः) अपने अनन्त विशेषणोंके समूहकी (एकविशेष्यतां गतः) एक विशेष्यताको प्राप्त हुए (अयं त्वम्) यह आप (अविमुक्तधारया प्रभवन्) अखण्डधारासे होते हैं अतः (भगवन्) हे भगवन् ! (भवन्निरन्तरः) होते हुए भी अन्तरसे रहित (भासि) सुशोभित हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! विशेषणोंकी माला अनन्त है परन्तु उन सब विशेषणोंके विशेष्य आप एक ही हैं । यद्यपि उन विशेषणोंके कारण आप प्रतिसमय नवीन नवीनरूपसे उत्पन्न हो रहे हैं तथापि आपकी वह उत्पत्ति अखण्डधारासे हो रही है अर्थात् विशेषणजन्य नवीनताके होने पर भी आपकी एकरूपतामें कोई बाधा नहीं आती है अतः आप 'भवन् चासौ निरन्तरं' इस समासके अनुसार होते हुए भी निरन्तर हैं—अन्तरसे रहित है । तात्पर्य यह है कि उत्पाद व्ययके होने पर भी आप किसी अपेक्षासे ध्रुवरूप हैं ॥९॥

अजडादिविशेषणैर्भृता निजधारा न तवैति तुच्छताम् ।
अजडादिविशेषणानि न क्षयमायान्ति धृतानि धारया ॥१०॥

अन्वयार्थ—(अजडादिविशेषणैः भृता) अजड आदि विशेषणोंसे भरी हुई (तव निजधारा) आपकी वह धारा (तुच्छतां) अभाव रूपताको (न एति) प्राप्त नहीं होती और (धारया) धारासे (धृतानि) धारण किये हुए (अजडादिविशेषणानि) अजड आदि विशेषण (क्षयं न आयान्ति) क्षयको प्राप्त नहीं होते ।

भावार्थ—द्रव्यकी जो अनादिअनन्तरूपता है वह उसकी निजधारा कहलाती है और उसमें गुण तथा पर्यायके कारण जो नवीनता आती है उसे विशेषण कहते हैं । द्रव्यकी जो निजधारा है वह अनेक विशेषणोंसे परिपूर्ण रहती है तथा अनादि-अनन्त होनेसे कभी नष्ट नहीं होती है । विशेषणोंसे द्रव्यमें जो नूतनता आती है वह उसकी निजधारासे सदा संबद्ध रहती है इसलिए वह भी सर्वथा क्षयको प्राप्त नहीं होती । हे भगवन् ! आप एक स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य हैं उसकी जो अनादि अनन्त परिणति है वह आपकी निजधारा है और यह निजधारा 'अजड-चेतन' तथा अमूर्त आदि विशेषणोंसे परिपूर्ण है । इन विशेषणोंकी अपेक्षा आपकी निजधारा कभी नष्ट नहीं होती और निजधाराकी अपेक्षा कभी विशेषण नष्ट नहीं होते अर्थात् 'अजड' तथा अमूर्तत्व आदि ऐसे विशेषण हैं जो सदा काल आपमें विद्यमान रहते हैं ॥१०॥

अजडादिविशेषणानि ते परतो भेदकराणि न स्वतः ।
दधतः स्वयमद्वयं सदा स्वमसाधारणभावनिर्भरम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(ते) आपके (अजडादिविशेषणानि) अजड आदि विशेषण (परतः) अन्य द्रव्योंसे (भेदकराणि) भेद--पृथक्त्व करनेवाले हैं (स्वतः न) स्वद्रव्यसे नहीं । क्योंकि आप (सदा) निरन्तर (अद्वयं) अन्य द्रव्यसे रहित और (असाधारणभावनिर्भरम्) असाधारण भावोंसे परिपूर्ण (स्वं) अपने आत्म द्रव्यको (स्वयं) अपने आप (दधतः) धारण करते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका आत्मद्रव्य एकत्व-विभक्त है अर्थात् स्वकीय गुण पर्यायोंसे अभिन्न तथा परद्रव्योंसे विभक्त है। इस प्रकार जब आप परसे रहित और अपने असाधारण-भावोंसे सहित आत्मद्रव्यको सदा धारण करते हैं तब आपके अजड आदि विशेषण आपको पर-द्रव्योंसे तो पृथक् सिद्ध करते हैं परन्तु अपने आत्मद्रव्यसे नहीं। कहीं द्रव्यके गुण पर्याय भी क्या उससे पृथक् होते हैं ? अर्थात् नहीं होते ॥११॥

अजडाद्यविभागतः स्थितस्तव भावोऽयमनंश एककः।
अजडाद्यविभागभावनादनुभूतिं समुपैति नान्यथा ॥१२॥

अन्वयार्थ—(अजडाद्यविभागतः स्थितः) अजड आदि विशेषणोंके अपृथक्त्व—अविभेदसे स्थित (तव) आपका (अयं) यह (अनंशः) अखण्ड (एककः) एक (भावः) आत्मद्रव्य (अजडाद्यविभाग-भावनात्) अजडादि विशेषणोके अभेदकी भावना करनेसे ही (अनुभूतिं) स्वानुभूतिको (समुपैति) प्राप्त होता है (अन्यथा न) अन्य प्रकारसे नहीं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका यह एक अखण्ड आत्मद्रव्य, अजड—चैतन्य—ज्ञानरूपता आदि विशेषणोंसे अभिन्न है, न्याय वैशेषिक दर्शनकी मान्यताके अनुसार गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है और बौद्धदर्शनकी मान्यताके अनुसार क्षण-क्षणमें नष्ट होकर अनेकत्वको प्राप्त नहीं है इसीलिए उसमें आत्मानुभूति तथा अतीत कार्योंकी स्मृति आदि होती है। गुणगुणीमें तथा पूर्वोत्तर क्षणमें सर्वथा भेद माननेसे अनुभूति आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥१२॥

भवनं भवतो निरङ्कुशं सकला मार्ष्टि सकारकाः क्रियाः।
भवनं द्वयतामवाप्यते क्रियया नैव न कारकैरपि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(भवतः) आपका (निरङ्कुशं) निर्बाधरूपसे (भवनं) होना (सकलाः) सम्पूर्ण (सकारकाः) कारक सहित (क्रियाः) क्रियाओंको (मार्ष्टि) साफ करता है क्योंकि (भवनं) आपका होना (नैव क्रियया) न क्रियाके द्वारा और (न कारकैः अपि) न कारकोंके द्वारा भी (द्वयतां) द्वि-रूपताको (अवाप्यते) प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—भेददृष्टिके कथनमें द्रव्यकी परिणति कर्ता कर्म आदि कारकों और क्रियाकी अपेक्षा रखती है परन्तु अभेददृष्टिके कथनमें द्रव्यकी परिणति स्वतः होती है, उसमें कारक और क्रियाकी अपेक्षा नहीं रहती। यहाँ अभेददृष्टिकी अपेक्षा स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपकी जो परिणति है वह स्वतन्त्र है किसी बाह्य द्रव्यके आश्रित नहीं है अतः उसमें कारक और क्रियाओंका विकल्प नहीं है ॥१३॥

भवने भवतो निरङ्कुशे क्व लसेत् कारणकार्यविस्तरः।
न किलाभवनं करोति तत् क्रियतेऽत्राभवनं च तेन नः (न) ॥१४॥

अन्वयार्थ—(भवतो भवने निरङ्कुशे सति) आपका परिणमन निर्बाध होने पर (कारणकार्य-विस्तरः) कारण और कार्यका विस्तार (क्व लसेत्) कहाँ विराजता है ? अर्थात् कहीं नहीं। क्योंकि (किल) निश्चयसे (तत्) कारण (अभवनं) कार्यकी अनुत्पत्तिको (न करोति) नहीं करता है (च)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और (अत्र) इस लोकमें (तेन) कार्यके द्वारा (अभवनं) कारणकी अनुत्पत्ति (न क्रियते) नहीं की जाती है।

भावार्थ—लोकमें जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है उसका उसके साथ कारण-कार्यभाव माना जाता है परन्तु यह मान्यता भेददृष्टिकी अपेक्षा है। अभेददृष्टिकी अपेक्षा पदार्थकी उस प्रकारकी योग्यता ही कार्योत्पत्तिमें कारण मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि अभेददृष्टिमें कारण कार्यका विकल्प ही नहीं है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आपकी जो परिणति हो रही है उसमें कारण-कार्यका विकल्प नहीं है ॥१४॥

भवतीति न युज्यते क्रिया त्वयि कर्त्रादिकरम्बितोदया।
भवनैकविभूतिभारिणस्तव भेदो हि कलङ्ककल्पना ॥१५॥

अन्वयार्थ—(कर्त्रादिकरम्बितोदया) कर्ता आदि कारकोंसे जिसका उदय व्याप्त है ऐसी (क्रिया) क्रिया (त्वयि) आपमें (भवति) होती है (इति न युज्यते) ऐसा कहना युक्त नहीं है (हि) क्योंकि (भवनैकविभूतिभारिणः) परिणमन मात्र एक विभूतिको धारण करनेवाले (तव) आपके (भेदः) कर्ता कर्म आदिका भेद करना (कलङ्ककल्पना) कलङ्ककी कल्पना है।

भावार्थ—अभेदनयकी दृष्टिमें कर्ता कर्म और क्रिया तीनों एक ही पदार्थ हैं भिन्न-भिन्न नहीं हैं इसलिए आपमें उनका भेद करना उचित नहीं है ॥१५॥

अजडादिमयः सनातनो जिन भावोऽस्यवकीर्णकश्मलः।
अयमुच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (अजडादिमयः) जो अजड अर्थात् चैतन्य आदि रूप है, (सनातनः) त्रैकालिक है, (अवकीर्णकश्मलः) मोह परिणामोंसे रहित है और (उच्छलदच्छचित्प्रभाभरमग्नस्वपरक्रमाक्रमः) जिसके छलकते हुए निर्मल चैतन्यकी प्रभाके समूहमें निज और परके पर्याय और गुण निमग्न हैं ऐसा जो (अयं) यह (भावः) भाव है उस रूप आप (असि) हैं।

भावार्थ—यहाँ भाव और भाववान्में अभेद कर भागवान्को भावरूप कहा है। जिनेन्द्र भाववान् हैं और उनका अजडादिरूप—चैतन्य तथा अमूर्तत्वरूप जो परिणाम है वह भाव है। जिनेन्द्रका वह भाव, सब कश्मल—मोह अथवा दुःखोंसे रहित है तथा स्वपर द्रव्योंके गुण और पर्यायों को अन्तर्निमग्न करनेवाला है ॥१६॥

भगवन्नवकीर्णकश्मलो यदि भावोऽसि विभामयः स्वयम्।
तदयं स्वयमेव विस्फुरन् न विमोहं समुपैषि कुत्रचित् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (यदि) यदि आप (अवकीर्णकश्मलः) मोह रहित तथा (विभामयः) ज्ञानरूप दीप्ति से सहित (स्वयं) स्वयं (भावः असि) भावरूप हैं (तत्) तो (अयं) यह भाव (स्वयमेव) स्वयं ही (विस्फुरन्) प्रकट होता है—अन्यके द्वारा किया हुआ नहीं है। आप (कुत्रचित्) कहीं भी (विमोहं) कर्तृत्वजन्य भ्रमको (न समुपैषि) प्राप्त नहीं होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप जिस वीतराग भावरूप हैं वह भाव भी आपमें स्वयं प्रकट हुआ है किसी अन्य द्रव्यके उपादानसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई है क्योंकि उपादानोपादेयभाव एक ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यमें बनता है दो द्रव्योंमें नहीं। दो द्रव्योंमें निमित्तनैमित्तिक भाव बनता है, परन्तु अभेदनयके कथनमें उसकी विवक्षा नहीं है ॥१७॥

स विभाति विभामयोऽस्ति यो न विभायादविभामयः क्वचित् ।
ननु सर्वमिदं विभाति यत् तदियं भाति विनैव (विभैव) निर्भरम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (विभामयः अस्ति) विभामय है (सः) वह (विभाति) सुशोभित होता है (अविभामयः) अविभावमय (क्वचित्) कहीं भी (न विभायात्) सुशोभित नहीं हो सकता। (यत्) जो (इदं सर्वं) यह सब (ननु) निश्चयसे (विभाति) सुशोभित हो रहा है (तत्) वह (इयं विभा एव) यह विभा ही (निर्भरं) अत्यन्त (भाति) सुशोभित हो रही है।

भावार्थ—विभा और विभामय ये दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं क्योंकि गुण और गुणीमें प्रदेशभेद न होनेसे अभेद स्वीकृत किया गया है। जो विभासे तन्मय है उसे विभामय कहते हैं और उसकी जो दीप्ति है वह विभा कहलाती है। विभामय, विभासे तन्मय है इसलिए विभामय की शोभासे विभाकी शोभा स्वयं सिद्ध हो जाती है। यहाँ विभा और विभामयमें अभेद स्वीकृत कर कथन किया गया है ॥१८॥

इदमेव विभाति केवलं न विभातीदमिति क्व कल्पना ।
इदमित्यमुना विभाति तद् द्वितयं नास्ति विभाविभागकृत् ॥१९॥

अन्वयार्थ—(केवलं) मात्र (इदमेव) यही (विभाति) सुशोभित होता है (इदं न विभाति) यह सुशोभित नहीं होता (इति कल्पना क्व) ऐसी कल्पना कहाँ होती है? अर्थात् कहीं नहीं। (इदम्) यह (अमुना) इससे (विभाति) सुशोभित होता है (इति) इस प्रकारका जो (द्वितयं) गुण और गुणीका युगल है (तत्) वह (विभाविभागकृत्) विभामयसे विभाके विभागको करनेवाला (नास्ति) नहीं है।

भावार्थ—जब अभेद दृष्टिसे विभा और विभामय पदार्थमें अभेद है तब यह नहीं कहा जा सकता कि विभा ही सुशोभित होती है, विभामय पदार्थ सुशोभित नहीं होता। अथवा विभामय पदार्थ ही सुशोभित होता है विभा नहीं। कदाचित् ऐसा भी कहा जावे कि 'यह इससे सुशोभित होता है' और ऐसा कहनेसे विभा तथा विभामय पदार्थमें द्वैतपना सिद्ध होता है तथापि वह द्वैतपना विभाको विभामयसे पृथक् करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उन दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है ॥ १९ ॥

सहजा सततोदिता समा स्वसमक्षा सकला निराकुला ।
इयमद्भुतधाममालिनी ननु कस्यास्तु विभा विभावरी ॥२०॥

अन्वयार्थ—जो (सहजा) स्वाभाविक है, (सततोदिता) निरन्तर उदयरूप रहती है, (समा) न्यूनाधिकतासे रहित है, (स्वसमक्षा) अपने आपके लिए जिसका प्रत्यक्ष होता है, (सकला) परिपूर्ण है (निराकुला) आकुलतासे रहित है तथा (अद्भुतधाममालिनी) विस्मयकारी तेजकी मालासे सहित है ऐसी (इयं) यह (विभा) विभा-दीप्ति (ननु) निश्चयसे (कस्य) किसके लिए (विभावरी) रात्रिरूप (अस्तु) हो अर्थात् किसीके लिए नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जो विभा प्रत्यक्ष अनुभवमें आ रही है उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस प्रकरणमें विभा शब्दसे आत्माकी ज्ञानज्योति ग्राह्य है शरीरकी दीप्ति नहीं ।।२०।।

विधिवद् दधती स्ववैभवाद् विधिरूपेण निषेधमप्यसौ ।
परिशुद्धचिदेकनिर्भरा तव केनात्र विभा निषिध्यते ।।२१।।

अन्वयार्थ—जो (स्ववैभवात्) अपने वैभवसे (विधिवत्) विधिपक्षके समान (निषेधमपि) निषेधपक्षको भी (विधिरूपेण) विधिरूपसे (दधती) धारण कर रही है तथा (परिशुद्धचिदेक-निर्भरा) जो अत्यन्त शुद्ध एक चेतनद्रव्य—आत्मद्रव्यके निर्भर है ऐसी (तव) आपकी (विभा) ज्ञान-ज्योतिरूप विभा (अत्र) इस लोकमें (केन) किसके द्वारा (निषिध्यते) निषिद्ध की जाती है ? अर्थात् किसीके द्वारा नहीं ।

भावार्थ—जो विधिपक्ष और निषेधपक्ष—दोनोंको धारण करती है तथा अत्यन्त शुद्ध एक-चेतन द्रव्यपर निर्भर करती है ऐसी आत्माकी ज्ञानज्योतिरूप विभाका अपलाप कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।।२१।।

अभितः स्फुटितस्वभावया च्युतदिक्कालविभागमेकया ।
विभया भवतः समन्ततो जिन सम्पूर्णमिदं विभाव्यते ।।२२।।

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र ! (अभितः स्फुटितस्वभावया) जिसका स्वभाव सब ओरसे प्रकट हो रहा है ऐसी (भवतः) आपकी (एकया) एक—अद्वितीय (विभया) विभाके द्वारा (च्युत-दिक्कालविभागं) दिशाओं और कालके विभागसे रहित (इदं सम्पूर्णं) यह समस्त जगत् (समन्ततः) सब ओरसे (विभाव्यते) देखा जाता है विभासित होता है ।

भावार्थ—हे जिन ! आपकी स्वाभाविक ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा समस्त लोकालोक सब ओरसे जाना जाता है ।।२२।।

न खलु स्वपरप्रकाशने मृगयेतात्र विभा विभान्तरम् ।
भवतो विभयैव धीमतः क्रमतः कृत्स्नमिदं प्रकाशते ।।२३।।

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्र) इस जगत्में (स्वपरप्रकाशने) निज और परको प्रकाशित करनेके लिए (विभा) विभा (विभान्तरं) दूसरी विभाको (न मृगयेत) नहीं खोजती है । (धीमतः) लोकोत्तरज्ञानसे युक्त (भवतः) आपकी (विभयैव) ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा ही (इदं) यह (कृत्स्नं) सम्पूर्ण जगत् (क्रमतः) क्रमसे—पदार्थोंकी परिणतिके क्रमानुसार (प्रकाशते) प्रकाशित होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाशक होता है उसी प्रकार आपकी ज्ञानज्योतिरूप विभा भी स्वपरप्रकाशक है । हे भगवन् ! आपकी तथोक्त विभाके द्वारा ही समस्त जगत् प्रकाशित हो रहा है, यहाँ विभाको क्रमसे प्रकाशित करनेकी जो बात कही है वह ज्ञेयके क्रमानुसार समझना चाहिए अर्थात् ज्ञेयका जिस क्रमसे परिणमन होता है उसी क्रमानुसार वह उसे युगपत् प्रकाशित करती है ।।२३।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनया विचरन्ति नित्यशो जिन ये प्रत्ययमात्रसत्तया ।
सकलं प्रतियन्ति ते स्वयं न हि बोधप्रतिबोधकः क्वचित् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे कर्मशत्रुओंके विजेता ! (प्रत्ययमात्रसत्तया) ज्ञानमात्रकी सत्तास्वरूप (अनया) इस ज्ञानज्योतिरूप विभाके द्वारा (ये) जो (नित्यशः) निरन्तर (विचरन्ति) विचरण करते हैं—जाननेका उद्योग करते हैं (ते) वे (स्वयं) स्वयं ही (सकलं) सब पदार्थोंकी (प्रतियन्ति) प्रतीति करने लगते हैं अर्थात् उन्हें यह श्रद्धा हो जाती है कि आपकी विभा स्वपरप्रकाशक है। (हि) वास्तवमें (बोधप्रतिबोधकः) ज्ञानको प्रकाशित करनेवाला (क्वचित् न) कहीं नहीं है ।

भावार्थ—विभा क्या है ? ज्ञान मात्रकी सत्तारूप है और ज्ञान स्वपरावभासी है अतः विभा भी स्वपरावभासिनी है ॥२४॥

अभितोऽनुभवन् भवद्विभामहमेषोऽस्मि मुहुर्मुहुः समः ।
जिन यावदुपैमि पुष्कलं स (स्व) मनन्तस्वविभामयं स्वयम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे भगवन् ! (एषोऽहम्) यह मैं (समः) मध्यस्थ—इष्टानिष्टके विकल्प से रहित होता हुआ (तावत्) तब तक (मुहुर्मुहुः) बार-बार (अभितः) सब ओरसे (भवद्विभाम्) आपकी विभाका (अनुभवन् अस्मि) अनुभवन करता रहूँ (यावत्) जब तक (स्वयं) स्वयं (पुष्कलं) परिपूर्ण और (अनन्तस्वविभामयं) अनन्त स्वकीय विभा—ज्ञानज्योतिसे तन्मय (स्वम्) अपने आपको (उपैमि) प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी विभाका अनुभवन आत्मोपलब्धिमें कारण हैं इसलिए स्तुतिके फलस्वरूप मैं चाहता हूँ कि मुझे इसकी तब तक उपलब्धि होती रहे जबतक कि मैं अनन्त स्वकीय-विभासे तन्मय आत्मस्वरूपको प्राप्त न कर लूँ ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२०)

वंशस्थछन्दः[1]

अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात् तवेश तत्त्वप्रतिपत्तये परम् ।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात्पदसंस्कृता गिरः ॥१॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (तव) आपके (प्राणिधानसौष्ठवात्) उपयोगकी कुशलतासे (अतत्त्वमेव) अतत्त्व ही (तत्त्वप्रतिपत्तये) वस्तु स्वरूपकी यथार्थ प्रतिपत्तिके लिए (परं) समर्थ है (यत्) क्योंकि (स्यात्पदसंस्कृताः) स्यात् पदसे सुशोभित (गिरः) वचन (पदे पदे) प्रत्येक पदमें (विषं) अतत्त्व एकान्तरूप विषयको (वमन्त्योऽपि) उगलते हुए भी (अमृतं) अनेकान्तरूप अमृतको (क्षरन्ति) प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—स्यात्पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवान्‌की वाणीका अच्छी तरह उपयोग किया जावे तो उससे अनादिकालीन अतत्त्व—एकान्त दूर होकर यथार्थतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इसीको लक्ष्यमें रखकर आचार्यने कहा है कि हे स्वामिन् ! जो वचन एकान्तरूप विषको उगलते हैं। इस अध्यायमें एकान्तवादियोंके द्वारा स्वीकृत कुछ तत्त्वोंका स्याद्वादकी शैलीसे प्रतिपादन किया गया है। वे भी स्यात्पदसे अलंकृत होने पर अनेकान्तरूप अमृतको प्रवाहित करने लगते हैं ॥१॥

परापरोल्लेखविनाशकृद् बलाद् विलीनदिक्कालविभागकल्पनः ।
विभात्यसौ संग्रहशुद्धदर्शनात् त्वमीश चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः ॥२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! जो (बलात्) बलपूर्वक (परापरोल्लेखविनाशकृत्) पर और अपर—पूर्व और उत्तर क्षणके उल्लेखका विनाश करने वाले हैं, (विलीनदिक्कालविभागकल्पनः) जिनमें दिशा और कालके विभागकी कल्पना नष्ट हो चुकी है तथा जो (चिन्मात्रविभूतिनिर्भरः) चैतन्यमात्र विभूतिसे परिपूर्ण हैं ऐसे (असौ त्वम्) यह आप (संग्रहशुद्धदर्शनात्) संग्रहनयकी शुद्धदृष्टिसे (विभासि) अतिशय सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—जो पदार्थके विशेष अंशको गौण कर प्रधानरूपसे उसके सामान्य अंशको ग्रहण करता है वह संग्रहनय कहलाता है। उस संग्रहनयकी शुद्धदृष्टिसे जब आपका विचार किया जाता है तब आप पूर्वापरके विभागसे रहित तथा दिशा और काल सम्बन्धी विभागकी कल्पनासे शून्य प्रतीत होते हैं। साथ ही एक चैतन्यमात्र विभूतिसे युक्त प्रतीत होते हैं ॥२॥

विशुद्ध्यतिव्याप्तिरसेन वल्गिता अपि स्खलन्त्योऽस्खलिता इवोच्छिखाः ।
निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणास्त्वयीश मूर्च्छन्त्यृजुसूत्रदृष्टयः ॥३॥

---

१. 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ'—वृत्तरत्नाकर ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (त्वयि) आपमें (ऋजुसूत्रदृष्टयः) ऋजुसूत्रनयकी वे दृष्टियां (मूर्च्छन्ति) वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं जो (विशुद्धयतिव्याप्तिरसेन वल्गिताः) विशुद्धताके अधिक प्रसार रूप रससे युक्त हैं तथा (स्खलन्त्यः अपि) स्खलित होती हुई भी (अस्खलिता इव) अस्खलितके समान (उच्छिखाः) प्रकाशमान हैं और (निरंशतत्त्वांशनिवेशदारुणाः) अखण्ड तत्त्वके अंशको उपस्थित करनेके कारण दारुण—कठिन हैं।

भावार्थ—जो द्रव्यकी समय समयवर्ती पर्यायको ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय कहलाता है। यह नय, पदार्थको मात्र वर्तमान पर्यायरूप मानता है उसके आगे और पीछे होनेवाले पर्यायरूप अंशोंको यह गौण कर देता है। इस नयकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे छद्मस्थके ज्ञानमें नहीं आती अर्थात् छद्मस्थका ज्ञान द्रव्यकी समय-समयवर्ती पर्यायोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है, अतः यह दृष्टि स्खलित-सी जान पड़ती है परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय होनेसे यह अस्खलित ही रहती हुई प्रकाशमान रहती है। इस नयकी दृष्टि विशुद्धिके अतिरेकसे परिपूर्ण रहती है और निरंश वस्तुके अंशको प्रस्तुत करनेके कारण कठिन भी है ॥३॥

समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो विभज्यमानस्य विशीर्णसञ्चयाः।
प्रदेशमात्रा ऋजवः पृथक्-पृथक् स्फुरन्त्यनन्ताः स्फुटबोधधातवः ॥४॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ ! (स्वावयवैः) अपने अवयवोंके द्वारा (समन्ततः) सब ओरसे (विभज्यमानस्य) विभागको प्राप्त होनेवाले (तव) आपके (अनन्ताः स्फुटबोधधातवः) प्रत्यक्षज्ञानके अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद (पृथक्-पृथक्) जुदे-जुदे (स्फुरन्ति) प्रकाशित होते हैं। वे अविभाग प्रतिच्छेद, (विशीर्णसञ्चयाः) संचयसे बिखरे हुए हैं (प्रदेशमात्राः) प्रदेशमात्र है और (ऋजवः) सरल—वर्तमानरूप हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! संग्रह नयकी दृष्टिमें आप असंख्यातप्रदेशी एक अखण्ड आत्मद्रव्य हैं और आपके समस्त प्रदेशोंमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त अखण्ड केवलज्ञान सुशोभित हो रहा है, परन्तु ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें आप अपने असंख्य प्रदेशोंमें विभाजित हैं और आपका केवलज्ञान एक अखण्डपिण्डमें न रहकर अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंमें विभक्त है। उदाहरणके लिये संग्रहनयकी दृष्टिमें बृक्ष, एक दिखाई देता है परन्तु ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें वह वृक्ष शाखा, प्रशाखा, फल-फूल, पत्ते और पल्लवोंकी अपेक्षा अनेकरूप दिखाई देता है ॥४॥

विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैस्त्वमेष पूर्वापरसंगमाक्षमः।
अनादिसन्तानगतोऽपि कुत्रचित् परस्परं संघटनां न गाहसे ॥५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (एष त्वम्) यह आप (सहसैव) शीघ्र ही (विशीर्यमाणैः) बिखरते हुए (चित्कणैः) चैतन्यकणोंके द्वारा—ज्ञानप्रदेशोंके द्वारा (पूर्वापरसङ्गमाक्षमः) पूर्व और उत्तर क्षणवर्ती चैतन्य कणोंके मिलानेमें असमर्थ हैं और (अनादिसन्तानगतोऽपि 'सन्') अनादि सन्ततिसे युक्त होनेपर भी (कुत्रचित्) कहीं (परस्परं) परस्पर उन चैतन्यकणोंके साथ (सङ्घटनां) मेलको (न गाहसे) प्राप्त नहीं होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि—ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें द्रव्य अखण्ड न रहकर अपने समस्त अवयवों—प्रदेशोंमें विभक्त रहता है और पूर्वोत्तरक्षणोंमें सन्ततिरूपसे न रहकर मात्र समयवर्ती वर्तमान पर्यायमें रहता है। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा जा रहा है कि आपके चित्कण सहसा ही बिखर गये हैं और इस प्रकार बिखर गये हैं कि उनमें आगे-पीछेका भी भेद नहीं किया जा सकता है तथा कालकी अपेक्षा अनादि सन्ततिसे युक्त होनेपर भी आप पूर्वोत्तर क्षणवर्ती चित्कणोंको परस्पर मिलानेमें असमर्थ हैं ॥५॥

क्षणक्षयोत्संगितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया निरन्वयम्।
भवन्तमालोकयतामसिक्षतं विभाति नैरात्म्यमिदं बलात् त्वयि ॥६॥

अन्वयार्थ—(निरन्वयं 'यथा स्यात्तथा') निरन्वयरूपसे (क्षणक्षयोत्सङ्गितचित्कणावलीनिकृत्तसामान्यतया) क्षणक्षयके द्वारा अङ्गीकृत चैतन्यके अंश समूहसे सामान्यके सर्वथा नष्ट हो जानेसे (त्वयि) आपके विषयमें (बलात्) बलपूर्वक स्थापित किया गया (इदं नैरात्म्यं) यह नैरात्म्यपना (भवन्तम्) आपको (आलोकयतां) देखनेवाले मनुष्योंके लिये (असिक्षतं) तलवारका घाव (विभाति) मालूम होता है।

भावार्थ—जहाँ संग्रह और ऋजुसूत्रनयमें मैत्री होती है वहाँ ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा विशेषमें परिवर्तन होनेपर भी संग्रहनयकी अपेक्षा सामान्य सुरक्षित रहा आता है परन्तु जहाँ ऋजुसूत्रनयको संग्रहनयसे निरपेक्ष मान लिया जाता है वहाँ सामान्यका निरन्वय नाश होनेसे नैरात्म्यवाद आता है। जैसे सामान्यरूपसे आत्मा नामक द्रव्यका अस्तित्व, उसके क्षण क्षणमें होनेवाले चित्कणोंके आश्रयसे उत्पन्न होता है। इसके विपरीत यदि सामान्यको सर्वथा अस्वीकृत कर क्षण क्षयसे युक्त चिदंशोंको ही आत्मा स्वीकृत किया जाय तो इन चिदंशोंका आधारभूत कोई पदार्थ स्वीकृत करना आवश्यक होगा। यदि उसे स्वीकृत नहीं किया जायगा तो ऋजुसूत्रनयके द्वारा प्रतिपादित क्षणक्षयी चिदंश किसके आश्रय रहेंगे? इस प्रकार आपके विषयमें प्रस्तुत किया हुआ यह नैरात्म्यवाद आपका अवलोकन करनेवालोंके लिये तलवारके घावके समान जान पड़ता है ॥६॥

गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन प्रभो भविष्यन्ननुपस्थितत्वतः।
स नूनमर्थक्रिययेश युज्यते प्रवर्तमानक्षणगोचरोऽस्ति यः ॥७॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे नाथ! (गतः) गत पदार्थ (गतत्वात्) गत हो जानेके कारण (किञ्चन न करोति) कुछ नहीं करता है और (भविष्यन्) अनागत पदार्थ (अनुपस्थितत्वतः) अनुपस्थित होनेसे (किञ्चन न करोति) कुछ नहीं करता है। (ईश) हे भगवन्! (यः 'त्वम्') जो आप (प्रवर्तमानक्षणगोचरः अस्ति) वर्तमान क्षणके विषय हैं (सः 'त्वम्') वह आप (नूनं) निश्चित ही (अर्थक्रियया) अर्थक्रियासे (युज्यते) युक्त हैं।

भावार्थ—'अर्थक्रियाकारित्वं हि वस्तुनः स्वरूपम्' इस लक्षणके अनुसार जो अर्थक्रियाकारी होती है वही वस्तु कहलाती है। भूत भविष्यत् और वर्तमान काल की अपेक्षा वस्तु तीन रूपमें विभक्त है। इनमें जो भूत है अर्थात् गत हो चुका है वह गत हो जानेके कारण कुछ करनेमें समर्थ नहीं है और जो भविष्यत् है अर्थात् आगे होनेवाला है वह अनुपस्थित होनेसे कुछ नहीं कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता। शेष रहा वर्तमान, सो वही अर्थ क्रियासे युक्त होता है। इसप्रकार हे भगवन्! आप वर्तमान क्षणरूप होनेसे अर्थक्रियाकारी वस्तु हैं ॥७॥

क्षणक्षयस्थेषु कणेषु संविदो न कार्यकालं कलयेद्धि कारणम्।
तथापि पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैर्हठाद्धृता कारणकार्यता त्वयि ॥८॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (हि) निश्चयसे (क्षणक्षयस्थेषु संविदः कणेषु) क्षणस्थायी चिदंशोंमें (कारणं) कारण (कार्यकालं) कार्यके काल को (न कलयेत्) नहीं प्राप्त करता है (तथापि) तो भी (पूर्वोत्तरवर्तिचित्कणैः) पूर्व और उत्तरकालमें रहनेवाले चिदंशोंके द्वारा (हठात्) हठपूर्वक (त्वयि) आपमें (कारणकार्यता) कारण-कार्यभाव (धृता) धारण किया गया है।

भावार्थ—पूर्वक्षणवर्ती चिदंश कारण और उत्तरक्षणवर्ती चिदंश कार्य माना जाता है क्योंकि पूर्वक्षणवर्ती चिदंश ही उत्तरक्षणमें कार्यरूप परिणत होता है। परन्तु पूर्वक्षणवर्ती चिदंश जब पूर्वक्षणमें ही नष्ट हो जाता है तब वह उत्तरक्षणवर्ती चिदंश का कारण कैसे हो सकता है? इसप्रकार क्षणस्थायी चिदंशोंकी अपेक्षा यद्यपि आपमें कारण-कार्यपना सिद्ध नहीं होता है तथापि उन क्षणस्थायी चिदंशोंके पूर्वोत्तरक्षणवर्ती चिदंशोंमें हठपूर्वक कारणकार्थपना अवस्थित है ॥८॥

गलत्यबोधः सकले कृते बलादुपर्युपर्युद्यति चाकृते स्वयम्।
अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे तवैष निर्वाणमितोऽन्त्यचित्क्षणः ॥९॥

अन्वयार्थ—(सकले) सम्पूर्णरूपसे (अनादिरागानलनिर्वृतिक्षणे कृते) अनादिकालीन रागाग्निके शान्त होनेका क्षण उपस्थित होनेपर (अबोधः) अज्ञान (गलति) नष्ट होता है (च) और अनादिकालीन रागाग्निके शान्त होनेका क्षण (अकृते) अनुपस्थित होनेपर (अबोधः) अज्ञान (बलात्) बलपूर्वक (स्वयं) अपनेआप (उपर्युपरि) ऊपर ऊपर (उद्यति) उठता है—वृद्धिको प्राप्त होता है। इसप्रकार अज्ञानके नष्ट हो जानेपर (तव) आपका (एषः) यह (अन्त्यचित्क्षणः) अन्तिम चिदंश (निर्वाणम्) मोक्ष को (इतः) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—निर्वाण प्राप्तिका क्रम यह है कि पहले अनादिकालीन रागरूप अग्निको सम्पूर्ण रूपसे शान्त किया जावे। उसके शान्त होते ही अज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है और उसके शान्त न होनेपर अज्ञान नष्ट न होकर वृद्धिको प्राप्त होता है। इसप्रकार रागक्षय, अज्ञान निवृत्ति का कारण है और अज्ञाननिवृत्ति निर्वाणका कारण है। दशम गुणस्थानके अन्तमें रागका सर्वथा क्षय हो जानेपर यह जीव बारहवें गुणस्थानमें पहुँचता है वहाँ अन्तर्मुहूर्त रुक कर शुक्लध्यानके द्वितीय भेदके प्रभावसे ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्मोंका एक साथ क्षय कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। वहाँ का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन कोटिवर्ष पूर्व व्यतीत कर चौदहवें गुणस्थानमें पहुँचता है और वहाँ लघु अन्तर्मुहूर्त तक ठहरकर अन्त समयमें निर्वाणको प्राप्त होता है। उपादान कारणकी अपेक्षा विचार करनेपर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय कार्य और पूर्वक्षणवर्ती पर्याय उपादान कारण होती है इसतरह अन्तिम क्षणवर्ती जो चिदंश है वही निर्वाणको प्राप्त होता है ॥९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते समस्तमेवागमदेकशून्यताम् ।
न साहसं कर्म तवेति कुर्वतो मम प्रभो जल्पत एव साहसम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(प्रदीपवत्) दीपकके समान (निर्वृतिमागतस्य) निर्वाण को प्राप्त हुए (ते) आपके (समस्तमेव) अज्ञान तथा रागादिक सभी विकार (एकशून्यताम्) एक शून्यता को (अगमत्) प्राप्त हुए थे। (प्रभो) हे नाथ! (इति) इसप्रकारका आश्चर्यजनक (कर्म) कार्य (कुर्वतः) करते हुए (तव) आपको (साहसं न) साहस नहीं करना पड़ा किन्तु (मम) मुझे (जल्पत एव) कहते हुए ही (साहसम्) साहस करना पड़ रहा है।

भावार्थ—प्रदीपवत् निर्वाणकी मान्यता बौद्धदर्शनमें भी आती है परन्तु वहाँ इस मान्यता का यह अर्थ किया गया है कि जिस प्रकार दीपक बुझनेपर न किसी दिशाको जाता है, न विदिशा में जाता है, न अन्तरीक्षमें जाता है और न भूमिके भीतर जाता है किन्तु स्नेह—तैल का क्षय हो जानेसे वहीं शान्त हो जाता है उसीप्रकार निर्वाण होनेपर आत्मा दिशा विदिशा अन्तरीक्ष अथवा भूमिके भीतर कहीं नहीं जाता, किन्तु क्लेशों का क्षय होनेसे वहीं समाप्त हो जाता है। इसप्रकार आत्माके उच्छेद को बौद्धदर्शनमें निर्वाण माना गया है। यहाँ उपर्युक्त अर्थमें प्रदीपवन्निर्वाण की व्याख्या नहीं है यहाँ इतनी ही व्याख्या है कि जिसप्रकार स्नेह—तेलके क्षयसे दीपक शान्त हो जाता है उसी प्रकार स्नेह—रागभावके क्षयसे आत्मा शान्त हो जाता है। हे भगवन्! इन रागादिक विकारी भावों को नष्ट करनेके लिये आपने जो उग्र तपश्चरणादि कार्य किये हैं उनके करनेमें आपको साहस नहीं करना पड़ा? आत्मबलकी बहुलतासे वे कार्य अनायास हो गये, परन्तु मुझे उन कार्योंको कहते हुए भी साहस करना पड़ रहा है ॥१०॥

विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो व्रजन्निहार्थक्रियया समागमम् ।
त्वमेक एवाप्रतिषेधवैभवः स्वयं हि विज्ञानघनोऽवभाससे ॥११॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसारमें जो (अर्थक्रियाया) अर्थ क्रियाके द्वारा (समन्ततः) सब ओरसे (विचित्ररूपाकृतिभिः) नानारूपवाली आकृतियोंके साथ (समागमं) समागम को (व्रजन्) प्राप्त हो रहे हैं, (अप्रतिषेधवैभवः) जो अप्रतिहत वैभवके धारक हैं और (विज्ञानघनः) वीतराग विज्ञानसे परिपूर्ण हैं ऐसे (त्वम्) आप (एक एव) एकही (हि) निश्चयसे (स्वयं) (अवभाससे) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अन्तर्ज्ञेयों की अपेक्षा नानाज्ञेयाकृतियोंके समागम को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् आपके दिव्यज्ञानमें नानाज्ञेयों की आकृतियाँ प्रतिफलित हो रही हैं आपके वैभव का कोई निषेध नहीं कर सकता है तथा वीतराग विज्ञान—केवलज्ञानसे आप परिपूर्ण हैं। आपकी ऐसी परिणति आत्मद्रव्य की योग्यतासे स्वयं प्रकट हुई है ॥११॥

न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो बहिर्विचित्राकृतिरेक एव सन् ।
स्वयं हि कुर्वन् जलधारणादिकं त्वमीश कुम्भादितयावभाससे ॥१२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन्! (बोधतो बहिः) ज्ञानके बाहर (किञ्चनापि) कुछ भी (न प्रतिभाति) नहीं प्रतिभासित होता है अर्थात् अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा सब ज्ञानके ही परिणमन हैं (त्वम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक एव) आप एक ही (विचित्राकृतिः सन्) विचित्र आकृतिरूप होते हैं तथा (स्वयं) स्वयं ही (हि) निश्चयसे (जलधारणादिकं कुर्वन्) जलधारण आदि कार्य करते हुए (कुम्भादितया) कुम्भ आदिरूप से (अवभाससे) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—बौद्धसंमत ज्ञानाद्वैतका निराकरण कर यहाँ जैनसंमत ज्ञानाद्वैतका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञानके बाहर कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बित मयूर आदि, दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार ज्ञानमें प्रतिफलित संसारके समस्त पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं। हे ईश! जिस प्रकार बाह्य घट जलधारणादि क्रिया करता है उसी प्रकार अन्तर्घट भी जलधारणादि क्रिया करता है अर्थात् घटकी जलधारणरूप परिणति ज्ञानमें भी आती है और उस परिणतिके कारण हो ज्ञानको घटादिरूप कहा जाता है ॥१२॥

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम् ।
त्वयीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो किमर्थं बहिरर्थसाधनम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (हि) निश्चयसे (भवान्) आप (स्वयं) स्वयं (कुम्भादितया) घटादि-रूप (न भवेत्) न हों अर्थात् घटादिक आपके ज्ञानमें प्रतिफलित न हों तो (किं) क्या (बहिरर्थ-साधनम्) बाह्य घटादिकी सिद्धि (भवेत्) हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। (ईश) हे नाथ! (त्वयि) आप जब स्वयं (कुम्भादितया) घटादिरूपसे (स्थिते) विद्यमान हैं तब (प्रभो) हे प्रभो! (बहिरर्थसाधनम्) बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि (किमर्थं) किसलिये है?

भावार्थ—हे भगवन्! जब आप अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा घटादिरूप परिणत होते हैं तभी घटादिक बाह्य ज्ञेयोंकी सिद्धि होती है, क्योंकि जो पदार्थ आपका अन्तर्ज्ञेय नहीं है वह बाह्य ज्ञेय भी नहीं है। जैसे खर विषाण आपका अन्तर्ज्ञेय नहीं है तो बाह्यमें भी उसकी सिद्धि नहीं है। यतश्च अन्तर्ज्ञेय, ज्ञानकी ही परिणति है अतः ज्ञानाद्वैतका सिद्धान्त ठीक है, ऐसा एकान्त भी नहीं है क्योंकि अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा घटादिकके रहनेपर भी फिर बाह्य ज्ञेयकी क्या आवश्यकता रह जाती है? उसकी निरर्थकता सिद्ध होती है, परन्तु परमार्थसे निरर्थकता नहीं है, क्योंकि जलधारणादिक कार्य बाह्य घटादिकसे ही संपन्न होते हैं। भोजन, अन्तर्ज्ञेय बनकर ज्ञानकी परिणति कही जा सकती है पर उससे किसीकी क्षुधा निवृत्ति नहीं हो सकती। क्षुधानिवृत्तिके लिये बाह्य भोजनका अस्तित्व आवश्यक है। इसलिये ज्ञानाद्वैतका एकान्त जैनसिद्धान्तको स्वीकृत नहीं है ॥१३॥

त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात् समस्तमेतज्जडतां परित्यजत् ।
अभिन्नवैचित्र्यमनन्तमर्थकृत् पृथक् पृथग्बोधतयाऽवभासते ॥१४॥

अन्वयार्थ—(त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात्) आपके एक विज्ञानघनमें समागत होनेसे जो (जडतां परित्यजत्) जडता—अचेतनताका परित्याग कर रहा है, (अभिन्नवैचित्र्यं) जिसने अपनी विचित्रता—विविधरूपताको नहीं छोड़ा है, (अनन्तं) जिसका अन्त नहीं होता है और जो (पृथक्-पृथक्) पृथक् पृथक् (अर्थकृत्) अर्थक्रियाकारी है ऐसा (एतत् समस्तं) यह समस्त जगत्—समस्त पदार्थोंका समूह (बोधतया) ज्ञानरूपसे (अवभासते) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके केवलज्ञानमें जितने चेतन-अचेतन पदार्थ अन्तर्ज्ञेय बनकर प्रतिफलित हो रहे हैं वे सब चेतनरूप ही हैं अर्थात् चेतन पदार्थ तो चेतन हैं ही किन्तु अचेतन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ भी अपनी जडताको छोड़कर चेतनताको प्राप्त होते हैं। परन्तु आपके अन्तर्ज्ञेय होनेपर भी चेतन अचेतन पदार्थ अपनी विचित्रताको नहीं छोड़ते हैं, सब अन्तसे रहित हैं और सभी अपना अपना अर्थक्रियाकारित्व पृथक्-पृथक् रखते हैं। मात्र ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होनेसे ज्ञानरूप प्रतीत होते हैं। यहाँ 'सब चैतन्यरूप ही हैं' इस एकान्तका निराकरण करते हुए आचार्यने कहा है कि आपके ज्ञानमें आनेसे यद्यपि समस्त पदार्थ जडताको छोड़कर चेतनरूप प्रतीत होते हैं तथापि इतने मात्र से वे चैतन्यरूपताको प्राप्त नहीं हो जाते, क्योंकि वे अपनी अपनी विचित्रता और अर्थक्रियाकारिताको छोड़ते नहीं हैं। बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा सब चेतन अचेतन पदार्थ अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं और तदनुरूप ही उनमें अर्थक्रियाकारित्व रहता है ॥१४॥

त्वयीश विज्ञानघनौघघस्मरे स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि।
स्फुरत्यभिव्याप्य समं समन्ततो बलात् प्रवृत्तो बहिरर्थनिह्नवः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे प्रभो! (विज्ञानघनौघघस्मरे) जो विज्ञानघनरूप होनेसे अपने आपमें सबको निमग्न करनेवाले हैं तथा (स्फुटीकृताशेषविशेषसम्पदि) जिसमें समस्त विशिष्ट पदार्थ स्फुटीकृत हैं—पृथक् पृथक् भासमान हैं ऐसे (त्वयि) आपके (समं) सबको (समन्ततः) सब ओरसे (अभिव्याप्य) प्राप्त कर (स्फुरति 'सति') स्फुरित होनेपर (बहिरर्थनिह्नवः) बाह्य पदार्थोंका निह्नव (बलात्) हठपूर्वक (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानाद्वैतवादीके एकान्तका निराकरण करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो! यतः आपके विज्ञानघनमें समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे हैं अतः सभी पदार्थ आपके अन्तर्ज्ञेय बन रहे हैं इस अपेक्षासे बहिरर्थनिह्नव है, बाह्य पदार्थोंका अभाव होनेकी अपेक्षा नहीं ॥१५॥

तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते प्रभो परापोहतया विभासि यत्।
परस्य रूपं तु तदेव यत्परः स्वयं तवापोह इति प्रकाशते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे प्रभो! (यत्) जो आप (परापोहतया) परकी व्यावृत्तिसे (विभासि) सुशोभित हो रहे हैं (तदेव) वही (तव) आपका रूप है अर्थात् परसे व्यावृत्तपना ही आपका वस्तुत्व है (तु) और (परः) पर पदार्थ, (तव अपोहः) 'आपकी व्यावृत्ति है' (इति) इस रूपसे (यत्) जो (प्रकाशते) प्रकाशित होता है (तदेव) वही (परस्य रूपम्) परका रूप है।

भावार्थ—परसे पृथक्पना आपका स्वरूप है और आपसे पृथक्पना परका स्वरूप है। बौद्धदर्शनमें अन्यापोहके द्वारा वस्तुकी व्यवस्था की गई है। यह अन्यापोह अन्यव्यावृत्तिरूप है जैसे घट, अघट अर्थात् पटादिसे व्यावृत्तिरूप है और पट, अपट अर्थात् घटादिसे व्यावृत्तिरूप है। इस तरह अन्यापोह द्वारा बौद्धदर्शनमें वस्तुके स्वरूपका कथन किया गया है। यहाँ आचार्य महोदयने उसी अन्यापोहको दृष्टिमें रखकर कहा है कि आप परकी व्यावृत्तिरूप हैं और पर आपकी व्यावृत्तिरूप हैं। जैनदर्शनमें स्याद्वादकी दृष्टिसे इस प्रकारका कथन किया जा सकता है, उसमें कोई विरोध नहीं है ॥१६॥

अभाव एवैष परस्पराश्रयो व्रजत्यवश्यं स्वपरस्वरूपताम्।
प्रभो परेषां त्वमशेषतः स्वयं भवस्यभावोऽन्यधियामगोचरः ॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(एषः) यह (परस्पराश्रयः) परस्परके आश्रय रहनेवाला (अभाव एव) अभाव ही (अवश्यं) अवश्यरूपसे (स्वपररूपतां) निज और पररूपताको (व्रजति) प्राप्त होता है अर्थात् निजमें परका अभाव होना निरूपता है और परमें निजका अभाव होना पररूपता है। (प्रभो) हे भगवन्! (त्वं) आप (परेषां) दूसरोंके (अशेषतः) सम्पूर्णरूपसे (अभावः भवसि) अभावरूप हैं। आप (अल्पधियामगोचरः) अल्पबुद्धियोंके अविषय हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! एक पदार्थकी दूसरे पदार्थमें जो व्यावृत्ति है उसे अन्यापोह कहते हैं। इस अन्यापोहसे ही पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है आप अन्य पदार्थों के पूर्णतः स्वयं अभावरूप हैं। यह अल्पबुद्धि वालोंके लिये जाननेमें नहीं आता ॥१७॥

इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं सदोद्यतस्यान्यदपोहितुं तव।
स्फुरत्यपोहोऽयमनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभिद् विपश्चिताम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (अत्यन्तं) अत्यधिक (उपप्लवावहं) उपद्रवको धारण करने वाले (इदं) इस (अन्यत्) अन्य पदार्थके (अपोहितुं) अपोह करनेके लिये (सदोद्यतस्य) निरन्तर तत्पर रहनेवाले (तव) आपका (अयं) यह (अपोहः) अन्यापोह (स्फुरति) प्रकट होता है। यह अन्यापोह (विपश्चितां) विद्वानोंके (अनादिसन्ततिप्रवृत्ततीव्रभ्रमभित्) अनादि सन्ततिसे चले आये तीव्रभ्रमको भेदनेवाला है—नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—बौद्धदर्शनके द्वारा स्वीकृत अपोहवादका निराकरण करते हुए यहाँ यथार्थ अपोहवादका निरूपण किया गया है। विज्ञानघनस्वभावसे अतिरिक्त अन्य कर्म नोकर्म आदि पदार्थों से आत्माको पृथक् अनुभव करना ही सच्चा अपोहवाद है। यह अपोह, ज्ञानी जनोंके अनादि-कालीन विभ्रम-मिथ्याबुद्धिको तत्काल नष्ट कर देता है ॥१८॥

परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः परे न काञ्चिज्जनयन्ति विक्रियाम्।
त्वमेक एव क्षपयन्नुपप्लवं विभोऽखिलापोहतयाऽवभाससे ॥१९॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो! (परस्परापोहतया) परस्परके अपोहरूपसे (त्वयि) आपमें (स्थिताः) स्थित रहनेवाले (परे) अन्य पदार्थ (काञ्चित् विक्रियां) किसी विकारको—विक्रियाको (न जनयन्ति) नहीं उत्पन्न करते हैं (उपप्लवं) उपप्लवको (क्षपयन्) नष्ट करते हुए (त्वमेक एव) आप एक ही (अखिलापोहतया) समस्त पदार्थोंके अपोहरूपसे (अवभाससे) सुशोभित होते हैं।

भावार्थ—आपमें जो कर्म नोकर्मरूप अन्य पदार्थ स्थित हैं वे परस्परके अपोह रूपसे स्थित हैं अर्थात आप, कर्ममें स्थित नहीं हैं और कर्म, आपमें स्थित नहीं है—दोनों ही अपने अपने गुण पर्यायोंमें स्थित हैं। इसप्रकारसे स्थित पर पदार्थ कुछ भी विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। समस्त उपद्रवोंको नष्ट करते हुए आप एक ही समस्त पदार्थोंसे अपने आपको दूर अनुभव करते हैं ॥१९॥

गतं तवापोहतया जगत्त्रयं जगत्त्रयापोहतया गतो भवान्।
अतो गतस्त्वं सुगतस्तथागतो जिनेन्द्र साक्षादगतोऽपि भाससे ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(तव) आपके (अपोहतया) अपोहरूप होनेसे (जगत्त्रयं) तीनों लोक (गतं) गत हैं और (जगत्त्रयापोहतया) तीनों लोकोंकी अपोहरूपतासे (भवान् गतः) आप गत हैं (अतः) इसलिये (जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र! आप (साक्षात्) साक्षात् रूपसे (अगतोऽपि) अगत होते हुए भी (गतः सुगतः तथागतः) गत, सुगत और तथागत (भाससे) भासित होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपसे व्यावृत्तरूप होनेके कारण तीनों लोक गत हैं अर्थात् आपसे पृथक् हैं और आप तीनों लोकोंसे व्यावृत्तरूप होनेके कारण गत हैं अर्थात् आपसे भिन्न हैं इसलिये आप गत, सुगत और तथागत हैं परन्तु परमार्थसे आप अगत ही हैं क्योंकि आप अपने ज्ञायक-स्वभावसे हटकर कहीं गये नहीं हैं ॥२०॥

समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु सत् प्रसह्य निह्नुत्य निरंकुशा सती।
न किञ्चिदस्तीति समस्तशून्यतामुपेयुषी संविदिहावभासते ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अन्तश्च बहिश्च) भीतर और बाहर (सत्) विद्यमान (समन्तं) समस्त वस्तुका (प्रसह्य) हठपूर्वक (निह्नुत्य) अपलाप कर जो (निरंकुशा सती) निरंकुश—स्वच्छन्द हो रही है तथा (किञ्चित् नास्ति) कुछ नहीं है (इति) इस प्रकारकी (समस्तशून्यताम्) समस्त शून्यताको जो (उपेयुषी) प्राप्त है ऐसी (संवित्) ज्ञानकी धारा (इह) इस लोकमें (अवभासते) प्रतिभासित है।

भावार्थ—शून्याद्वैतवादी बौद्धोंका कहना है कि इस जगत्में भीतर और बाहर कुछ भी नहीं है सब शून्य ही शून्य है। यहाँ स्तुतिकार अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनोंको इसलिये शून्य प्रकट करते हैं कि वे दोनों ज्ञानमें समाविष्ट हैं। ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता। इसी दृष्टिसे शून्याद्वैतवादी बौद्धोंका मत स्वीकार न कर स्याद्वाददृष्टिसे उसका यथार्थरूप प्रकट किया है ॥२१॥

उपप्लवायोच्छलिताः समं बलात् किलेश शून्यं परिमार्ष्टि कल्पनाः।
क्व किं कियत् केन कुतः कथं कदा विभातु विश्वेऽस्तमिते समन्ततः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन्! (किल) निश्चयसे (शून्यं) शून्य (उपप्लवाय) उपद्रवके लिये (उच्छलिताः) उछलती हुई (कल्पनाः) कल्पनाओंको (समं) एक साथ (बलात्) हठ पूर्वक (परिमार्ष्टि) साफ कर देता है, क्योंकि (समन्ततः) सब ओरसे (विश्वे अस्तमिते सति) विश्व—समस्त संसारके अस्तमित हो जानेपर (किं) कौन वस्तु (क्व) कहाँ (कियत्) कितने परिमाणवाली (केन) किसके द्वारा (कुतः) कहाँसे (कथं) कैसे और (कदा) कब (विभातु) सुशोभित हो?

समस्तमेतद्भ्रम एव केवलं न किंचिदस्ति स्पृशतां विनिश्चयात्।
पिपासवोऽमी मृगतृष्णिकोदकं श्रयन्ति नूनं प्रतिमामृगाः श्रमम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(एतत् समस्तं) यह सब (केवलं) मात्र (भ्रम एव) भ्रम ही है (विनिश्चयात्) निश्चयसे (स्पृशताम्) स्पर्श करने वालोंके लिये (किञ्चित् नास्ति) कुछ भी नहीं है। (मृगतृष्णिकोदकं) मृगतृष्णारूप जलको (पिपासवः) पीनेके लिये इच्छुक (अमी) ये (प्रतिमामृगाः) मृगतुल्य प्राणी (नूनं) निश्चयसे (श्रमं श्रयन्ति) खेदको प्राप्त होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—यहाँ भी शून्य सिद्धान्तका स्पष्टीकरण किया गया है। आगे इस शून्याद्वैत-सिद्धान्तका निराकरण करते हैं ॥२३॥

इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत् प्रसह्य शून्यस्य बलेन सर्वतः ।
न किञ्चिदेवात्र विभोऽवशिष्यते न किञ्चिदस्तीत्यवशिष्यते मुधीः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (इदं) इस शून्याद्वैतके सिद्धान्तने (उच्चावचं) ऊँची-नीची समस्त वस्तुओंको (प्रसह्य अस्तम् आमृशत्) बलपूर्वक नष्ट कर दिया है। (विभो) हे प्रभो! (शून्यस्य बलेन) उपर्युक्त शून्य सिद्धान्तके बलसे (सर्वतः) सभी ओर (अत्र) इस संसारमें (किञ्चिदेव) कुछ भी (न अवशिष्यते) शेष नहीं रहता है (तु) और (किञ्चित् अस्ति) कुछ है ऐसी (धीः) बुद्धि भी (नावशिष्यते) शेष नहीं रहती है।

भावार्थ—हे प्रभो! शून्याद्वैतका सिद्धान्त प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओंका अपलाप करने वाला है ॥२४॥

न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा स वेत्ति निर्निक्ततमं न किञ्चन ।
असीमविश्वास्तमयप्रमार्जिते प्रवेश्य शून्ये कृतिनं कुरुष्व माम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(यस्य) जिस पुरुषकी (विश्वास्तमयोत्सवे) समस्त वस्तुओंके अस्तरूप उत्सवमें (स्पृहा) इच्छा (न) नहीं है अर्थात् अन्तर्बहिर्ज्ञेयके विकल्पसे शून्य मात्र ज्ञानके अस्तित्वमें रुचि नहीं है (सः) वह (निर्निक्ततमं किञ्चन) अत्यन्त शुद्ध किसी तत्त्वको नहीं (न वेत्ति) नहीं जानता है। हे भगवन्! आप (अनन्तविश्वास्तमयप्रमार्जिते) अनन्त विश्व—समस्त पदार्थोंके अस्तमयभावसे साफ किये हुए—अतिशय निर्मल किये हुए (शून्ये) शून्यमें (प्रवेश्य) प्रवेश कराकर (मां) मुझे (कृतिनं) कृतकृत्य (कुरुष्व) कीजिये।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२१)

वंशस्थवृत्तम्

सुनिस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो निरन्तरोत्सर्पमुपर्युपर्यम् ।
विमोहयन्त्योऽन्यमनन्यगोचराः स्फुरन्त्यनन्तास्तव तत्त्वभूमयः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (सुनिस्तुषान्तावधिशुद्धमूलतः) आत्मारूप परम-शुद्ध मूलकारणसे (उपर्युपरि) ऊपर ऊपर (निरन्तरोत्सर्पं) निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुईं (अमूः) वे (अनन्ताः) अनन्त (तत्त्वभूमयः) तत्त्वभूमियाँ-आत्मपरिणतियाँ (स्फुरन्ति) प्रकट हो रही हैं जो (अन्यं विमोहयन्त्यः) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोंको विमोहमें डालने वाली हैं तथा (अनन्यगोचराः) अन्य—मिथ्यादृष्टि पुरुषोंमें नहीं पायी जाती ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप निरन्तर ऊँचे उठते हुए, जो उपरितन गुणस्थानों को प्राप्त हुए हैं उसमें मूलकारण आत्माकी उच्चकोटि की विशुद्धता है। उसके बिना इस अरहन्त अवस्थाको प्राप्त करना कठिन है। यहाँ आत्मा को निस्तुषान्तावधि कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जिसकी अन्तिम पर्याय—सिद्धावस्था तुष–छिलकेके समान कर्म और नोकर्मसे रहित है वह आत्मा है। हे प्रभो ! आपको जो अनन्त परिणतियाँ हैं वे दूसरों को विभ्रममें डालने वाली हैं तथा दूसरोंके अगोचर हैं। आपकी आत्मविशुद्धिके कारण आपमें ही उनका विकास हुआ है ॥१॥

यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेस्तदा न सामान्यमिदं तवादिमम् ।
स्थिताः स्वशक्त्योभयतोऽपि धावतस्तवेत्यनन्ताः परिणामभूमिकाः ॥२॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो (यदि) यदि आप (स्वयं) स्वयं (अन्त्यविशेषतां) अन्तिम पर्यायको (न व्रजेः) प्राप्त नहीं हैं (तदा) तो (तव) आपका (इदं) यह (सामान्यं) द्रव्य भी (आदिमं) आदि-युक्त (न) नहीं हैं (इति) इस प्रकार (स्वशक्त्या) अपनी शक्तिसे (उभयतः अपि) द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष—दोनों की ओर (धावतः) प्रवृत्त होनेवाले (तव) आपकी (अनन्ताः) अनन्त (परिणामभूमिकाः) पर्यायों की भूमिकाएँ (स्थिताः) विद्यमान है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य-पर्यायात्मक हैं। द्रव्य की अपेक्षा आपकी आदि नहीं है और पर्याय की अपेक्षा आपका अन्त नहीं है। यद्यपि संसार की दृष्टिसे अरहन्त पर्याय अन्तिम पर्याय है तथापि जब क्षण-क्षणव्यापी पर्याय की अपेक्षा विचार होता है तब आपकी पर्यायों का भी अन्त नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनों साथ रहते हैं। ऐसा अवसर नहीं आता जब द्रव्य, किसी न किसी पर्यायसे सहित न हो। आप अपनी शक्तिसे द्रव्य और पर्याय—दोनोंका आलम्बन लेकर प्रवर्त्तमान हैं अतः आपकी पर्यायरूप अनन्त भूमिकाएँ स्वतः सिद्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पद्य द्वारा आचार्यने आत्मा की सामान्य विशेषरूपता सिद्ध की है क्योंकि विशेषके विना सामान्य, और सामान्यके बिना विशेष का अस्तित्व सिद्ध नहीं है ॥२॥

अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकतामुपैषि पर्यायमुखादनेकताम् ।
त्वमेव देवान्तिमपर्ययात्मना सुनिस्तुषांशः परमोऽवभाससे ॥३॥

अन्वयार्थ—(देव) हे प्रभो ! (त्वम्) आप (अखण्डितद्रव्यतया) अखण्ड द्रव्यकी अपेक्षा (एकताम्) एकत्व को और (पर्यायमुखात्) पर्याय की अपेक्षा अनेकत्व को (उपैषि) प्राप्त होते हैं । तथा (अन्तिमपर्यायात्मना) संसार सम्बन्धी अन्तिम पर्याय की अपेक्षा (परमः सुनिस्तुषांशः) परम शुद्धात्मरूप (अवभाससे) सुशोभित हैं ।

भावार्थ—जब द्रव्यस्वरूप की अपेक्षा आपका विचार करते हैं तब आप एक जान पड़ते हैं और कालक्रमसे होने वाली अनन्त पर्यायों की अपेक्षा जब विचार किया जाता है तब आप अनेक प्रतीत होते हैं । हे देव संसार सम्बन्धो पर्यायोंमें आपकी यह अन्तिम पर्याय है । इसके बाद आपको संसार की दूसरी पर्याय नहीं धारण करना है । इस अन्तिम पर्याय की अपेक्षा आप परमात्मा संज्ञा को प्राप्त हैं । अरहन्त अवस्थामें शरीर सहित होनेसे यद्यपि आप सकल परमात्मा कहलाते हैं तथापि अनन्तचतुष्टयकी अपेक्षा निष्कल परमात्मा—सिद्धपरमेष्ठीसे आपमें कोई न्यूनता नहीं है । ाप निष्तुष—निष्कल परमात्माके अंश ही हैं यहां एकत्व और अनेकत्व इन दो विरोधी धर्मोंका समन्वय करते हुए भगवान् का स्तवन किया गया है ॥३॥

त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा तदा प्रणश्यन्ति विशेषणानि ते ।
विशेषणानां विरहे विशेष्यतां विहाय देवास्तमुपैषि निश्चितम् ॥४॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (यदि त्वम्) यदि आप (सर्वथा) सब प्रकार से (एकतां) एकत्व को (यासि) प्राप्त होते हैं (तदा) तो (ते) आपके (विशेषणानि) विशेषण (प्रणश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं और (विशेषणानां विरहे) विशेषणोंका अभाव होनेपर (देव) हे देव ! आप (विशेष्यतां) विशेष्यताको (विहाय) छोड़कर (निश्चितं) निश्चितरूपसे (अस्तमुपैषि) अस्तको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—ऊपर द्रव्य और पर्यायकी अपेक्षा एकत्व तथा अनेकत्वकी संगति कर यहाँ विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा उनकी संगति बैठाते हैं । हे भगवन् ! आप विशेष्यकी अपेक्षा एक हैं और विशेषणोंकी अपेक्षा अनेक हैं । इसके विपरीत यदि आप सर्वथा एकत्वको प्राप्त होते हैं तो आपके नाना विशेषण नष्ट हो जाते हैं और जब नाना विशेषण नष्ट हो जाते हैं तो उनका आधारभूत विशेष्य भो नष्ट हो जाता है । अतः विशेष्य और विशेषणोंकी अपेक्षा आप एक तथा अनेकरूपता को प्राप्त हैं ॥४॥

ध्रुवं तव द्व्यात्मकतैव यद् भवान् स्वयं विशेष्योऽपि विशेषणान्यपि ।
विशेष्यरूपेण न यासि भिन्नतां पृथक् पृथक् भासि विशेषणश्रिया ॥५॥

अन्वयार्थ—(ध्रुवं) निश्चित ही (तव) आपके (द्व्यात्मकतैव) एकानेकरूपता है (यत्) क्योंकि (भवान्) आप (स्वयं) स्वयं (विशेष्योऽपि) विशेष्य होते हुए भी (विशेषणान्यपि) विशेषण भी हैं । आप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(विशेष्यरूपेण) विशेष्यरूपसे (भिन्नतां न यासि) भिन्नताको प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु (विशेषणश्रिया) विशेषणरूप लक्ष्मीके कारण (पृथक्-पृथक्) पृथक्-पृथक् (भासि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा जो एकानेकरूपता कही गई थी उसीका इस श्लोकमें समर्थन किया गया है। साथ ही विशेष्य और विशेषणकी अपेक्षा भेदाभेद रूपताका भी निर्देश किया गया है ॥५॥

विभो विशेष्यस्य तवाविशेषतो विशेषणानामविशेष एव न।
त्वया समं यान्ति न तानि भिन्नतां परस्परं भिन्नतयैवमीशते ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्! (विशेष्यस्य,तव) विशेष्यरूप आपकी (अविशेषतः) अविशेषतासे (विशेषणानां) विशेषणोंमें (अविशेषः) अविशेषता (नैव) नहीं है क्योंकि (तानि) वे विशेषण (त्वया समं) आपके साथ (भिन्नतां न यान्ति) भिन्नताको प्राप्त नहीं हैं परन्तु (एवं) इस तरह (परस्परं) परस्परमें वे (भिन्नतया) भिन्नरूपसे (ईशते) अपना प्रभुत्व रखते हैं।

भावार्थ—यहाँ विशेषणोंमें भेदाभेदकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि हे प्रभो! विशेष्यरूपताको धारण करनेवाले आपमें भी अविशेष—अभेद है उससे विशेषणोंमें अविशेष-अभेद सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वे आपके साथ यद्यपि अभेदको प्राप्त होते हैं तथापि परस्पर भेदरूप ही हैं अर्थात् एक विशेषण दूसरे विशेषणसे भिन्न ही है। अन्यथा उन विशेषणोंकी नानारूपता सिद्ध न होकर एकरूपता ही सिद्ध होती है ॥६॥

विभाति वृत्तिं न विनैव वृत्तिमान् न चास्ति वृत्तिः क्रममन्तरेण सा।
विगाह्य नित्यक्षणिकान्तरं महल्लसन्त्यनन्तास्तव कालपर्ययाः ॥७॥

अन्वयार्थ—(वृत्तिमान्) वर्तनाका आधारभूत द्रव्य (वृत्तिं विना) वर्तनाके बिना (नैव विभाति) सुशोभित नहीं होता (च) और (सा वृत्तिः) वह वर्तना (क्रममन्तरेण) क्रमके बिना (नास्ति) नहीं होती है। इस प्रकार (तव) आपकी (अनन्ताः कालपर्ययाः) कालद्रव्यकी अपेक्षा होनेवाली अनन्त पर्यायें (महत् नित्यक्षणिकान्तरं) नित्य और क्षणिकके महान् अन्तरका (विगाह्य) अवगाहन कर (लसन्ति) सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—कालद्रव्यके अपेक्षासे पदार्थमें जो प्रतिसमय वर्तना होती है उसे वृत्ति कहते हैं और वह वृत्ति जिसमें पायी जाती है उसे वृत्तिमान् कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार संसारका प्रत्येक पदार्थ वृत्तिमान् कहलाता है। वह वृत्तिमान् पदार्थ, वृत्तिके बिना नहीं होता है अर्थात् उसमें वृत्ति—वर्तना नियमसे होती है। यह वृत्ति क्रमसे होती है। इस प्रकार कालद्रव्यकी अपेक्षासे आपकी अनन्त वृत्तियाँ उल्लसित हो रही हैं। इन वृत्तियोंमें पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा एक समयका और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा बहुत कालका अन्तर विद्यमान रहता है ॥७॥

सतो न नाशोऽस्ति न चानसदुद्भवो व्ययोदयाभ्यां च विना न किञ्चन।
त्वमीश सन्नेव विवर्तसे तथा व्ययोदयौ ते भवतः सयं यथा ॥८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(सतः नाशो न अस्ति) सत्का नाश नहीं होता (च असदुद्भवः न) और असत् की उत्पत्ति नहीं होती (च व्ययोदयाभ्यां विना किञ्चन न) तथा व्यय और उत्पादके विना कोई पदार्थ नहीं है। (ईश) हे नाथ ! (त्वम्) आप (सन् एव) सत्‌रूप होते हुए ही (तथा विवर्तसे) उसप्रकार परिवर्तन करते हैं (यथा) जिसप्रकार कि (भवतः) आपके (व्ययोदयौ) व्यय और उत्पाद (समं भवतः) साथ ही हो जाते हैं।

भावार्थ—संसारसे सत् पदार्थका कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा सत्का नाश प्रतीत होता है तथापि द्रव्यकी अपेक्षा उसका नाश नहीं होता है अर्थात् किसी न किसी पर्याय में वह द्रव्य रहता ही है। इसीप्रकार जो पदार्थ असत् है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। संसारमें ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है जो उत्पाद और व्ययसे रहित हो अर्थात् सभी पदार्थोंमें उत्पाद व्यय होते हैं। हे भगवन् ! आप सत्‌रूप ही हैं यह निश्चित है और वस्तुस्वभावके कारण आपमें उत्पाद व्यय भी नियमसे होते हैं। यहाँ विरोधाभास यह है कि जब आप सत्‌रूप हैं तब आपमें उत्पाद और व्यय कैसे हो सकते हैं ? विरोधाभासका परिहार यह है कि आप द्रव्यकी अपेक्षा सत्‌रूप ही हैं और पर्यायकी अपेक्षा आपमें उत्पाद व्यय भी एकसाथ हो रहे हैं ॥८॥

उदीयमानव्ययमानमेव सद् विवर्तशून्यस्य न जातु वस्तुता ।
क्षणे क्षणे यन्नवतां न गाहते कथं हि तत्कालसहं भवेदिह ॥९॥

अन्वयार्थ—(उदीयमानव्ययमानमेव सत्) उत्पाद और व्ययसे युक्त ही सत् होता है क्योंकि (विवर्तशून्यस्य) उत्पाद व्ययरूप परिवर्तनसे शून्य वस्तुमें (जातु) कभीकी (वस्तुता न) वस्तुपना नहीं रहता है (हि) निश्चयसे (इह) इस लोकमें (यत्) जो वस्तु (क्षणे क्षणे) क्षण-क्षणमें (नवतां) नवीनताको (न गाहते) प्राप्त नहीं होती है (तत्) वह (कालसहं) कालद्रव्य को सहन करनेवाली (कथं भवेत्) कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—सत्की परिभाषा ही यही है कि जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे सहित हो उसे सत् कहते हैं। सत् ध्रौव्यरूप तो होता ही है परन्तु वह ध्रौव्यरूप सत् उत्पाद व्ययकी भी अपेक्षा रखता है क्योंकि उसके बिना उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। कालद्रव्यकी सहायतासे वस्तु क्षण-क्षणमें नवीनताको प्राप्त होती रहती है अर्थात् क्षण-क्षणमें नवीन पर्यायको धारण करती रहती है। इसके विपरीत यदि वस्तुको सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जावे तो फिर कालद्रव्यकी उपयोगिता ही क्या रह जाती है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥९॥

क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक् ध्रुवत्वमैक्यं नयते निरन्तरम् ।
अनन्तकालं कलयेति वाहयन् विभास्युभाभ्यामयमीश धारितः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे प्रभो ! (क्षणक्षयः) क्षण क्षणमें होनेवाला क्षय (त्वाम्) आपको (पृथक् पृथक्) पृथक् पृथक करता है और (ध्रुवत्वं) ध्रौव्य (निरन्तरं) सदा (ऐक्यं नयते) एकत्वको प्राप्त कराता है। (इति कलया) इसप्रकार क्षण-क्षणके द्वारा (अनन्तकालं वाहयन्) अनन्तकालको व्यतीत करते हुए (अयं) यह आप (उभाभ्यां) पृथक्त्व और अपृथक्त्व अथवा एकत्व और अनेकत्व इन दो धर्मोंसे (धारितः) धारण किये हुए (विभासि) सुशोभित हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षण-क्षमें होनेवाला उत्पाद और व्यय आपको पृथक्-पृथक् सिद्ध करना है और ध्रुवपना एकत्वको प्राप्त कराता है। इसप्रकार उत्पाद और व्यय की अपेक्षा पृथक्त्व अथवा अनेकत्व, और ध्रौव्यकी अपेक्षा अपृथक्त्व अथवा एकत्व-इन दो विरोधी धर्मोंसे आप युक्त हैं ॥१०॥

अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगादभूदसन्नेव च सिद्धपर्ययः।
तथापि सन्म्लानिमसद्विसर्पणं विनेश सन्नेव भवान् विभासते ॥११॥

अन्वयार्थ—यद्यपि (हि) निश्चयसे (तव) आपका (अयं) जो यह (भवः) मनुष्यभव (व्यगात्) व्यतीत हुआ है वह (सन् एव) सत्‌रूप होता हुआ ही व्यतीत हुआ है (च) और (सिद्धपर्ययः) जो सिद्धपर्याय (अभूत्) हुई है वह (असन् एव) असत् रूप होकर ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार सत्‌का नाश और असत्‌की उत्पत्ति सिद्ध होती है (तथापि) तो भी (ईश) हे प्रभो! (भवान्) आप (सन्म्लानिं) सत्‌का नाश और (असद्विसर्पणं) असत्‌की उत्पत्तिके (विना) बिना (सन् एव विभासते) सत्‌रूप ही सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—ऊपर जो कहा गया है कि सत्‌का नाश और असत्‌की उत्पत्ति नहीं होती, वह द्रव्यकी अपेक्षा कहा गया है क्योंकि किसी विद्यमान द्रव्यका सर्वथा नाश और अविद्यमान द्रव्यकी उत्पत्ति नही होती परन्तु पर्यायकी अपेक्षा विद्यमान पर्यायका ही नाश होता है और अविद्यमान पर्यायकी ही उत्पत्ति होती है। क्रमवर्ती होनेसे आगामी पर्यायका पिछली पर्यायमें अभाव ही रहता है। जैसे किसीने मनुष्य पर्यायके वाद सिद्धपर्याय प्राप्त की? यहाँ जिस मनुष्य पर्यायका नाश हुआ वह सत् रूप ही थी और जिस सिद्धपर्यायकी उत्पत्ति हुई वह मनुष्यपर्यायमें असत्‌रूप ही थी। इस तरह यद्यपि पर्यायकी अपेक्षा सत्‌का विनाश और असत्‌की उत्पत्ति देखी जाती है तथापि आप सत्‌के विनाश और असत्‌की उत्पत्तिके बिना सदा सत्‌रूप ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि आप न केवल पर्यायात्मक हैं और न केवल द्रव्यात्मक हैं किन्तु द्रव्य पर्यायात्मक हैं अतः पर्यायकी अपेक्षा आपमें उत्पादव्यय सिद्ध होते हैं—सत्‌का नाश और असत्‌की उत्पत्ति सिद्ध होती है परन्तु द्रव्यकी अपेक्षा आपका न नाश होता है और न उत्पत्ति—सदा सत्‌रूप ही रहते हैं ॥११॥

न भासि सामान्यविशेषवत्तया विभास्यसौ त्वं स्वयमेव तद्‌द्वयम्।
न वस्तु सामान्यविशेषमात्रतः परं किमप्येति विमर्शगोचरम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(असौ त्वम्) यह आप (सामान्यविशेषवत्तया) सामान्य और विशेषसे युक्त होनेके कारण (न भासि) सुशोभित नहीं हो रहे हैं किन्तु (स्वयं) स्वयं (तद्द्वयमेव) उन दोनों रूप ही—सामान्य-विशेषरूप ही (विभासि) सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि (सायान्यविशेषमात्रतः परं) सामान्य और विशेषमात्रसे अतिरिक्त (किमपि वस्तु) कोई भी वस्तु (विमर्शगोचरम्) विचारके विषयको (न एति) नहीं प्राप्त होती है।

भावार्थ—धर्म और धर्मी अथवा गुण और गुणीका जब भेदविवक्षासे कथन किया जाता है तब कहा जाता है कि हे प्रभो! आप सामान्य-विशेष धर्मसे सहित हैं परन्तु जब अभेदविवक्षा-से उनका कथन होता है तब यह कहा जाता है कि आप स्वयं ही सामान्य-विशेषरूप हैं। इसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण भी यह है कि अभेदविवक्षामें सामान्य-विशेष धर्मके अतिरिक्त कोई वस्तु है यह बात विमर्शकोटी-विचारकोटीमें नहीं आती है ।।१२।।

स्वयं समानैरिह भूयते हि यत् तदेव सामान्यमुशन्ति नेतरत् ।
समा विशेषास्तव देव यावता भवन्ति सामान्यमिहासि तावता ।।१३।।

अन्वयार्थ—(हि) निश्चयसे (इह) इस जगत्में (समानैः) समान वस्तुओंके द्वारा (यत्) जो (स्वयं) अपने आप (भूयते) हुआ जाता है अर्थात् वस्तुओंका जो स्वतःसिद्ध सादृश्य परिणमन है (तदेव) उसे ही (सामान्यम्) सामान्य (उशन्ति) कहते हैं (इतरत् न) अन्यको नहीं। (देव) हे भगवन् ! (तव) आपके (विशेषाः) विशेष (यावता) जितने अंशके द्वारा (समाः) समान (भवन्ति) होते हैं (तावता) उतने अंशसे आप (इह) इस लोकमें (सामान्यम् असि) सामान्यरूप हैं।

भावार्थ—यहाँ सामान्यका लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तुके विशेषोंमें जो स्वतःसिद्ध सादृश्य है वही सामान्य कहलाता है। सामान्यका निरुक्त अर्थ ऐसा है 'समानानां भावःसामान्यम्' अर्थात् समान धर्मोंका जो भाव है वह सामान्य है। हे भगवन् ! आप सामान्य-विशेषरूप हैं यह ऊपर कह आये हैं। यहाँ यह बतला रहे हैं कि आपमें रहनेवाला सामान्य क्या है ? आपमें रहनेवाले विशेषोंमें जो साम्य—सादृश्य है वही सामान्य है, उसी सादृश्यके कारण आप सामान्यरूप हैं ।।१३।।

यथैकतां यासि तथा समानता तथा विशेषाश्च यथा विशिष्यसे ।
स्वविक्रिया भाति तवैव सोभयी न भिन्नसामान्यविशेषभागसि ।।१४।।

अन्वयार्थ—आप (यथा) जिस प्रकार (एकतां यासि) एकत्वको प्राप्त होते हैं (तथा) उसी प्रकार (समानता) समानता है अर्थात् जिसरूपमें आपमें एकत्व है उसीरूपमें आपमें सामान्य धर्म स्थित है (च) और (यथा विशिष्यसे) जिस प्रकार विशेषरूपताको प्राप्त हैं—(तथा विशेषाः) उसी प्रकार विशेषरूप हैं। (तव) आपकी [या] जो (स्वविक्रिया) अपनी परिणति (भाति) सुशोभित है (सा उभयी एव) वह सामान्य-विशेषरूप ही है क्योंकि आप (भिन्नसामान्यविशेषभाग्) पृथग्वर्ती सामान्य और विशेषसे युक्त नहीं हैं।

भावार्थ—यहाँ आचार्य कहते हैं कि आपमें एकत्व स्थापित करनेवाला धर्म सामान्य कहलाता है और विशेषता स्थापित करनेवाला धर्म विशेष कहलाता है। यह सामान्य और विशेष्य धर्मरूप परिणति आपकी स्वयं है और उसका कारण है कि ये दोनों धर्म आपसे पृथक् नहीं हैं। अर्थात् आप सामान्य-विशेषात्मक ही हैं ।।१४।।

समा विशेषा भवतो भवन्ति ये व्रजन्ति ते भावमुखात् सामानताम् ।
विशेषरूपेण सदाऽसमानता विभो भवन्ती भवतो न भिद्यते ।।१५।।

अन्वयार्थ—(विभो) हे नाथ ! (भवतः) आपके (ये) जो (विशेषाः) विशेष (समाः) समान—सदृश (भवन्ति) हैं (ते) वे (भावमुखात्) भावकी अपेक्षा (समानतां) समानताको (व्रजन्ति) प्राप्त होते हैं (विशेषरूपेण) विशेषरूपसे (सदा) निरन्तर (भवन्ती) रहनेवाली (असमानता) असदृशता (भवतः) आपसे (न भिद्यते) भिन्न नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके विशेषोंमें जो समानता है वह सत्‌की अपेक्षा है। परन्तु वे ही विशेष, विशेषकी अपेक्षा असमान भी हैं। यदि उनमें समानता ही रहे तो उनकी विशेषता ही सुरक्षित नहीं रह सकती। यह आपकी असमानता भी आपसे भिन्न है क्योंकि असमानताका आधार जो विशेष है वह आपसे भिन्न नहीं है ॥१५॥

समग्रसामान्यमुपैति वस्तुतां न तन्मयद्रव्यभरात् पृथग्भवन् (त्)।
विशेषतां द्रव्यभरे तदर्प्पयद् विभागतस्तेष्वपि देव लीयते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (तन्मयद्रव्यभरात्) सामान्यसे तन्मय द्रव्यके समूहसे (पृथग्-भवत्) पृथग् होता हुआ (समग्रसामान्यं) समस्त सामान्य (वस्तुतां न उपैति) वस्तुपनेको प्राप्त नहीं होता है क्योंकि (द्रव्यभरे) द्रव्यों के समूहमें (विशेषतां) विशेषताको (अर्पयत्) अर्पित करता हुआ (तद्) वह समग्र सामान्य (विभागतः अपि) विभागरूपसे भी पृथक्-पृथक् (तेषु लीयते) उन द्रव्योंमें भी लीन रहता है।

भावार्थ—समस्त द्रव्योंमें पाया जानेवाला जो सादृश्य है वह समग्र सामान्य कहलाता है। यह समग्र सामान्य भी द्रव्योंसे पृथक् नहीं है। किन्तु उनमें विशेषताको प्रदान करता हुआ उन्हींमें लीन रहता है ॥१६॥

न चैकसामान्यमिदं तव प्रभो स्वपर्ययेभ्यः पृथगेव भासते।
स्वपर्ययाणां दृढयद् विशेषतामभागवृत्तं तदिहावभासते ॥१७॥

अन्वयार्थ—(च) और (प्रभो) हे प्रभो ! (तव) आपके मतमें (इदं एकसामान्यं) यह एक सामान्य भी (स्वपर्ययेभ्यः) अपनी पर्यायोंसे (पृथक्) जुदा (नैव भासते) नहीं सुशोभित होता है क्योंकि (तद्) वह (इह) इस लोकमें (स्वपर्ययाणां) अपनी पर्यायोंकी (विशेषतां) विशेषताको (दृढ्यत्) दृढ करता हुआ (अभागवृत्तं) अपृथक् ही (अवभासते) प्रतीत होता है।

भावार्थ—एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें जो समानता है उसे एक सामान्य कहते हैं। यह एक सामान्य भी अपनी पर्यायोंसे पृथक् नहीं है किन्तु उन्हींमें अविभक्त होकर रहता है ॥१७॥

तवेति सत् प्रत्ययपीतमञ्जसा समस्तमेतत्प्रतिभाति तन्मयम्।
अखण्डितः प्रत्यय एष ते तु सन् भवन्मयत्वं न जहाति जातुचित् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(सत्) सत्—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ (तव) आपके (प्रत्ययपीतं) ज्ञानके द्वारा पीत है—जाना गया है (इति) इसलिये (अञ्जसा) वास्तवमें (एतत् समस्तं) यह सब (तन्मयं) ज्ञानमय (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है (तु) और (ते) आपके (अखण्डितः प्रत्ययः) अखण्ड ज्ञानरूप (एषः सन्) यह सत् (भवन्मयत्वं) आपकी तन्मयताको (जातुचित्) कभी भी (न जहाति) नहीं छोड़ता है !

भावार्थ—ज्ञान जिस ज्ञेयको जानता है अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञेय ज्ञानरूप होता है और ज्ञान ज्ञातासे अभिन्न रहता है इसलिये ज्ञानको ज्ञातृरूप कहा जाता है। हे भगवन् ! यह सत् आपके ज्ञानके द्वारा जाना गया है इसलिये अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञानरूप ही है और ज्ञान आपसे अभिन्न है अतः यह ज्ञान आपरूप है आपसे तन्मय है ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो विभाति भावोऽत्र विशेषणं यथा।
तथान्यतोऽभाववतोऽनिवारितो भवत्वभावोऽपि विशेषणं तव ॥१९॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (स्वतः) स्वचतुष्टयसे (भाववतः) भावसे युक्त (तव) आपका (अत्र) इस लोकमें (यथा) जिस प्रकार (असौ भावः) यह भाव (विशेषणं विभाति) विशेषण सुशोभित है (तथा) उसी प्रकार (अन्यतः) परचतुष्टयसे (अभाववतः) अभावसे युक्त (तव) आपका (अनिवारितः) जिसे रोका न जा सके ऐसा (अभावः अपि) अभाव भी (विशेषणं) विशेषण (भवतु) हो।

भावार्थ—हे भगवन् ! स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सद्भावरूप होनेसे आपका जैसा 'भाव' विशेषण है वैसा ही परचतुष्टयकी अपेक्षा असद्भावरूप होनेसे आपका अभाव विशेषण भी है। तात्पर्य यह है कि आपमें भाव और अभाव ये दोनों विरोधी धर्म स्थित हैं। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भाव है और परचतुष्टयकी अपेक्षा अभाव है ॥१९॥

विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित् तदाश्रयो यः स तु भाववानिति।
न जात्वभावोऽपि निराश्रयः स्फुरेदभाववानापतितस्तदाश्रयः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(भावः) भाव (क्वचित्) कहीं भी (निराश्रयः) आश्रयसे रहित (न विभाति) नहीं रहता है इसलिये (यः) जो (तदाश्रयः) भावका आश्रय है (स तु) वह (भाववान्) भगवान् है—भावसे युक्त है (इति) ऐसा प्रसिद्ध है इसी प्रकार (अभावोऽपि) अभाव भी (जातु) कभी (निराश्रयः) आश्रयसे रहित (न स्फुरेत्) नहीं रह सकता है इसलिये (तदाश्रयः) अभावका जो आश्रय है वह (अभाववान्) अभाववान् है—अभावसे युक्त है ऐसा (आपतितः) आ उपस्थित होता है।

भावार्थ—भाव और अभाव ये दोनों धर्म बिना आधारके नहीं रह सकते इसलिये जिस प्रकार भावका आधार भाववान् कहलाता है उसी प्रकार अभाव का आधार अभाववान् कहलाता है। यतश्च आप भाव और अभाव दोनोंके आधार हैं इसलिये भाववान् और अभाववान्—दोनों हैं ॥२०॥

तयोः सहैवापपतोर्विरुद्धयोर्न निर्विरोधं तव वस्तु शीर्यते।
उदीयते देव तथैव तत्परं भवत् किलात्मा पर एव चाभवत् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(विरुद्धयोः) परस्पर विरुद्ध रहनेवाले (तयोः) उन भाव और अभावरूप धर्मोंके (निर्विरोधं) निर्विरोधरूपसे (सहैव) साथ ही (आपततोः) आनेपर—सिद्ध होनेपर (तव) आपके मतमें (वस्तु) वस्तु (न शीर्यते) नष्ट नहीं होती है किन्तु (देव) हे प्रभो ! (तत्) वह वस्तु (परं भावाभावभवत्) पररूप-होती हुई (तथैव उदीयते) उसी प्रकार उत्पन्न होती है (किल) निश्चय से (आत्मा च) आपका आत्मा भी (पर एव अभवत्) पररूप होता हुआ उत्पन्न हुआ है—भावाभावरूपसे सिद्ध हुआ है।

भावार्थ—यद्यपि भाव और अभाव ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं तथापि स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा दोनों एक साथ ही वस्तुमें सिद्ध होते हैं और उनके सिद्ध होनेपर वस्तु विखरती नहीं है—नष्ट नहीं होती है किन्तु भावाभाववान्‌के रूपमें सिद्ध होती है। इसी प्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपका आत्मा भी, भाव और अभाव इन दो विरोधी धर्मोंके एक साथ सिद्ध होनेपर विखरकर नष्ट नहीं होता है किन्तु भावाभाववान्‌के रूपमें सिद्ध होता है ॥२१॥

न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता स्वयं हि वस्त्वाश्रयतोर्जितं नयात् ।
यथास्ति भावः सकलार्थमण्डली तथाऽस्त्यभावोऽपि मिथो विशेषणात् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जातु) कभी (अभावस्य) अभावकी (तुच्छता) तुच्छरूपता (न विभाति) नहीं है (हि) क्योंकि (नयात्) नय विवक्षासे वह (स्वयं) स्वयं ही (वस्त्वाश्रयतोर्जितं) वस्तुकी आश्रयतासे शक्ति सम्पन्न रहता है अर्थात् अभाव, सर्वथा अभावरूप नहीं होता है किन्तु वस्तुके आश्रयसे रहनेके कारण वह भी भावके समान बलिष्ठ होता है। (यथा) जिस प्रकार (सकला) सम्पूर्ण (अर्थमण्डली) पदार्थ समूह (भावः अस्ति) भावरूप है (तथा) उसी प्रकार (मिथो विशेषणात्) परस्पर विशिष्ट होनेसे—परस्पर भेद करनेसे (अभावोऽपि) अभावरूप भी (अस्ति) है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके मतमें अभावको तुच्छाभावरूप नहीं माना है क्योंकि जो अभाव है वह भी किसी वस्तुके आश्रयसे रहता है अतः उस आधारभूत वस्तुकी अपेक्षा वह अभाव भी कथंचित् भावरूप होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार संसारके समस्त पदार्थ भावरूप हैं उसी प्रकार अभावरूप भी हैं और उसका कारण है कि समस्त पदार्थ परस्पर विशिष्ट हैं अर्थात् एक दूसरेसे भिन्न हैं अतः एकमें दूसरेका अभाव रहता है। इस स्थितिमें जो पदार्थ परकी अपेक्षा अभावरूप है वही पदार्थ स्वकी अपेक्षा भावरूप भी होता है ॥२२॥

स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभो स्थितः समस्तेऽपि परस्पराश्रयात् ।
नयत्ययं त्वां स्वमुखेन दारुणः स्फुटैकसंविन्मयमीश शून्यताम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (परस्पराश्रयात्) परस्परके आश्रयसे (समस्तेऽपि) सभी पदार्थोंमें (स्थितः) स्थित रहनेवाला (यः सकलस्य अभावः) जो सर्वाभाव (स्फुरति) स्फुरित हो रहा है (दारुणः) तीक्ष्णताको धारण करनेवाला (अयं) यह सर्वाभाव (ईश) हे नाथ ! (स्फुटैकसंविन्मयं त्वां) स्पष्ट ही एक ज्ञानसे तन्मय रहनेवाले आपको (स्वमुखेन) अपने रूपसे (शून्यतां नयति) शून्यताको प्राप्त करा रहा है।

भावार्थ—संसारके प्रत्येक पदार्थमें उसके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थोंका अभाव रहता है। यदि ऐसा न माना जावे तो उस पदार्थका अन्य पदार्थोंसे व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता। हे प्रभो ! आप ज्ञानसे तन्मय हैं अतः ज्ञेयरूप अन्य पदार्थोंका आपमें अभाव है। इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि ईश ! यह सर्वाभाव इतना दारुण है—इतना कठोर है कि वह आपमें समस्त ज्ञेयोंकी शून्यताको सिद्ध करता है ॥२३॥

करोति भावस्तव बोधवस्तुतां करोत्यभावोऽप्यविशेषतोऽत्र ताम् ।
उभौ समं तौ लि (नि) हतो भृताभृतौ प्रसह्य सर्वं सह संविदर्चिषा ॥२४॥

अन्वयार्थ—(भावः) भाव, (तव) आपकी (बोधवस्तुतां) ज्ञानरूपताको (करोति) करता है अर्थात् भावकी अपेक्षा आप ज्ञानरूप हैं और (अभावः अपि) अभाव भी (अविशेषतः) सामान्य-रूपसे (अत्र) इस जगत्‌में आपकी (तां) ज्ञानरूपता करता है (समं) एक साथ (भृताभृतौ) धारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किये हुए (तौ) वे दोनों भाव-अभावरूप धर्म (संविदर्चिषा सह) ज्ञानरूप ज्योतिके साथ (सर्वं) सबको (प्रसह्य) बलपूर्वक (निहत:) नष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—जब भावकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब हे भगवन्! आप ज्ञानरूप हैं ऐसा सिद्ध होता है और अभावकी अपेक्षा विचार किया जाता है तब आप ज्ञेयरूप नहीं हैं—उनकी शून्यता आपमें है ऐसा सिद्ध होता है। ये भाव और अभाव एक ही साथ आपमें रहते हैं इसलिये ये बलपूर्वक सबका अभाव करते हैं। अर्थात् आप ज्ञानरूप हैं इस पक्षमें ज्ञेयका अभाव करते हैं और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञेयरूप हैं इस पक्षमें ज्ञानका अभाव करते हैं ॥२४॥

त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवन् ममानिशं वर्द्धत एष भस्मकः।
प्रसीद विश्वैककरम्बितः समं विश प्रभोऽन्तस्त्वमनन्त एव मे ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (त्वदंशसंधुक्षणदारुणः भवन्) जो आपके एक अंश—भाव या अभावके संधुक्षण—समुत्तेजन से कठिन हो रहा है ऐसा (मम) मेरा (एष भस्मकः) यह भस्मक रोग (अनिशं) निरन्तर (समं) एक साथ (वर्द्धते) बढ़ता जा रहा है इसलिये (त्वम्) आप (प्रसीद) प्रसन्न हों और (विश्वैककरम्बितः 'सन्') समस्त पदार्थों—समस्त अन्तर्ज्ञेयोंसे एकाकार होते हुए (मम अन्तः) मेरे भीतर—मेरे अन्तःकरणमें (विश) प्रवेश करें (प्रभो) हे विभो! आप (मे) मेरे लिये (अनन्त एव) अनन्त ही हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके एक अंशके ज्ञानसे मेरी जिज्ञासा—जाननेकी उत्कण्ठा शान्त न होकर बढ़ती ही जा रही है अतः आप प्रसन्न होकर मेरे हृदयमें पूर्णरूपसे प्रवेश कीजिये अर्थात् मुझमें इतनी बुद्धि प्रकट कीजिये जिससे मैं आपके भाव-अभाव आदि परस्पर विरोधी धर्मोंको समझ सकूं। मेरी दृष्टिमें आप एक नहीं हैं किन्तु अनन्त हैं अर्थात् अनन्त धर्मोंसे सहित हैं ॥२५॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२२)

मन्दाक्रान्ता

प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्त निष्कम्पदीव्यद्-
वाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य ।
मग्नां मग्नां दृशमतिशयान्मज्जयनन्तरन्तः
स्वामिन्नर्हन् वहति भवतः कोऽयमानन्दवाहः ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन् अर्हन्) हे अर्हन्त देव ! (प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितैकान्तनिष्कम्पदीव्यद्वाह्यस्पर्शप्रणयविमुखाक्षीणसंवेदनस्य) प्रत्यक्ष ज्योतिके समूहसे सहित, अत्यन्त निश्चल और प्रतिफलित होनेवाले बाह्य पदार्थोंके अनुभवन सम्बन्धी रागसे पराङ्मुख है अविनाशी ज्ञान जिनका ऐसे (भवतः) आपका (मग्नां मग्नां) अत्यन्त मग्न (दृशम्) दृष्टिको (अतिशयात्) अत्यधिकरूपसे (अन्तरन्तः) भीतर-भीतर (मज्जयन्) निमग्न करता हुआ (अयं कः) यह कौन मुख (आनन्दवाहः) अनन्त सुखका पूर (वहति) बह रहा है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके सर्वदेश प्रत्यक्ष केवलज्ञानमें संसारके अनन्तानन्त पदार्थ ज्ञेय बनकर यद्यपि सदाके लिये प्रतिबिम्बित हो रहे हैं तथापि मोहजन्य विकारका अभाव हो जानेसे आप उनके स्पर्शन—अनुभवनसे सदा विमुख रहते हैं। जिस प्रकार दर्पण अपने आपमें प्रतिबिम्वित पदार्थोंके अनुभवनसम्बन्धी रागसे रहित होता है उसी प्रकार आप भी अपने प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रतिविम्बित बाह्य पदार्थोंके अनुभवनसम्बन्धी रागसे रहित हैं इसी कारण आप अक्षीणसंवेदन हैं—अनन्त ज्ञेयोंके ज्ञायक होकर भी उनके अनुभवनसे रहित हैं। बारहवें गुणस्थानमें आपको जो दृष्टि बाह्य पदार्थोंसे हटकर स्वरूपमें निमग्न हो रही थी उस दृष्टिको आप और भी अधिक स्वरूपमें निमग्न कर रहे हैं। इस दशामें जो आपके निराकुलतारूप अनन्त सुखका प्रवाह प्रकट हो रहा है वह अभूतपूर्व है—उसकी महिमा वचनोंके द्वारा नहीं कही जा सकती है ॥१॥

किञ्च ब्रूमः किमिह दहनादिन्धनं स्याद् विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति दहनेनेन्धनं नाग्निरेव ।
ज्ञेयं ज्ञानात् किमु च भवतो विश्वमेतद्विभिन्नं
येन व्याप्तं भवति भवतो नेश विश्वं त्वमेव ॥२॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (किञ्च ब्रूमः) हम कुछ कहते हैं कि (इह) इस जगत्में (किम्) क्या (इन्धनं) ईन्धन (दहनात्) दाहसे (विभिन्नं स्यात्) पृथक् है (येन) जिससे (दहनेन) दाहके द्वारा (इन्धनं व्याप्तं न भवति) ईन्धन व्याप्त नहीं होता है किन्तु (अग्निरेव 'व्याप्तो भवति') अग्नि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही व्याप्त होती है। (च) और (एतत् विश्वं ज्ञेयं) यह समस्त विश्वरूप ज्ञेय (किमु) क्या (भवतो ज्ञानात् विभिन्नं) आपके ज्ञानसे पृथक् है (येन) जिससे (भवतः ज्ञानेन) आपके ज्ञानसे (विश्वं व्याप्तं न भवति) यह विश्व व्याप्त नहीं है किन्तु (त्वमेव) आप ही व्याप्त हैं।

भावार्थ—अग्नि, दाह और ईन्धन ये तीन पदार्थ हैं इनमें जिस प्रकार अग्नि दाहसे अभिन्न है इसी प्रकार क्या दाहसे ईन्धन भी अभिन्न है? इसका उत्तर नयविवक्षासे यह दिया जाता है कि जब ईन्धन, अग्निसे व्याप्त होकर अग्निरूप हो जाता है तब दाह भी ईन्धनसे अभिन्न हो जाता है। इसी तरह आप, आपका ज्ञान और ज्ञेय ये तीन पदार्थ हैं। इनमें जिस प्रकार आप, अपने ज्ञानसे अभिन्न हैं इसी प्रकार क्या ज्ञेयसे भी अभिन्न हैं? इसका उत्तर यह है कि जिस समय ज्ञान, ज्ञेय को जानता है उस समय ज्ञान, ज्ञेयाकार होनेके कारण ज्ञेयसे अभिन्न होता है और उस प्रकारके ज्ञानसे आप अभिन्न हैं अतः आप भी ज्ञेयसे अभिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि बहिर्ज्ञेय और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञेयके दो भेद हैं। घट-पटादि बाह्य पदार्थ बहिर्ज्ञेय हैं और ज्ञानमें प्रतिबिम्बित घट-पटादि अन्तर्ज्ञेय हैं। बहिर्ज्ञेय तो आपसे तथा आपके ज्ञानसे स्पष्ट ही भिन्न हैं परन्तु अन्तर्ज्ञेय, ज्ञानकी परिणतिरूप होनेसे ज्ञान ही हैं और जब ज्ञान, ज्ञेयरूप हो जाता है तब ज्ञानसे अभिन्न रहनेवाले आप भी ज्ञेयरूप हैं—उससे अभिन्न हैं.... यह सिद्ध है ॥२॥

नूनं नान्तर्विशति न बहिर्याति किन्त्वान्त एव (किन्त्वन्तरेव)
व्यक्तावर्तं मुहुरिह परावृत्तिमुच्चैरुपैति ।
ज्ञानास्याद्वः क्व किल निपतेत् पीतसर्वावकाशः
सर्वद्रव्यस्वरसविशदो विश्वगण्डूष एषः ॥३॥

अन्वयार्थ—(पीतसर्वावकाशः) जिसने ज्ञानके समस्त अवकाशको व्याप्त कर लिया है तथा जो (सर्वद्रव्यस्वरसविशदः) समस्त द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपसे युक्त है ऐसा (एषः) यह (विश्वगण्डूषः) विश्वरूपी कुरला (वः) आपके (ज्ञानास्यात्) ज्ञानरूपी मुखसे निकलकर (किल) निश्चयसे (क्व) कहाँ (निपतेत्) गिरे? अर्थात् कहीं नहीं (नूनं) निश्चयसे वह विश्वरूपी कुरला (न अन्तर्विशति) न तो भीतर प्रवेश करता है और (न बहिर्याति) न बाहर जाता है (किन्तु) परन्तु (अन्तरेव) भीतर ही (इह) ज्ञानरूपी मुखमें (मुहुः) बारबार (व्यक्तावर्तं) आवर्तको प्रकट करता हुआ (उच्चैः) अत्यधिक (परावृत्तिं) परिवर्तनको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसीके मुखमें स्थित पानीका कुरला न भीतर जा रहा हो और न बाहर आ रहा हो किन्तु मुखके भीतर ही लोट-पोट होरहा हो उसी प्रकार हे भगवन्! आपके ज्ञानरूपी मुखमें जो विश्वरूपी कुरला समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर भरा हुआ है अर्थात् आपके ज्ञानमें जो समस्त द्रव्योंसे युक्त विश्व व्याप्त हो रहा है वह न तो ज्ञानके भीतर प्रवेश करता है—बहिर्ज्ञेय होनेके कारण ज्ञानसे तन्मय नहीं होता है और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानरूप हो जाने के कारण उससे बाहर भी नहीं जाता है। इस तरह वह ज्ञानरूपी मुखसे निकल कर कहाँ गिरे? अर्थात् कहीं नहीं। भाव यह है कि केवलज्ञानमें जो पदार्थ प्रतिफलित होते हैं वे सदाके लिये प्रतिफलित हो जाते हैं। बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा वे उसके भीतर प्रवेश नहीं करते और अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा बाहर नहीं निकलते तथा स्वयं परिवर्तनशील होनेसे उसीके भीतर परिवर्तन करते रहते हैं॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्भागोऽपि प्रसभमभितः खण्ड्यसे त्वं नयौघैः
खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं संदधाति प्रमैव।
देवाप्येवं भवति न भवान् खण्डितायोजितश्री-
रन्यैव श्रीः स्फुरति सहजाखण्डखण्डैव भर्तुः ॥४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (त्वं) आप (निर्भागोऽपि) भाग रहित होनेपर भी (अभितः) सब ओरसे (नयौघैः) नयोंके समूह द्वारा (प्रसभं) हठपूर्वक (खण्डयसे) खण्ड-खण्ड होते हैं—भाग-सहित किये जाते हैं। और (खण्डं खण्डं कृतमपि विभुं) खण्ड खण्ड किये हुए भी आपको (प्रमैव) एक ज्ञान ही (संदधाति) मिलाता है (एवमपि) ऐसा होनेपर भी (भवान्) आप (खण्डितायोजित-श्रीः) खण्डित होकर पश्चात् मिली हुई लक्ष्मीसे युक्त (न भवति) नहीं हैं (भर्तुः) आपकी (श्रीः) लक्ष्मी (अन्यैव) अन्य ही (स्फुरति) प्रकट होती है जो (सहजाखण्डखण्डैव) स्वाभाविकरूपसे अखण्ड खण्ड ही है।

भावार्थ—हे भगवन्! यद्यपि आप प्रदेशभेद न होनेसे अखण्डरूप हैं तथापि गुण गुणी, धर्म धर्मी, तथा द्रव्य पर्याय आदिको विषय करनेवाले नयसमूहके द्वारा बलपूर्वक खण्डरूपको प्राप्त होते हैं। इस तरह आप नयसमूहकी अपेक्षा यद्यपि खण्ड खण्ड हो रहे हैं तथापि प्रमा—ज्ञानरूप परिणति आपको मिलाती रहती है अर्थात् गुण गुणी आदिका भेद होनेपर भी ज्ञान परिणति आपको अखण्ड बनाये रखती है। इस तरह यद्यपि आप नयसमूहकी अपेक्षा खण्ड खण्ड हैं तथापि खण्डित होकर मिलनेवाली लक्ष्मीसे युक्त नहीं हैं। आपकी लक्ष्मी एक दूसरी ही है जो स्वाभाविकरूपसे अखण्ड खण्ड ही है ॥४॥

भिन्नोऽभेदं स्पृशति न विभो नास्त्यभिन्नस्य भेदो
भेदाभेदद्वयपरिणतस्त्वं तु नित्यं तथापि।
भिन्नैर्भावैर्वरद भवतो भिन्नभावस्य साक्षात्
स्वामिन् कान्या गतिरिह भवेत् तद्द्वयं ते विहाय ॥५॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो! यद्यपि (भिन्नः अभेदं न स्पृशति) भिन्न पदार्थ अभेदका स्पर्श नहीं करता है और (अभिन्नस्य भेदो नास्ति) अभिन्न पदार्थका भेद नहीं होता है (तु) किन्तु (तथापि) तो भी (त्वं) आप (नित्यं) निरन्तर (भेदाभेदद्वयपरिणतः) भेद और अभेद दोनोंरूप परिणत हैं (वरद) हे उत्कृष्ट पदार्थोंके दायक! (स्वामिन्) नाथ (भिन्नैः भावैः) भिन्न भावोंके द्वारा (भवतः) संसारसे (साक्षात्) प्रत्यक्ष ही (भिन्नभावस्य) पृथक्त्वको धारण करनेवाले और (भिन्नैः भावैः भवतः) अपने नाना गुणोंके द्वारा साक्षात् (अभिन्नभावस्य) अभिन्नभावको धारणकरनेवाले (ते) आपकी (इह) इस जगत्में (तद्द्वयं) भेदाभेदको (विहाय) छोड़कर (अन्या का गतिः भवेत्) दूसरी कौन गति हो सकती है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—हे भगवन्! वस्तुसमूहकी ऐसी मर्यादा है कि जो वस्तु भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होती और जो अभेदरूप है वह भेदरूप नहीं होती किन्तु आप निरन्तर भेदाभेद—दोनों रूप हैं। इसका कारण है कि आप भिन्न—कर्म नोकर्म आदिसे पृथक् भावोंके द्वारा साक्षात् ही संसारके अन्य पदार्थोंसे पृथक् जान पड़ते हैं और अपने नाना प्रकारके भाव—गुणोंके द्वारा अभिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावको प्राप्त प्रतीत होते हैं अर्थात् आप अपने गुणोंसे भिन्न—पृथक् नहीं हैं इसलिये आप भेदाभेद-रूप हैं। यहाँ तृतीय चरणके 'भवतो भिन्नभावस्य' इन पदोंका एक पक्षमें भव—संसारसे पृथक्त्वको धारण करनेवाले यह अर्थ है और दूसरे पक्षमें भवतः—आपके अर्थात् अपने 'भावैः'—गुणोंके द्वारा अभिन्नभावको—अपृथक्त्व भावको धारण करनेवाले, यह अर्थ है। अथवा भाव और भाववान् अर्थात् गुण और गुणीमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिये अभेदरूप हैं और संज्ञा संख्या लक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है अतः भेदरूप हैं ॥५॥

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं विनासौ विशेषै-
निःसामान्याः स्वमिह किममी धारयन्ते विशेषाः।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जो
दृक्संवित्तिस्फुरितसरसस्त्वं हि वस्तुत्वमेषि ॥६॥

अन्वयार्थ—(विशेषैर्विना) विशेषोंके बिना (किं) क्या (सामान्यस्य) सामान्यकी (महिमा) (उल्लसति) उल्लसित होती है? अर्थात् नहीं होती, और (इह) इस लोकमें (निःसामान्याः) सामान्यसे रहित (अमी विशेषाः) ये विशेष (किम्) क्या (स्वम्) अपने आपको (धारयन्ते) धारण करते हैं? अर्थात् नहीं करते। (हि) निश्चयसे (एकद्रव्यग्लपितविततानन्तपर्यायपुञ्जः) जिनके एक द्रव्यकी विस्तृत अनन्त पर्यायोंका समूह बीत चुका है अर्थात् जो नाना पर्यायोंके द्वारा विशेषरूप हैं और (दृक्संवित्तिस्फुरितसरसः) जो दर्शन और ज्ञानके चमत्कारसे सरस हैं अर्थात् दर्शन और ज्ञानकी अपेक्षा सामान्यरूप हैं ऐसे (त्वम्) आप (वस्तुत्वम्) वस्तुपनेको (एषि) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—संसारके समस्त पदार्थ-सामान्य विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक हैं। सामान्यके बिना विशेष और विशेषके बिना सामान्य अथवा द्रव्यके बिना पर्याय और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं होता। हे भगवन्! यद्यपि आप एक अखण्ड द्रव्य हैं। तथापि उसकी अनन्त पर्याय बीत चुकी हैं उन पर्यायोंकी अपेक्षा आप विशेषरूप हैं और उन समस्त पर्यायोंमें आप दर्शन ज्ञानरूप चैतन्य चमत्कारसे युक्त रहते हैं इसलिये उसकी अपेक्षा सामान्यरूप हैं। इस तरह आप सामान्य विशेष-रूप होकर ही वस्तुपनेको प्राप्त हैं। शास्त्रमें वस्तुका लक्षण 'सामान्यविशेषात्मकं वस्तु' कहा भी है ॥६॥

एकोऽनेको न भवति न चानेक एकत्वमेति
व्यक्तं ह्येतत्तदुभयमयस्त्वं तु किं स्यान्न विद्मः।
जानीमोऽन्यद्भवति किल यो यत्समाहारजन्मा
तस्यावश्यं भवति युगपत्तत्स्वभावोऽनुभावः ॥७॥

अन्वयार्थ—(एकः अनेकः न भवति) एक अनेक नहीं होता है (च) और (अनेकः) अनेक (एकत्वं न एति) एकत्वको प्राप्त नहीं होता है (एतत् व्यक्तं) यह स्पष्ट है (तु) किन्तु (हि) निश्चयसे) तदुभयमयः त्वम्) इन दोनोंरूप—एकानेकरूप रहनेवाले (किं स्यात्) क्या हैं यह (न विद्मः) हम नहीं जानते (अन्यत् जानीमः) यह जानते हैं कि (यः) जो (किल) निश्चयसे (यत्समाहारजन्मा भवति) जिनके समूहसे उत्पन्न होता है (तस्य) उसका (अनुभावः) परिणमन (युगपत्) एक साथ (अवश्यं) अवश्य ही (तत्स्वभावः) उस स्वभाववाला (भवति) होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—संसारका ऐसा नियम है कि जो एक है वह अनेक नहीं होता और जो अनेक है वह एक नहीं होता परन्तु आप एकानेकरूप हैं। क्योंकि सामान्य गुणीकी अपेक्षा आप एक हैं और नाना गुणोंके समूहसे युक्त होनेके कारण आप अनेकरूप हैं ॥७॥

अन्यो नश्यत्युदयति परः शश्वदुद्भासतेऽन्य-
स्तीव्रस्तस्मिंस्तव समतया पक्षपातस्त्रयोऽपि ।
तेन ध्रौव्यप्रभवविलयालिङ्गितोऽसि स्वयं त्वं
त्वत्तो बाह्यं त्रितयमपि तच्छून्यमेवान्यथा स्यात् ॥८॥

अन्वयार्थ—(अन्यः नश्यति) अन्य पदार्थ नष्ट होता है (परः) अन्य (उदयति) उत्पन्न होता है और (अन्यः) अन्य (शाश्वत्) निरन्तर (उद्भासते) विद्यमान रहता है किन्तु (तस्मिन्) उस पदार्थ में (समतया) समानरूपसे (त्रयः अपि) व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य—तीनों होते हैं ऐसा (तव) आपका (तीव्रः) अत्यधिक (पक्षपातः) पक्षपात है (तेन) इसलिये (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (ध्रौव्यप्रभव-विलयालिङ्गितः असि) ध्रौव्य उत्पाद और व्यय इन तीनोंसे युक्त हैं (अन्यथा) यदि ऐसा न माना जावे तो (तत् त्रितयमपि) वह त्रिक भी (त्वत्तो बाह्यं) आपसे पृथक् होता हुआ (शून्यमेव स्यात्) शून्य ही हो जावेगा।

भावार्थ—पदार्थकी उत्पत्तिको उत्पाद, विनाशको व्यय और सदा विद्यमान रहनेको ध्रौव्य कहते हैं। किसीका मत है कि ये तीनों, पृथक्-पृथक् पदार्थमें होते हैं परन्तु आपका मत है कि ये तीनों समानरूपसे एक ही पदार्थमें होते हैं अर्थात् एक ही द्रव्यमें पर्यायोंकी अपेक्षा ये तीनों होते हैं। यही कारण है कि आप स्वयं इन तीनोंसे आलिङ्गित हैं—युक्त हैं यदि आपसे इन तीनों-को सर्वथा पृथक् माना जाता है तो निराश्रय होनेसे ये तीनों ही नष्ट हो जाते हैं ॥८॥

भावाभावं तव रचयतः कुर्वतो भावभावं
नूनं भावो भवति भगवन् भावनाशोऽस्ति कोऽन्यः ।
अस्तित्वस्यास्खलितभवनोल्लासमात्रं यथैतद्
भङ्गोत्पादद्वयमपि तथा निश्चितं तत्त्वमेव ॥९॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (भावाभावं) पदार्थके अभावको (रचयतः) रचनेवाले और (भावभावं) पदार्थके उत्पादको (कुर्वतः) करनेवाले (तव) आपके (नूनं) निश्चित ही (भावो भवति) उत्पाद होता है इसके अतिरिक्त (अन्यः भावनाशः कः अस्ति) इसके सिवाय भावका नाश—व्यय क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। (यथा) जिस प्रकार (एतत्) यह (अस्तित्वस्य) अस्तित्वधर्मका (अस्खलितभवनोल्लासमात्रं) अस्खलितरूपसे उल्लसित होना—ध्रौव्यरूप होना तत्त्व है (तथा) उसी प्रकार (भङ्गोत्पादद्वयमपि) व्यय और उत्पाद ये दोनों भी (निश्चितं) निश्चित-रूपसे (तत्त्वमेव) तत्त्व ही हैं।

भावार्थ—जो पदार्थके अभाव—व्ययको करता है अथवा भावके भाव—उत्पादको करता है उसके निश्चित ही उत्पाद होता है क्योंकि पूर्व पर्यायका नाश होना ही उत्तर पर्यायका उत्पाद है और उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना ही पूर्व पर्यायका व्यय है। इसके अतिरिक्त उत्पाद और व्यय क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सत्ताका निरन्तर विद्यमान रहनेरूप ध्रौव्य पदार्थका स्वरूप है उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्यायके नाश और उत्पत्तिरूप व्यय और उत्पादसे दोनों भी पदार्थके स्वरूप हैं। मात्र ध्रौव्यके स्वीकृत करनेसे पदार्थमें कूटस्थ नित्यता आती है और मात्र उत्पाद व्ययके स्वीकृत करनेसे अनित्यता आती है। पदार्थ नित्यानित्यात्मक है इसलिये वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनोंसे तन्मय है ॥९॥

एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा प्रागभावाद्यभावै—
राक्रान्तोऽपि स्फुरसि भगवंस्त्वं सदा भाव एव।
एकोऽपि त्वं प्रसभमभितः प्रागभावाद्यभावै—
भिन्नः स्वामिन् कृतपरिणतिर्भासि रूपैश्चतुर्भिः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो ! (अस्खलितमहिमा) अखण्ड महिमाके धारक (कोऽपि एकः त्वम्) कोई एक आप (प्रागभावाद्यभावैः) प्रागभाव आदि अभावोंसे (आक्रान्तोऽपि) व्याप्त होने पर भी (सदा भाव एव स्फुरसि) सदा भावरूप ही सुशोभित होते हैं। (स्वामिन्) हे नाथ ! (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होने पर भी (अभितः) सब ओरसे (प्रसभं) हठपूर्वक (प्रागभावाद्यभावैः) प्रागभाव आदि अभावोंसे (भिन्नः) नानारूप होकर (चतुर्भिः रूपैः) चार रूपों से (कृतपरिणतिः) परिणत (भासि) प्रतीत हो रहे हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपकी महिमा अनिर्वचनीय है क्योंकि आप प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंसे युक्त होकर भी सदा भावरूप ही रहते हैं अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा आप उपर्युक्त अभावोंसे युक्त होकर भी द्रव्यकी अपेक्षा सदा भावरूप ही रहते हैं। इसी प्रकार यद्यपि द्रव्यकी अपेक्षा आप एक हैं तथापि पर्यायकी अपेक्षा उपर्युक्त चार अभावोंसे युक्त होनेके कारण चाररूप अनुभवमें आते हैं ॥१०॥

पूर्णः पूर्णो भवति नियतं रिक्त एवास्ति रिक्तो
रिक्तः पूर्णस्त्वमसि भगवन् पूर्ण एवासि रिक्तः।
यल्लोकानां प्रकटमिह ते तत्त्वघातोद्यतं तद्
यत्ते तत्त्वं किमपि न हि तल्लोकदृष्टं प्रमार्ष्टि ॥११॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (पूर्णः नियतं पूर्णः भवति) जो पूर्ण होता है वह नियमसे पूर्ण ही होता है और (रिक्तः रिक्त एव अस्ति) जो रिक्त है वह रिक्त ही रहता है। परन्तु (त्वम्) आप (रिक्तः पूर्णः असि) रिक्त होकर भी पूर्ण हैं और (पूर्ण एव रिक्तः असि) पूर्ण होकर भी रिक्त हैं। (इह) इस जगत्में (लोकानां यत् प्रकटं) लोगोंके मध्य जो प्रकट है कि पूर्ण, पूर्ण ही रहता है और रिक्त, रिक्त ही रहता है (तद्) वह (ते) आपके (तत्त्वघातोद्यतं) तत्त्वका घात करनेवाला है परन्तु (ते यत् किमपि तत्त्वं) आपका जो कोई अनिर्वचनीय महिमासे युक्त तत्त्व है (तत्) वह (हि) निश्चयसे (लोकदृष्टं) लोकमें देखे गये तत्त्वको (न प्रमार्ष्टि) नष्ट नहीं करता है। अर्थात् आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व लोकसिद्ध तत्त्वका प्रतिपादन करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—कुछ दर्शनकारोंकी मान्यता है कि जो पूर्ण है वह सदासे पूर्ण है और सदा पूर्ण रहेगा तथा किन्हींकी मान्यता है कि जो रिक्त है वह सदासे रिक्त है और सदा रिक्त रहेगा परन्तु हे भगवन् ! आप रिक्त होकर भी पूर्ण हैं अर्थात् कर्मोदयजन्य विकारी भावोंसे रहित होकर भी स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण हैं और पूर्ण होकर भी—स्वाभाविक गुणोंसे पूर्ण होकर भी रिक्त हैं—उपाधिजन्य विकारी भावों तथा द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित हैं। लौकिक जनोंकी जो उपर्युक्त मान्यता है वह आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वका उपघात करती है परन्तु आपका जो तत्त्व है—आपने जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया है वह लोकमें देखे गये प्रत्यक्ष दृष्टका व्याघात नहीं करता अर्थात् लोकमें यह जो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि रागादि दोषोंसे परिपूर्ण आत्मा भी अपनी साधनाके द्वारा उनसे विरक्त-शुद्ध वीतराग भावको प्राप्त करता है और शुद्ध वीतराग भावसे पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मा कर्म नोकर्मसे रिक्त अवस्थाको प्राप्त होता है, उसका व्याघात नहीं करता है। इन सब कारणोंसे आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व कोई अनिर्वचनीय लोकोत्तर महिमासे युक्त सिद्ध है ॥११॥

सर्वे भावाः सहजनियताऽन्योन्यसीमान एते
संश्लेषेऽपि स्वयमपतिताः शश्वदेव स्वरूपात् ।
ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः सर्वदा विश्वमेतद्
विश्वाद् भिन्नः स्नपय भगवन् सङ्करस्ते कुतः स्यात् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सहजनियताऽन्योन्यसीमानः) जिनकी परस्परकी सीमा स्वभावसे ही नियत है ऐसे (एते) ये (सर्वे भावाः) समस्त पदार्थ (संश्लेषेऽपि) परस्पर एक दूसरे से संश्लिष्ट होनेपर भी (स्वयं) स्वयं (शश्वदेव) निरन्तर ही (स्वरूपात्) अपने स्वरूपसे (अपतिताः) अस्खलित ही रहते हैं—अन्यरूप नहीं होते हैं। (भगवन्) हे प्रभो ! (विश्वाद् भिन्नः) जगत्से भिन्न रहनेवाले आप (ज्ञानज्योत्स्नास्वरसविसरैः) ज्ञानरूपी चांदनीके स्वरस समूहसे (सर्वदा) सदा (एतत् विश्वं) इस विश्वको (स्नपय) नहलाओ—प्रकाशित करो (ते) आपके (सङ्करः) अन्य पदार्थोंके साथ संमिश्रण (कुतः स्यात्) कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—एक पदार्थका अन्यरूप हो जाना सङ्कर दोष कहलाता है। यह सङ्कर दोष संसारके पदार्थोंमें सिद्ध नहीं होता है। यद्यपि वे परस्पर एक दूसरेसे संश्लिष्ट हैं तथापि सबकी परस्परकी सीमा सहज रूपसे नियत है, इसलिये वे स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते हैं। यह चर्चा स्पष्ट भिन्न पदार्थोंकी रही परन्तु जो ज्ञेय आपके ज्ञानमें आकर अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानाकार परिणम रहे हैं उनमें भी संकर दोष नहीं है क्योंकि स्वभावसे ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय, ज्ञेय ही रहता है। हे भगवन् ! आप जगत्से भिन्न हैं तो भी अपने ज्ञानरूपी चाँदनीके प्रकाशसे इस जगत्को प्रकाशित करो अर्थात् सबको जानो क्योंकि जानने मात्रसे आपमें संकर दोष नहीं आता है ॥१२॥

मोहः कर्मप्रकृतिभरतो मोदतः कर्मकिट्टं
हेतुत्वेन द्वयमिति मिथो भावदात्मा न तावत् ।
क्षीणे त्वस्मिंस्तव विलसतो नूनमात्मैव नान्यो
निःसीम्न्यस्मिन्निवस सहजज्ञानपुञ्जे निमग्नः ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(कर्मप्रकृतिभरतः) कर्म प्रकृतियोंके समूहसे (मोहः) मोह उत्पन्न होता है और (मोहतः) मोहसे (कर्मकिट्टं) कर्मरूप कालिमाका सम्बन्ध होता है (इति) इस प्रकार (द्वयम्) कर्म और मोह—दोनों (मिथो) परस्पर (हेतुत्वेन) हेतुरूपसे (यावत्) जबतक विद्यमान रहते हैं (तावत्) तवतक (आत्मा न) आत्मा, आत्मा नहीं है—शुद्धस्वरूपमें परिणत नहीं है (तु) किन्तु (अस्मिन्) इन दोनोंके (क्षीणे) क्षीण होनेपर (विलसतः) स्वभाव परिणतिसे सुशोभित रहनेवाले (तव) आपका आत्मा (नूनं) निश्चयसे (आत्मैव) आत्मा ही रह जाता है (अन्यः न) अन्य नहीं। हे आत्मन्! तूं (निःसीम्नि) सीमा रहित (अस्मिन्) इस (सहजज्ञानपुञ्जे) स्वाभाविक ज्ञान राशिमें (निमग्नः 'सन्') निमग्न होता हुआ (निवस) निवास कर।

भावार्थ—द्रव्यकर्मके उदयसे आत्मामें मिथ्यात्व तथा रागद्वेषरूप मोह उत्पन्न होता है और उस मोहसे नवीन द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता है। इन दोनोंमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव है। जबतक यह दोनों विद्यमान रहते हैं तबतक आत्मा अपने शुद्धस्वरूपमें परिणत न होकर विभाव-रूप परिणत होता है परन्तु जब उपर्युक्त दोनों नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने शुद्धस्वरूपमें परिणत होकर स्वभावरूप परिणत हो जाता है। इस समय आत्मा, आत्मा ही रह जाता है और उसमें सीमा रहित सहज ज्ञान प्रकट हो जाता है। हे आत्मन्! तूं उसी सहज ज्ञानमें निमग्न होकर निवास कर ॥१३॥

ज्ञानक्रीडारभसलसितैर्वल्गतः सर्वतस्ते
मोहाभावाद् भवति भगवन् कर्तृभावो न भूयः।
कर्तृत्वे वा स्वयमपि भवन् केवलो ज्ञानपुञ्जो
ज्ञानादन्यत् किमिह कुरुषे निर्विशङ्को रमस्व ॥१४॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे प्रभो! (ज्ञानक्रीडारभसलसितैः) ज्ञानसम्बन्धी क्रीड़ाकी सवेग चेष्टासे (सर्वतः) सब ओर (वल्गतः) संचार करनेवाले (ते) आपके (मोहाभावात्) मोहका अभाव हो जानेसे (भूयः) पुनः (कर्तृभावो) कर्तृत्व (न भवति) नहीं होता है अर्थात् जिस प्रकार मोहके रहते हुए कर्तृत्व भाव रहता था उस प्रकार मोहके नष्ट हो जानेपर कर्तृत्व भाव नहीं रहा। (वा) अथवा (कर्तृत्वे) विवक्षावश कर्तृत्व भावके स्वीकृत करने पर (स्वयमपि) स्वयं भी (केवलो ज्ञानपुञ्जो भवन्) मात्र ज्ञानसमूहरूप होते हुए आप (इह) इस जगत्में (ज्ञानात् अन्यत्) ज्ञानसे भिन्न (किम् कुरुषे) क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं। अतः (निर्विशङ्कः रमस्व) निःशङ्क होते हुए ज्ञानमें क्रीड़ा करो।

भावार्थ—अपने क्षयोपशमके अनुसार पदार्थोंको जाननेवाला मोही जीव, अज्ञानवश पर-पदार्थोंका कर्ता बनता है परन्तु हे भगवन्! आपके मोहका अभाव हो गया है अतः केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको जानने पर भी आप परपदार्थोंके कर्ता नहीं बनते हैं। कर्तृत्वका साक्षात् कारण मोहभाव है और मोहभावका आपके अभाव हो चुका है. अतः केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकको जानने पर भी आपके कर्तृत्व भाव नहीं रहा है। यदि किसी तरह आपमें कर्तृत्व-भाव मानना ही है तो यतः आप स्वयं मात्र ज्ञानरूप हो रहे हैं अतः ज्ञानके ही कर्ता हैं अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थोंके नहीं।[1] तात्पर्य यह है कि आप ज्ञानसे बन्धकी आशंका कर लोकालोकको जाननेसे विरत न होओ क्योंकि बन्धका कारण जानना नहीं है, मोह है ॥१४॥

देवालम्बो भवति युगपत् विश्वमुत्तिष्ठतस्ते
बाह्यस्पर्शाद् विमुखमहिमा त्वं तु नालम्ब एव।
स्वात्मालम्बो भवसि भगवन्नुज्जिहानस्तथापि
स्वात्मा त्वेष ज्वलति किल ते गूढविश्वस्वभावः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन्! (युगपत्) एक साथ (उत्तिष्ठतः) उन्नत दशाको प्राप्त करने वाले (ते) आपके लिये (विश्वम्) यह विश्व (आलम्बो भवति) आलम्बन होता है—सहायक होता है—ऐसा कहा जाता है (तु) परन्तु (बाह्यस्पर्शात्) बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे (विमुखमहिमा) पराङ्मुख महिमावाले (त्वम्) आप (नालम्ब एव) आलम्बनसे रहित ही हैं—आपको किसी बाह्य पदार्थके आलम्बनकी आवश्यकता नहीं हुई है। (भगवन्) हे भगवन्! यद्यपि (उज्जिहानः) ऊपर उठते हुए आप (स्वात्मालम्बो भवसि) अपनी आत्माका आलम्बन लेनेवाले हैं (तथापि तु) तो भी (ते) आपकी (एष स्वात्मा) यह स्वात्मा (किल) निश्चयसे (गूढविश्वस्वभावः) जिसमें समस्त पदार्थोंके स्वभाव छिपे हुए हैं ऐसा, (ज्वलति) प्रकाशमान है—ज्ञानपुञ्जसे देदीप्यमान है।

भावार्थ—लोकमें देखा जाता है कि जो मनुष्य ऊपर उठता है वह किसी बाह्य पदार्थका आलम्बन लेकर ही ऊपर उठता है परन्तु हे देव! आप बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे ही विमुख हैं अतः आपको बाह्य पदार्थोंका आलम्बन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? तात्पर्य यह है कि आप अपने आत्माके आलम्बनसे ही ऊँचे उठे हैं—इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। परन्तु आपका यह आत्मा भी साधारण आत्मा नहीं है। उसके अनेक स्वभाव गूढ हैं—अपनी अनन्त सामर्थ्यसे वह युक्त हैं ऐसे सातिशय आत्माके उपादानसे आप इस उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हैं॥१५॥

यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्तुल्यकालं प्लवन्ते
यत्कल्लोलाः प्रसभमभितो विश्वसीम्नि स्खलन्ति।
स त्वं स्वच्छस्वरसभरतः पोषयन् पूर्णभावं
भावाभावोपचितमहिमा ज्ञानरत्नाकरोऽसि ॥१६॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसमें (त्रसमयभुवः) तीन कालमें होने वाले (भावाः) पदार्थ (तुल्यकालं) एकसाथ (प्लवन्ते) तैरते हैं—जाने जाते हैं, (यत्कल्लोलाः) जिसकी लहरें (प्रसभं) हठपूर्वक (अभितः) चारों ओर (विश्वसीम्नि) संसारकी सीमामें (स्खलन्ति) टकराती हैं, जो (स्वच्छस्वरस-

---

१. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्?
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥—समयसारकलश
यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥५१॥—समयसार कलश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भरतः पूर्णभावं पोषयन्) स्वच्छ स्वरसके भारसे पूर्णताको पुष्ट कर रहा है अर्थात् आत्मरसके भारसे जो लवालव भरा हुआ है तथा जो (भावाभावोपचितमहिमा) भाव और अभावसे बढ़ी हुई महिमासे युक्त है (स त्वं) वह आप (ज्ञानरत्नाकरः असि) ज्ञानके सागर है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप ज्ञानरत्नाकर–ज्ञानके समुद्र हैं क्योंकि जिसप्रकार समुद्रमें अनेक पदार्थ तैरते हैं उसी प्रकार आपके ज्ञानमें भी भूत, भविष्य और वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रतिसमय तैर रहे हैं अर्थात् तीनों काल सम्बन्धी पदार्थ आपके ज्ञानमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। जिस प्रकार समुद्रकी लहरें चारों ओर सीमासे टकराती हैं उसी प्रकार आपके ज्ञान-सागरकी लहरें लोकालोकरूप विश्वकी सीमामें टकराती हैं। जिसप्रकार समुद्र अपने स्वच्छ सलिलसे भर कर पूर्ण होता है उसीप्रकार आप भी अपने आत्मरससे—आत्मसम्बन्धी गुणोंसे भरकर पूर्ण हैं और जिसप्रकार समुद्र भाव–जलके आगमन और अभाव—मलिन पदार्थोंके बाहर उछलानेसे युक्त होता है—इन दोनों कार्योंसे उसकी महिमा बढ़ती है अथवा तरङ्गोंके उन्नमन और अवनमन–ऊँची उठना तथा नीचे बैठना से जिसप्रकार समुद्र अपनी महिमाको बढ़ाता है उसी प्रकार आपका ज्ञानसागर भी भाव—नये नये भावोंकी उत्पत्ति तथा अभाव—मलिन भावोंके विनाशसे युक्त है—इन दोनों कार्योंसे उसकी महिमा बढ़ रही है अथवा अगुरुलघु गुणके कारण होनेवाली वृद्धि और हानिसे वह युक्त है ॥१६॥

संविद्वीच्यस्तव तत इतो देव वल्गन्त्य एताः
शुद्धज्ञानस्वरसमयतां न क्षमन्ते प्रमार्ष्टुम्।
विश्वच्छायाघटनविकसत्पुष्कलं व्यक्तिगूढां
प्रौढिं विन्दत् तदभिदधति ज्ञानसामान्यमेव ॥१७॥

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ! (इतस्ततः) इधर-उधर अर्थात् समस्त ज्ञेयोंमें (वल्गन्त्यः) संचार करनेवाली (तव) आपकी (एताः) ये (संविद्वीच्यः) ज्ञानरूप तरङ्गें (शुद्धज्ञानस्वरसमयतां) शुद्ध ज्ञानरूपी स्वरससे तन्मयताको (प्रमार्ष्टुं) छोड़नेके लिये (न क्षमन्ते) समर्थ नहीं हैं। वे (तद्) उस (ज्ञानसामान्यमेव) ज्ञान सामान्यको ही (अभिदधति) धारण करती हैं जो कि (विश्वच्छाया-घटनविकसत्पुष्कलं) समस्त पदार्थोंकी छायाके पड़नेसे विकसित तथा पूर्ण है और (व्यक्तिगूढां) प्रकटतासे युक्त (प्रौढिं) पूर्ण सामर्थ्यको (विन्दत्) प्राप्त है।

भावार्थ—हे भगवन्! व्यवहारनयसे यद्यपि आपका ज्ञान समस्त पदार्थोंमें संचार करता है अर्थात् उन्हें अपना ज्ञेय बनाता है तथापि वह निश्चयनयसे आत्मज्ञानरूप ही होता है। आपके ज्ञानकी कोई ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह अनेक पदार्थोंको अपने आपमें प्रतिबिम्बित करता हुआ भी शुद्ध सामान्य ज्ञानरूप ही रहता है। जिसप्रकार दर्पणमें अनेक पदार्थ झलकते हैं पर दर्पण उन पदार्थोंके विकल्पसे रहित होता हुआ दर्पणरूप ही रहता है। उन पदार्थोंके विषयमें दर्पणका कुछ भी ममत्वभाव नहीं होता है उसीप्रकार आपके ज्ञानमें स्वच्छताके कारण विश्वके समस्त पदार्थ झलकतें हैं परन्तु आपका ज्ञान ज्ञान ही रहता है—उन अनन्त ज्ञेयोंमें उसका ममत्वभाव नहीं होता है॥१७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यद्विश्वं बहिरिह तव ज्ञानविश्वं तथान्यत्
संविद्विश्वं यदिह किल सा संविदेवावभाति।
सिंहाकारो मदननिहितः किं मधूच्छिष्टतोऽन्यो
विश्वाकारस्त्वयि परिणतः किं परस्त्वन्महिम्नः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्में (बहिः विश्वं) बाह्य विश्व (अन्यद्) अन्य है (तथा) और (ज्ञानविश्वं) ज्ञानविश्व (अन्यत्) अन्य है। (इह) इनमें (यत्) जो (संविद्विश्वं) ज्ञानरूपी विश्व है (किल) निश्चयसे (सा संविदेव अवभाति) वह ज्ञानरूप ही रहता है। जिस प्रकार (मदननिहितः) मैन (मोम)के द्वारा धारण किया हुआ—मैंन (मोम)से निर्मित (सिंहाकारः) सिंहका आकार (किं) क्या (मधूच्छिष्टतः अन्यः) मेन (मोम)से पृथक् है? अर्थात् नहीं है, उसीप्रकार (त्वयि परिणतः) आपमें प्रतिबिम्बित (विश्वाकारः) विश्वका आकार (किं) क्या (त्वन्महिम्नः) आपकी महिमासे (परः) पृथक् है? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ—बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे ज्ञेयके दो भेद हैं। संसारके दृश्य और अदृश्य पदार्थ बाह्य ज्ञेय हैं और ज्ञानके भीतर झलकने वाले उनके आकार अभ्यन्तर ज्ञेय हैं। इन दोनों ज्ञेयोंमें बाह्य ज्ञेय स्पष्ट ही ज्ञानसे पृथक् पदार्थ हैं परन्तु ज्ञानके भीतर झलकने वाला अन्तर्ज्ञेय निश्चयसे ज्ञान ही है उससे भिन्न नहीं है। जैसे मेन (मोम)से बनाया हुआ सिंहका आकार मेन (मोम)से पृथक् नहीं है उसी प्रकार आपके ज्ञानमें आये हुए ज्ञेय आपके ज्ञानसे भी भिन्न नहीं है ॥१८॥

मित्वा मेयं पुनरपि मितेः किं फलं ज्ञातुरन्यत्
मातुं विश्वं स्वयमिह मितं नासि नित्योद्यतस्त्वम्।
दृक्संवित्त्योः स्खलितमखिलं रक्षतस्ते स्ववीर्य-
व्यापारोऽसौ यदसि भगवन्नित्यमेवोपयुक्तः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(मेयं) जानने योग्य पदार्थको (मित्वा) जानकर (पुनरपि) पश्चात् प्रकट होने वाला (मितेः फलं) जाननेका फल (किं) क्या (ज्ञातुः) जानने वालेसे (अन्यत्) पृथक् होता है? अर्थात् नहीं। परन्तु (इह) इस जगत्में (विश्वं) विश्वको (मातुं) जाननेके लिये (नित्योद्यतः) निरन्तर उद्यत रहने वाले (त्वम्) आप (स्वयं) स्वयं (मितं नासि) जाने हुए पदार्थ नहीं हैं अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानका फल ज्ञातासे अभिन्न है उसप्रकार ज्ञेय, ज्ञातासे अभिन्न नहीं है—बहिर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञातासे भिन्न ही है। (भगवन्) हे प्रभो! (यत्) जिस कारण (दृक्संवित्त्योः) दर्शन और ज्ञानके (अखिलं) समस्त (स्खलितं) स्खलनकी (रक्षतः) रक्षा करने वाले—उन्हें स्खलनसे दूर रखने वाले आपका (असौ) यह (स्ववीर्यव्यापारः) आत्मबलका प्रभाव है जिससे आप (नित्यमेवोपयुक्तः असि) दर्शन और ज्ञानमें नित्य ही उपयुक्त रहते हैं।

भावार्थ—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चार पदार्थ हैं जो पदार्थको जानता है उसे प्रमाता, जो जानने योग्य है उसे प्रमेय, जिसके द्वारा जाना जाता है उसे प्रमाण और जो जाननेरूप क्रिया है उसे प्रमिति कहते हैं। यह प्रमिति हि प्रमाणका फल है। यह फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो प्रकारका है। साक्षात् फल अज्ञान निवृत्ति है और परम्परा फल हान,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपादान और उपेक्षा है। यहाँ अभेद विवक्षासे प्रमितिरूप फलकी चर्चा करते हुए आचार्यने कहा है कि प्रमेयको जाननेके पश्चात् अज्ञान निवृत्तिरूप जो फल होता है वह प्रमातासे भिन्न नहीं है क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति प्रमाताकी ही परिणति विशेष है। परन्तु जिस प्रकार प्रमितिका फल प्रमातासे पृथक् नहीं है उसीप्रकार प्रमेय प्रमातासे पृथक् नहीं है, यह नियम नहीं है क्योंकि प्रमाता जिस प्रकार स्वद्रव्यको जानता है उसी प्रकार पर द्रव्यको भी जानता है। तात्पर्य यह है कि बहिर्मेयकी अपेक्षा प्रमाता और प्रमेय पृथक्-पृथक् हैं। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार क्षायोपशमिक दर्शन और ज्ञानका धारक पुरुष निरन्तर किसी पदार्थमें उपयुक्त नहीं रहता किन्तु क्रम-क्रमसे ही उपयुक्त रहता है उस प्रकार क्षायिक दर्शन और ज्ञानका धारक पुरुष क्रम क्रमसे उपयुक्त नहीं रहता। किन्तु निरन्तर ही उपयुक्त रहता है। निरन्तर उपयुक्त रहनेका कारण यह है कि उसके ज्ञान और दर्शनके साथ जो क्षायिक अनन्त वीर्य प्रकट हुआ है वह उन्हें स्खलित नहीं होने देता। इन्हीं दृष्टियोंकी अपेक्षासे यहाँ कहा गया है कि हे भगवन्! आप विश्वको जाननेके लिये निरन्तर उपयुक्त रहते हुए भी विश्वरूप नहीं हैं तथा आप ज्ञान और दर्शनमें निरन्तर उपयुक्त रहते हैं ॥१९॥

नानारूपैः स्थितमतिरसाद् भासयद् विश्वमेतत्
शब्दब्रह्म स्वयमपि समं यन्महिम्नाऽस्तमेति।
नित्यव्यक्तस्त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना
निस्सीमापि ज्वलति स तव ज्योतिषा भावपुञ्जः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(नानारूपैः स्थितम्) नानारूपोंसे स्थित (एतद् विश्वम्) इस विश्व–लोकालोकको (अतिरसात्) अत्यन्त स्पष्ट रूपसे (भासयत्) प्रकाशित करने वाला (शब्दब्रह्म अपि) शब्दब्रह्म भी (स्वयं) अपने आप (यन्महिम्ना) जिसकी महिमासे (समं) एक साथ (अस्तमेति) अस्तको प्राप्त हो जाता है तथा (त्रिसमयभवद्वैभवारम्भभूम्ना) त्रिकालवर्ती आपके वैभवारम्भकी बहुलतासे जो युक्त है ऐसी (तव) आपकी (ज्योतिषा) केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा (नित्यव्यक्तः) निरन्तर प्रकट रहने वाला (स भावपुञ्जः) वह पदार्थोंका समूह (निस्सीमापि) सीमा रहित होने पर भी (ज्वलति) प्रकाशमान हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति इतनी विशाल है कि उसकी महिमासे नानारूपोंमें स्थित समस्त विश्वको प्रकाशित करनेवाला शब्दब्रह्म भी स्वयं एक साथ समाप्त हो जाता है। साथ ही वह ज्योति आपके त्रिकालवर्ती ऐश्वर्यको प्रारम्भ करनेवाली है अर्थात् आपके आर्हन्त्यपदका प्रारम्भ इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा ही होता है। इस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा विश्वके अनन्त पदार्थ निरन्तर प्रकाशित रहते हैं ॥२०॥

उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं मर्मसु व्याप्य गाढं
लब्धप्रौढिस्तडिति परितस्ताडयन् सर्वभावान्।
देवात्यन्तं स्फुरति सततं निर्निमेषस्तवोच्चै–
रेकः कोऽयं त्रिसमयजगद्घस्मरो दृग्विकाशः ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(देव) हे नाथ ! (उद्यद्विश्वस्वरसम्) उभरते हुए विश्वके यथार्थरूपको (अनिशं) निरन्तर (गाढं) गाढरूपसे (मर्मसु व्याप्य) अपने मर्म स्थानोंमें व्याप्त कर (लब्धप्रौढिः) जिसने पूर्ण-सामर्थ्यको प्राप्त किया है, जो (परितः) सब ओरसे (सर्वभावान्) समस्त पदार्थोंको (तडिति) तड़-तड़कर—शीघ्र ही (ताड़यन्) ताड़ितकर रहा है—अपना विषय बना रहा है। जो (सततं) निरन्तर (र्निर्निमेषः) टिमकारसे रहित है—निरन्तर उपयोगरूप रहता है तथा जो (त्रिसमयजगद्धस्मरः) त्रिकालवर्ती लोकको जाननेवाला है ऐसा (तव) आपका (अयं कः) यह कोई (दृग्विकाशः) दर्शन गुणका विकाश—केवलदर्शन (उच्चैः) उत्कृष्टरूपसे (अत्यन्तं स्फुरति) अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है।

भावार्थ—ऊपरके पद्यमें केवलज्ञानकी महिमाका वर्णन था और इस पद्यमें केवलदर्शनकी महिमाका वर्णन किया जा रहा है। आचार्य कहते हैं कि हे देव ! आपका केवलदर्शन समस्त विश्वको अपना विषय बनाकर पूर्ण सामर्थ्यको प्राप्त है। वह शीघ्र ही समस्त पदार्थोंको देख रहा है, निरन्तर उपयोगात्मक है और त्रिकालवर्ती समस्त जगत्को अपने आपमें निलीन करने वाला है ॥ २१ ॥

सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा स्वप्रकाशेन शुम्भन्
दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैर्द्रावयन् सर्वभावान् ।
विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तितश्री-
रेकः कोऽयं विलसति विभोर्जात्यचैतन्यपुञ्जः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(सर्वत्रापि) लोक-अलोक-सभी स्थानोंपर (अप्रतिघमहिमा) जिसकी महिमा निर्बाध है, जो (स्वप्रकाशेन शुम्भन्) अपने प्रकाशसे सुशोभित हो रहा है (दूरोन्मज्जत्स्वरसविसरैः) बहुत दूर तक प्रकट होनेवाले आत्मरसके समूहसे जो (सर्वभावान्) समस्त पदार्थोंको (द्रावयन्) द्रवीभूत करता है—उन्हें अपना विषय बनाता है और (विश्वालम्बोच्छलितबहुलव्यक्तिसीमन्तित-श्रीः) समस्त पदार्थोंके आलम्बनसे झलकते हुए अनन्त पदार्थोंसे जिसकी अन्तर्लक्ष्मी बढ़ रही है ऐसा (विभोः) आपका (अयम् कः एकः) यह कोई एक अद्वितीय (जात्यचैतन्यपुञ्जः) उत्कृष्ट चैतन्य का समूह (विलसत्ति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—यहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शनके मूलाधाररूप चैतन्यगुणकी महिमाका बर्णन करते हुए आचार्य कह रहे हैं कि विभुका शुद्ध चैतन्यपुञ्ज सर्वत्र निर्बाध है अर्थात् समस्त लोक अलोकको जानता है। आत्मप्रकाशसे सुशोभित है। अपनी उत्कृष्ट महिमासे समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है और अपने आपके भीतर प्रतिबिम्बित होनेवाले अनन्त पदार्थोंसे अपनी लक्ष्मीको सुशोभित करनेवाला है। हे प्रभो ! इन सब विशेषताओंसे आपका चैतन्यपुञ्ज अद्वितीय और अनिर्वचनीय है ॥२२॥

एकाकारस्वरसभरतोऽनन्तचैतन्यराजीः
सज्जः कर्तुं प्रतिपदममूर्निर्विभागावभासाः ।
आ विश्वान्तान्निविडनिकषैर्विष्वगुद्भासमानः
स्वामिन्नेकः स्फुरदपि भवान् कृत्स्नमन्यत् प्रमार्ष्टि ॥२३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे प्रभो ! (एकाकारस्वरसभरतः) एकाकार आत्मरसके भारसे जो (प्रतिपदं) पद-पदपर (अमूः) इन (अनन्तचैतन्यराजीः) अनन्त चैतन्यके विकल्पोंको (निर्विभागावभासाः) निरंश प्रकाशसे युक्त (कर्तुं) करनेके लिए (सज्जः) तत्पर हैं तथा जो (आ विश्वान्तान्निविडनिकषैः) लोकान्त तक प्रसरित सघन संघर्षके द्वारा (विष्वग्) सब ओरसे (उद्भासमानः) सुशोभित हैं ऐसे (भवान्) आप (एकः) एक ही (स्फुरदपि) स्पष्ट प्रकाशमान होनेवाले (अन्यत् कृत्स्नम्) सूर्यादि अन्य समस्त पदार्थोंको (प्रमार्ष्टि) साफ कर रहे हैं—उन्हें निष्प्रभ कर रहे हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! चैतन्य—ज्ञान दर्शनमें ज्ञेयके आलम्बनसे जो अनन्त विकल्प उठ रहे हैं उन्हें आप एकाकार आत्मरसके भारसे एकरूप करनेके लिए सदा उद्यत हैं। आपका कहना है कि यतश्च वे विकल्प एक चैतन्यकी ही परिणति हैं अतः उनमें भेद नहीं है। 'ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है, और ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण है अतः ज्ञान भी लोकालोक प्रमाण है'[1] इस सिद्धान्तके अनुसार आपका ज्ञान विश्वके अन्त तक बड़ी सघनतासे व्याप्त हो रहा है। इसी ज्ञानसे आप सब ओरसे शोभायमान हैं। इस ज्ञानके द्वारा आपने विश्वके सूर्यादि अन्य समस्त प्रकाशमान पदार्थोंको निष्प्रभ कर दिया है ॥२३॥

पीतं पीतं वमतु सुकृती नित्यमत्यन्तमेतत्
तावद्यावज्ज्वलति वमनागोचरो ज्योतिरन्तः।
तस्मिन् देव ज्वलति युगपत् सर्वमेवास्य वान्तं
भूयः पीतं भवति न तथाप्येष वान्ताद एव ॥२४॥

अन्वयार्थ—(नित्यं) निरन्तर (पीतं-पीतं) बार-बार पिये हुए (एतत्) इस विकारी भावको (सुकृती) पुण्यशाली जीव (अत्यन्तं) अत्यन्तरूपसे (तावत्) तब तक (वमतु) उगलता रहे (यावत्) जब तक (वमनागोचरः) वमनका अगोचर–जिसका वमन न किया जा सके ऐसी (ज्योतिः) केवलज्ञानरूपी ज्योति (अन्तः) भीतर (ज्वलति) प्रकाशमान होती है। (देव) हे भगवन् ! (तस्मिन् ज्वलति 'सति') उस केवलज्ञानरूपी ज्योतिके देदीप्यमान होनेपर (अस्य) इस जीवका (सर्वमेव) सभी विकारी भाव (युगपत्) एकसाथ उस तरह (वान्तं) वान्त हो जाता है—बाहर निकल जाता है कि जिस तरह वह (भूयः) पुनः (पीतं न भवति) ग्रहणमें नहीं आता। इस प्रकार इस आत्माने यद्यपि समस्त पर पदार्थोंका त्याग किया है तथापि (तथापि एष वान्ताद एव) ममत्वभावसे छोड़े हुए पदार्थोंका ज्ञाता होनेसे उन्हें ज्ञेयके रूपमें ग्रहण करता ही है।

भावार्थ—यहाँ आचार्यने पुण्यशाली जीवोंको उन समस्त विकारी भावोंके उगलनेकी प्रेरणा दी है जिन्हें उन्होंने अनादिकालसे ग्रहण कर रक्खा है। विकारी भावोंके उगलनेका उपदेश तब तकके लिए है जब तक अन्तरंगमें दिव्यज्योति प्रकट नहीं हुई है क्योंकि उस दिव्यज्योतिके प्रकट होनेपर समस्त विकारीभाव स्वयं ही बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका स्वामित्वकी अपेक्षा त्याग होनेपर भी यह आत्मा उन पदार्थोंको जानता रहता है अर्थात् ज्ञेयके रूप में ग्रहण करता रहता है ॥२४॥

१. प्रवचनसार गाथा २३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकानेकं गुणवदगुणं शून्यमत्यन्तपूर्णं
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम् ।
चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गै—
रुन्मज्जन्तं कलयति किल त्वामनेकान्त एव ॥२५॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चयसे (अनेकान्त एव) अनेकान्त ही (त्वाम्) आपको (एकानेकं) एक-अनेक, (गुणवदगुणं) गुण सहित, गुण रहित, (शून्यमत्यन्तपूर्णं) शून्य-अशून्य, (नित्यानित्यं) नित्य-अनित्य, (विततमततं) व्यापक अव्यापक, (विश्वरूपैकरूपम्) विश्वरूप एकरूप तथा (चित्प्राग्भारग्लपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गैः उन्मज्जन्तं) चैतन्यके समूहसे संसारके आभोग विस्तार को क्षीण करनेवाली ज्ञानकी उठती हुई तरंगोंसे (उन्मज्जन्तं) उन्मग्न होता हुआ (कलयति) सिद्ध करता है।

भावार्थ—एक ही पदार्थमें परस्पर विरोधी दो धर्मोंके अस्तित्वका विवक्षावश निरूपण करना अनेकान्त है। यह अनेकान्त ही आपको द्रव्यकी अपेक्षा एक और पर्यायकी अपेक्षा अनेक सिद्ध करता है। भेदनयकी अपेक्षा गुणसहित और अभेदनयकी अपेक्षा गुणरहित बताता है। परकीय चतुष्टय अथवा विभावभावोंकी अपेक्षा शून्य और स्वकीय चतुष्टय अथवा स्वभावभावोंकी अपेक्षा पूर्ण सिद्ध करता है। सामान्यकी अपेक्षा नित्य और विशेषकी अपेक्षा अनित्य सूचित करता है। शरीर प्रमाण होनेकी अपेक्षा अव्यापक और लोकालोकावभासी ज्ञानकी अपेक्षा व्यापक बतलाता है तथा ज्ञेयकी अपेक्षा विश्वरूप और ज्ञानकी अपेक्षा एकरूप कहता है। इनके अतिरिक्त आप लोकाकोकव्यापी ज्ञानकी तरंगोंसे सदा उन्मग्न रहते हैं यह भी अनेकान्त ही बतलाता है ॥ २५ ॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२३)

हरिणी छन्दः

जयति परमं ज्योतिर्जैत्रं कषायमहाग्रह-
ग्रहविरहिताकम्पोद्योतं दिवानिशमुल्लसत् ।
ज्वलति परितो यस्मिन् भावा वहन्ति तदात्मतां
हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत् समम् ॥१॥

अन्वयार्थ—(जैत्रं) जो कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके कारण विजयशील है, (कषायमहाग्रह-ग्रहविरहिताकम्पोद्योतं) जिसका उद्योत—प्रकाश कषायरूपी महाग्रहकी चपेटसे रहित होनेके कारण अकम्प है—निश्चल है और जो (दिवानिशम्) रातदिन (उल्लसत्) सुशोभित रहती है ऐसी (परमं ज्योतिः) केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति (जयति) जयवन्त है (यस्मिन् परितः ज्वलति 'सति') जिसके चारों ओर प्रकाशित रहने पर (भावाः) पदार्थ (हुतवहहठाखण्डग्रासीकृतेन्धनवत्) अग्निके द्वारा हठ पूर्वक सर्वांगरूपसे ग्रस्त ईंधनके समान (समम्) एकसाथ (तदात्मतां) ज्योतिः स्वरूपताको (वहन्ति) धारण करते हैं।

भावार्थ—यहाँ आचार्य, भगवान्के केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका यशोगान करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आपकी वह केवलज्ञानरूपी ज्योति कर्मशत्रुओंको जीतनेके कारण विजयशील है, कषायरूपी महापिशाचकी पकड़से रहित होनेके कारण निश्चल प्रकाशसे सहित है, रात-दिन देदीप्यमान रहती है और जिसप्रकार अग्निसे व्याप्त ईंधन अग्निरूप हो जाता है उसीप्रकार उसके भीतर प्रतिफलित होनेवाले पदार्थ उसीरूप हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं वे अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानाकार ही हो जाते हैं ॥१॥

त्वमसि भगवन् विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमो
मृदुरसदृशप्रज्ञोन्मेषैः स्खलद्भिरयं जनः ।
तदलमफलैर्वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः
कतिपयपदन्यासैराशु त्वयीश विशाम्यम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन्! (त्वम्) आप (विश्वव्यापिप्रगल्भचिदुद्गमः) लोकालोकमें व्याप्त चैतन्यके उद्गम—केवलज्ञानसे सहित हैं और (अयं जनः) यह मैं (स्खलद्भिः) स्खलित होनेवाले (असदृशप्रज्ञोन्मेषैः) हीनाधिक प्रज्ञाके उन्मेषोंसे—अल्पतम क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे (मृदुः) कोमल—मन्दबुद्धि है (तत्) इसलिए (त्वयि) आपके विषयमें (अफलैः) निष्फल (वाक्यक्रीडाविकारविडम्बनैः) वचनक्रीडाके विकारको विडम्बित करनेवाले (कतिपयपदन्यासैः) कुछ पदोंकी रचना करना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अलम्) व्यर्थ है (ईश) हे नाथ ! (अयम्) यह मैं तो (आशु) शीघ्र ही—कुछ कहे बिना ही (त्वयि) आपमें (विशामि) प्रवेश कर रहा हूँ—चुपचाप आपकी शरणमें आ रहा हूँ।

भावार्थ—आप अनन्त ज्ञानके स्वामी हैं और स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ मैं अत्यन्त अल्पज्ञानी हूँ अतः कतिपय शब्दोंके द्वारा आपकी स्तुति करना व्यर्थ है। मैं ज्ञान और शब्द दोनोंसे न्यून हूँ, अतएव शब्दों द्वारा आपकी स्तुति करना मेरे लिए शक्य नहीं है। यही सब विचारकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥२॥

किमिदमुदयत्यानन्दौघैर्मनांसि विघूर्णयत्
सहजमनिशं ज्ञानैश्वर्यं चमत्कृतिकारितैः ।
प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया
तुलयति दृशा विश्वं विश्वं यदित्यवहेलया ॥३॥

अन्वयार्थ—(चमत्कृतिकारितैः) चमत्कारके द्वारा उत्पादित (आनन्दौघैः) आनन्दके समूहोंसे जो (मनांसि) मनोंको (विघूर्णयत्) घुमा रहा है—चञ्चल कर रहा है ऐसा आपका (इदं) यह (सहजं) स्वाभाविक (ज्ञानैश्वर्यं) ज्ञानरूपी ऐश्वर्य (किम्) क्या (अनिशं) निरन्तर (उदयति) उदयको प्राप्त हो रहा है (यत्) जिस कारण वह (इति) इस तरह (अवहेलया) अनादर भावसे (प्रसभविलसद्वीर्यारम्भप्रगल्भगभीरया दृशा) हठपूर्वक प्रकट होनेवाले वीर्यके आरम्भसे अत्यन्त गंभीर दृष्टिके द्वारा (विश्वं विश्वं) सम्पूर्ण विश्वको (तुलयति) तुलित करता है—जानता है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञानसाम्राज्य अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तबलसे परिपूर्ण है ॥३॥

ललितललितैरात्मन्यासैः समग्रमिदं जगत्—
त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं समं ज्वलयन्नयम् ।
तदुपधिनिभाद् वैचित्र्येण प्रपञ्च्य चिदेकतां
ज्वलसि भगवन्नेकान्तेन प्रसह्य निरिन्धनः ॥४॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (त्रिसमयलसद्भावव्याप्तं) तीन कालसम्बन्धी पदार्थोंसे व्याप्त (इदं) इस (समग्रं) सम्पूर्ण (जगत्) जगत्को जो (ललितललितैः) अत्यन्त सुन्दर (आत्मन्यासैः) ज्ञानरश्मियोंसे (समं) एक साथ (ज्वलयन्) प्रकाशित कर रहे हैं ऐसे (अयम्) यह आप (एकान्तेन) नियमसे (निरिन्धनः) अन्य सहायकोंके बिना ही (तदुपधिनिभात्) जगत्‌रूप उपधिके छलसे (चिदेकतां) चैतन्यकी एकताको (वैचित्र्येण) नानारूपसे (प्रपञ्च्य) विस्तृत कर (ज्वलसि) देदीप्यमान हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीन कालसम्बन्धी पदार्थोंसे व्याप्त समस्त जगत्को किसी बाह्य पदार्थोंकी सहायताके बिना ही जानते हैं और जानते समय एकरूपताको धारण करनेवाले उस ज्ञानको ज्ञेयोंकी विभिन्नतासे अनेकरूपताको प्राप्त कराते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, एक और अनेक इन दो परस्पर विरोधी भंगोंसे सहित है। ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा वह एक है और अनेक ज्ञेयोंके प्रतिबिम्बित होनेसे अनेकरूप है। यहाँ अनेक भंगका उल्लेख किया गया है ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समपतितया स्फीतस्फीतोद्विलासलसद्दृशा
स्वरसकुसुमं विश्वं विश्वात्तवेश विचिन्वतः ।
किमपि परतो नान्तस्तत्त्वग्रहं प्रतिपद्यते
विकसति परं भिन्नाभिन्ना दृगेव समन्ततः ॥५॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे स्वामिन् ! (समपतितया) समानरूपसे पड़नेवाली (स्फीतस्फीतोद्विलासलस दृशा) अत्यधिक उत्कृष्ट विलाससे सुशोभित दृष्टिके द्वारा (विश्वात्) समस्त जगत्से (विश्वं) सम्पूर्ण (स्वरसकुसुमं) आत्मस्वभावरूपी पुष्पको (विचिन्वतः) चुननेवाले (तव) आपकी (दृग्) दृष्टि (परतः) अन्य बाह्य परद्रव्यसे (किमपि) कुछ भी (अन्तस्तत्त्वग्रहं) अन्तरंग तत्त्वके ग्रहणको (न प्रतिपद्यते) प्राप्त नहीं होती है (परं) किन्तु (भिन्नाभिन्ना) भिन्न होकर भी अभिन्न रहनेवाली (दृगेव) दृष्टि ही (समन्ततः) सब ओर (विकसति) विकसित होती है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! यह संसार एक उद्यान है इस उद्यानसे आप अपनी प्रखर दृष्टिके द्वारा देखकर आत्मस्वभावरूपी पुष्पको चुन रहे हैं । इस चुननेकी क्रियामें आपकी दृष्टि किसी बाह्य पदार्थकी सहायता नहीं लेती है किन्तु वह स्वयं ही सब ओर विकसित होती है । हे भगवन् ! आपके जो केवलदर्शन प्रकट हुआ है वह परनिरपेक्ष है—उसे किसी अन्य सहायककी आवश्यकता नहीं है तथा उस केवलदर्शनके द्वारा आप संसारके अन्य पदार्थोंसे पृथक् शुद्ध आत्मस्वरूपको ही ग्रहण करते हैं । क्योंकि परमार्थसे केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्माको ही विषय करते हैं व्यवहारसे लोकालोकको विषय करते हैं । वह केवलदर्शन गुणगुणीके भेदकी अपेक्षा आपके आत्मासे भिन्न है और प्रदेशभेद न होनेसे अभिन्न भी है ॥५॥

इदमतिभरान्नानाकारं समं स्नपयन् जगत्
परिणतिमितो नानाकारैस्तवेश चकास्त्ययम् ।
तदपि सहजव्याप्त्या रुन्धन्नवान्तरभावनाः
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारसः ॥६॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन् ! (नानाकारं) नाना आकारोंसे युक्त (इदम्) इस (समं) समस्त (जगत्) जगत्को (अतिभरात्) अत्यधिक रूपसे (स्नपयन्) नहलाने वाला—जानने वाला (तव) आपका (अयम्) यह (चिदेकमहारसः) चैतंन्यरूप अद्वितीय महान् रस यद्यपि (नानाकारैः) नाना आकारोंसे (परिणतिमितः) परिणतिको प्राप्त हुआ है अर्थात् नाना पदार्थोंको जाननेसे नाना रूप हुआ है (तदपि) तोभी (सहजव्याप्त्या) सहज-स्वभावकी व्याप्तिसे (अवान्तरभावनाः) अवान्तर—अन्तर्गत भावनाओंको-ज्ञेयाश्रित (रुन्धन्) विकल्पोंको रोकता हुआ (परितोऽपि) सभी ओर (एकाकारः) एकाकार ही (स्फुरति) सुशोभित है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका केवलज्ञान नाना पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा यद्यपि नानारूप परिणतिको प्राप्त हुआ है तथापि अपने सहज स्वभावसे जब घटपटादि अन्य अवान्तर पदार्थोंकी विवक्षाको गौण कर दिया जाता है तब वह एकाकार ही रहता है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक दर्पण, नाना पदार्थोंको प्रतिबिम्बित करनेसे नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है परन्तु परमार्थसे वह एक ही रहता है इसीप्रकार नाना पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा केवलज्ञान नानारूप परिणमन करता हुआ प्रतीत होता है परन्तु परमार्थसे वह एकाकार ही रहता है ॥६॥

समभ्युदयतः शान्तातङ्कैः स्वभावविलासिभि—
श्चिदचलकलापुञ्जैः पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः ।
अयमतिभरक्षोभारम्भैः स्फुटानुभवस्तव
प्रलयमगमच्चित्राकारः कषायपरिग्रहः ॥७॥

अन्वयार्थ—(शान्तातङ्कैः) जिनमें समस्त भय शान्त हो गये हैं (स्वभावविलासिभिः) जो स्वभावमें विलसित हो रहे हैं और (पुञ्जीकृतात्मविशुद्धिभिः) जिनमें आत्माकी विशुद्धता एकत्रित हुई है ऐसे (चिदचलकलापुञ्जैः) चैतन्यकी अविनाशी कलाओंके समूहके (समं) साथ (उदयतः) अभ्युदयको प्राप्त होनेवाले (तव) आपका (अतिभरक्षोभारम्भैः) अत्यधिक क्षोभके आरम्भसे (स्फुटानुभवः) स्पष्ट ही अनुभवमें आनेवाला (चित्राकारः) नाना प्रकारका (अयम्) यह (कषायपरिग्रहः) कषायरूप परिग्रह (प्रलयम्) विनाशको (अगमत्) प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप निर्भय, स्वभावमें लीन तथा आत्मविशुद्धिसे युक्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंके साथ इस आर्हन्त्य अवस्थारूप ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं इससे सिद्ध है कि आपका वह कषायरूप परिग्रह पहले ही नष्ट हो गया था जो रागद्वेषके कारण स्पष्ट ही अनुभवमें आ रहा था तथा इष्ट अनिष्ट विषयोंके भेदसे नाना प्रकारका था । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार देदीप्यमान ज्वालाओंके प्रकट होते ही अग्निकी सधूम अवस्था नष्ट हो जाती है उसी प्रकार केवलज्ञानादि गुणोंके प्रकट होते ही आत्माकी सकषाय अवस्था नष्ट हो जाती है ॥७॥

उदयसि यदा ध्वस्ताधारं भरात् परितः (तोऽ)स्खलत्
प्रविततमिदं सम्यक् संविद्वितानमुदञ्चयन् ।
अयमभिभवन्नन्तस्तत्त्वं जनस्य निराश्रय-
ष्टसिति कपटग्रन्थिर्गाढस्तदा प्रविलीयते ॥८॥

अन्वयार्थ—(ध्वस्ताधारं) जिसने बाह्य आधारको नष्ट कर दिया है तथा जो (भरात्) बड़ी प्रबलतासे (परितः अस्खलत्प्रविततम्) चारों ओर अस्खलितरूपसे विस्तृत हो रहा है ऐसे (इदं) इस (सम्यक् संविद्वितानम्) सम्यग्ज्ञानके समूहको (उदञ्चयन्) प्रकट करते हुए आप (यदा) जिस समय (उदयसि) उदयको प्राप्त होते हैं (तदा) उस समय (जनस्य) जीवोंके (अन्तस्तत्त्वम्) अन्तस्तत्त्वको (अभिभवन्) अभिभूत—तिरस्कृत करनेवाली (अयम्) यह (गाढः) मजबूत (कपटग्रन्थिः) कपटरूपी गाँठ (निराश्रयः) निराधार होती हुई (टसिति) शीघ्र ही (प्रविलीयते) बिलकुल नष्ट हो जाती है ।

भावार्थ—जिस समय लोकालोकावभासी, असहाय केवलज्ञान प्रकट होता है उस समय लोगोंके अन्तस्तत्त्वको आच्छादित करनेवाली मोहरूपी मजबूत गाँठ अपने आप खुल जाती है । तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान मोहक्षयपूर्वक ही होता है ॥८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे
भवति विकृतिव्यापाराय प्रभो न भवन्त्यमूः ।
प्रकृतिमभितः संश्रित्येव स्फुटं तव चिन्मयीं
स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः ॥९॥

अन्वयार्थ—(प्रभो) हे भगवन् ! (अत्यन्तं विमुक्तपरिग्रहे) जिनका परिग्रह—मूर्च्छाभाव बिलकुल छूट गया है ऐसे (भवति) आपमें (भान्त्यः) प्रकट होनेवाली (अमूः) ये (विषयततयः) विषयोंकी पङ्क्तियाँ (विकृतिव्यापाराय) विकार उत्पन्न करनेके लिये (न भवन्ति) समर्थ नहीं हैं सो जान पड़ता है कि वे (तव) आपकी (चिन्मयीं प्रकृतिं स्फुटं संश्रित्येव) चैतन्यरूप प्रकृतिका स्पष्ट आश्रय लेकर ही मानों (स्वरसविकसच्छुद्धाकम्पोपयोगपरिप्लुताः) आत्मस्वभावसे विकसित होनेवाले शुद्ध और निश्चल शुद्धोपयोगसे व्याप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—क्षायोपशमिक ज्ञानमें जो स्पर्श रस गन्ध वर्ण तथा शब्दरूप विषय आते थे वे सराग अवस्थामें विकारके कारण हो जाते थे परन्तु अब आपके क्षायिक ज्ञानमें जो विषय आते हैं वे सराग अवस्थाके नष्ट हो जानेसे कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं करते हैं इससे ऐसा जान पड़ता है मानों वे विषय आपके चैतन्य स्वभावका आश्रय करके ही विकार उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यसे रहित हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि स्पर्शादि विषय आपके ज्ञेय मात्र रह गये हैं भोग्य नहीं ॥९॥

निबिडनिबिडे मोहग्रन्थौ प्रसह्य विलायिते
तव परमिदं ज्ञातृ ज्ञानं न कर्तृ न भोक्तृ च ।
यदिह कुरुते भुङ्क्ते वा तत्तदेव सदैव तत्
किल परिणतिः कार्यं भोगः स्फुटोऽनुभवः स्वयम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(निबिडनिबिडे) अत्यन्त सघन (मोहग्रन्थौ) मोहरूपी गाँठके (प्रसह्य) हठ पूर्वक (विलायिते) नष्ट किये जाने पर (तव) आपका (इदं) यह (परं) उत्कृष्ट (ज्ञानं) ज्ञान, (ज्ञातृ) ज्ञाता ही रह गया है (कर्तृ न) कर्ता नहीं है (च) और (भोक्तृ न) भोक्ता नहीं है। (इह) इस जगत्में (तत्) वह ज्ञान (यत् कुरुते) जिसे करता है (वा) अथवा (यत् भुङ्क्ते) जिसे भोगता है (तत्) वह (सदैव) सदा ही (तदेव) ज्ञान ही है, अन्य नहीं क्योंकि (किल) निश्चयसे (परिणतिः) परिणति ही (कार्यं) कार्य है और जो (स्वयं अनुभवः) स्वयं अनुभव होता है वही (स्फुटः भोगः) स्पष्ट भोग है।

भावार्थ—जबतक मोह रहता है तभी तक ज्ञानमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका भाव रहता है मोहके निकल जानेपर ज्ञान, मात्र ज्ञाता रह जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी विवक्षामें वह ज्ञान ही कर्ता और ज्ञान ही भोक्ता होता है अन्य नहीं ॥१०॥

त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः
स्फुरसि भगवन्नेकोऽपि त्वं समग्रभरक्षमम् ।
प्रतिपदमिदं वस्त्वेवं स्यादिति स्पृशतो दृशं
सहजकलनक्रीडा मूर्तेर्नचास्ति भ्र(प)रस्तव ॥११॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे नाथ ! (त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडासुखैकमहीधरः) तीनों कालोंमें सुशोभित समस्त क्रीडाओं सम्बन्धी सुखके अद्वितीय पर्वत (त्वम्) आप (एकोऽपि) एक होते हुए भी (समग्रभरक्षमम् 'यथा स्यात्तथा') समग्र भारके धारण करनेमें समर्थ जिस तरह हों उस तरह (स्फुरसि) देदीप्यमान हो रहे हैं। (प्रतिपदं) पद-पद पर (इदं वस्तु एवं स्यात्) यह वस्तु ऐसी है इस प्रकार (दृशम्) दर्शनका (स्पृशतः) स्पर्श करने वाले—धारण करने वाले (तव) आपकी (सहजकलनक्रीडा) सहज स्वभावमें रमणरूप जो क्रीडा है वह (मूर्तेः) ज्ञानदर्शनरूप मूर्तिसे (परः न चास्ति) भिन्न नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् ! त्रिकाल सम्बन्धी क्रीड़ाओंके सुखके आधारभूत आप एक होकर भी समस्त भार धारण करनेमें समर्थ हैं। आपके ज्ञानमें वस्तुका जैसा परिणमन अवभासित है वैसा ही उसका स्वभाव है। आत्माकी जो सहज स्वभावमें रमणरूप क्रीडा है वह आपके ज्ञायक स्वभावसे पर नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञान दर्शन गुण आपसे अभिन्न हैं उसी प्रकार सुख गुण भी आपसे अभिन्न हैं ॥११॥

स्फुरति परितो बाह्यार्थानां य एष महाभरः
स्वरससरसा ज्ञानस्यैतास्तवैव विभूतयः ।
स्फुरति न जडश्चित्संस्काराद्विनैव निराकुलः
कलय युगपल्लोकालोकौ परैरकलङ्कितः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(परितः) चारों ओर (बाह्यार्थानां) बाह्य पदार्थोंका (य एष महाभरः) जो यह महान् भार (स्फुरति) स्फुरायमान होता है (एताः) ये (तव) आपके (ज्ञानस्यैव) ज्ञानकी ही (स्वरससरसाः) आत्मरससे सरस (विभूतयः) विभूतियाँ हैं क्योंकि (चित्संस्कारात् विना) चैतन्यके संस्कारके बिना (जडः) केवल जड अचेतन पदार्थ (नैव स्फुरति) चेष्टा नहीं करता है अतः (निराकुलः) परकी आकुलतासे रहित और (परैः) अन्य पदार्थोंसे (अकलङ्कितः)—निरपेक्ष होते हुए आप (युगपत्) एक साथ (लोकालोकौ) लोक और अलोकको (कलय) जानें।

भावार्थ—हे भगवन् ! चारों ओर जो बाह्य पदार्थोंका महान् समूह विद्यमान है वह सब अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानका ही परिणमन है क्योंकि ज्ञानकी चेष्टाओंके बिना केवल जड़की चेष्टाएं नहीं होती हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार छद्मस्थ जीव, इन्द्रियोंके आधारभूत शरीरकी चेष्टाओंसे पदार्थोंको जानते हैं उसप्रकार आप शरीरकी चेष्टाओंसे पदार्थोंको नहीं जानते। आप परसे निरपेक्ष रहकर ही लोकालोक को जानते हैं। इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञानका धारक छद्मस्थ क्रमसे ही पदार्थोंको जानता है परन्तु आप क्षायिकज्ञानके धारक हैं तथा इन्द्रियोंकी सहायतासे निरपेक्ष हैं अतः एक ही साथ लोकालोकको ज्ञाननेवाले हैं ॥१२॥

दलितदलनैश्छिन्नच्छेदैर्विभिन्नविभेदनै-
रनवधिलसत्पर्यायौघैर्विभक्तमनन्तशः ।
निशितनिशितैः शक्त्युद्गारैरवारितविक्रमैः
कलय कलशः कुर्वन्नेतत्समस्तमतन्द्रितः ॥१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(दलितदलनैः) खण्डितको खण्डित करनेवाले (छिन्नच्छेदैः) छिन्नको छेदनेवाले और (विभिन्नविभेदनैः) विभिन्नको विभिन्न करनेवाले अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म (अनवधिलसत्पर्यायौघैः) सीमातीत एवं शोभायमान पर्यायोंके समूहसे (अनन्तशः) अनन्तोंबार (विभक्तं) विभाग को प्राप्त हुए (एतत् समस्तं) इन समस्त पदार्थोंको (अतन्द्रितः 'सन्') आलस्य रहित होते हुए आप (निशितनिशितैः) अत्यन्त तीक्ष्ण और (अवारितविक्रमैः) जिनके विक्रमको कोई रोक नहीं सकता ऐसे (शक्त्युद्गारैः) शक्तिके उद्गारोंसे (कलशः कुर्वन्) खण्ड-खण्ड करते हुए (कलय) जानो।

भावार्थ—हे भगवन्! आप सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थको अपनी तीक्ष्ण ज्ञान शक्तिके द्वारा और भी सूक्ष्म करते हुए जानते हैं ॥१३॥

चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं परितो हठा-
द्यदतिकलनात् त्रैलोक्यं ते भवत्यतिमुर्मुरः।
स्वयमतिशयस्फीतिं संश्रिद्विशेषगरीयसीं
जगदविषयं ज्ञानानन्त्यं तवैव विभाति तत् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(परितः) सब ओरसे (हठात्) हठ पूर्वक (चितिहुतवहस्य) चैतन्यरूपी अग्निके (एकाङ्गारीकृतम्) प्रमुख अङ्गाररूप किया हुआ (त्रैलोक्यं) तीन लोकका समूह (यदतिकलनात्) जिसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे ज्ञान होनेके कारण (ते) आपके लिये (अतिमुर्मुरः) अत्यन्त सूक्ष्म तिलगा (अंगार) रूप (भवति) होता है, जो स्वयं (विशेषगरीयसीं) अत्यधिक गुरुतर (अतिशयस्फीतिं) बहुतभारी विस्तारको (संश्रित्) प्राप्त हो रहा है तथा जो (जगदविषयं) जगत्का अविषय है अर्थात् जगत्के अन्य जीवोंको प्राप्त नहीं है (तत्) वह (ज्ञानानन्त्यं) ज्ञानका अनन्तपना (तवैव) आपके ही (विभाति) सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! जो तीन लोकका समूह ज्ञानरूपी अग्निके भीतर अङ्गारके समान था वह ज्ञानकी जिस आनन्तताके कारण खण्ड-खण्डरूपसे ज्ञान होनेके कारण तिलगा (अंगार) के समान जान पड़ने लगा तथा जो ज्ञानका अनन्तपना स्वयं अतिशय विस्तारको प्राप्त है, जगत्में जो किसी अन्यको प्राप्त नहीं है ऐसा ज्ञानका अनन्तपना आपके ही है। तात्पर्य यह है कि आपही अनन्त ज्ञानके धारक हैं ॥१४॥

ककुभि ककुभि न्यस्यन् धामान्ययं न नभोमणिः
कलयति तव ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि।
स्वयमुपयती प्राधान्येन प्रकाशनिमित्तता-
मजडकणिकामात्रापि स्यान्न जातु जडोपमा ॥१५॥

अन्वयार्थ—(ककुभि ककुभि) प्रत्येक दिशामें (धामानि) किरणों अथवा तेजको (न्यस्यन्) बिखेरनेवाला (अयं) यह (नभोमणिः) सूर्य (तव) आपके (ज्ञानाग्न्येकस्फुलिङ्गतुलामपि) ज्ञानरूप अग्निके एक तिलगेकी उपमाको भी (न कलयति) नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि (प्राधान्येन) प्रधानतासे (प्रकाशनिमित्तताम्) प्रकाशकी निमित्तताको (स्वयम् उपयती) स्वयं प्राप्त होनेवाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अजडकणिकामात्रापि) चैतन्यकी एक कणिका भी (जातु) कभी (जडोपमा) जड़के तुल्य (न स्यात्) नहीं हो सकती है।

भावार्थ—हे भगवन्! चारों दिशाओंमें अपरिमित तेजको बिखेरनेवाला सूर्य, आपके ज्ञानरूपी अग्निके एक तिलगाके समान भी नहीं है। ठीक ही है क्योंकि ज्ञानकी प्रधाननिमित्तताको प्राप्त होनेवाली चेतनकी एक कणिका भी कभी जड़की उपमाको प्राप्त नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि सूर्य जड़ है अतः वह ज्ञानकी उपमाको प्राप्त नहीं कर सकता है ॥१५॥

अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैर्गुणैः सहजैर्व्रजन्
क्रमपरिणतिं संविच्चक्रे नियत्युपवेशितः।
प्रभवविलयावासाद्यापि प्रतिक्षणमक्षरस्त्यजसि
न मनाक् टङ्कोत्कीर्णां कदापि चिदेकताम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—जो (षट्स्थानस्थैः) अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, इन छह स्थानोंमें स्थित (सहजैः) सहजस्वभाविक (अगुरुलघुभिः गुणैः) अगुरुलघु गुणोंके द्वारा (संविच्चक्रे) ज्ञानके समूहमें (क्रमपरिणतिं) क्रमपूर्ण परिणमनको (व्रजन्) प्राप्त होते हुए (नियत्युपवेशितः) सामान्यकी अपेक्षा अपरिणमनशीलतासे युक्त हैं तथा (प्रभवविलयौ) उत्पाद और व्यय को (आसाद्य अपि) प्राप्त करके भी (प्रतिक्षणं) प्रत्येक समय (अक्षरः) अविनाशी हैं—ध्रौव्यरूप हैं ऐसे आप (कदापि) कभी भी (टङ्कोत्कीर्णां) टाँकीके द्वारा उकेरी हुईके समान नित्य (चिदेकताम्) चैतन्यकी एकताको (मनाक्) कुछ भी (न त्यजसि) नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—यद्यपि द्रव्यस्वभावके कारण अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोंमें परिवर्तन करनेवाले सहज सिद्ध अगुरुलघुगुणोंके द्वारा आप ज्ञानादि गुणोंमें क्रमसे परिणमन करते हैं तथापि नियतिसे सहित है अर्थात् सामान्यदृष्टिसे अपरिणमनशील हैं और यद्यपि प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्ययको प्राप्त हो रहे हैं तथापि ध्रौव्यरूप हैं ऐसे आप अपने चैतन्य स्वभाव-ज्ञानादि गुणोंमें रञ्चमात्र भी सामान्यचित्स्वभावताको नहीं छोड़ते हैं—सामान्यकी अपेक्षा आप एक नित्य चैतन्यस्वभावको धारण करनेवाले हैं ॥१६॥

क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं न विगाह्यते
सममतिभरात्तैराक्लान्तो भवांस्तु विभाव्यते।
तदिदमुभयं भूतार्थं सन्मिथो न विरुध्यते
कलयसि सदा यद्भावानां विभो क्रममक्रमात् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(भावः) कोई भी पदार्थ (क्रमपरिणतैः) क्रमसे परिणत होने वाले (भावैः) भावोंके द्वारा (समं) एकसाथ (न विगाह्यते) युक्त नहीं होता है (तु) किन्तु (भवान्) आप (तैः) उन क्रमवर्ती भावोंसे (समं) एक साथ (अतिभरात्) अत्यधिकरूपसे (आक्लान्तः) युक्त (विभाव्यते) जान पड़ते हैं (इदं तद् उभयं) यह दोनों बातें (भूतार्थं सत्) यथार्थ होती हुई (मिथो न विरुध्यते(

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्पर विरुद्ध नहीं हैं (यत्) क्योंकि (विभो) हे प्रभो ! आप (सदा) निरन्तर (अक्रमात्) एकसाथ (भावानां क्रमं) पदार्थोंके (क्रमं) क्रमको (कलयसि) धारण करते हैं।

भावार्थ—संसारके अन्य पदार्थोंमें जो परिणमन होता है वह एक साथ न होकर क्रमसे ही होता है परन्तु आप उन क्रमवर्ती भावोंसे एकसाथ युक्त हैं। यह यद्यपि विरोधरूप मालूम पड़ता है तथापि विरोधरूप नहीं है क्योंकि क्रम-क्रमसे परिवर्तित होने वाले पदार्थ आपके ज्ञानमें एक साथ समाये हुए हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थके त्रिकालवर्ती परिणमन आपके ज्ञानमें आ रहे हैं इस दृष्टिसे यह कहा जाता है कि आप क्रमवर्ती भावोंसे एकसाथ युक्त प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि आप पदार्थोंके त्रिकालवर्ती परिणमनको अपने केवलज्ञानके द्वारा एकसाथ जानते हैं ॥१७॥

स्वयमपि परात् प्राप्याकारं परोपकृतं वहन्
परविरहितः सर्वाकारैः परस्य सुनिर्भरः ।
अवगमरसः शुद्धोऽत्यन्तं तवैष विजृम्भते
स्वभररभसव्यापारेण स्फुरन् सममात्मनि ॥१८॥

अन्वयार्थ—जो (स्वयं) स्वयं (परात्) पर पदार्थसे (परोपकृतं) परके द्वारा उपकृत (आकारं प्राप्य) आकारको प्राप्त कर (वहन् अपि) धारण करता हुआ भी (परविरहितः) परसे रहित है तथा (परस्य) पर पदार्थके (सर्वाकारैः) समस्त आकारोंसे (सुनिर्भरः) अत्यन्त परिपूर्ण है (शुद्धः) रागादिक विकारोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं और (स्वभररभसव्यापारेण) स्वस्वभावके वेगपूर्ण व्यापारसे (आत्मनि) अपने आत्मामें (समम्) एकसाथ (स्फुरन्) प्रकट है ऐसा (तव) आपका (एषः) यह (अवगमरसः) ज्ञानस्वभाव (अत्यन्तं) अत्यधिक (विजृम्भते) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका ज्ञान अपनी स्वच्छताके कारण दर्पणके समान परपदार्थसे उसके आकारको ग्रहण कर यद्यपि अपने आपमें धारण करता है तो भी वह परमार्थसे पर पदार्थसे रहित है तथा रहित होनेपर भी उसके आकारसे परिपूर्ण है अर्थात् अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा पर-पदार्थोंके आकार आपके ज्ञानमें समाये हुए हैं। रागादिक विकारी भावोंका समूल नाश हो जानेसे आपका ज्ञान अत्यन्त शुद्ध है तथा अपने शुद्ध स्वभावरूप परिणमनसे आत्मामें सदा विद्यमान रहता है। ऐसा यह आपका वीतराग विज्ञान है ॥१८॥

अवगमसुधाधारासारैर्लसन्नपि सर्वत-
स्तदतिभरतो ज्ञानैकत्वं न नाम विगाहसे ।
अवधिरहितैरेकद्रव्यश्रितैर्निजपर्ययै-
र्युगपदपरैरप्युल्लासं प्रयासि सुखादिभिः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(अवगमसुधाधारासारैः) ज्ञानरूप अमृतकी धाराओंकी अनवरत वृष्टिके द्वारा (सर्वतः) सब ओरसे (लसन्नपि) सुशोभित होते हुए भी आप (तदतिभरतः) उसके अत्यधिक भार-से (ज्ञानैकत्वं) मात्र ज्ञानके साथ एकत्वको (न नाम विगाहसे) नहीं प्राप्त होते हैं किन्तु (अवधि-रहितैः) सीमातीत (एकद्रव्यश्रितैः) एक द्रव्य सम्बन्धी (निजपर्ययैः) अपनी पर्यायोंसे उपलक्षित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सुखादिभिः अपरैः अपि) सुखादिक अन्य गुणोंके द्वारा भी (युगपत्) एकसाथ (उल्लासं) उल्लासको (प्रयासि) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप ज्ञानामृतकी धाराओंसे निरन्तर आप्लावित रहते हैं इसलिये ऐसा लगता है कि आप मात्र ज्ञानरूप ही हैं, परन्तु परमार्थ ऐसा नहीं है क्योंकि अपने अवान्तर परिणमनोंसे युक्त सुखादि अन्य गुणोंके साथ भी आपकी तन्मयता अनुभवमें आती है। तात्पर्य यह है कि आप ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणोंसे युक्त हैं तथा वे सब गुण अगुरुलघुगुणोंके कारण अपने आपमें परिवर्तित होते रहते हैं ॥१९॥

सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः समुल्लसति त्वयि
द्वयमिदमतिव्याप्त्यव्याप्ती विभो न विभाव्यते।
बहिरपि पतन् यच्छुद्धोऽसि स्वरूपपरायणः
पतसि च बहिर्विष्वक् शुद्धस्वरूपपरोऽपि यत् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभो ! (सततं) निरन्तर (ज्ञानोन्मेषैः) ज्ञानके उन्मेषों-विकल्पोंसे (समुल्लसति) सुशोभित होनेवाले (त्वयि) आपमें (अतिव्याप्त्यव्याप्ती) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति (इदं द्वयम्) यह दोनों दोष (न विभाव्यते) प्रतीत नहीं होते (यत्) क्योंकि (बहिः पतन् अपि) बाह्य पदार्थोंमें पड़ते हुए भी—बाह्य पदार्थोंको जानते हुए भी आप (स्वरूपपरायणः शुद्धः असि) आत्मरूपमें तत्पर रहनेवाले शुद्ध हैं (च) और (यत्) क्योंकि (शुद्धस्वरूपपरोऽपि) शुद्ध स्वरूपमें तत्पर होते हुए भी (विष्वक्) सब ओरसे (बहिः पतसि) बाह्य पदार्थोंमें पड़ते हैं—उन्हें जानते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप निरन्तर ज्ञानके उन्मेषोंसे समुल्लसित हो रहे हैं अर्थात् निरन्तर ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानते हैं। परन्तु आपका वह ज्ञान बाह्य पदार्थोंमें फैल कर अतिव्याप्ति दोषसे और स्वरूपमें न रह कर अव्याप्ति दोषसे दूषित नहीं है क्योंकि जब वह बाह्य पदार्थोंको जानता है तब स्वरूपको भी जानता है और जब स्वरूपको जानता है तब बाह्य पदार्थोंको भी जानता है। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान स्वपरव्यवसायी है—निज और पर दोनोंको जाननेवाला है ॥२०॥

सममतिभरादेतत् व्याप्य प्रभास्यबहिर्बहि-
स्तदपि न भवान् देवैकोऽन्तर्बहिश्च विभाव्यते।
प्रभवविलयारम्भे विष्वग् भवत्यपि यद्बहि-
स्त्रिसमयभुवष्टङ्कोत्कीर्णाः पराकृतयस्त्वयि ॥२१॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! यद्यपि (भवान्) आप (समम्) एकसाथ (अतिभरात्) अत्यधिकरूपसे (अबहिः) भीतर और (बहिः) बाहर (व्याप्य) व्याप्त होकर (प्रभासि) सुशोभित हो रहे हैं (तदपि) तो भी (अन्तः च बहिः) भीतर और बाहर (एको न विभाव्यते) एक नहीं मालूम होते हैं (यत्) क्योंकि (बहिः) बाहरमें (विष्वक्) सब ओर (प्रभवविलयारम्भे) उत्पाद और व्ययके आरम्भोंके (भवति अपि) होनेपर भी अन्तरङ्गमें (त्वयि) आपमें (त्रिसमयभुवः) तीन कालोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होनेवाली (पराकृतयः) पर पदार्थोंकी आकृतियाँ (टङ्कोत्कीर्णाः) टांकीसे उकेरी हुईके समान निरन्तर विद्यमान है। अर्थात् बाह्यमें उत्पाद और व्ययसे सहित होने पर भी आप अन्तरङ्गमें उनसे रहित हैं—केवल ध्रुवरूप हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप यद्यपि भीतर और बाहर दोनों ओर एकसाथ व्याप्त होकर सुशोभित हैं तथापि एक नहीं हैं क्योंकि बाह्यमें तो आप उत्पाद और व्ययसे युक्त पदार्थाकृतियों-को जानते हैं अतः तद्रूप हैं और अन्तरंगमें पदार्थोंकी त्रिकाल सम्बन्धी आकृतियाँ आपमें टङ्कोत्कीर्ण हैं अतः ध्रौव्यरूप हैं ॥२१॥

त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः करम्बिततेजसि
स्फुरति परितोऽप्येकत्रात्मन्यसौ पुनरुक्तता।
वदति पुरुषानन्त्यं किन्तु प्रभो त्वमिवेतरै–
र्विषयपतितैः प्रत्येकं ते स्फुरन्त्यकृतद्वयाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः) त्रिकाल और त्रिलोकके समस्त आकारोंसे (करम्बिततेजसि) जिसका तेज व्याप्त है ऐसे (एकत्र आत्मनि) एक आत्माके (परितः स्फुरति अपि) सब ओर प्रकट होने पर भी (असौ पुनरुक्तता) यह पुनरुक्तता (पुरुषानन्त्यं वदति) आत्माकी अनन्तता को कहती है (किन्तु) किन्तु (प्रभो) हे नाथ ! (ते) वे (प्रत्येकं) प्रत्येक अन्य आत्माएँ (त्वमिव) आपके ही समान (विषयपतितैः) विषयमें आये हुए (इतरैः) अन्य पदार्थोंके द्वारा (अकृतद्वयाः) उत्पाद और व्ययको न करते हुए ध्रुवरूप (स्फुरन्ति) स्फुरित होती हैं—अनुभवमें आती हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! यद्यपि पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती आकृतियोंसे युक्त आत्मा एक ही है तथापि ज्ञेयोंकी विभिन्नतासे आत्मा भी विभिन्न हैं ऐसा उपचारसे कहा जाता है परन्तु वे विभिन्न आत्माएँ भी आपके इसी आत्माके समान हैं अर्थात् जिस प्रकार आपका यह आत्मा ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्योंकी आकृतियोंसे सहित है उसी प्रकार वे आत्माएँ भी ज्ञेय बनकर आये हुए अन्य द्रव्योंकी आकृतियोंसे सहित हैं और अन्य द्रव्योंसम्बन्धी उत्पाद व्ययको करनेवाली नहीं हैं ॥२२॥

दृगवगमयोर्दिव्योच्छ्वासा निरावरणस्य ते
भृशमुपचिताः स्फूर्यन्ते तेऽप्रकम्पमहोदयैः।
अपि हि बहुना तन्माहात्म्यं परेण न खण्ड्यते
यदतिभरतो गत्वाऽऽनन्त्यं पुरैव विजृम्भिताः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(निरावरणस्य) ज्ञानावरण और दर्शनावरणसे रहित (ते) आपके (भृशमुपचिताः) अत्यधिक संचयको प्राप्त हुए (ते) वे (दृगवगमयोः) दर्शन और ज्ञानके (दिव्योच्छ्वासाः) दिव्य विकल्प (अपि हि) यद्यपि (अप्रकम्पमहोदयैः) निश्चल-स्थायी महान् अभ्युदयके साथ (स्फूर्यन्ते) वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथापि (बहुना परेण) बहुतभारी अन्य पदार्थके द्वारा (तन्माहात्म्यं) उनका माहात्म्य (न खण्ड्यते) खण्डित नहीं होता है (यत्) क्योंकि वे (अतिभरतः) अत्यधिक भारसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आनन्त्यं गत्वा) अनन्तपनेको प्राप्त कर (पुरैव) पहले ही (विजृम्भिताः) विस्तारको प्राप्त हो चुके हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञानावरण और दर्शनावरणके नष्ट हो जानेसे आपके जो केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हुए हैं उनके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं अथवा अनन्त ज्ञेयोंकी अपेक्षा उनके अनन्त अवान्तर विकल्प हैं। वे सब विकल्प स्थायीरूपसे स्फुरित हो रहे हैं—प्रकट हो रहे हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शनके उन अवान्तर विकल्पोंकी महिमा अन्य द्रव्यके द्वारा खण्डित नहीं होती क्योंकि वे अन्य द्रव्यके सहयोगके बिना स्वयं ही अनन्तपनेको प्राप्त कर विस्तृत हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि इनके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद स्वतःसिद्ध हैं ॥२३॥

युगपदखिलैरेकः साकं पदार्थकदम्बकैः
स्वरसविसरैस्त्वं व्यातुक्षीं भरादिव दीव्यसि।
अथ च न परान् सिञ्चस्युच्चैः परैश्च न सिच्यसे
स्फुरसि मिलिताकारैरेकोपयोगमहारसैः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (एकः) एक होकर भी (युगपत्) एक साथ (अखिलैः पदार्थ-कदम्बकैः साकं) समस्त पदार्थसमूहोंके साथ (स्वरसविसरैः) आत्मस्वभावरूप रसके समूहसे (भरादिव) जोरसे मानों (व्यातुक्षीं) फाग (दीव्यसि) खेल रहे हैं (अथ च) फिर भी (परान् न सिञ्चसि) आप दूसरे पदार्थोंको नहीं सींचते हैं (च) और आप स्वयं भी (परैः) दूसरे पदार्थोंके द्वारा (न सिच्यसे) नहीं सींचे जा रहे हैं। मात्र (मिलिताकारैः) जिसमें पदार्थसमूहोंके आकार मिले हुए हैं ऐसे (एकोपयोगमहारसैः) एक उपयोगरूप महारससे (स्फुरसि) सुशोभित हो रहे हैं।

भावार्थ—परस्पर एक दूसरेपर रङ्ग डालना फाग खेलना कहलाता है। हे भगवन् ! आप अकेले ही अनन्त पदार्थोंके साथ फाग खेलते हैं। फाग खेलनेका रङ्ग निजस्वभाव रस है परन्तु आश्चर्य इस बातका है कि इस फागमें न तो आपने ही पर पदार्थोंको अपने रंगसे रंगा है और न परपदार्थोंके द्वारा आप हो रंगे जा सके हैं। मात्र परपदार्थोंके आकार आपके ज्ञानोपयोगमें आकर मिल गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप अपने ज्ञातृस्वभावसे संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं परन्तु जानते समय आपका ज्ञातृस्वभाव आपके पास रहता है और ज्ञेय बने हुए समस्त पदार्थ अपने स्थानपर रहते हैं। ज्ञान, ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय, ज्ञानरूप नहीं होते। ऐसा ही पदार्थका स्वभाव है। मात्र ज्ञानकी स्वच्छताके कारण ज्ञानमें ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित होते हैं ॥२४॥

अविरतमिमाः सम्यग्बोधक्रियोभयभावना-
भरपरिणमद्भूतार्थस्य स्फुरन्तु ममाद्भुताः।
परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवन-
मिलितामन्दानन्दाः सदैव तव श्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(सम्यग्बोधक्रियोभयभावनाभरपरिणमद्भूतार्थस्य) सम्यग्ज्ञान और सम्यक् क्रिया इन दोनोंकी भावनाओंके समूहसे जिसे भूतार्थ—परमार्थ तत्त्वकी प्राप्ति हुई है ऐसे (मम) मेरे (अवि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रतं) निरन्तर (तव) आपकी (अद्भुता:) आश्चर्यंकारक तथा (परमसहजावस्थालग्नोपयोगरसप्लवनमिलितामन्दानन्दा:) उत्कृष्ट स्वाभाविक अवस्थामें लगे हुए उपयोगरूपी रसमें तैरनेसे जिनमें बहुत भारी आनन्द आकर मिला है ऐसी (इमा:) ये (श्रिय:) अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मियां (सदैव) निरन्तर ही (स्फुरन्तु) प्रकट हों।

भावार्थ—इस पच्चीसिकाके अन्तमें आचार्य स्तुतिके फलस्वरूप यह आकांक्षा प्रकट करते हैं कि हे भगवन्! मैं ज्ञाननय और क्रियानयके एकान्तसे विमुक्त हो दोनोंकी भावनासे यथार्थता को प्राप्त करूँ अर्थात् दोनों नयोंकी भावनासे ही मैं यथार्थरूपताको प्राप्त हो सकता हूँ क्योंकि मात्र ज्ञाननय की चर्चा करनेवाले अथवा मात्र क्रियानयकी चर्चा करनेवाले जीव इसी संसार समुद्रमें मग्न रहते हैं किन्तु इसके विपरीत जो दोनोंका आलम्बन लेते हैं वे ही संसार समुद्रसे पार होते हैं[1]। आचार्यने दूसरी आकांक्षा यह प्रकट की है कि जब मैं उभय नयोंके आश्रयसे भूतार्थताको प्राप्त कर लूं तब मेरे भी आपकी ये आश्चर्यंकारक अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मियाँ निरन्तर प्रकट हों। इन लक्ष्मियोंकी विशेषता यह है कि इनके द्वारा अपने सहज स्वभावमें लीन उपयोगरूपी रसमें तैरनेसे बहुत भारी आनन्दकी प्राप्ति स्वयं हो जाती है ॥२५॥

■

१. मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति य—
न्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥
—कलशा, पुण्यपापाधिकार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

एकानेकमपूर्णपूर्णमततप्रस्तीर्णगूढस्फुटं
नित्यानित्यमशुद्धशुद्धमभितस्तेजो दधत्यद्भुतम् ।
दिव्यानन्तविभूतिभासिनि चितिद्रव्ये जिनेन्द्रेऽधुना
मज्जामः सहजप्रकाशभरतो भातीह विश्वस्पृशि ॥१॥

अन्वयार्थ—(एकानेकम्) एक और अनेक (अपूर्णपूर्णं) अपूर्ण और पूर्ण (अततप्रस्तीर्णगूढ-स्फुटम्) अविस्तृत और विस्तृत, गूढ और प्रकट (नित्यानित्यं) नित्य और अनित्य (अशुद्धशुद्धम्) अशुद्ध और शुद्ध तथा (अद्भुतं) आश्चर्यकारक (तेजः) तेजको (अभितः) सब ओरसे (दधति) धारण करनेवाले (दिव्यानन्तविभूतिभासिनि) दिव्य तथा अनन्त विभूतिसे विभूषित, (सहजप्रकाशभरतः) सहज स्वाभाविक प्रकाशके भारसे (भाति) सुशोभित होनेवाले तथा (विश्वस्पृशि) समस्त विश्वका स्पर्श करनेवाले—सर्वज्ञ, (चितिद्रव्ये) चैतन्यद्रव्यरूप (इह जिनेन्द्रे) इन जिनेन्द्र भगवान्में हम (अधुना) इस समय (मज्जामः) निमग्न होते हैं—भक्तिसे उनके गुण चिन्तनमें तल्लीन होते हैं।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवान् जिस तेजको धारण करते हैं वह सामान्यसे एक है, विशेषकी अपेक्षा अनेक है, विभाव भावोंसे रहित होनेके कारण अपूर्ण है, स्वभाव भावोंसे सहित होनेके कारण पूर्ण है, शरीर प्रमाण होनेसे अतत है, लोकालोकावभासी ज्ञानसे सहित होनेके कारण प्रस्तीर्ण—विस्तृत है, अल्पज्ञानियोंके अगोचर होनेसे गूढ है, ज्ञानी जनोंके द्वारा ग्राह्य होनेसे स्फुट-प्रकट है, सामान्यकी अपेक्षा नित्य है और विशेषकी अपेक्षा अनित्य है, अन्तर्ज्ञेयोंके संपर्कसे सहित होनेके कारण अशुद्ध है, अन्य द्रव्यके संपर्कसे रहित होनेके कारण शुद्ध है····इस प्रकार विरोधी धर्मोंसे युक्त होनेके कारण आश्चर्यकारक है। श्री जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे विभूषित हैं, सहज प्रकाशके भारसे सुशोभित हैं, सर्वज्ञ हैं तथा चैतन्य द्रव्यरूप हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवमें हम इस समय भक्तिसे निमग्न होते हैं। सर्वतोभावसे हम अपना उपयोग उन्हींमें स्थिर करते हैं ॥१॥

एकस्याक्रमविक्रमैकरसिनस्त्रैलोक्यचक्रक्रम-
क्रीडारम्भगभीरनिर्भरहठोत्फुल्लोपयोगात्मनः ।
आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य ते
नाधन्याः प्रपिबन्ति सुन्दरमिदं रूपं सुगुप्तं स्वतः ॥२॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) जो एक—अद्वितीय हैं, (अक्रमविक्रमैकरसिनः) क्रमहीन पराक्रमसे परिपूर्ण हैं, (त्रैलोक्यचक्रक्रमक्रीडारम्भगभीरनिर्भरहठोत्फुल्लोपयोगात्मनः) तीनों लोकरूपी चक्रकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रमपूर्ण क्रीडाके आरम्भसे गम्भीर तथा अत्यधिक हठसे विकसित उपयोग ही जिनका स्वरूप है और (आनन्दोत्कलिकाभरस्फुटदतिस्पष्टस्वभावस्य) जिनका अत्यन्त स्पष्ट स्वभाव आनन्दरूपी उत्कृष्ट कलिकाओंके समूहसे विकसित हो रहा है ऐसे (ते) आपके (सुन्दरं) मनोज्ञ तथा (स्वतः सुगुप्तं) अपने आपसे सुरक्षित (इदं रूपं) इस रूपका (अधन्याः) भाग्यहीन प्राणी (न प्रपिबन्ति) पान नहीं करते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंमें अद्वितीय हैं, अनन्तवीर्यसे युक्त हैं, तीन लोकके ज्ञाता उत्कृष्ट केवलज्ञानरूपी उपयोगसे सहित हैं तथा आपका स्वभाव अनन्तसुखसे परिपूर्ण है। हे नाथ ! आपके स्वतः सुरक्षित इस सुन्दर रूपका दर्शन भाग्यहीन नहीं करते हैं। निकटभव्य जीव ही आपके इस सुन्दर रूपका दर्शन कर सकते हैं, भाग्यहीन मनुष्य नहीं ॥२॥

निःसीम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिरभितो विश्वस्य सीम्न्युज्ज्वलै-
र्वल्गद् वल्गुनिराकुलैककलनक्रीडारसस्योर्मिभिः ।
चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं स्फीतं स्वभावश्रिया
पीत्वैतत् तव रूपमद्भुततमं माद्यन्ति के नाम न ॥३॥

अन्वयार्थ—(अस्य निःसीम्नः विश्वस्य सीम्नि) इस सीमातीत विश्वकी सीमापर (भरात्) जोरसे (अभितः) चारों ओर (स्खलद्भिः) टकरानेवाली (उज्ज्वलैः) निर्मल (वल्गुनिराकुलैक कलनक्रीडारसस्य) सुन्दर और निराकुल अद्वितीय परिणमनसम्बन्धी क्रीडारसकी (ऊर्मिभिः) तरंगोंसे जो (वलगत्) चञ्चल है (चैतन्यामृतपूरनिर्भरभृतं) चैतन्यरूप अमृतके पूरसे जो अत्यन्त भरा हुआ है, (स्वभावश्रिया स्फीतं) जो स्वाभाविक लक्ष्मीसे विस्तृत है तथा (अद्भुततमं) अत्यन्त आश्चर्यको करनेवाला है ऐसे (तव) आपके (एतत् रूपं पीत्वा) इस रूपको पीकर (के नाम न माद्यन्ति) कौन नहीं मत्त होते हैं ? अर्थात् सभी मत्त होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके इस अत्यन्त अद्भुत रूपके दर्शन कर सभी लोग हर्षसे विभोर हो जाते हैं ॥३॥

एकः कोऽपि हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशस्त्वया
चिद्वीर्यातिशयेन केवलसुधापिण्डः किलालोडितः ।
यस्याद्याप्यतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली
त्रैलोक्योदरकन्दरास्वतिभरभ्रश्यद्भ्रमं भ्राम्यति ॥४॥

अन्वयार्थ—(हठावरुद्धरभसस्फारप्रकाशः) जिसके विशाल प्रकाशका वेग हठपूर्वक रोका गया था ऐसा (कोऽपि) कोई (एकः) अद्वितीय (केवलसुधापिण्डः) केवलज्ञानरूपी अमृतका समूह (किल) निश्चयसे (त्वया) आपके द्वारा (चिद्वीर्यातिशयेन) आत्मवीर्यके अतिरेकसे (आलोडितः) आलोडित किया गया है—मथा गया है (यस्य) जिसकी (अतिवल्गुवल्गितवलत्कल्लोलमालावली) अत्यन्त सुन्दर उठती हुई चञ्चल तरंगोंकी पंक्तियोंका समूह (त्रैलोक्योदरकन्दरासु) तीन लोकके मध्यरूपी गुफाओंमें (अद्यापि) आज भी (अतिभरभ्रश्यद्भ्रमं 'यथास्यात्तथा') अत्यन्त भारसे भँवरको नष्ट करता हुआ (भ्राम्यति) घूम रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने आत्मवीर्यसे उस केवलज्ञानको प्राप्त किया था जिसका प्रकाश अत्यधिक विस्तृत था तथा जिसकी तरंगावली आज भी तीन लोकोंके भीतर अनवरत घूम रही है ॥४॥

दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुख–
व्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः ।
उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः संभूय मुञ्चन्ति ते
स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचश्चैतन्यनीराजनाः ॥५॥

अन्वयार्थ— (दृग्बोधद्रढिमोपगूढविततत्रैलोक्यभारोन्मुखव्यायामार्पितचण्डवीर्यरभसस्फारीभवज्ज्योतिषः) ज्ञान दर्शनकी दृढ़तासे आलिङ्गित अत्यन्त विस्तृत तीन लोकका भार धारण करनेके सन्मुख बहुतभारी प्रचण्ड वीर्यके वेगसे जिनकी ज्योति विशाल हो रही हैं तथा (उच्चण्डोत्कलिकाकलापबहुलाः) जो अत्यन्त तेजस्वी ज्वालाओंके समूहसे परिपूर्ण हैं ऐसी (ते) आपकी (चैतन्यनीराजनाः) चैतन्यरूपी आरतियाँ (संभूय) मिलकर (स्पष्टोद्योतविकाशमांसलरुचः) स्पष्ट प्रकाशके विस्तारसे परिपुष्ट कान्तियोंको (मुञ्चन्ति) छोड़ रही हैं—प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के सामान्य चैतन्य गुणको आरतियोंका रूपक दिया गया है जिस प्रकार आरतियोंमें अनेक कलिकायें होती हैं उसी प्रकार चैतन्यरूपी आरतियोंमें भी ज्ञान-दर्शन वीर्य तथा सुख आदि अनेक कलिकाएँ हैं। ये सभी कलिकाएं अत्यन्त तेजस्वी हैं। इनकी किरणावली अत्यधिक विस्तृत है तथा ये सभी मिलकर स्पष्ट प्रकाशसे विस्तृत रुचि—कान्ति अथवा आत्मश्रद्धाको प्रकट कर रही हैं ॥५॥

एकस्योच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मनोन्मज्जतः
कोऽनेकान्तदुराशया तव विभो भिन्द्यात्स्वभावं सुधीः ।
उद्गच्छद्भिरनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयै–
र्देवत्वं यदि नाद्यतः स्वयमपि स्वादान्तरैः साधयेत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे भगवन् ! (उद्गच्छद्भिः) प्रकट होने वाले तथा (अनन्तधर्मविभवप्राग्भारभिन्नोदयैः) अनन्त धर्मरूप ऐश्वर्यके प्राग्भारसे जिनका उदय विभिन्न प्रकारका हो रहा है ऐसे (स्वादान्तरैः) विशिष्ट सुखोंसे (यदि) यदि (आद्यतः) प्रारम्भसे (स्वयमपि) स्वयं भी (देवत्वं) देवपनेको (न साधयेत्) सिद्ध नहीं करता है तो (कः सुधीः) कौन बुद्धिमान् (अनेकान्तदुराशया) अनेकान्तकी दुराशासे (एकस्य) एक और (उच्छलदच्छबोधमधुरद्रव्यात्मना) बढ़ते हुए निर्मल ज्ञानसे मनोहर द्रव्य स्वरूपकी अपेक्षा (उन्मज्जतः) प्रकट होनेवाले (तव) आपके (स्वभावं) स्वभावको (भिन्द्यात्) भिन्न करेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—अनेकान्त कहता है कि स्वभाव, स्वभाववान्से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है। दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिए तो अभिन्न है और संज्ञा संख्या लक्षण आदिमें भेद होनेसे भिन्न है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि हे विभो ! आपके स्वभावको आपसे भिन्न कहनेवाला पुरुष यदि सुखादि गुणोंके कारण आपमें देवपना सिद्ध नहीं कर लेता है तो मात्र अनेकान्तकी सिद्धिके लिए स्वभावको आपसे भिन्न सिद्ध करना दुराशामात्र है ॥६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो मूर्च्छद्‌भिरुच्चावचै-
देंव स्वस्य विरुद्धधर्मनिवहैर्निर्माणमुद्दामयन् ।
भावाभावकरम्बितैकविकसद्‌भावस्वभावस्य ते
भात्युच्चैरनवस्थितोऽपि महिमा सम्यक् सदावस्थितः ॥७॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (भावाभावकरम्बितैकविकसद्भावस्वभावस्य) उत्पाद और व्यय अथवा अस्तित्व और नास्तित्वसे व्याप्त मुख्यरूपसे विकसित होनेवाला ध्रुवभाव जिनका स्वभाव है ऐसे (ते) आपकी वह (महिमा) महिमा, जो कि (अन्योन्यात्मकतारसादिव) परस्पर एक रूपताके स्नेहसे ही मानों (मिथो मूर्च्छद्भिः) परस्पर मिलते हुए (उच्चावचैः) उच्च तथा हीन—मुख्य गौण (विरुद्धधर्मनिवहैः) विरुद्ध धर्मोंके समूहसे (स्वस्य निर्माणम् उद्दामयन्) अपने आपके निर्माणको बढ़ाती है, (उच्चैः) उत्कृष्ट है और (अनवस्थितोऽपि) स्थिर न होकर भी (सदा-वस्थितः) सदा स्थिर रहनेवाली है, (सम्यक्) अच्छी तरह (भाति) सुशोभित हो रही है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! उत्पाद और व्ययसे सहित ध्रौव्यरूपसे सदा विकसित रहनेवाला ज्ञान स्वभावसे युक्त आपकी उत्कृष्ट महिमा अत्यधिक सुशोभित हो रही है । हे प्रभो ! आपकी यह महिमा, परस्परकी एकरूपताके स्नेहसे ही मानों मिले हुए परस्पर विरोधी धर्मोंके समूहसे समुत्पन्न है तथा उत्पाद और व्ययकी अपेक्षा अनवस्थित होकर भी ध्रौव्यरूपसे सदा अवस्थित है ॥ ७ ॥

चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरसप्राग्भारमेकं सदा
चिच्छक्तिप्रकरैरनेकमपि च क्रीडत्क्रमादक्रमात् ।
द्रव्याप्त्याऽतिनिरुत्सुकस्य वसतश्चित्पिण्डचण्डत्विषि
स्वात्मन्यद्य तवेश शाश्वतमिदं तेजो जयत्येव नः ॥८॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन् ! (द्रव्याप्त्या) स्वात्मोपलब्धि होनेसे जो (अतिनिरुत्सुकस्य) अत्यन्त निरुत्सुक हैं—बाह्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अनुत्कण्ठित हैं, तथा (चित्पिण्डचण्डत्विषि) चैतन्यके पिण्डसे सूर्यतुल्य (स्वात्मनि) अपने आपमें जो (वसतः) निवास कर रहे हैं ऐसे (तव) आपका (चिन्मात्रं) चैतन्यमात्र, (परिशुद्धं) सब ओरसे शुद्ध (उद्धतरसप्राग्भारं) उत्कट आत्मरससे परिपूर्ण (एकं) एक (सदा) निरन्तर (क्रमात् अक्रमात्) क्रम और अक्रमसे (चिच्छक्तिप्रकरैः) आत्म-शक्तियोंके समूहके साथ (क्रीडत्) क्रीडा करनेवाला, तथा इस दृष्टिसे (अनेकमपि) अनेकरूपताको भी प्राप्त, (शाश्वतमिदम्) यह स्थायी (तेजः) तेज (अद्य) आज (नः) हम लोगोंके समक्ष—हमारी श्रद्धाका विषय बनता हुआ (जयत्येव) जयवन्त ही प्रवर्तता है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने भगवज्जिनेन्द्रके वास्तविक रूप और उनके तेजका वर्णन करते हुए कहा है कि हे भगवन् ! आपको द्रव्यकी प्राप्ति हो चुकी है अर्थात् परपदार्थसे भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायसे अभिन्न एकत्व विभक्त आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हो चुकी है अतः आप अन्य वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त निरुत्सुक हैं तथा आप चैतन्यके पिण्डसे सूर्यके समान देदीप्यमान अपने आपमें निवास करते हैं—आपका उपयोग परपदार्थोंसे हटकर स्वरूपमें ही रम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा है। इस प्रकारकी विशेषताको प्राप्त करनेवाले आपका तेज भी अपनी खास विशेषता रखता हैं। वह चैतन्यमात्र है—उसमेंसे रागद्वेषरूप विकारी भावोंकी पुट निकल गई है, अत्यन्त शुद्ध है, अत्यन्तरूपसे प्रकट हुए आत्मस्वभावसे परिपूर्ण है, सामान्यकी अपेक्षा एक है तथा क्रम और अक्रमसे आत्मशक्तियोंके समूहके साथ क्रीड़ा करनेसे अनेक भी है और शाश्वत है, स्थायी हैं। हे प्रभो ! ऐसा आपका तेज आज हमारी श्रद्धाका विषय बनता हुआ नियमसे जयवन्त हो रहा है ॥८॥

वत्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा द्रव्येण गुप्तायतिः
पर्यायैरवकीर्यमाणमहिमा नावस्थितिं गाहसे।
एकोऽपि त्वमखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः स्फुर-
च्चिद्भारोऽद्भुतमातनोषि परमं कस्येश नोत्पश्यतः ॥९॥

अन्वयार्थ—(वत्स्यद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा) भावी और भूतपर्यायोंमें व्याप्त तेजसे युक्त (द्रव्येण) आत्मद्रव्यकी अपेक्षा जो (गुप्तायतिः) दीर्घताको सुरक्षित रखते हैं अर्थात् अवस्थित हैं और (पर्यायैः) पर्यायोंकी अपेक्षा (अवकीर्यमाणमहिमा) जिनकी महिमा बिखरी हुई है ऐसे (त्वं) आप (अवस्थितिं न गाहसे) स्थायित्वको प्राप्त नहीं हैं अर्थात् अनवस्थित हैं। इस प्रकार (ईश) हे प्रभो ! (अखण्डखण्डितनिजप्राग्भारधीरः) विवक्षावश अविभक्त और विभक्त आत्मस्वभावसे धीर तथा (स्फुरच्चिद्भारः) देदीप्यमान चैतन्यके समूहसे युक्त आप (एकोऽपि) एक होकर भी (उत्पश्यतः) अवलोकन करनेवाले (कस्य) किस मनुष्यके (परमं) अत्यधिक (अद्भुतं) आश्चर्यको (न आतनोषि) विस्तृत नहीं करते हैं अर्थात् सभीके आश्चर्यको विस्तृत कर रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप द्रव्यकी अपेक्षा अवस्थित हैं और पर्यायोंकी अपेक्षा अनवस्थित हैं तथा आपका निज शुद्धस्वभाव, स्वभाव और स्वभाववान्‌में प्रदेशभेद न होनेसे अविभक्त है और संज्ञा संख्या आदिका भेद होनेसे विभक्त है, साथ ही आपका चैतन्यपुञ्ज अतिशय देदीप्यमान है—केवलज्ञानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हो रहा है इस तरह आप एक होकर भी सभी दर्शकोंको आश्चर्य उत्पन्न कर रहे हैं ॥९॥

यन्नास्तीति विभासि भासि भगवन्नास्तीति यच्च स्वयं
भावाभावमयं ततोऽसि किमपि त्वं देव जात्यन्तरम्।
भाव (वा) भावमयोऽप्यभावमहसा नाभावतां नीयसे
नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवन् ! (यत्) जिस कारण आप (नास्ति इति विभासि) नास्तिरूप सुशोभित हैं (च) और (यत्) जिस कारण (अस्तीति भासि) अस्तिरूप सुशोभित हैं (ततः) उस कारण (देव) हे देव ! (त्वं) आप (भावाभावमयं) अस्ति-नास्तिरूप (किमपि) कोई (जात्यन्तरम्) विलक्षण द्रव्य (असि) हैं इस प्रकार (नित्योद्योतविकाशहासविलसच्चित्पिण्डचण्डोद्गमः) नित्य प्रकाशके विकाशरूपी हाससे सुशोभित चैतन्यपिण्डके द्वारा जिनका अभ्युदय अत्यन्त तेजपूर्ण है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसे आप (भावाभावमयोऽपि) भाव-अभाव—दोनों रूप होते हुए भी (अभावमहसा) अभावके प्रभावसे (अभावतां न नीयसे) अभावरूपताको प्राप्त नहीं कराये जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! आप स्वतुचष्टयकी अपेक्षा भावरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप हैं इस तरह उभयरूप होनेपर भी आप निरन्तर प्रकाशमान चैतन्य पिण्डसे युक्त होनेके कारण अभावरूपताको कभी प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् आपकी यह परम शुद्ध अवस्था शाश्वत है, क्षण-स्थायी नहीं है। आपमें अभावरूपताका जो भंग है वह मात्र परचतुष्टयके अभावकी अपेक्षा है, स्वतुचष्टयके अभावकी अपेक्षा नहीं।॥१०॥

विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावना-
दन्तर्गूढमपि प्रकाशमभितस्तत्तत्स्वभावश्रिया।
भावाभावपिनद्धबोधवपुषि प्रद्योतमाने स्फुटं
त्वय्येतच्चितिवल्लिपल्लवतुलां त्रैलोक्यमालम्बते ॥११॥

अन्वयार्थ—(भावाभावपिनद्धबोधवपुषि) उत्पाद-व्यय अथवा अस्ति-नास्तिसे व्याप्त ज्ञान ही जिनका शरीर है ऐसे (त्वयि) आपके (स्फुटं 'यथा स्यात्तथा') स्पष्टरूपसे (प्रद्योतमाने 'सति') प्रकाशित रहनेपर (विश्वाकारविकाशनिर्भरपरिच्छेदप्रभाभावनात्) समस्त पदार्थोंके आकार सम्बन्धी विकाशके बहुतभारी परिज्ञानरूपी प्रभाके सद्भावसे (अन्तर्गूढमपि) अन्तर्निमग्न होनेपर भी जो (तत्तत्स्वभावश्रिया) उस उस स्वभावरूप लक्ष्मीके द्वारा (अभितः) सब ओर (प्रकाशं) प्रकाशमान हो रहा है ऐसा (एतत्) यह (त्रैलोक्यं) तीनों लोकोंका समूह (चितिवल्लिपल्लवतुलाम्) चैतन्य-ज्ञानदर्शनरूपी लताके एक पल्लवकी उपमाको (आलम्बते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे भगवन्! पदार्थोंके उत्पाद व्यय अथवा आस्ति-नास्ति पक्षको जाननेवाले ज्ञानसे युक्त आपके विद्यमान रहते हुए यह लोकत्रितय अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा यद्यपि आपके ज्ञानमें अन्तर्नि-मग्न है तो भी बाह्यमें अपने-अपने पृथक् स्वभावसे प्रकाशमान है और आपके ज्ञानमें झलकता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानों ज्ञान-दर्शनरूपी लताका एक पल्लव ही हो। तात्पर्य यह है कि आपका ज्ञान अनन्त है तथा उसके भीतर झलकनेवाला लोकत्रय अत्यन्त अल्प है। आपका ज्ञान इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें ऐसे-ऐसे अनन्त लोकत्रितय झलक सकते हैं॥११॥

अन्तःस्तम्भितसावधानहृदयैर्देवासुरैस्तर्कित-
श्चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः कोऽयं स्वभावस्तव।
एकस्मिन् स्वमहिम्नि मग्नमहसः सन्त्योऽपि चिच्छक्तयः
स्वे स्फूर्त्या यदनन्तमेतदभितो विश्वं प्रकाश्यासते ॥१२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! (अन्तःस्तम्भितसावधानहृदयैः) अन्तरंगमें निश्चल तथा प्रमादसे रहित हृदयवाले (देवासुरैः) देव और असुरोंके द्वारा (तर्कितः) तर्कका विषय बनाया हुआ तथा (चित्सङ्कोचविकाशविस्मयकरः) चैतन्य-ज्ञानदर्शनके संकोच और विकाशके कारण आश्चर्यको करने वाला (तव) आपका (अयं) यह (कः स्वभावः) कौन स्वभाव है? कि (यत्) जिससे (चिच्छक्तयः) आत्माकी शक्तियाँ (एकस्मिन् स्वमहिम्नि) अपनी एक महिमामें (मग्नमहसः सन्त्यः अपि) निमग्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेज होती हुईं भी (स्फूर्त्या) अपने बलसे (एतत् अनन्तं विश्वं) इस अनन्त विश्वको (अभितः प्रकाश्य) सब ओरसे प्रकाशित कर (स्वे) अपने आपमें (आसते) स्थित हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! सुर और असुर अपने हृदयको अपने भीतर निश्चल और सावधान कर आपके स्वभावका विचार करते हैं परन्तु अशक्तिवश विचार नहीं कर सकते हैं। आपका स्वभाव ज्ञानकी दृष्टिसे विस्ताररूप है तो दर्शनकी दृष्टिसे संकोचरूप भी है। इस परस्पर विरुद्धताके कारण आपका स्वभाव सबको आश्चर्यमें डालनेवाला है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आत्माकी अनन्त शक्तियाँ अपने-अपने स्वभावमें स्थिर रहती हुईं भी इस समस्त विश्वको प्रकाशित करती हैं और आपमें निर्बाधरूपसे विद्यमान रहती हैं। तात्पर्य यह है कि आप परस्पर विरोधी अनन्त शक्तियोंके भाण्डार हैं ॥१२॥

निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्प्पणास्फोटिताः
स्पष्टानन्तरुचः स्वशक्तय इमा विष्वक् स्फुटन्त्यस्तव ।
आक्रम्य क्रमसन्निवेशवशतो विश्वं समस्तं भराद्
भान्त्योऽपि प्रसभावरुद्धरभसा लीयन्त एव त्वयि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(निष्कम्पैकदृढोपयोगसकलप्राणार्प्णणास्फोटिताः) निश्चल एक दृढ़ उपयोगके सर्वस्व समर्पणसे जो प्रकट हुई हैं (स्पष्टानन्तरुचः) जिनकी अनन्त किरणें स्पष्ट हैं और जो (विष्वक् स्फुटन्त्यः) सब ओर प्रकाशमान हैं ऐसी (इमाः) ये (तव) आपकी (स्वशक्तयः) आत्मशक्तियाँ (क्रमसन्निवेशवशतः) क्रमिक सन्निवेशके वशसे (भरात्) बलपूर्वक (समस्तं विश्वं) समस्त लोकालोकको (आक्रम्य) व्याप्त कर (भान्त्योऽपि) सुशोभित होने पर भी (प्रसभावरुद्धरभसाः) जिनका वेग हठपूर्वक रुक गया है ऐसी होती हुईं (त्वयि एव) आपमें ही (लीयन्ते) विलीन हो जाती हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी जो अनन्त आत्मशक्तियाँ सब ओर अनुभवमें आ रही हैं वे उपयोगकी अत्यन्त स्थिरतासे प्रकट हुई हैं, स्वयं अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे युक्त हैं और ज्ञानदर्शनके द्वारा अपना विषय बनानेके कारण समस्त विश्वमें व्याप्त हैं। अर्थात् लोक-अलोकको जानने-देखनेवाली हैं। इसप्रकार व्यवहारनयसे यद्यपि ये सर्वत्र व्यापक हैं तथापि निश्चयनयसे आपके निज आत्मामें ही विलीन हैं अर्थात् आत्माको छोड़ अन्यत्र व्याप्त नहीं हैं ॥१३॥

दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः सान्तः प्रदेशश्रिया
देव क्वाऽप्यवधिर्न भाति भवतस्तेनोपयोगात्मना ।
किन्त्वत्रापि निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयो
वक्ष्यन्त्यक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासाः स्वयं सान्तताम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! (दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मना) दर्शन और ज्ञानसे देदीप्यमान आत्माके द्वारा आप (अनवधिः) सीमासे रहित अर्थात् अनन्त और (प्रदेशश्रिया) प्रदेशोंकी लक्ष्मीके द्वारा (सान्तः) सीमासहित अर्थात् सान्त (असि) हैं। इसप्रकार (तेन उपयोगात्मना) उस उपयोग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूपकी अपेक्षा (क्वापि) कहीं भी (भवतः) आपकी (अवधिः) अवधि (न भाति) सुशोभित नहीं है यह ठीक है (किन्तु) किन्तु (अत्रापि) इस लोकमें (निजप्रदेशनियतानन्तोन्नमत्केलयः) जिनकी अनन्त उत्कृष्ट क्रीड़ाएँ अपने प्रदेशोंमें नियत हैं—उन्हें छोड़ अन्यत्र नहीं जाती हैं ऐसे (अक्षतविश्वघस्मरचिदुल्लासाः) अखण्डरूपसे समस्त विश्वको अपना विषय बनानेवाले चैतन्यगुणके विलास—ज्ञानदर्शन गुणके विकल्प (स्वयं) अपने आप (सान्तताम्) अन्तसहितपने को (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् उनकी अपेक्षा आप सान्त हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका दर्शन और ज्ञान अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे सहित होने तथा समस्त लोकालोकको अपना विषय बनानेसे अनन्त है और उनसे अभिन्न होनेके कारण आप भी अनन्त हैं परन्तु जब प्रदेशोंकी अपेक्षा विचार करते हैं तब मात्र असंख्यात प्रदेशोंके धारक होनेसे आप सान्त हैं। इसतरह उपयोग—ज्ञानदर्शनकी अपेक्षा सीमा-रहित होनेपर भी आप आत्मप्रदेशों की अपेक्षा सान्त ही हैं ॥१४॥

मज्जन्तीव जगन्ति यत्र परितश्चिच्चन्द्रिकासागरे
दूरोन्मग्न इवैष भाति तदपि त्वय्येव मग्नः सदा ।
लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा त्वं तु प्रभो भाससे
भावानामचलाविचिन्त्यमहिमा प्रायः स्वभावोऽद्भुतः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिस (चिच्चन्द्रिकासागरे) चैतन्यरूप चाँदनीके सागरमें (जगन्ति) तीनों लोक (मज्जन्तीव) मानों डूब रहे हैं उसमें (एषः) यह लोक यद्यपि (दूरोन्मग्न इव) दूरसे उखरा हुआ सा (भाति) सुशोभित होता है (तदपि) तो भी (त्वय्येव) आपमें ही (सदा मग्नः) निरन्तर मग्न रहता है। (प्रभो) हे स्वामिन् (लोकैकान्तनिमग्नपुण्यमहिमा) लोकके अन्ततक जिनकी पुण्य महिमा निमग्न-व्याप्त हो रही हैं ऐसे (त्वं) आप (भाससे) अतिशय सुशोभित हो रहे हैं। सो ठीक ही है क्योंकि (भावनां) पदार्थोंकी (अचलाविचिन्त्यमहिमा) अविनाशी और अचिन्तनीय महिमासे युक्त (स्वभावः) स्वभाव (प्रायः) प्रायःकर (अद्भुतः) आश्चर्यकारी होता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके चैतन्यरूपी चाँदनीके सागरमें ये तीनों जगत् ऐसे जान पड़ते हैं मानों डूब रहे हों और यह लोक यद्यपि आपसे उन्मग्न हुआ है—आपके ज्ञानसे ही प्रकाशित हुआ है तथापि आपमें ही निमग्न हो रहा है—आपके ज्ञानमें निरन्तर आता रहता है। आपकी महिमा लोकान्त तक व्याप्त है इससे जान पड़ता है कि पदार्थोंकी अविनाशी और अचिन्त्य महिमासे युक्त स्वभाव प्रायः आश्चर्यकारी होता ही है ॥१५॥

स्वान्तःकुड्मलितेऽपि केवलकलाचक्रेऽक्रमव्यापिनि
क्रीडत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा कोऽयं भवान् भासते ।
लीनस्य स्वमहिम्नि यस्य सकलानन्तत्रिकालावली
पूजासङ्गमकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं गाहते ॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—जिनके (केवलकलाचक्रे) केवलज्ञानकी कलाओंका समूह (स्वान्तःकुड्मलितेऽपि) अपने आपमें नियन्त्रित होनेपर भी (अक्रमव्यापिनि) एकसाथ सर्वत्र व्याप्त हो रहा है (स्वमहिम्नि) अपनी महिमामें (लीनस्य) लीन रहनेवाले (यस्य) जिनके लिये यह (सकलानन्तत्रिकालावली) समस्त तथा अनन्त त्रिकालावली—तीनों कालोंकी पंक्ति (पूजास्रङ्मकरन्दबिन्दुकलिकाश्रेणिश्रियं) पूजाकी मालाके मकरन्दकी बिन्दुओंकी कणसन्ततिकी शोभाको (गाहते) प्राप्त हो रही है तथा (क्रीत्क्रोडगृहीतविश्वमहिमा) जिनके सुशोभित अन्तरात्मामें समस्त पदार्थोंकी महिमा गृहीत है—प्रतिबिम्बित है ऐसे (अयं भवान्) यह आप (कः) कौन (भासते) सुशोभित हो रहे हैं ?

भावार्थ—हे भगवन् ! आप कौन हैं यह मैं निर्धार नहीं कर पा रहा हूँ क्योंकि आपके समस्त कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं । जैसे आपके केवलज्ञानकी कलाओंका समूह यद्यपि आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा अपने आपमें नियन्त्रित है अर्थात् जितने क्षेत्रमें आपके आत्मप्रदेश हैं उतनेमें ही व्याप्त हैं तथापि जाननेकी अपेक्षा वह सर्वत्र युगपद् व्याप्त हो रहा है अर्थात् लोकालोकको जानता है ! आप अपने आपकी महिमामें स्वयं लीन हैं तथापि समस्त विश्वकी महिमा आपमें अन्तर्निलीन है और यह तीनों कालोंकी आवलियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों पूजाकी मालाके मकरन्द की बूंदोंके कण ही हों ॥१६॥

पूर्वश्चुम्बति नापरत्वमपरः पूर्वत्वमायाति नो
नैवान्या स्थितिरस्ति सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः ।
दूरोद्गच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदय-
स्त्वं नित्योऽपि विवर्तसे स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(पूर्वः) पूर्व परिणमन (अपरत्वं) पश्चात् होनेवाले परिणमनका (न चुम्बति) स्पर्श नहीं करता है और (अपरः) पश्चात् होनेवाला परिणमन (पूर्वत्वं) पूर्व परिणमनको (नो आयाति) नहीं प्राप्त होता है । पदार्थोंमें (सन्ततभवत्पूर्वापरीभावतः) निरन्तर होनेवाले पूर्वापरीभावसे (अन्या स्थितिः नैव अस्ति) अन्य स्थिति नहीं है अर्थात् जिनमें पूर्वापरी भाव होता है उनमें यही स्थिति चलती है। परन्तु (दूरोद्गच्छदनन्तचिद्घनरसप्राग्भाररम्योदयः) दूर तक विस्तृत अनन्त चैतन्यरूपी घनरसकी अतिशयितासे जिनका उदय अत्यन्त रमणीय है तथा (स्वमहिमव्याप्तत्रिकालक्रमः) अपनी महिमासे जिन्होंने तीनों कालोंके क्रमको व्याप्त कर रक्खा है ऐसे (त्वं) आप (नित्योऽपि) नित्य होकर भी (विवर्तसे) परिवर्तित हो रहे हैं ।

भावार्थ—जिन पदार्थोंमें पूर्वपरीभाव होता है उनमें आगे-पीछे होनेका क्रम रहता है परन्तु आप अपने अनन्त चैतन्य स्वभावसे सदा विद्यमान रहनेके कारण नित्य हैं—आपमें आगे-पीछे होनेका क्रम नहीं है। साथ ही यह बात भी है कि आप नित्य होकर भी परिवर्तित होते हैं अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे आप अपरिवर्तित हैं तो पर्यायदृष्टिसे परिवर्तित भी हैं। द्रव्यदृष्टिसे आपकी महिमा त्रिकालवर्ती है ॥१७॥

गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्-
प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात् ।
आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितै-
रात्मन्येव विवृत्तिमेति किल ते चिद्वारिपूरः स्फुरन् ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहासंवृत्तनित्योच्छ्वसत्प्रोत्तालोत्कलिकाकलापविलसत्कालानिलान्दोलनात्) जिसका मध्य भाग अत्यन्त गहरा है ऐसे विश्वरूप गहरी गुहामें परिवर्तित होनेसे निरन्तर उठती हुई बहुत भारी विकल्पावलिरूप तरंगोंके समूहसे सुशोभित कालरूपी वायुके द्वारा चलाये जानेके कारण (आरब्धक्रमविभ्रमभ्रमकृतव्यावृत्तिलीलायितैः) प्रारम्भ किये हुए क्रमिक संचारके भ्रमसे किये हुए परिवर्तनकी लीलासे जो (स्फुरन्) सुशोभित हो रहा है ऐसा (ते) आपका (चिद्वारिपूरः) चैतन्यरूपी जलका प्रवाह (आत्मन्येव) आत्मामें ही (किल) निश्चयसे (विवृत्तिम्) परिवर्तनको (एति) प्राप्त है।

भावार्थ—यहाँ भगवान्के चैतन्यको जलप्रवाहका रूपक दिया गया है। जिस प्रकार किसी गहरी गुफामें निन्तर उलट-फेर करनेवाला जलका प्रवाह निरन्तर उठती हुई कल्लोलोंसे युक्त होता है उसी प्रकार भगवान्का चैतन्य भी इस विश्वके मध्यभागरूपी गहरी गुफामें निरन्तर पदार्थोंके उठते हुए विकल्पोंसे उलट-फेर करता है। इस उलट-फेरकी अपेक्षा वह अनित्य भी है और सामान्य स्वभावकी अपेक्षा नित्य भी है ॥१८॥

अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुला
बारम्बारमनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः ।
कालास्फालचलत्कलाः कलयसि स्वामिन् सदा तूलव-
च्चित्तत्वाच्चलितैकचण्डिमगुणाद् द्रव्येण निष्कम्पितः ॥१९॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! यद्यपि आप (द्रव्येण) द्रव्यकी अपेक्षा (सदा) सदा (निष्कम्पितः) निश्चल हैं—ध्रुवरूप हैं तथापि पर्यायकी अपेक्षा (तूलवच्चित्तत्वात्) तूलके समान चञ्चलचित्तसे युक्त होनेके कारण (चलितैकचण्डिमगुणात्) चञ्चलताको प्राप्त हुए प्रमुख तेजस्विता गुणसे (कालास्फालचलत्कलाः) कालके थपेड़ेसे चञ्चल उन कलाओंको (कलयसि) प्राप्त हो रहे हैं जो (अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवशव्याघूर्णनव्याकुलाः) अन्तर्गत क्षोभसमूहके आघातसम्बन्धी विवशतासे उत्पन्न चंचलतासे व्याकुल हैं तथा (बारम्बारं) बार-बार (अनन्तताडनभवद्विश्वस्वभावान्तराः) अनन्त आघातोंसे जिनके समस्त स्वभावोंमें अन्तर उत्पन्न हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! द्रव्यदृष्टिसे यद्यपि आप निष्कम्प हैं—आपमें कोई परिवर्तन नहीं होता है तथापि पर्यायदृष्टिसे आप अनेक अवान्तर परिणमनोंको प्राप्त हो रहे हैं। उन परिणमनों में कालद्रव्यकी सहायतासे प्रत्येक समय सूक्ष्म परिवर्तन जारी रहता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समय-समयमें वे परिवर्तन होते रहते हैं तथा बा-बारके इस परिवर्तनसे ऐसा जान पड़ने लगता है जैसा कि आपके समस्त स्वभावमें अन्तर पड़ रहा हो ॥१९॥

स्वैरेवोल्लसितैरनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभि-
स्तृप्यन् विश्वविसर्पिपुष्कलदृशा सौहित्यमस्यागतः ।
सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः
स्वस्मिन्नेव निराकुलः कलयसि स्वस्मिन् सदैव स्थितिम् ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(अनन्तविततज्ञानामृतस्यन्दिभिः) अनन्त विस्तृत ज्ञानरूपी अमृतको झरानेवाले (स्वैरेवउल्लसितैः) अपने ही उल्लासोंसे जो (तृप्यन्) तृप्त हो रहे हैं ऐसे आप (विश्वविसर्पिपुष्कल-दृशा) सब ओर विस्तृत होनेवाली दृष्टिके द्वारा (सौहित्यम् आगतः असि) परम तृप्तिको प्राप्त हैं तथा (सान्द्रानन्दभरोच्छलन्निजरसास्वादार्द्रमाद्यन्महाः) प्रगाढ़ आनन्दके भारसे छलकते हुए आत्म-रसके आस्वादसे जिनका आत्मतेज आर्द्र होता हुआ वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ऐसे आप (स्वस्मिन् एव निराकुलः) अपने आपमें ही निराकुल हैं तथा (स्वस्मिन् एव सदा स्थितिं कलयसि) अपने आप में ही सदा स्थितको प्राप्त हो रहे हैं—आत्मस्वरूपमें ही लीन हो रहे हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अपने ज्ञानानन्दस्वभावमें लीन होकर आत्मरसका आस्वादन कर रहे हैं ॥२०॥

निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं गाढोपयोगग्रह-
ग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतोऽप्यन्येन कार्यं न ते।
शुद्धैकास्खलितोपयोगमहसः सोऽयं स्वभावः किल
ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुषः साक्षाद् यदुद्वीक्षणम् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य) कर्तृत्व बुद्धिसे रहित होनेके कारण जो इच्छाओंसे रहित हैं ऐसे (ते) आपको (सततं) निरन्तर (गाढोपयोगग्रहग्रस्तानन्तजगत्त्रयस्य भवतः अपि) गाढ उपयोगरूपी ग्रहसे अनन्त त्रिभुवनको ग्रस्त करनेपर भी (अन्येन कार्यं न) अन्य पदार्थोंसे कार्य नहीं है। (ग्राह्याकारकरम्बितात्मवपुषः) ज्ञेयोंके आकारसे युक्त आत्मस्वरूपका (यद्) जो (साक्षात्) साक्षात् (उद्वीक्षणम्) अवलोकन है (सोऽयं) यह (किल) निश्चयसे (शुद्धैकास्खलितोपयोगमहसः) शुद्ध अद्वितीय तथा कभी स्खलित न होनेवाले उपयोगरूपी तेजका (स्वभावः) स्वभाव है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप परपदार्थोंके मात्र ज्ञाता हैं कर्ता नहीं, अतः अपने केवलज्ञानरूप उपयोगके द्वारा तीनों लोकोंके ज्ञाता होनेपर भी आपको किसो अन्य पदार्थसे प्रयोजन नहीं है। ज्ञेयाकारसे युक्त आत्मस्वरूपका जो अवलोकन है यही शुद्ध अद्वितीय तथा कभी नष्ट न होने-वाले उपयोगका स्वभाव है ॥२१॥

उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारित-
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्रे तव क्रीडति[1]।
आक्रम्याकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां नस्त्विषो
भावानां ततयो निरन्तरमिमा मुञ्चन्ति जीवं किल ॥२२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपकी (उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारविस्तारितस्फार-स्फारमहोर्मिमांसलदृशां) अत्यधिकरूपसे प्रकट होनेवाले अनन्त वीर्यके उत्कृष्ट व्यापारसे विस्तारित बहुत भारी बड़ी-बड़ी तरंगोंसे परिपुष्ट दृष्टियोंके (चक्रे) समूहके (क्रीडति 'सति') क्रीडा करते

---

१. सप्तम्यन्तः प्रयोगः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहते हुए (नः) हमारी (त्विषः) कान्तिकी (आकुलकृष्टमर्ममहिमप्रोत्तानितां) अत्यधिक खींची हुई मर्मसम्बन्धी महिमाके विस्तार पर (आक्रम्य) आक्रमण कर (भावानां इमाः ततयः) विविध विकारी भावोंकी ये पंक्तियाँ (निरन्तरं) सदा (किल) निश्चयसे (जीवं) प्राण (मुञ्चन्ति) छोड़ रही हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! अनन्त वीर्यके व्यापारस्वरूप आपमें जो अनन्त दृष्टियोंका समूह प्रकट हुआ है उसे देख कर—उसका अनुभव कर हमारे ये विकारी भाव स्वयं अपने विस्तारको छोड़ निष्प्राण हुए जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि आपकी विविध दृष्टियोंका विचार करते ही हमारे विकारीभाव समाप्त हो रहे हैं ॥२२॥

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमाणेऽभित—
स्तैक्ष्ण्यं संदधतस्तवेश रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यमूः ।
विश्वव्याप्तिकृते कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा—
दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छनाः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे नाथ ! (दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि अभितः व्याजृम्भमाणे 'सति') केवलदर्शन और केवलज्ञानकी एकतासे तन्मय उपयोगरूपी तेजके सब ओर विस्तृत होनेपर (तैक्ष्ण्यं संदधतः तव) तीक्ष्णताको अच्छी तरह धारण करनेवाले आपकी (अमूः) ये, (विश्वव्याप्ति-कृते) समस्त जगत्में व्याप्त होनेके लिए (कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बराः) जिन्होंने अद्भुत रसकी प्रस्तावनाके आडम्बरको किया है ऐसी (दूरोत्साहितगाढवीर्यगरिमव्यायामसंमूर्च्छनाः) दूर तक बढ़े हुए अनन्त वीर्यसम्बन्धी गौरवकी विस्तृत संमूर्च्छनाएँ—अत्यधिक चेष्टाएँ (रभसात्) वेगपूर्वक (अत्यन्तं) अतिशयरूपसे (उद्यन्ति) प्रकट हो रही हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! एक साथ प्रकट होनेके कारण एकरूपताको प्राप्त हुए आपके केवल-दर्शन और केवलज्ञान प्रकट हो रहे हैं तथा साथ ही अनन्त वीर्यकी गरिमाका भी अत्यधिक विस्तार हो रहा है ॥२३॥

निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावित—
स्वात्मारामममहोदयस्य भवतः किं नाम निर्वर्ण्यते ।
यस्याद्यापि मनागुदञ्चितचलज्ज्ञानाञ्चलक्रीडया
हेलाऽऽन्दोलितमाकुलं तत इतो विश्वं बहिर्घूर्णति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमावष्टम्भसम्भावितस्वात्मारामममहोदयस्य) निश्चल और निर्बाध उपयोगकी गरिमाके आलम्बनसे जिनके आत्मरमणका महान् उदय सम्पन्न हो रहा है ऐसे (भवतः) आपका (किं नाम निर्वर्ण्यते) क्या वर्णन किया जाय ? (यस्य) जिनके कि (अद्यापि) आज भी (मनागुदञ्चितचलज्ज्ञानाञ्चलक्रीडया) कुछ प्रकट चंचल ज्ञानके एक अंचलकी क्रीड़ासे (हेलान्दोलितं) अनायास ही चंचलताको प्राप्त हुआ (आकुलं) व्यग्र (विश्वं) जगत् (इतस्ततः) इधर-उधर (बहिर्घूर्णति) बाहर ही झूमता रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—हे प्रभो ! आपके क्षायिक ज्ञानोपयोगकी महिमा तो निराली है ही परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञानोपयोगकी महिमा भी कम नहीं थी क्योंकि उसमें भी यह विश्व प्रतिफलित होता था और प्रतिफलित होकर भी उस ज्ञानोपयोगसे बाह्य ही रहता था। भाव यह है कि ज्ञानोपयोग चाहे क्षायिक हो और चाहे क्षायोपशमिक हो, उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले ज्ञेय उससे भिन्न ही रहते हैं ॥२४॥

उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सततं नोत्तार एवास्ति मे ।
लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन-
क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववद् विष्वग् विलीनात्मनः ॥२५॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (तव) आपके (ज्यायसि) श्रेष्ठ (उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे) मध्यमें छलकते हुए निर्मल केवलज्ञानरूपी जलके पूरमें (अत्यन्तं स्नातः) जो अत्यन्त स्नान कर रहा है, (सततम् अतन्द्रितस्य) जो निरन्तर आलस्यसे रहित है, (लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालनक्रीडाजर्जरितस्य) लीलापूर्वक चंचलताको प्राप्त चैतन्य विलासकी तरंगावलीसम्बन्धी स्पष्ट उछालनेकी क्रीड़ासे जो जर्जरित हो रहा है, तथा (विष्वक्) सब ओरसे (विलीनात्मनः) जिसका आत्मा विलीन हो रहा है ऐसे (मे) मेरा ([1]शीतशिववत्) सैन्धव नमकके समान (उत्तार एव नास्ति) निकलना ही नहीं है ।

भावार्थ—जिस प्रकार सैन्धव नमककी डली पानीमें डाली जानेपर उसीमें घुलकर विलीन हो जाती है उसी प्रकार हे भगवन्! मैं भी आपके केवलज्ञानरूपी जलके पूरमें अवगाहन कर उसीमें विलीन हो जाना चाहता हूँ अर्थात् आपके केवलज्ञानका यशोगान कर मैं केवलज्ञानी बननेकी आकांक्षा करता हूँ ॥२५॥

■

---

१. "सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिबन्धं च सिन्धुजे ।" इत्यमरः द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग श्लोक ४२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

(२५)

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

स्पष्टीकृत्य हठात् कथं कथमपि त्वं यत् पुनः स्थाप्यसे
स्वामिन्नुत्कटकर्मकाण्डरभसाद् भ्राम्यद्भिरन्तर्बहिः ।
तद्देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययै–
स्तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः सर्वोदितः प्रार्थ्यसे ।।१।।

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! (उत्कटकर्मकाण्डरभसात्) तीव्र कर्मसमूहके वेगसे (अन्तर्बहिः) भीतर और बाहर (भ्राम्यद्भिः) भ्रमण करनेवाले अर्थात् भीतर भ्रमरूप प्रवृत्ति करनेवाले और बाहर चतुर्गतिमें भ्रमण करनेवाले पुरुषोंके द्वारा (त्वम्) आप (कथं कथमपि) किसी-किसी तरह (हठात्) हठपूर्वक अर्थात् पुरुषार्थकी प्रबलतासे (स्पष्टीकृत्य) स्पष्ट कर (यत्) जिस कारण (पुनः) फिर (स्थाप्यसे) रख दिये जाते हैं—छोड़ दिये जाते हैं (तत्) उस कारण (देवैककलावलोकनबलप्रौढीकृतप्रत्ययैः) आपकी एक कलाके अवलोकनके बलसे जिनका श्रद्धान दृढ़ हो गया है तथा (तुङ्गोत्सादगलत्स्वकर्मपटलैः) अत्यधिक उत्सादना—निर्जरासे जिनका अपना कर्मसमूह नष्ट हो रहा है ऐसे मनुष्योंके द्वारा (सर्वोदितः 'त्वम्') सब प्रकारसे उदित हुए—सर्वोदयरूप अवस्थाको प्राप्त हुए आप (प्रार्थ्यसे) प्राप्त किये जाते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! तीव्र कर्मोदयके कारण जिनकी आत्मा संशयसे परिपूर्ण है और उसी कारण जो चारों गतियोंमें परिभ्रमण कर रहे हैं ऐसे लोग यदि पुरुषार्थकी प्रबलतासे जिस किसी तरह आपका साक्षात्कार करते भी हैं तो वे आपको पुनः छोड़ देते हैं—कर्मोदयके कारण आपके प्रति उनकी श्रद्धा दृढ़ नहीं रह पाती है परन्तु आपकी अनन्त कलाओंमें-से एक कलाके भी अवलोकनसे जिनकी श्रद्धा सुदृढ़ हो गई है तथा तीव्र उत्सादना—अत्यधिक निर्जरासे जिनका अपना कर्मपटल क्षीण हो गया है ऐसे लोग आपके सन्मुख आते हैं—आपकी श्रद्धा रखते हैं क्योंकि आप सर्वोदयरूप हैं सबका कल्याण करते हैं ।।१।।

देवावारकमस्ति किञ्चिदपि ते किञ्चिज्ज्ञगम्यं न यद्
यस्यासौ स्फुट एव भाति गरिमा रागादिरन्तर्ज्वलन् ।
तद्घातायतपश्यतामहरहश्चण्डः क्रियाडम्बरो (रः)
स्पष्टः स्पष्टसमामृतस्तव किल स्पष्टत्वहेतुः क्रमात् ।।२।।

अन्वयार्थ—(देव) हे भगवन् ! [तस्य] उस मनुष्यके लिए (ते आवारकं किञ्चिदपि अस्ति) आपके साक्षात्कारमें 'आवरण' करनेवाला कोई कारण है (यत्) जो कि (किञ्चिज्ज्ञगम्यं न) अल्पज्ञ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्योंके लिए गम्य नहीं है अर्थात् सूक्ष्म होनेसे जिसे अल्पज्ञ मनुष्य नहीं समझ सकते है। (यस्य) जिसके (अन्तः) भीतर (ज्वलन्) प्रकाशमान (रागादिः गरिमा) रागादिरूप विपुलता (स्फुट एव भाति) स्पष्ट ही प्रतिभासित है—[उसे आपका साक्षात्कार नहीं होता] किन्तु (तद्घातायतपश्यताम्) उस रागादिरूप गरिमाके घात द्वारा दूर तक विचार करनेवाले पुरुषोंका वह (क्रियाडम्बरः) क्रियाकलाप जोकि स्पष्टसमामृतः) स्पष्ट समता भावरूपी अमृतसे सहित है और (क्रमात्) क्रमसे (अहरहः) प्रतिदिन-उत्तरोत्तर (चण्डः) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है (किल) निश्चयसे (तव) आपके (स्पष्टः स्पष्टत्वहेतुः) साक्षात्कारका स्पष्ट हेतु है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप इतने स्पष्ट हैं फिर भी सबको आपका साक्षात्कार नहीं होता–सबको आपकी प्रतीति नहीं होती, इसका कुछ भी तो कारण होना चाहिए और वह कारण इतना अन्तर्निहित—अन्तर्गूढ है जिसे साधारण मनुष्य समझ नहीं पाते हैं। वह कारण यही है कि जिसके भीतर रागादि दोष विद्यमान हैं तथा जो व्यर्थके क्रियाकाण्डमें फँसा हुआ है उसे आपका साक्षात्कार नहीं होता। आपके साक्षात्कारका स्पष्ट कारण यह है कि अन्तरंगमें विद्यमान रागादि विकारी भावोंको क्रमसे दूर किया जाय और चरणानुयोगमें प्रतिपादित क्रियाओंको करते हुए उन्हें समता भावरूपी अमृतसे युक्त किया जाय। अज्ञानी जीव इस वास्तविक कारणको समझ नहीं पाते हैं इसलिए वे आपके साक्षात्कारसे वञ्चित रहते हैं। हे प्रभो! मेरे यह सब बाधक कारण दूर हुए हैं अतः मैं आपका साक्षात्कार कर रहा हूँ अर्थात् आपके शुद्ध स्वरूपकी मुझे अनुभूति हो रही है ॥२॥

पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः सद्यः समुच्छित्तये
दत्त्वा दुर्द्धरभूरिसंयमभरस्योरः स्वयं सादराः।
ये पश्यन्ति बलाद् विदार्य कपटग्रन्थिं श्लथत्कश्मला–
स्ते विन्दन्ति निशातशक्तिसहजावस्थास्थमन्तर्महः ॥३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (पूर्वासंयमसञ्चितस्य) पूर्ववर्ती असंयम द्वारा संचित (रजसः) कर्मरूप धूलिको (सद्यः) शीघ्र ही (समुच्छित्तये) नष्ट करनेके लिए (दुर्धरभूरिसंयमभरस्य) कठिन उत्कृष्ट संयमके समूहको (उरः दत्त्वा) हृदय देकर अर्थात् हृदयमें उत्कृष्ट संयम धारण कर (स्वयं सादराः) स्वयं आदरसे युक्त होते हुए (बलात्) बलपूर्वक (कपटग्रन्थिं विदार्य) कपटकी गाँठको विदीर्ण कर (श्लथत्कश्मलाः) क्षीण पाप होते हुए (पश्यन्ति) देखते हैं (ते) वे (निशातशक्तिसहजावस्थास्थं) तीक्ष्ण शक्तियोंसे युक्त सहज अवस्थामें स्थित (अन्तर्महः) अन्तस्तेजको (विन्दन्ति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष असंयम अवस्थामें बद्ध कर्मपटलको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट संयम धारण करते हैं तथा उत्साह पूर्वक कपटकी गांठको विदीर्ण कर अपने पापभारको कम करते हैं वे ही अनन्त शक्तियोंसे युक्त सहज-स्वभावमें स्थित आभ्यन्तर तेज—आत्म प्रकाशको प्राप्त करते हैं ॥३॥

ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः सान्द्रोदयस्पर्द्धक–
श्रेणीलङ्घनलाघवेन लघयन्त्यात्मानमन्तर्बहिः।
ते विज्ञानघनीभवन्ति कलं प्राप्य स्वभावं स्वयं
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः ॥४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ये) जो (नित्योत्सहनात्) निरन्तरके उत्साहसे (कषायरंजसः) कषायरूपी धूलि के (सान्द्रोदयस्पर्द्धकश्रेणीलङ्घनलाघवेन) तीव्र उदयवाले स्पर्द्धक समूहके निराकरण सम्बन्धी शीघ्रतासे (आत्मानं) अपने आत्माको (अन्तर्बहिः) भीतर और बाहर (लघयन्ति) भारहीन करते हैं (ते) वे (स्वयं) अपने आप (सकलं स्वभावं) समस्त स्वभावको (प्राप्य) प्राप्तकर (प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगगरिमग्रासीकृतात्मश्रियः 'सन्तः') अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकट उपयोगकी गरिमा-महिमासे आत्मलक्ष्मीको प्राप्त करते हुए (विज्ञानघनीभवन्ति) विज्ञानघन—पूर्णज्ञानमय हो जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! निरन्तर चलनेवाले आत्मपुरुषार्थसे जो कषायरूपी धूलिके उदयागत स्पर्द्धकोंको नष्टकर आत्माको भीतर-बाहर भारहीन करते हैं—द्रव्य और भाव निर्जरा करते हैं उनका उपयोग अन्य विषयोंसे हटकर एक आत्मस्वरूपमें ही लीन होता है और ऐसे जीव अपने स्वभावको प्राप्तकर विज्ञानघन—पूर्णज्ञानमय हो जाते हैं ।।४।।

बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विदः
श्रामण्यं सकलं विगाह्य सहजावस्थां विपश्यन्ति ये ।
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः शमं
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशलाः कर्मद्रुमस्य क्रमात् ।।५।।

अन्वयार्थ—(बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्स्वच्छन्ददृक्सम्विदः) जिनके स्वाधीन दर्शन और ज्ञान बाह्य और अभ्यन्तरके परिणमनमात्रसे सुशोभित हो रहे हैं अर्थात् रागद्वेषके वशीभूत हो पदार्थासक्त नहीं हैं ऐसे (ये) जो जीव (सकलं श्रामण्यं विगाह्य) पूर्ण मुनित्वको प्राप्त कर (सहजावस्थां विपश्यन्ति) अपनी स्वाभाविक अवस्थाका अवलोकन करते हैं अर्थात् अपने ज्ञायकस्वभावकी ओर लक्ष्य रखते हैं तथा (कर्मकुशलाः) चरणानुयोग प्रतिपादित क्रियाओंके करनेमें कुशल हैं (ते) वे जीव (सपदि) शीघ्र ही (पूर्वावाप्तं) पहले प्राप्त हुए (शमं) शान्तभावको (साक्षात्) स्वयं (अपूर्वतां नयन्तः) अपूर्वताको प्राप्त कराते हुए (क्रमात्) क्रमसे (कर्मद्रुमस्य) कर्मरूपी वृक्षकी (मूल्यान्येव) जड़ोंको ही (लुनन्ति) काट देते हैं।

भावार्थ—'अन्तर्मुख प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख प्रकाशको ज्ञान कहते हैं' इस परिभाषा से जिनके दर्शन और ज्ञान गुण मात्र बाह्य और आभ्यन्तर परिणमनसे सुशोभित हो रहे हैं ऐसे जो जीव मुनिपदको धारणकर आत्माकी सहज-स्वाभाविक वीतराग सर्वज्ञदशाकी ओर लक्ष्य रखते हैं, चरणानुयोगमें प्रतिपादित क्रियाओंके करनेमें कुशल हैं और पूर्व प्राप्त आंशिक वीतरागता को निरन्तर बढ़ाते रहते हैं वे ही क्रमसे कर्मरूपी वृक्षकी जड़ोंको काटकर निर्वाणधामको प्राप्त होते हैं ।।५।।

ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुण-
श्रामण्यं परितः कषायकषणादव्यग्रगाढग्रहाः ।
ते तत्तैक्ष्ण्यमखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं श्रिताः
पश्यन्ति स्वयमीश शान्तमहसः सम्यक् स्वतत्त्वाद्भुतम् ।।६।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(परितः कषायकषणात्) सब ओरसे कषायके नष्ट होनेसे (अव्यग्रगाढग्रहाः) जिनकी दृढ़ पकड़ व्यग्रतासे रहित है ऐसे (ये) जो जीव (आत्मगरिमग्रस्तान्तरुद्यद्गुणग्रामण्यं) आत्मगरिमासे युक्त भीतर ही भीतर प्रकट होनेवाले गुणसमूहसे युक्त (उपयोगं) केवलज्ञानरूप उपयोगको (गृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं (ईश) हे नाथ ! (अखण्डपिण्डितनिजव्यापारसारं तत्तैक्ष्ण्यं श्रिताः) अखण्डरूपसे एकत्रित आत्मसम्बन्धी श्रेष्ठ व्यापारसे युक्त उस उपयोगकी तीक्ष्णताको प्राप्त हुए (ते) वे जीव (शान्तमहसः 'सन्तः') प्रशान्त तेजसे सहित होते हुए (स्वयं) अपने आप (स्वतत्त्वाद्भुतम्) आत्मतत्त्वके आश्चर्यको (सम्यक्) अच्छी तरह (पश्यन्ति) देखते हैं—उसका अनुभव करते हैं।

भावार्थ—जब तक कषायका उदय विद्यमान रहता है तब तक यह जीव निश्चल भावसे अपना उपयोग अपने आपमें स्थिर करनेके लिए असमर्थ रहता है परन्तु जब कषायका उदय सर्वथा नष्ट हो जाता है तब शुक्लध्यानके द्वारा यह जीव अपने उपयोगको अपने आपमें बड़ी दृढ़तासे स्थिर करता है और उसी दृढ़ताके कारण इसे केवलज्ञानरूपी वह उपयोग प्राप्त हो जाता है जिसमें आत्माकी गरिमासे समस्त अन्तर्गत गुणोंका समूह प्रकट हो जाता है। हे भगवन् ! जो जीव उस केवलज्ञानरूप उपयोगकी तीक्ष्णताको प्राप्त हो जाते हैं उनकी आत्माकी समस्त प्रवृत्तियाँ आत्मामें ही केन्द्रित हो जाती हैं और वे रागद्वेषसे रहित शान्तचित्त होते हुए आत्मतत्त्वके चमत्कारको स्वयं देखने लगते हैं ॥६॥

चित्सामान्यविशेषरूपमितरत्संस्पृश्य विश्वं स्वयं
व्यक्तिष्वेव समन्ततः परिणमत् सामान्यमभ्यागताः।
अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागराः
कृत्यं यत्तदशेषमेवकृतिनः कुर्वन्ति जानन्ति च ॥७॥

अन्वयार्थ—(चित्सामान्यविशेषरूपम् अभ्यागताः) चैतन्यके सामान्य और विशेषरूपको अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप परिणतिको प्राप्त हुए जो पुरुष (इतरत्) आत्मासे भिन्न (विश्वं) विश्व का (संस्पृश्य) अच्छी तरह स्पर्शकर—उसे जानकर (समन्ततः) सब ओरसे (स्वयं व्यक्तिष्वेव) स्वयं अपने आपमें (परिणमत्) परिणत होनेवाले (सामान्यं) सामान्य दर्शनरूप परिणतिको (अभ्यागताः) प्राप्त हुए हैं तथा (अन्तर्बाह्यगभीरसंयमभरारम्भस्फुरज्जागराः) अन्तरङ्ग और बहिरंग गम्भीर संयम समूहके धारण करनेमें जो निरन्तर सावधान रहते हैं ऐसे (कृतिनः) कुशल मनुष्य (यत् कृत्यं) जो करने योग्य है (तत् अशेषमेव) उसे समस्तरूपसे ही (कुर्वन्ति) करते हैं (च) और (जानन्ति) जानते हैं।

भावार्थ—आत्माके चेतना गुणकी दो परिणतियाँ होती हैं एक दर्शनरूप और दूसरी ज्ञानरूप। दर्शनरूप परिणति आत्माको विषय करती है और ज्ञानरूप परिणति समस्त अन्य पदार्थोंको विषय करती है। दर्शनरूप परिणतिको सामान्य और ज्ञानरूप परिणतिको विशेष कहते हैं। प्रथम यह जीव, आत्मा और उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थोंको विषय बनाता है—उन्हें जानता है परन्तु जैसे-जैसे शुक्लध्यानमें तल्लीनता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही इसका उपयोग अन्य पदार्थोंसे हटकर एक आत्मामें ही केन्द्रित होने लगता है। इस प्रकार अन्य पदार्थोंसे उपयोग हटने पर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माको ही विषय करते हैं और इस कारण चैतन्यकी आत्मग्राही सामान्य परिणतिको जो पुनः प्राप्त हुए हैं तथा अन्तरंग बहिरंग चारित्रके धारण करनेमें जो निरन्तर जागृत रहते हैं—सदा सावधानी बरतते हैं ऐसे कुशल मनुष्य अपने करने योग्य कार्यको सम्पूर्णरूपसे जानते हैं और करते भी हैं तथा उसके फलस्वरूप कर्मकालिमाको नष्टकर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ॥७॥

चित्सामान्यमुदञ्च्य किञ्चिदभितो न्यश्चन्निजव्यक्तिषु
स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा त्वं दृश्यसे केवलम् ।
व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तमस्ति न पुनः सामान्यमेकं क्वचिद्
व्यक्त(व्यक्त)व्यक्तिभरः प्रसह्य रभसाद् यस्याशयाऽपोह्यते ॥८॥

अन्वयार्थ—(चित्सामान्यम्) चैतन्य सामान्यको (किञ्चित्) कुछ (उदञ्च्य) ऊँचा उठाकर—उसे कुछ प्राधान्य देकर जो (अभितः) सब ओरसे (निजव्यक्तिषु) अपने विशिष्टरूपोंमें (न्यञ्चन्) निमग्न हो रहे हैं ऐसे (त्वम्) आप (केवलं) मात्र (स्पष्टीभूतदृढोपयोगमहिमा) अत्यन्त स्पष्ट स्थिर उपयोगकी महिमासे युक्त (दृश्यसे) दिखाई देते हैं। (पुनः) फिर (एकं सामान्यं) एक सामान्य (क्वचित्) कहीं (व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं) विशेषोंसे भिन्न (न अस्ति) नहीं है (यस्य आशया) जिसकी आशासे (व्यक्तव्यक्तिभरः) स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले विशेषोंका समूह (प्रसह्य) हठपूर्वक (रभसात्) वेगसे (अपोह्यते) दूर किया जाता है।

भावार्थ—हे भगवन्! ऐसा एकान्त नहीं है कि आप सामान्यको विषय करनेवाले दर्शनोपयोगसे ही सहित हैं और विशेषको विषय करनेवाले ज्ञानोपयोगसे रहित हैं। आपके सुदृढ़ उपयोगकी महिमा अत्यन्त स्पष्ट है उस महिमाके बलसे आप चित् सामायन्यको कुछ प्रधानता देकर अपने विशिष्ट रूपोंमें निमग्न हो जाते हैं। दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक चैतन्य सामान्य की दो पर्यायें हैं अतः जब पर्यायकी ओर लक्ष्य रहता है तब ये दो उपयोग अनुभवमें आते हैं परन्तु जब चैतन्य सामान्यकी ओर लक्ष्य रहता है तब उपयोगके इन दोनों विकल्पोंसे दृष्टि हटकर मात्र एक उपयोग हीमें रम जाती है। यह बात जुदी है कि कभी सामान्यको प्राधान्य दिया जाता है और कभी विशेषको। ऐसा एकान्त अभिप्राय इष्ट नहीं है कि मात्र सामान्य ही ग्राह्य है विशेष नहीं क्योंकि विशेषसे भिन्न ऐसा कोई सामान्य नहीं है जिसकी आशासे स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले विशेषोंको सर्वथा छोड़ा जा सके ॥८॥

बाह्यार्थं स्फुटयन् स्फुटस्यहरहस्त्वं यत् स्वभावः स ते
दृष्टः केन निरिन्धनः किल शिखी किं क्वापि जातु ज्वलन् ।
बाह्यार्थं स्फुटयन्नपि त्वमभितो बाह्यार्थभिन्नोदय-
प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा सीमन्तितः शोभसे ॥९॥

अन्वयार्थ—(त्वम्) आप (यत्) जो (अहरहः) प्रतिदिन—प्रतिसमय (बाह्यार्थं स्फुटयन्) बाह्य पदार्थको स्पष्ट करते हुए (स्फुटसि) प्रकट हो रहे हैं—अनुभवमें आरहे हैं सो (सः ते स्वभावः) वह आपका स्वभाव है अर्थात् बाह्य पदार्थोंको स्पष्ट जानना आपका स्वभाव है क्योंकि (किल) निश्चयसे (किं) क्या (क्वचित् जातु अपि) कहीं कभी भी (केन) किसीके द्वारा (निरिन्धनः) ईंधनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बिना (ज्वलन्) जलती हुई (शिखी) अग्नि (दृष्टः) देखी गई है ? अर्थात् नहीं देखी गई है। इतना अवश्य है कि (त्वम्) आप (बाह्यार्थं स्फुटयन् अपि) बाह्य पदार्थोंको जानते हुए भी (अभितः) सब ओर (बाह्यार्थं भिन्नोदयः) बाह्य पदार्थोंसे भिन्न रहते हैं तथा (प्रस्पष्टस्फुटितोपयोगमहसा) स्पष्टरूपसे प्रकट उपयोगके तेजसे (सीमन्तितः) युक्त होते हुए (शोभसे) सुशोभित रहते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार ईंधनको जलाना अग्निका स्वभाव है उसी प्रकार ज्ञेयको जानना ज्ञानका स्वभाव है। वह ज्ञेय बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका होता है। घट-पटादि बाह्य ज्ञेय है और ज्ञानके भीतर पड़ा हुआ उनका विकल्प अन्तर्ज्ञेय है। ऐसा एकान्त नहीं है कि ज्ञान अन्तर्ज्ञेयको ही जानता है या बहिर्ज्ञेयको ही। अन्तर्ज्ञेय, बहिर्ज्ञेयसे सम्बन्ध रखता है अतः जहाँ अन्तर्ज्ञेयके जाननेकी बात कही जाती है वहाँ बहिर्ज्ञेयका जानना स्वतः आ जाता है और जहाँ बहिर्ज्ञेयके जाननेकी बात आती है वहाँ अन्तर्ज्ञेयका जानना स्वयंसिद्ध है क्योंकि अन्तर्ज्ञेयको जाने बिना बहिर्ज्ञेयका ज्ञान संभव नहीं है। उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि हे भगवन् ! आप ज्ञानस्वभावके कारण बाह्य पदार्थोंको यद्यपि प्रतिसमय जानते हैं तथापि उनसे भिन्न रहते हैं जिस प्रकार मयूरके प्रतिबिम्बसे युक्त होनेपर भी दर्पण मयूरसे भिन्न रहता है उसी प्रकार अपका ज्ञान, घट-पटादि बाह्य पदार्थोंके विकल्पोंसे युक्त होने पर भी उनसे भिन्न रहता है ॥ ९ ॥

बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्वरसनादात्मानमात्मात्मना
स्वात्मारामममुं यदीच्छति भृशं सङ्कोचकुब्जोऽस्तु मा।
क्षिप्यन्तं प्रसभं बहिर्मुहुरमुं निर्मथ्य मोहग्रहं
रागद्वेषविवर्जितः समदृशा स्वं सर्वतः पश्यतु ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे भगवन् ! (आत्मा) आपका आत्मा (तत्त्वरसनात्) परमार्थका रसिक होनेसे (बाह्यार्थान् परिहृत्य) बाह्य पदार्थोंको छोड़कर (यदि) यदि (आत्मना) अपने आपके द्वारा (स्वात्मारामं) स्वस्वभावमें रमण करनेवाले (आत्मानं) अपने आत्माको (इच्छति) चाहता है तो (भृशं) अत्यधिक (सङ्कोचकुब्जो मा अस्तु) सङ्कोचसे कुबड़ा (छोटा) न हो अर्थात् बाह्य पदार्थोंको छोड़कर मात्र अपने आत्मामें ही संकुचित न रहे। (मुहुः) बार-बार (प्रसभं) हठपूर्वक (बहिः क्षिप्यन्तं) बाह्य पदार्थोंमें ले जानेवाले (अमुं मोहग्रहं) इस मोहरूपी ग्रहको (निर्मथ्य) नष्टकर (रागद्वेषविवर्जितः 'सन्') रागद्वेषसे रहित होता हुआ (समदृशा) समदृष्टिसे (स्वं) अपने आपको (सर्वतः) सब ओर (पश्यतु) देखे।

भावार्थ—स्वरूप समावेशके लिये यह आवश्यक नहीं है कि बाह्य पदार्थोंको छोड़कर मात्र आत्मस्वरूपको ही जाना जाय किन्तु यह आवश्यक है कि जो मोहरूपी पिशाच इस आत्माको बार-बार बाह्य पदार्थोंमें खींचकर ले जाता है उसे नष्ट किया जाय। मोहरूपी पिशाचके नष्ट होनेपर आत्मा रागद्वेषसे रहित हो जावेगा और उस स्थितिमें वह स्व तथा पर दोनोंको जानने पर भी स्वरूपमें समाविष्ट रह सकेगा। तात्पर्य यह है कि वीतराग दृष्टि ही स्वरूप समावेशका धन है ॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि यद् दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः
कस्यापि स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषस्त्वं पशोः ।
तेनैवोत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं स्वकर्मेच्छवः
सम्यक् स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यता योगिनः ।।११।।

अन्वयार्थ—(दृष्टिं बहिर्न्यस्यतः) जो अपनी दृष्टिको बाहर रख रहा है तथा (स्वककर्मपुद्गलबलक्षुभ्यत्त्विषः) जिसकी आत्मदीप्ति अपने कर्मरूप पुद्गलके बलसे क्षोभको प्राप्त हो रही है ऐसे (कस्यापि पशोः) किसी अज्ञानी जीवको (त्वम्) आप (यत्) जिस कारण (दृष्टोऽपि) दृष्टिमें आकर भी (पुनः) फिर (भ्रमकृत्) भ्रमको करनेवाले (भवसि) होते हैं। अर्थात् जो पुरुष मात्र बहिर्दृष्टि है उसे कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वह पुनः भ्रममें पड़ जाता है (तेनैव) उसी कारण (उत्कटपिष्टपेषणहठभ्रष्टं) बहुतभारी पिष्टपेषण—अभ्यस्त विषयाभिलाषाकी हठसे छूटे हुए (स्वकर्मेच्छवः) आत्मकर्तव्यके इच्छुक (योगिनः) योगी जन (सम्यक्) सम्यक् प्रकारसे (स्वोचितकर्मकाण्डघटनानित्योद्यताः) अपने योग्य बाह्याचारके पालनमें निरन्तर उद्यत रहते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञाननय और क्रियानय परस्पर सापेक्ष रहने पर ही आत्मकल्याणके लिये साधक होते हैं क्योंकि ज्ञाननयसे निरपेक्ष मनुष्य, मात्र बाह्याचारमें लीन रहते हुए परमार्थसे बाह्य रहते हैं। ऐसे जीवोंको कदाचित् आपका श्रद्धान होता भी है तो वे उसमें दृढ नहीं रह पाते, शीघ्र ही उससे विचलित हो जाते हैं और जो मात्र ज्ञाननयमें लीन रहते हैं वे अनादिकालसे अभ्यस्त विषय मार्गमें संलग्न रहते हैं उससे छूटनेका पुरुषार्थ नहीं करते। यही सब विचार कर योगीजन अपने पदके अनुरूप क्रिया—बाह्याचारके पालनमें निरन्तर तत्पर रहते हैं ।।११।।

रागग्रामविनिग्रहाय परमः कार्यः प्रयत्नः परं
योगानां फलकृन्न जातु विहितो गाढग्रहान्निग्रहः ।
सस्पन्दोऽपि विरज्यमानमहिमा योगी क्रमान्मुच्यते
निष्पन्दोऽपि सुषुप्तवन्मुकुलितस्वान्तःपशुर्बध्यते ।।१२।।

अन्वयार्थ—(रागग्रामविनिग्रहाय) राग समूहका सर्वथा निग्रह करनेके लिये (परम्) अत्यधिक (परमः) उत्कृष्ट (प्रयत्नः) प्रयत्न (कार्यः) करना चाहिये, क्योंकि (गाढग्रहात्) उसकी सुदृढ़ पकड़से (विहितः) किया हुआ (योगानां) मन वचन कायरूप योगोंका (निग्रहः) दमन (जातु) कभी भी (फलकृत् न) फलदायक नहीं होता है (विरज्यमानमहिमा) रागको छोड़नेके लिये उन्मुख महिमासे युक्त (योगी) साधु (सस्पन्दोऽपि) प्रवृत्ति सहित होनेपर भी (क्रमात्) क्रमसे (मुच्यते) मुक्त हो जाता है और (सुषुप्तवत्) गाढ निद्रामें निमग्नकी तरह (मुकुलितस्वान्तः) चित्तको संकोचित करनेवाला (पशुः) अज्ञानी जीव (निष्पन्दोऽपि) निश्चल होने पर भी (बध्यते) बन्धको प्राप्त होता है।

भावार्थ—राग समूह बन्धका प्रमुख कारण है क्योंकि उसके छोड़े बिना मात्र योगों—मन वचन काय की प्रवृत्तियोंका दमन कार्यकारी नहीं होता है। रागद्वेषका क्षय करनेके लिये प्रयत्नशील साधु पदानुकूल क्रियाओंको करता हुआ भी क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रागद्वेषसे युक्त अज्ञानी पुरुष गाढनिद्रामें निमग्नकी तरह निश्चल रहने पर भी बन्धको प्राप्त होता रहता है इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवको रागसमूहका विनिग्रह करनेके लिये बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिये ॥१२॥

कर्मभ्यः कृतिनः क्रमाद् विरमतः कर्मैव तावद्गति-
र्यावद्वर्तितरज्जुवत् स्वयमसौ सर्वाङ्गमुद्वर्तते।
लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य तु वपुर्वाणीमनोवर्गणा
यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया सत्योऽप्यसत्योऽस्य ताः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(क्रमात्) क्रम पूर्वक (कर्मभ्यः) क्रियाओंसे (विरमतः) विरत होनेवाले (कृतिनः) कुशल मनुष्यके (कर्मैव) क्रियारूप चारित्र ही (तावत्) तब तक (गतिः) लक्ष्य है—शरण है (यावत्) जबतक (वर्तितरज्जुवत्) वटी हुई रस्सीके समान (असौ) वह (स्वयं) स्वयं ही (सर्वाङ्गं) सर्वाङ्गसे (उद्वर्तते) खुलता है (तु) परन्तु (लब्धज्ञानघनाद्भुतस्य) प्राप्त हुए ज्ञानघनसे आश्चर्यपूर्ण मनुष्यके लिये (वपुर्वाणीमनोवर्गणाः) शरीर वचन और मनोवर्गणाएँ (यन्त्रस्पन्दितमात्रकारणतया) यन्त्र संचालितकी तरह मात्र कारण होनेसे (सत्योऽपि ताः अस्य असत्यः) होती हुई भी इसके लिये नहीं होती हुईके समान हैं।

भावार्थ—एक समय ऐसा भी आता है जब यह जीव क्रमपूर्वक क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्रसे निवृत्त हो जाता है और स्वरूपमें आचरणरूप निश्चय चारित्रसे युक्त होता है परन्तु यह क्रियाकाण्डरूप व्यवहार चारित्र भी उसके लिये तबतक शरणभूत रहता है जबतक कि कटी हुई रस्सीके समान यह बन्ध सर्वाङ्गसे स्वयं नहीं खुल जाता है। पूर्ण विज्ञानघनसे आश्चर्यको प्राप्त होने वाले जीवके जो शरीर, वचन और मनोवर्गणाएँ हैं वे मात्र यन्त्र संचालितकी तरह हैं। अर्थात् वह बुद्धिपूर्वक उनकी क्रियाओंका कर्ता नहीं है अतः वे वर्गणाएँ इसके लिये उनकी होती हुई भी नहीं होतींके समान हैं ॥१३॥

निष्कम्पे हृदि भासि तस्य न बहिर्वल्गग्रहस्तम्भित-
क्षुभ्यज्जात्यहरेरिवोग्रतरसः स्तम्भेऽपि निष्कम्पता।
स्तम्भेनापि विनैव पङ्गुपदवीमायाति यस्मिन्मन-
स्तत्किञ्चित् किल कारणं कलयतां भासि त्वमेव स्वयम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप (निष्कम्पे हृदि भासि) निष्कम्प—निश्चल हृदयमें सुशोभित होते हैं परन्तु (बहिर्वल्गग्रहस्तम्भितक्षुभ्यज्जात्यहरेरिव उग्रतरसः) जिस प्रकार तीव्र वेगशाली उत्तम जातिका घोड़ा बाह्य में लगाम लगानेसे यद्यपि रुक तो जाता है तथापि आगे बढ़नेके लिये क्षुभित—चञ्चल होता रहता है उसी प्रकार (तस्य स्तम्भेऽपि न निष्कम्पता) रोकने पर भी उस मनमें निष्कम्पता—निश्चलता नहीं हो पाती। किन्तु (स्तम्भेनापि विनैव) रुकावटके बिना ही (यस्मिन्) जिसमें (मनः) मन (पङ्गुपदवीम् आयाति) लंगड़ेपनको प्राप्त हो जाता है—जिसे पाकर उस मनकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है (किल) निश्चयसे (तत् किञ्चित् कारणं कलयताम्) उस किसी अनिर्वचनीय कारणको प्राप्त करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें (त्वम्) आप (स्वयमेव) स्वयं ही (भासि) सुशोभित होने लगते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—मनकी चञ्चलता दो प्रकारकी है एक योगजनित और दूसरी कषायजनित। योगजनित चञ्चलताको रोक लेने पर भी अंतरंगमें विद्यमान कषायजनित चञ्चलता उसे बार-बार चञ्चल करती रहती है। हे भगवन्! जिसने मात्र योगजनित चञ्चलताको रोका है उसके हृदयमें आपका ध्यान आता तो है परन्तु कषायजनित चंचलताके विद्यमान रहनेसे आपका वह ध्यान स्थिरताको प्राप्त नहीं हो पाता। हाँ, ऐसी अवस्था आ जावे कि कषायजनित चंचलता भी शान्त हो जावे और उसके शान्त हो जाने पर मन एक प्रकारसे पंगु हो जावे अर्थात् उसकी चपलता दूर हो जावे तो फिर ऐसे मनमें जो आपका ध्यान आवेगा वह स्थिर हो जायगा। इसी अभिप्रायसे यहाँ कहा गया है कि जिसमें मन पंगु बन जाता है उस किसी अनिर्वचनीय कारणको प्राप्तकरने वालोंके हृदयमें आप स्वयं सुशोभित होने लगते हैं ॥१४॥

छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो मत्तप्रमत्ताशयाः
श्रामण्याद्‌द्विपमीलनेन पतितास्ते यान्ति हिंसां पुनः।
आक्रम्याक्रमपाकदग्धरजसि स्फूर्य (र्ज) त्स्वभावाद्भुते
कर्मज्ञानसमुच्चये न रमते येषां मतिः स्वैरिणी ॥१५॥

अन्वयार्थ—(आक्रम्य अक्रमपाकदग्धरजसि) आक्रमण कर जिसने अक्रमपाक—अविपाक निर्जराके द्वारा कर्मरूपी धूलिको जला दिया है तथा जो (स्फूर्जत्स्वभावाद्भुते) प्रकट होनेवाले शक्तिशाली स्वभावसे आश्चर्यकारी है ऐसे (कर्मज्ञानसमुच्चये) क्रियानय और ज्ञाननयके समूहमें (येषां स्वैरिणी मतिः) जिनकी स्वच्छन्द बुद्धि (न रमते) रमण नहीं करती है (ते) वे (शान्तमहसः) शान्त तेजकी (छायास्पर्शरसेन) छायामात्रके स्पर्शसे (मत्तप्रमत्ताशयाः) प्रमत्तचित्त तथा (द्विपमलिनेन) गजनिमीलना—उपेक्षाभावके कारण (श्रामण्यात् पतिताः) वास्तविक मुनिपदसे पतित होते हुए (पुनः) फिरसे (हिंसां यान्ति) हिंसाको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो आत्मपरिणामोंकी ओर लक्ष्य न देकर मात्र क्रियाकाण्डमें निमग्न रहते हैं वे क्रियानयवादी हैं और जो मात्र 'शुद्धोऽहं बुद्धोऽहं' की रट लगाते हैं तदनुसार प्रवृत्तिरूप चारित्र का पालन नहीं करते हैं वे ज्ञाननयवादी हैं। ये दोनों ही मिथ्यावादी हैं और संसारमें भटकनेवाले हैं। इसके विपरीत जो पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझकर तदनुसार प्रवृत्ति करते हैं वे क्रियानय और ज्ञाननयके समुच्चयमें लीन हो संसार सागरसे पार होते हैं। यहाँ क्रिया और ज्ञाननयके समुच्चयकी महिमाका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह समुच्चय सब ओरसे आक्रमण कर किसी क्रमके बिना ही अर्थात् अविपाक निर्जराके द्वारा युगपत् ही कर्मरूपी धूलिको भस्म कर देता है तथा उसमें आत्माका टङ्कोत्कीर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाता है। ऐसे क्रियानय और ज्ञाननयके समूहमें जिनकी स्वच्छन्द—व्यवहाराभास, निश्चयाभास अथवा उभयाभासमें प्रवृत्त रहनेवाली बुद्धि रमती नहीं है वे मुनि परमार्थसे शान्तरसको प्राप्त नहीं हैं किन्तु शान्तरस की छायामात्रके स्पर्शसे ही अपने आपको कृतकृत्य मानकर प्रमत्त हो जाते हैं। और आत्मा अनात्माके अवगमके विना निरन्तर होनेवाले आस्रवसे निर्भय हो जाते हैं। जिसप्रकार हाथी आँख बन्द कर किसी आशङ्कासे उपेक्षा करने लगता है उसीप्रकार मैं तो 'सम्यग्दृष्टि हूँ अतः मुझे बन्ध नहीं होता, मेरे भोग भी कर्मनिर्जराके कारण हैं' ऐसी विपरीत श्रद्धाके कारण आस्रवसे उपेक्षाभाव धारण करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं—उससे निवृत्त होनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे श्रामण्यपद—परमार्थ मुनिपदसे पतित हो पुनः हिंसाभावको—अविरत अवस्थाको प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे जीव मात्र द्रव्यलिंगको धारण कर बारबार मुनिपदसे भ्रष्ट होते हैं ॥१५॥[१]

सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः समं
सामान्यान्निपतन्त ऊर्जितनिजव्यक्तिष्वबद्धादराः ।
एते घर्घरघोरघोषसरलश्वासानिलैर्बालिशा
ऐकाग्र्यं प्रविहाय मोहपिहिता दुःशिक्षया शेरते ॥१६॥

अन्वयार्थ—(प्रक्षीणतैक्ष्ण्याः) जिनके कषायकी तीव्रता क्षीण हो गयी है तथा (ऊर्जितनिजव्यक्तिषु) अपनी सुदृढ़ विशेषताओंमें जो (अबद्धादराः) आदरसे रहित हैं ऐसे पुरुष (सपदि) शीघ्र ही (क्षणं) क्षणभरके लिये (सामान्यम् उन्नमय्य) सामान्य—द्रव्यदृष्टिको ऊँचा उठाकर—उसे प्रधानता देकर पश्चात् (समं) साथ ही अथवा सम्पूर्णरूपसे (सामान्यात् निपतन्तः) सामान्य—द्रव्यदृष्टिसे (निपतन्तः) पतित होते हुए (मोहपिहिताः) मोहसे आच्छादित (एते) ये (बालिशाः) अज्ञानी पुरुष (दुःशिक्षया) खोटी शिक्षाके कारण (घर्घरघोरघोषश्वासानिलैः) भयंकर घुर्राटोंके शब्दसे युक्त श्वासोच्छ्वासकी वायुसे (ऐकाग्र्यं विहाय) एकाग्रताको छोड़कर (शेरते) शयन करते हैं।

भावार्थ—संसारके प्राणी अनादिकालसे अपने विशेष व्यक्तित्वमें मूढ हो अंहकारसे तन्मय हो रहे हैं तथा विषय-कषायसम्बन्धी तीक्ष्णताके कारण आत्मस्वभावसे भ्रष्ट हो रहे हैं। ऐसे ही जीवोंमें यदि कदाचित् किन्हींकी तीक्ष्णता नष्ट होती है और अपने विशेष व्यक्तित्वका अहंकार छूटता है तो वे क्षणभरके लिये अपने सामान्य उपयोग—द्रव्यदृष्टिको ऊँचा उठाते हैं—उसे प्रधानता देते हैं परन्तु अनादिकालीन संस्कारोंके कारण वे पुनः शीघ्र ही उस सामान्य उपयोगसे पतित हो अपने विशेष व्यक्तित्वके अहंकारमें निमग्न हो जाते हैं तथा मोहसे आच्छादित हो खर्राटे भरते हुए प्रगाढ़ निद्रामें लीन हो जाते हैं। ऐसे जीवोंको आचार्यने बालिश—अज्ञानी कहा है तथा उनकी इस अज्ञानताका कारण दुःशिक्षा—खोटी शिक्षाको बताया है ॥१६॥

तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोपयोगमचलस्वालम्बबद्धोद्धतं
साक्षात्खण्डितकालखण्डमनिशं विश्वस्य ये बिभ्रति ।
ते भूतार्थविमर्शसुस्थितदृशः सर्वत्र सन्तः समा-
श्चित्सामान्यविशेषसम्भृतमतिस्पष्टं स्वमध्यासते ॥१७॥

---

१. मग्नाः कर्मनयावलंम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥ स० क०
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥ स० क०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(ये) जो मनुष्य (इह) इस जगत्में (अनिशं) निरन्तर (विश्वस्य) विश्वासकर—आत्मस्वरूपकी दृढ प्रतीतिकर (अचलस्वालम्बबद्धोद्धतं) अपने आपके अचल आलम्बनमें बद्ध होनेसे शक्तिशाली तथा (खण्डितकालखण्डं) कालखण्डको खण्डित करनेवाले अर्थात् प्रत्येक समय स्वरूपमें स्थिर रहनेवाले (तीक्ष्णं तीक्ष्णं) अत्यन्त तीक्ष्ण उपयोगको (साक्षात् बिभ्रति) साक्षात् धारण करते हैं (ते) वे (भूतार्थविमर्शसुस्थितदृशः) भूतार्थ–परमार्थ तत्त्वके विचारमें सुस्थिर दृष्टि रखनेवाले (सर्वत्र समाः सन्तः) इष्ट-अनिष्टमें मध्यस्थ होते हुए (चित्सामान्यविशेषसम्भृतं) चैतन्यके सामान्य विशेषभावसे परिपूर्ण तथा (अतिस्पष्टं) अत्यन्त स्पष्ट (स्वम्) अपने आपमें (अध्यासते) अधिष्ठित होते हैं—निवास करते हैं।

भावार्थ—जो परमार्थके विचारमें अपनी दृष्टिको सुस्थिर रखते हैं अर्थात् निश्चयाभासके दूषित विचारसे अपने श्रद्धानको सुरक्षित रखते हैं वे एकान्त सामान्य अथवा एकान्त विशेषके पक्षसे मुक्त होकर कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेषको प्रधानता देते हुए, दोनों स्वभावोंसे परिपूर्ण आत्मस्वभावमें लीन रहते हैं ॥१७॥

अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभू-
र्भूयोभिः समसंयमामृतरसैर्नित्याभिषिक्तः कृती ।
एकः कोऽपि हठप्रहारदलितध्वान्तः स्वतत्त्वं स्पृशन्
विश्वोद्भासि विशालकेवलमहीमाक्रम्य विश्राम्यति ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अत्यन्तद्रढितोपयोगनिबिडग्रस्तश्रुतज्ञानभूः) अत्यन्त दृढीकृत उपयोगके द्वारा जिसने श्रुतज्ञानकी भूमिको अत्यधिक व्याप्त किया है अर्थात् जो पूर्वविद् होकर पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यानमें अपना उपयोग दृढताके साथ स्थिर रखता है (भूयोभिः समसंयमामृतरसैः) अत्यधिक सम्पूर्ण संयमरूप अमृतके रसोंसे अर्थात् यथाख्यात चारित्ररूप सुधाके रसोंसे जो (नित्याभिषिक्तः) निरन्तर अभिषिक्त रहता है (कृती) कृतकृत्य है अर्थात् मोहका सर्वथा क्षय हो जानेसे जो किसी कार्यकी इच्छासे रहित है और (हठप्रहारदलितध्वान्तः) हठ-पूर्वक प्रहारसे जिसने अज्ञानान्धकारको नष्ट कर दिया है अर्थात् ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका क्षय कर जिसने सर्वज्ञदशा प्राप्त कर ली है ऐसा (कोऽपि एकः) कोई एक निकट भव्यजीव (स्वतत्त्वं स्पृशन्) आत्मतत्त्वका स्पर्श करता हुआ बारबार अपना उपयोग आत्मामें ही लगाता हुआ (विश्वोद्भासिविशालकेवलमहीम् आक्रम्य) समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली विशाल केवलज्ञानकी भूमिको प्राप्त कर (विश्राम्यति) विश्राम करता है।

भावार्थ—यह जीव केवलज्ञानकी भूमि स्वरूप अरहन्त अवस्थाको किसप्रकार प्राप्त होता है ? इसका व्यवस्थित क्रम बतलाते हुए आचार्यने कहा है कि पहले निश्चयनयके यथार्थ-बोधसे आत्मतत्त्वका निर्णय कर उसमें स्थिर होना चाहिये तदनन्तर श्रुतज्ञानकी उच्चतम भूमिका पूर्वविद् अवस्थाको प्राप्त कर उसके माध्यमसे मोहनीय कर्मका क्षय कर यथाख्यातचारित्ररूप पूर्ण चारित्रको प्राप्त करे। इसके पश्चात् शेष घातिया कर्मोंका क्षय कर अज्ञानतिमिरका सदाके लिये विनाश करे तथा परपदार्थोंसे निवृत्त होकर अपने ज्ञानोपयोगको आत्मस्वरूपमें स्थिर करे। ऐसा करनेसे ही यह जीव लोकालोकको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानसे युक्त अरहन्त अवस्था-को प्राप्त होता है ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः स्वादस्तवासौ स्फुटः
सर्वाङ्गं मदयन् प्रसह्य कुरुते कन्न प्रमादास्पदम् ।
माद्यन्तोऽपि निशातसंयमरुचो नैव प्रमाद्यन्ति ये
तेषामेव समुच्छलस्यविकलः काले विलीनैनसा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः) जिसे जन्मसे लेकर अबतक शुद्ध आत्मतेजकी उपलब्धि नहीं हुई ऐसे मनुष्यको (तव) आपका (असौ) यह (सर्वाङ्गं मदयन्) सर्वाङ्गमें मद उत्पन्न करनेवाला (स्फुटः स्वादः) स्पष्ट स्वाद—स्पष्ट अनुभव (कं) किसे (प्रसह्य) हठपूर्वक (प्रमादास्पदम्) प्रमादी (न कुरुते) नहीं करता है ? अर्थात् सभीको करता है परन्तु (निशातसंयमरुचः) संयममें तीव्ररुचि रखनेवाले (ये) जो मनुष्य (माद्यन्तः अपि नैव प्रमाद्यन्ति) मत्त होते हुए भी प्रमत्त नहीं होते हैं (तेषामेव) उन्हींके आप (विलीनैनसा) पापके नष्ट हो जानेसे (काले) योग्यसमयपर (अविकलः) पूर्णरूपसे (समुच्छलसि) प्रकट होते हैं—अनुभवमें आते हैं ।

भावार्थ—जिन जीवोंको आजतक शुद्ध आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई है उन्हें कदाचित् आपका अनुभव होता भी है तो वह उन्हें प्रमाद उत्पन्न करानेवाला होता है । परन्तु जो मानव संयममें तीव्ररुचि रखते हैं और प्रमादके अवसरमें भी प्रमाद नहीं करते हैं उन्हींके पापोंका क्षय होता है और पापक्षयके फलस्वरूप उनकी आत्मामें आप पूर्णरूपसे प्रकट होते हैं अर्थात् उपर्युक्त जीव ही आपका अनुभव कर पाते हैं । तात्पर्य यह है कि जो जीव कदाचित् आपकी श्रद्धा कर भी लेते हैं वे यदि प्रमत्त हो संयमसे भ्रष्ट रहते हैं तो उनके हृदयमें आपकी श्रद्धा सुदृढ़ नहीं रह सकती । आपकी श्रद्धाको सुदृढ़ बनाये रखनेके लिये संयममें प्रगाढ़रुचि होना आवश्यक है ॥१९॥

यन्मिथ्यापि विभाति वस्त्विह बहिः सम्यक् तदन्तर्द्रवं
भारूपं न विपर्ययस्य विषयो व्यक्तिर्हि साऽप्यात्मनः ।
साक्षात्क्षीणमलस्य गोचरमिते सम्यग्बहिर्वस्तुनि
व्यक्तिश्चेत् परिवर्तते किमनया ज्ञानस्य नाज्ञानता ॥२०॥

अन्वयार्थ—(इह) इस जगत्में (यद् वस्तु) जो वस्तु (बहिः) बाह्यमें (मिथ्यापि विभाति) मिथ्या भी मालूम होती है (तत् अन्तर्द्रवं भारूपं सम्यक्) दीप्तिरूप होकर अन्तरमें अवतीर्ण हुई वह वस्तु (सम्यक्) समीचीन है (विपर्ययस्य विषयो न) मिथ्याज्ञानका विषय नहीं है (हि) क्योंकि (सा अपि) वह भी (आत्मनः व्यक्तिः) आत्माकी व्यक्ति है । तात्पर्य यह है कि बहिःप्रमेयकी अपेक्षा ही प्रमाणाभासका व्यवहार होता है अन्तःप्रमेयकी अपेक्षा नहीं । फिर (साक्षात् क्षीणमलस्य) जिसकी कर्मकालिमा साक्षात् क्षीण हो चुकी है ऐसे किसी मनुष्यके (सम्यग् बहिर्वस्तुनि) कोई समीचीन बाह्य वस्तु (गोचरम् इते) विषयको प्राप्त होती है और विषयको प्राप्त होनेपर (चेत्) यदि (व्यक्तिः परिवर्तते) उस बाह्य वस्तुका कोई विशिष्टरूप परिवर्तित होता है तो (अनया किम्) इससे क्या हानि है ? (ज्ञानस्य अज्ञानता न) उसके ज्ञानमें अज्ञानता नहीं आती है ।

भावार्थ—वस्तुके मिथ्या और सम्यक्पनेका व्यवहार अन्तःप्रमेयके ऊपर निर्भर है बाह्य प्रमेयके ऊपर नहीं । क्योंकि अन्तःप्रमेय आत्माकी परिणति है अतः उसीके आधारपर वस्तुमें मिथ्या और सम्यक्पनेका व्यवहार होता है ॥२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर्बाह्यविवर्त्ति किञ्चिदपि यद् रागादि रूपादि वा
तत्कुर्वन्न विशेषतः सग(म)मपि ज्ञानानलस्येन्धनम् ।
विश्वेनापि धृतप्रमेयवपुषाऽशेषेण संधुक्षितः
साक्षाद् वक्ष्यति कश्मलं समरसः शश्वत् प्रमाता ज्वलन् ॥२१॥

अन्वयार्थ—(अन्तर्बाह्यविवर्ति) भीतर और बाहर विद्यमान (यत् किञ्चित् रागादि रूपादि वा) जो कुछ रागादिक अथवा रूपादिक है (तत्) उसे (सममपि) संपूर्णरूपसे जो (विशेषतः) विशेषरूपसे (ज्ञानानलस्य इन्धनं न कुर्वन्) अपनी ज्ञानरूपी अग्निका ईन्धन नहीं करता है अर्थात् उनका मात्र ज्ञाता न रह कर तद्रूप अपने आपको परिणमाता है ऐसा (प्रमाता) जाननेवाला—ज्ञायक (धृतप्रमेयवपुषा) प्रमेयाकारको धारण करनेवाले (विश्वेन) समस्त विश्वके द्वारा (अशेषेण) संपूर्णतया (संधुक्षितः) समुत्तेजित हुआ यद्यपि (शश्वत् ज्वलन्) निरन्तर जाननेमें तत्पर रहता है और (साक्षात् समरसः) साक्षात् मध्यस्थ भी होता है तो भी यह निश्चित है कि वह (कश्मलं वक्ष्यति) कर्मकालिमा अथवा दुःखको (वक्ष्यति) धारण करेगा।

भावार्थ—जो रागादिक अन्तरङ्गमें और रूपादिक बाह्यमें विद्यमान हैं उन्हें विवेकी पुरुष अपने ज्ञानके विषय तो बनाता है परन्तु उनरूप अपने ो परिणमाता नहीं है अर्थात् रागादिक और रूपादिकका कर्ता तथा भोक्ता नहीं बनता है परन्तु इसके विपरीत जो अपने आपको तद्रूप करता है वह ज्ञाता कितना ही समरस—मध्यस्थ क्यों न हो तथा पदार्थोंको जाननेके लिये कितना ही क्रियाशील क्यों न हो, नियमसे कर्मकालिमाका पात्र होता है और उसके फलस्वरूप दुःख भी उठाता है ॥२१॥

लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजना-
न्नश्यत्सञ्चितकश्मले मनसि नः शुद्धस्वभावस्पृशि ।
अत्यन्ताद्भुतमुत्तरोत्तरलसद् वैशद्यमुद्योतिभिः
प्रत्यग्रस्फुरितैः प्रकाशमभितस्तेजोऽन्यदुज्जृम्भते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(लब्धज्ञानमहिम्नि) जिसने ज्ञानकी महिमाको प्राप्त किया है, (अखण्डचरितप्राग्भारनिस्तेजनात्) अखण्ड चारित्र समूहकी तीक्ष्णतासे जिसकी चिरसंचित कालिमा छूट रही है तथा जो (शुद्धस्वभावस्पृशि) शुद्ध स्वभावका स्पर्श कर रहा है ऐसे (नः) हमारे (मनसि) मनमें (अत्यन्ताद्भुतम्) अत्यन्त आश्चर्यकारी (उद्योतिभिः प्रत्यग्रस्फुरितैः) जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ रही है तथा जो (अभितःप्रकाशम्) सब ओरसे प्रकाशमान है ऐसा (अन्यत् तेजः) एक अन्य ही तेज (उज्जृम्भते) वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—आचार्य कह रहे हैं कि हे भगवन्! आपके स्तवनसे मेरे मनने ज्ञानकी महिमा को प्राप्त कर लिया है। न केवल ज्ञानकी महिमाको प्राप्त किया है किन्तु अखण्ड चारित्रके प्रभावसे उसकी चिरसंचित कालिमा भी छूट गई है तथा आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावमें ही रमने लगा है। साथ ही मेरे मनमें एक ऐसा आश्चर्यकारी अन्य तेज प्रकट हो रहा है जिसकी निर्मलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है तथा जो सब ओरसे प्रकाशमान है ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मषमषीं प्रक्षालयन्तोऽखिलां
दूरोन्मग्नविचित्रसंयमरसस्रोतस्विनीसङ्गमाः ।
अन्तःशान्तमहिम्न्यसीममहसि मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छना
एतास्ताः परमात्मनो निजकलाः स्फूर्जन्ति निस्तेजिताः ॥२३॥

अन्वयार्थ—(ये) जो पुरुष (साक्षात्) साक्षात् (अखिलां) सम्पूर्ण (कल्मषमषीं) कालिमारूपी स्याहीको (प्रक्षालयन्तः) धोते हुए (प्रतिभान्ति) सुशोभित होते हैं तथा (दूरोन्मग्नविचित्रसंयम-रसस्रोतस्विनीसङ्गमाः) जिन्हें बहुत दूर तक प्रकट हुए विचित्र संयमरसरूपी नदीका समागम प्राप्त हुआ है ऐसे (पुरुषोंकी असीममहसि) अनन्त तेजसे युक्त (अन्तःशान्तमहिम्नि) अन्तरङ्गकी शान्तमहिमामें (परमात्मनः) परमात्माकी (एताः ताः निजकलाः) ये वे निजकलाएँ (स्फूर्जन्ति) प्रकट होती हैं जो (मूर्च्छोच्छलन्मूर्च्छनाः) निरन्तर प्रवर्धमान हैं तथा (निस्तेजिताः) तीक्ष्णताको प्राप्त हैं—अतिशयरूपसे प्रकट हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! जो पुरुष राग-द्वेषरूपी कालिमाको नष्ट कर स्वरूपाचरण—यथाख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट संयमको धारण करते हैं उनके प्रशान्त अन्तःकरणमें परमात्माकी समस्त कलाएँ प्रकट होती हैं अर्थात् वे स्वयं परमात्मा बन जाते हैं ॥२३॥

[1]अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकी भवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिसकारण (निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव) पूर्णरूपसे पिये हुए समस्त भाव समूहरूपी रसके बहुतभारी भारसे मत्तकी तरह दिखनेवालीं (इमाः) ये (अच्छाच्छाः) अत्यन्त निर्मल (संवेदनव्यक्तयः) ज्ञानकी विशेषताएँ (स्वयम् उच्छलन्ति) स्वयं छलक रही हैं—प्रकट हो रही हैं इस कारण मैं (मन्ये) मानता हूँ कि (एषः सः भगवान् चैतन्य-रत्नाकरः) यह वह भगवान् चैतन्यरूपी सागर ही (उत्कलिकाभिः) तरंगोंसे (वल्गति) चञ्चल हो रहा है जो (भिन्नरसः) भिन्न रससे युक्त है (एकोऽपि अनेकीभवन्) एक होता हुआ भी अनेकरूप है तथा (अद्भुतनिधिः) आश्चर्योंका भाण्डार है।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञानकी विविध विशेषताओंको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों अप्रतिम ऐश्वर्यका धारक चैतन्यरूपी सागर ही लहरा रहा है। तात्पर्य यह है कि ये ज्ञान-दर्शन के विकल्प उसी एक चैतन्यगुणके विविध परिणमन हैं ॥२४॥

---

१. यह श्लोक समयसार कलशाके निर्जराधिकारमें १४१ नम्बरपर ज्योंका त्यों दिया गया है। मात्र तृतीय चरणमें 'मन्ये'के स्थानपर यस्य पाठ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक्प्रदीप्तस्य मे ।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः
सम्यग्भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(सततं विष्वक् प्रदीप्तस्य) जो निरन्तर सब ओर देदीप्यमान हो रहा है ऐसे (मे) मेरे (अन्तर्बहिःप्रारब्धोद्धतसंयमस्य) भीतर-बाहर प्रकट हुए उत्कृष्ट संयमका (एषः पुटपाकः) यह पुटपाक (ज्ञानाग्नौ) ज्ञानरूपी अग्निमें (घटताम्) संपन्न हो (येन) जिससे (अशेषकषायकिट्टगलन-स्पष्टीभवद्वैभवाः) समस्त कषायरूपी कीटके निकल जानेसे जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है ऐसी (सर्वाः स्वभावश्रियः) समस्त स्वभावरूपी लक्ष्मियाँ (अनुभूतिवर्त्मपतिताः) अनुभूतिके मार्गमें पड़ कर (सम्यग् भान्ति) अच्छी तरह सुशोभित हो रही हैं।

भावार्थ—यतश्च ज्ञानपूर्वक होनेवाले संयममें दृढ़ता रहती है अतः मेरी प्रार्थना है कि हे भगवन् ! मेरे संयमका पुटपाक ज्ञानरूपी अग्निमें संपन्न हो जिससे रागादिक विकारी भाव नष्ट होकर मेरा ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव अच्छी तरह प्रकट हो सके ॥२५॥

■

5542

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसन्ततिलकावृत्तम्

अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः ।
आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः ॥१॥

अन्वयार्थ—(स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः) जो वेगसे स्वयं अतिशय पीडित है तथा (संविद्विकासरसवीचिभिः) सम्यग्ज्ञानके विसरूपी रसकी तरंगोंसे जो (उल्लसन्त्याः) उल्लसित-सुशोभित हो रही है ऐसी (अस्याः स्वशक्तेः) अपनी इस शक्तिके (बहूनि मणितानि) बहुत भारी शब्दोंका (एषः अमृतचन्द्रकवीन्द्रः) यह अमृतचन्द्र कवीन्द्र (हृष्यन्) हर्षित होता हुआ (मुहुः) अनेक बार (आस्वादयतु) आस्वादित करे ।

भावार्थ—स्तोत्रात्मक शक्तिमणित कोषकी रचना कर उसके कर्ता अमृतचन्द्र आचार्य यह आकांक्षा प्रकट करते हैं कि इसके फलस्वरूप मैं अपनी आत्मशक्तिका रसास्वादन करूं ॥१॥

स्याद्वादवर्त्मनि परात्मविचारसारे ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम् ।
शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि रसातिरेके व्युत्पत्तिमाप्तुमनसां दिगसौ शिशूनाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(स्याद्वादवर्त्मनि) स्याद्वादके मार्गमें, (परात्मविचारसारे) निज और परके श्रेष्ठ विचारमें, (ज्ञानक्रियातिशयवैभवभावनायाम्) ज्ञान और क्रियाके अतिशयपूर्ण वैभवकी भावना में, (शब्दार्थसङ्घटनसीम्नि) शब्द और अर्थकी संघटनसम्बन्धी सीमामें तथा (रसातिरेके) रसकी अधिकतामें (व्युत्पत्तिमाप्तुमनसाम्) व्युत्पत्ति-विशिष्टज्ञान प्राप्त करनेके इच्छुक (शिशूनाम्) अल्पज्ञ जनोंके लिये (असौ) मेरी यह रचना (दिक्) दिशा प्रदर्शन करनेवाली है ।

भावार्थ—इस रचनाके अभ्याससे अल्प ज्ञजनोंको स्याद्वादका मार्ग, निजपरका उत्कृष्ट विचार, ज्ञान और चारित्रकी उत्कृष्टभावना, शब्द और अर्थका सुन्दर समावेश तथा प्रकरणानुकूल रस इन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा ।

इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः शक्तिमणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः
इस प्रकार अमृचन्द्र सूरिकी कृति 'शक्तिमणित कोषः 'अपर नाम' लघुतत्त्वस्फोट' समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्यानुक्रमणिका

पद्य	पृष्ठ
अ	
अकर्तृ विज्ञातृ तवेदमद्भुतम	८७
अकर्तृसंवेदनधाम्नि सुस्थितः	८४
अक्रमात्क्रममाक्रम्य	१३३
अखण्डमहिमानन्त	१३२
अखण्डदर्शनज्ञान	१२५
अखण्डसत्ताप्रभृतीनि	६३
अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं	११८
अखण्डितद्रव्यतया त्वमेकता	२२४
अगाधधीरोद्धतदुर्द्धरं भरात्	४८
अगुरुलघुभिः षट्स्थानस्थैः	२५५
अचलात्मचमत्कृतचन्द्ररुचा	१५९
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	२८७
अजडत्वमात्रमवयाति चेतना	१४३
अजडप्रमातरि विभौ त्वयि स्थिते	१४३
अजडाद्यविभागतः स्थितः	२०८
अजडादिमयः सनातनो	२०९
अजडादिविशेषणानि ते	२०७
अजडादिविशेषणैर्भृता	२०७
अजडादिविशेषणैरयं	२०६
अजरः पुरुषो जिन स्वयं	२०४
अजस्रमश्रान्तविवेकधारया	८२
अज्ञानमारुतरयाकुलविप्रकीर्णा	२७
अतएव वियत्कालौ	१३२
अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात्	२१३
अनिशितमनंशमूलसत्ता	१७९
अत्यन्तदृढितोपयोग	२८४
अत्यन्तमतमितरेतरसव्यपेक्षं	३३
जघृष्यमन्यैर्विहरन्तमेककं	६९
अध्यारूढोऽन्योन्यविरुद्धो	२०३
अनया विचरन्ति नित्यशो	२१२

पद्य	पृष्ठ
अनवस्थितमेवमाश्रयन्	१७१
अनवस्थमवस्थित एष भवान्	१५३
अनेकोऽप्यसि मन्ये त्वं	१३१
अनेकोऽपि प्रपद्य त्वा	१३७
अनन्तशः खण्डितमात्मनो महः	७५
अनन्तरूपस्पृशि शान्तचेतसि	७६
अनन्तविज्ञानमिहात्मना भवान्	७७
अनन्तधर्मप्रथितैःप्रदेशैः	१०८
अनन्तशो द्रव्यमिहार्थपर्ययै	६४
अनन्तसामान्यगभीरसारणी	७५
अनन्तरूपैरुपद्भि	१२४
अनन्तबलसन्नद्धं	१२३
अनन्तवीर्यव्यापार	१३४
अनन्तधर्मसम्भार	१३६
अनन्तभावावलिका स्वतोऽन्यतः	४९
अनाकुलत्वादिभिरात्मलक्षणैः	६६
अनाकुलः स्वयं ज्योति	१२९
अनादिनष्टं तव धाम यद्बहिस्	४४
अनादिसंसारपथादपेत	१०६
अनादिमध्यान्तचिदेकभासि	११५
अनादिरक्तस्य तवायमासीत्	९१
अनाद्यनन्तक्रमचुम्बिवैभव	५६
अनारतं बोधरसायनं पिबन्	८१
अनारतोत्तेजितशान्ततेजसि	८९
अन्तर्बाह्यविवर्ति किञ्चिदपि	२८६
अन्तःक्षोभभरप्रमाथविवश	२७०
अन्तर्निमग्नान्यनयस्वभावं	१११
अन्तःस्तम्भितसावधान	२६६
अन्तःकषायक्षपणः प्रसह्य	१०३
अन्यः कर्ता कर्म किलान्यत्	२००
अन्यद्विश्वबहिरिहु तव	२४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
अन्योन्यात्मकतारसादिव मिथो	२६४
अन्योऽन्यमापिबति वाचक	५
अन्योन्यवैररसिकाद्भुततत्त्वतन्तु	१०
अन्यो नश्यत्युदयति परः	२३७
अन्वयाव्यतिरेकेषु	१३६
अपेलवः केवलबोधसम्पदा	५२
अपवादपदैः समन्ततः	१७०
अपरोक्षतया त्वयि भाति	१५७
अपारबोधामृतसागरोऽपि	११८
अप्येतत् सदिति वचोऽत्र	१८५
अबाधितस्तत्त्वविदां विभुक्ते	९१
अभाव एवैष परस्पराश्रयो	२१९
अभावतां नयन् भाव	१३८
अभावभावोभयरूपमेकं	१०८
अभावभावादिविकल्पजालं	११४
अभितः स्फुटितस्वभावया	२११
अभितोऽनुभवन् भवद्विभा	२१२
अभिभूय कषायकर्मणा	१६४
अभिन्नभिन्नस्थितमर्थमण्डलं	६५
अभेदभेदप्रतिपत्तिदुर्गमं	६५
अमन्दबोधानिलकेलिदोलितं	४८
अमन्दनिर्वेदपरेण चेतसा	६८
अमन्दसंवेदनसान्द्रमूर्तिः	१००
अमी वहन्तो बहिरर्थरूपतां	५३
अयमनवधिबोधनिर्भरः	१७५
अयमुदयदनन्तबोधशक्तिम्	१७३
अयमूर्जितशक्तिचमत्कृतिभिः	१५४
अयमेकविशेष्यतां गतस्	२०७
अयं हि सन्नेव भवस्तव व्यगाद्	२२७
अयं भवद्बोधसुखैकसीकरो	८१
अलमाकुलप्रलपितैर्व्यवस्थितं	१५१
अवगमसुधाधारासारैः	२७६
अवबोधशक्तिरपयाति नैक्यतो	१४९
अवस्थितिः सा तव देव	९८
अवाप्तभूतार्थविचारसारो	१०१
अविरतमिमाः सम्यक्	२५९
अश्नन् भवान्निजनिकाचितकर्मपाक	३५
असीमसंवर्धितबोधवल्लरी	४७
असीम्नि संसारमहिम्नि पञ्चधा	७९
असौ स्वतो भाववतस्तव प्रभो	२३०
अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशम्या	१८८
अस्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे	१८५
आक्षेपपरिहाराभ्यां	१३५
आजन्मानुपलब्धशुद्धमहसः	२८५
आत्मा माता मेयमिदं	२०१
आत्मा भवसि कर्तेति	१२८
आत्मीकृताचलितचित्परिणाममात्र	१६
आत्मेति ध्वनिरनिवारितात्मवाच्यः	१८३
आद्यान्तमध्यादिविकल्पकल्पः	१२०
आद्यं ज्योतिर्द्वयात्मक	१९३
आयुः स्थितिं स्वामवशोपभोग्या	९३
आलम्ब्य विश्वं किल पुष्कलेयं	१०८
आलोक्यसे जिन यदा त्वमिहाद्भुतश्रीः	२३
इ	
इतीदमुच्चावचमस्तमामृशत्	२२२
इतीदमत्यन्तमुपप्लवावहं	२२०
इत्येवं स्फुटसदसन्मयस्वभावं	१९१
इदमेकमनन्तशो हठात्	१६५
इदमेवमिति च्छिन्दन्	१३२
इदमेकमेव परिणाममागतं	१५०
इदमेव विभाति केवलं	२१०
इदमेव देव सहभाविनीं तप	१४२
इदमद्य ददद्विशदानुभवं	१६०
इदमतिभरान्नानाकारं	२५०
इदमुदयम(द)नन्तशक्तिचक्रं	१७८
इदमीश निशायितं त्वया	१६४
इदमचलमनाद्यनन्तमेकं	१७९
इदं तव प्रत्ययमात्रसत्तया	५७
इदं तवोदेति दुरासदं महः	४५
इमाः स्वतत्त्वप्रतिवद्धसंहृताः	४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद	पृष्ठ
इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सद्	९५
इयं द्रघीयसी सम्यक्	१२२
उ	
उत्तानयसि गम्भीरं	१३४
उत्पादितोऽपि मुनिसुव्रत रोपितस्त्व	१२
उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयः	२७३
उदगाद्युदुदेति तदेव विभौ	१५५
उदयति न भिदा समानभावात्	१७७
उदयति प्रकाशयति लोकमंशुमान्	१४७
उदयति यदा ध्वस्ताधारं	२५१
उदीयमानव्ययमानमेव सद्	२२६
उद्दामसंयमभरोद्वहनेऽप्यखिन्नः	३६
उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरम	२७१
उद्यद्विश्वस्वरसमनिशं	२४४
उद्वम्य मांसलमशेषकषायकिट्ट	३९
उन्मज्जतीति परितः विनिमज्जतीति	५
उपप्लवायोच्छलिताः स्वयं बलात्	२२१
उपर्युपर्युच्छलदच्छधामा	११२
उपर्युपर्यध्यवसायमालया	७०
उपर्युपर्यूर्जितवीर्यसम्पदा	८२
उपैषि भावं त्वमिहात्मना भवान्	५१
ए	
एक एवोपयोगस्ते	१२४
एकस्य शुद्धस्य निराकुलस्य	१२१
एकः कषायानभिषेणयंस्त्वं	९१
एकः साक्षादक्षरविज्ञान	२०२
एतत्ततः प्रभृतिशान्तमनन्ततेज	४०
एकस्योच्छलदच्छबोध	२६३
एकस्याक्रमविक्रमैक	२६१
एकस्मादपि वचस्ते द्वयस्य सिद्धौ	१८९
एकः कोऽप्यस्खलितमहिमा	२३८
एकः कोऽपि हठावरुद्धरभस	२६२
एकं प्रकाशकमुशन्त्यपरं प्रकाश्य	४
एकं भावं शाश्वतमुच्चै	२०२
एकं प्रपीतविषमापरिमेयमेय	९
एकाकारस्वरसभरतो	२४५
एकान्तात् सदिति वचो विसर्पि	१८६
एकानेकौ द्वौ सम	१९५
एकानेकं गुणवद्गुणं	२४७
एकानेकमपूर्णपूर्णसतत	२६१
एकान्तादसदिति गीर्जगत्समग्रं	१८७
एकाग्रपूर्णस्तिमिताविभाग	१२०
एको भावस्तावक एषो	१९४
एकोऽप्यनेकत्वमुपैति कामं	११९
एको न भासयसि देव	२
एकोऽप्यनेक इति भासि न चास्यनेक	१११
एकोऽनेको न भवति न चा	२३६
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्तमुप्तं	२२
एवमेवेति न क्वापि	१२९
क	
ककुभि ककुभि न्यस्यत्	२५४
करोति भावस्तव बोधवस्तुतां	२३१
कर्मभ्यः कृतिनः क्रमात्	२८१
कलयन्ति भवन्तमनन्तकलं	१६३
कषायनिष्पीडनलब्धसौष्ठवः	७१
कषायसंघट्टनघृष्टशेषया	७९
कालत्रयोपचितविश्वरसातिपान	४२
किञ्च ब्रूमः किमिह दहना	२३३
किमनित्यतया विना क्रमस्	१६८
किमिदमुदयत्यानन्दौघैः	२४९
कियत्कियत्संयमसीमवर्त्मनि	८४
कियत्स्फुटं किञ्चिदनादिसंवृतं	८०
कुतोऽन्तरर्थो बहिरर्थनिह्नवे	६०
कुर्वन्नपूर्वकरणं परिणामशुद्ध्या	३८
कृतावतारानितरेतरं सदा	६३
क्रमपरिणतैर्भावैर्भावस्समं	२५५
क्रमभाविभावनिकुरम्बमालया	१४१
क्रमतः किल वाच्यतामियाद्	१६६
क्रमाक्रमाक्रान्तविशेषनिह्नवा	६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
क्रमापतद्भूरिविभूतिभारिणी	६१
क्रिययेरितपुद्गलकर्ममलश्	१६१
क्रियमाणदृशिज्ञप्ती	१२७
क्रियाकारकसामग्री	१२८
क्रियां भावत्वमानीय	१२७
क्रियैव मूलं भवमूलमुल्वणं	६८
क्षणक्षयस्त्वां कुरुते पृथक् पृथक्	२२६
क्षणक्षयस्थेषु कणेषु संविदो	२१६
क्षणक्षयोत्सङ्गितचित्कणावली	२१५
क्षणभङ्गविवेचितचित्कलिका	१५४
ग	
गतं तत्त्वापोहतया जगत्त्रयं	२२०
गतो गतत्वान्न करोति किञ्चन	२१५
गम्भीरोदरविश्वगह्वरगुहा	२६९
गलत्यबोधः सकले कृते बलाद्	२१६
गिरां बलाधानविधानहेतोः	९८
घ	
घटितो घटितः परितो झटसि	१५६
च	
चितिमात्रमिदं दृशिबोधमयं	१५२
चितिहुतवहस्यैकाङ्गारीकृतं	२५४
चित्तेजसा साकमनादिमग्न	११७
चित्सामान्यविशेषरूप	२७७
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा	३०
चिदितीस (श) विशेषणं	२०५
चिदेकधातोरपि ते समग्रता	७३
चिदेकरूपप्रसरस्तवायं	११२
चिद्भारभैरवमहोभरनिर्भराभिः	३०
चिन्मात्रं परिशुद्धमुद्धतरस	२६४
छ	
छायास्पर्शरसेन शान्तमहसो	२८२
ज	
जडतोऽभ्युदेति न जडस्य वेदना	१४३

पद	पृष्ठ
जडमजडमिदं चिदेकभावं	१८०
जयति परमं ज्योतिर	२४८
जातं जातं कारणभावेन	१९९
जिन केवलैककलया निराकुलं	१५०
जिनवर परितोऽपि पीड्यमानः	१७३
जिनाय जितरागाय	१३१
ज्ञातृत्वसुस्थितदृशि प्रसभाभिभूत	२९
ज्ञानक्रीडारभसलसितै	२४०
ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष	१८८
त	
ततः कथञ्चित् सकलात्मवीर्य	१०३
ततस्त्वया व्याप्तपरापरेण	०३
ततो गलत्यायुषि कर्म पेलवं	७२
तथा सदोऽन्ते जित (जिन) वीर्यं सम्पदा	५५
तपोभिरध्यात्मविशुद्धिवर्द्धनैः	६९
तद्योगाद् विधिमधुराक्षरं ब्रुवाणा	१८४
तदेव रूपं तव सम्प्रतीयते	२१९
तन्मुख्यं विधिनियमद्वयाद्यदुक्तं	१९०
तयोः सहैवापततोर्विरुद्धयोः	२३०
तव संगममेव वदन्ति सुखं	१६२
तव सहजविभाभरेण विश्वं	१८०
तव बोधकलामहर्निशं	१६४
तवार्हतोऽत्यन्तमहिम्नि संस्थिर्ति	८५
तवात्र तेजस्यनुभूतिमात्रे	११६
तवेति विस्पष्टविकाशमुल्लसद्	८७
तवेति सत् प्रत्ययपीतमञ्जसा	२२९
तवेदमुच्चावचमीश मज्जयज्	८५
तस्यास्तं गमनमनिच्छता	१८३
तस्मिन् भवानप्रचलप्रदेशः	१०५
तीक्ष्णं तीक्ष्णमिहोवयोगमचल	२८३
तिर्यग्विभक्तवपुषो भवतो य एव	२२
तीक्ष्ण्यो (तीक्ष्णो) पयोग निर्व्यग्र	१२९
तीर्थाद् भवन्तः किल तद् भवद्भ्यो	९४
तीव्रैस्तपोऽभिरभितस्तव देव नित्यं	३७
तेजः स्पृशामि तव तत् दृशिबोधमात्र	१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
त्वदंशसंधुक्षणदारुणो भवन्	२३२
त्वदेकविज्ञानघनाभिषेधनात्	२१८
त्वद्वैभवैककणवीक्षण	२५
त्वद्भावभावनाव्याप्त	१२९
त्रिकालविस्फूर्जदनन्तपर्यय	७४
त्रिसमयलसद्विश्वक्रीडा	२५२
त्रिसमयजगत्कृत्स्नाकारैः	२५८
त्रिसमयजगदेकदीपकोऽपि	१८२
त्रैलोक्यं विधिमयता नयन्न चास्ते	१८४
त्वमनन्तचिदुद्गमसङ्कुलनां	१५५
त्वमनन्तधर्मभरभावितोऽपि सन्	१४२
त्वमनेकचिदर्चिकदम्बरुचा	१५२
त्वमनन्तवीर्यबलबृंहितोदयः	१४९
त्वमसि भगवन् विश्व	२४८
त्वमनित्यतयावभाससे	१६८
त्वमात्ममाहात्म्यनिराकुलोऽपि सन्	८९
त्वमात्मसात्म्यज्ञचिदेकवृत्तिता	८३
त्वमुपर्युपरि प्रभो भवन्	२०६
त्वमुच्छिखाप्रस्खलितैकधारया	७०
त्वमेकनित्यत्वनिखातचेतसा	५२
त्वमेक एवैक रस्वभावः	११७
त्वमेकतां यासि यदीश सर्वथा	२२४
त्वमीश विज्ञानघनौघघस्मरे	२१९
द	
दलितदलितैश्छिन्नच्छेदै	२५३
दीप्रः प्रार्थयते विश्वं	१२२
दृगवगमयोर्दिव्योच्छ्वासा	२५८
दृग्बोधद्रढिमोपगूढवितत	२६२
दृग्बोधमात्रमहिमन्यपहायमोह	३२
दृग्बो[illegible]योगमूहसि	२७२
दृग्बोधवीर्योपचितात्मशक्तिऽ	१०६
दृग्बोधयोस्तैक्ष्ण्यविधायि वीर्यं	१०५
दृग्ज्ञप्त्योः सहकारीद	१२५
दृग्ज्ञप्तीभवतो नित्यं	१२८
दृग्ज्ञप्तिस्फुरितात्मनास्यनवधिः	२६७
दृढोपयुक्तस्य तव स्फुटन्त्यः	१०७
दृगवगमगभीरमात्मतत्त्वं	१७५
द्रव्येणैको नित्यमपीशासि	१९५
दृशि दृश्यतया परितः स्वपरा	१५८
दृशिबोधसुनिश्चलवृत्तिमयो	१६१
दृश्यज्ञेया (य) बहिर्वस्तु	१२७
दृष्टः कस्मिन् कश्चिदनेकेन	१९५
दृष्टोऽपि भ्रमकृत् पुनर्भवसि	२८०
देव स्फुटं स्वयमिमं मम चित्तकोशं	४३
देवालम्बो भवति युगपत्	२४१
देवावारकमस्ति किञ्चदपि	२७४
ध	
धत्तेऽसौ विधिरधिकं निषेधमैत्री	१९१
ध्रुवं तव द्वयात्मकतैव यद् भवान्	२२४
न	
न कदाचनापि परवेदनां विना	१४५
न कार्यं कारणं नैव	१३९
न किल स्वमिहैककारणं	१६८
न किलैकमनेकमेव वा	१६७
न किलैकमनेकतया घटते	१५४
न किञ्चनापि प्रतिभाति बोधतो	२१७
न खलु स्वपरप्रकाशने	२११
न च वेदनात्मनि सदात्मनात्मनः	१४४
न चैकसामान्यमिदं तव प्रभो	२२९
न जात्वभावस्य विभाति तुच्छता	२३२
न ते विभक्तिं विदधाति भूयसी	५०
न ते कर्मादिरप्यपेक्षित्वात्	१२६
न परानवभासयन् भवान्	१६९
न पराश्रयणं न शून्यता	२०४
न परावमर्शरसिकोऽभ्युदीयते	१४६
न भवन्ति यतोऽन्यथा क्वचिद्	१६६
न भासि सामान्यविशेषवत्तयो	२२७
न मानमेयस्थितिरात्मचुम्बिनो	६०
न यस्य विश्वास्तमयोत्सवे स्पृहा	२२२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
न वर्द्धसे यासि च सर्वतुङ्गता	५६
न वार्थसत्ता पृथगर्थमण्डलीं	५९
न विना श्रयिणः किलाश्रयो	१६५
न शब्दसत्ता सह सर्ववाचकैः	५९
नश्वरत्वं दृशिज्ञप्त्यो	१२६
न हि बोधमयत्वमन्यतो	१६९
न हि वाच्यमवाच्यमेव वा	१६६
निजगरिमनिरन्तरायपीड	२८२
नानारूपैः स्थितमतिरसाद्	२४४
नावस्थितिं जिन ददासि न चानवस्था	२०
नास्तीति स्फुरति समन्ततो विकल्पे	१८६
नास्तीति ध्वनितमनंकुशप्रचारात्	१८८
निजभावभृतस्य सर्वतो	२०६
नितान्तमिद्धेन तपोविशोषितं	६७
नित्यं किं हि स्यात्	१९६
नित्यानित्यौ द्वौ सम	१९६
नित्योदिते निजमहिम्नि विमग्नविश्वे	२३
नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं	७
निरर्गलोच्चालविशालधाम्नो	१११
निरवधि भवभूमि निम्नखातात्	१७४
निरवधिघटमानभावधारा	१७८
निरवधि च दधासि निम्नभावं	१७५
निरवधिनिजबोधसिन्धुमध्ये	१७६
निर्दारितोऽपि घटसे घटितोऽपि दारं	१२
निर्भागोऽपि प्रसभमभितः	२३५
निविडनिविडे मोहग्रन्थौ	२५२
निवृत्ततृष्णस्य जगच्चराचरं	७४
निःसीम्नोऽस्य भरात् स्खलद्भिरभितो	२६२
निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते	११८
निष्कर्तृत्वनिरीहितस्य सततं	२७१
निष्कम्पाप्रतिघोपयोगगरिमा	२७२
निष्कम्पे हृदि भासि तस्य	२८६
निष्कम्पैकदृढोपयोगसकल	२६७
नूनं नान्तर्विशति न बहिर्	२३४
नो सामान्यं भाति विनैवा	१९४

पद्य	पृष्ठ
प	
परवेदना न सहकार्यसम्भवे	१४५
परवेदनास्तमयगाढसंहृता	१४५
परस्परं संवलितेन दीप्यता	४९
परस्परापोहतया त्वयि स्थिताः	२२०
पर प्रदेशैर्न परः प्रदेशी	१०७
परापरोल्लेखविनाशकृद्बलात्	२१३
परात्परावृत्तचिदात्मनोऽपि ते	५३
परात्मनोस्तुल्यमनादिदुःख	९९
परिणतसकलात्मशक्तिसारः	१८१
पश्चादशेषगुणशीलभरोपपन्नः	४१
पिबन्नपि व्याप्तहठेन विश्वं	९७
पीतं पीतं वमतु सुकृती	२४६
पूर्णः पूर्णो भवति नियतं	२३९
पूर्वश्चुम्बति नापरस्त्वमपरः	२६९
पूर्वासंयमसञ्चितस्य रजसः	२७५
प्रकाशयन्नप्यतिशायिधामभि	५२
प्रकृतिर्भवतः परिणाममयी	१५६
प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्प-शङ्कु	१९
प्रतिपदमेतदेवमित्यनन्ता	१७७
प्रतिक्षणं संस्पृशता स्ववीर्यं	९२
प्रतिसमयलसद्विभूतिभावैः	१७८
प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं	९७
प्रत्यक्षार्चिःप्रचयखचितै.	२३३
प्रदेशभेदक्षणभेदखण्डितं	६२
प्रदीपवन्निर्वृतिमागतस्य ते	१६७
प्रमातृरूपेण तव स्थितस्य	१०७
प्रमातृमेयाद्यविभिन्नवैभवं	७६
प्रमेयवैशद्यमुदेति यद्बहिः	५४
प्रवर्तते नैव न चातिवर्तते	८८
प्रलाप (प्रहाय) विश्वं सकलं बलाद् भवान्	८०
प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान्	७७
प्रागभावादयोऽभावाश्	१३६
प्राप्यानिवृत्तिकरणं करणानुभावा	३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
ब	
बद्धोऽपि मुक्त इति भासि न चासि मुक्तो	१४
बहिरङ्गहेतुनियतव्यवस्थया	१४९
बहिरन्तरप्रतिहतप्रभाभरः	१४८
बहुरूपचिदुद्गमरूपतया	१६०
बाह्यान्तःपरिवृत्तिमात्रविलसत्	२७६
बाह्यार्थान् परिहृत्य तत्त्व	२७९
बाह्यार्थं स्फुटयन्न स्फुट	२७८
बिभ्रता तदतद्रूप	१३५
बोधप्रधानः किल संयमस्ते	१०४
बोधाग्निरिन्धनीकुर्वन्	१२३
बोधातिरिक्तमितरत् फलमाप्तुकामाः	२८
भ	
भगवन्नवकीर्णकश्मलो	२०९
भवतीति न युज्यते क्रिया	२०९
भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता	५०
भवने भवतो निरङ्कुशे	२०८
भवनं भवतो निरङ्कुशं	२०८
भवन्तमप्यात्ममहिम्नि कुर्वती	५७
भवस्य पन्थानमनादिवासितं	६९
भावाभावौ द्वौ सम	१९७
भावो भवस्यतिभृतः सहजेन धाम्ना	२१
भावो भवन् भासि हि भाव एव	१२१
भावाद्भिन्नः कीदृगभावोऽत्र	१९७
भामात्रमित्युत्कलितप्रवृत्ति	१२०
भावास्सहभुवोऽनन्ता	१३३
भावानामनवधिनिर्भरप्रवृत्ते	१९०
भिन्नो भेदं स्पृशति न विभो	२३५
भिन्दंस्तमोऽनादिदृढप्ररूढं	९४
भिन्नोऽस्मिन्भुवनभरान्न भाति भावो	१८७
भूतं भवद्भावि समस्तविश्वं	१०९
भूतोऽधुना भवसि नैव न वर्तमानो	८
भृतोऽपि रिक्ततामेषि	१३९
भृतोऽपि भूयो म्रियसे स्वधामभिः	८८
भ्रान्त्वा समस्तं जगदेव दीनं	१०९
भ्रान्तोऽप्यविभ्रममयोऽस्ति सदाभ्रमोऽपि	१५
म	
मज्जन्तीव जगन्ति यत्र	२६८
मन्दः समस्वादभरेण नक्तं	१०२
महताप्यविकासभरेण भृशं	१५९
माताऽसि मानमसि मेयमसीशमासि	१
मार्गावताररसनिर्भरभावितस्य	३२
मार्गावतारे शमसंभृतात्मा	१०१
मित्वा मेयं पुनरपि मितेः	२४३
मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात्	१९०
मुहुर्मिथःकारणकार्यभावतो	६४
मुहुर्मुहुर्वञ्चितचित्प्रहारैः	९२
मोहः कर्मप्रकृतिभरतो	२३९
मोहोदयस्खलितबुद्धिरलब्धभूमिः	३४
य	
यः प्रागासीर्वर्त्स्यदपेक्षः	२०६
य एवास्तमुपैषि त्वं	१३८
यतस्तवेदं प्रतिभाति शब्द	१००
यत् तद् द्रव्यं रक्षति	१९६
यत्रास्तमेति बहिरर्थतमस्यगाधे	२०
यदत्र किञ्चित् सकलेऽर्थमण्डले	७४
यथैकतां यासि तथा समानता	२२८
यदमूर्त इति स्फुटोदयं	२०५
यदि बोधमबोधमालालुलितं	१६२
यदि सर्वगतोऽपि भाससे	१७०
यदिदं वचसां विषयाविषयः	१५८
यदि दृश्यनिमित्तक एष दृशि	१५८
यदि स्वयं नान्त्यविशेषतां व्रजेः	२२३
यदेव बाह्यार्थघनावघट्टनं	५४
यद् द्रव्यपर्ययगतं श्रुतबोधशक्त्या	३६
यन्नास्तीति विभासि भासि	२६५
यद्भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति	३
यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति	२६
यस्मिनवस्थितिमुपैत्यनवस्थितं तत्	६
यस्मिन् भावास्त्रिसमयभुवस्	२४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
यन्मिथ्यापि विभासि वस्त्विह	२८५
यान्ति क्षणक्षयमुपाधिवशेन भेद	१०
युगपदखिलैरेकः साकं	२५९
ये नित्योत्सहनात् कषायरजसः	२७५
ये साक्षात् प्रतिभान्ति कल्मवमषीं	२८७
ये निर्विकल्पसविकल्पमिदं महस्ते	१८
ये भावयन्यविकलार्थवतीं जिनानां	१७
ये साधयन्ति भगवंस्तव सिद्धरूपं	२६
ये गृह्णन्त्युपयोगमात्मगरिम	२७६
यैरेव देव पशवोऽशुभिरस्तबोधाः	२८
योगान् जिघांसुरपि योगफलं जिघृक्षुः	४०
र	
रागग्रामविनिग्रहाय परमः	२८०
रोमन्थमन्थरमुखो ननु मौरिवार्था	२४
ल	
लब्धज्ञानमहिम्न्यखण्ड	२८६
ललितललितैरात्मन्यासैः	२४९
लोकप्रकाशनपरः सवितुर्यथा वा	३
व	
वर्त्स्यंद्वृत्तविवर्तवर्तिमहसा	२६५
वल्गत्वन्ये ज्ञाननिमित्त	२००
वस्तूनां विधिनियमोभयस्वभावा	१८३
वहन्त्यनन्तत्वममी तवान्यया	४७
वाग्विप्रुषस्ते कृतचित्रमार्गाः	९५
विघटितघटितानि तुल्यकालं	१८०
वाच्यादन्यत् किञ्चिदवाच्यं	१९८
वाच्यावाच्यौ द्वौ सम	१९८
विचित्ररूपाकृतिभिः समन्ततो	२१७
विज्ञानघनविन्यस्त	१४०
विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता	२६
वितृष्णता ज्ञानमनन्तरायं	१०६
विदग्धरोगीव बलाविरोधात्	१०२
विधिवद् दधती स्ववैभवात्	११
विधिरेष निषेधबाधितः	१६५
वधिनियमभयाद्भुतस्वभावात्	१७७
विनैव विश्वं निजवस्तुगौरवात्	५८
विनोपयोगस्फुरितं सुखादिभिः	६१
विपक्षसापेक्षतयैव शब्दाः	९५
विभो विधानप्रतिषेधनिर्मितां	५०
विभाति भावो न निराश्रयः क्वचित्	२३०
विभाति वृत्ति न विनैव वृत्तिमान्	२२५
विभो विशेष्यस्य तव विशेषतो	२२५
विरता मम मोहयामिनी	१७१
विशदेन सदेव सर्वतः	२०५
विशिष्टवस्तुत्वविविक्तसम्पदो	४८
विशीर्यमाणैः सहसैव चित्कणैः	२१४
विशुद्धबोधप्रतिबद्धधाम्नः	११४
विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्व	११७
विशुद्धयति व्याप्तिरसेन वलिता	२१३
विश्वग्रासादनाकाङ्क्षः	१२४
विश्वग्रासातिपुष्टेन	१२३
विश्वाभिलेहिभिरनाकुलचिद्विलासैः	२४
विश्वाकारविकाशनिर्भर	२६६
विश्वैकभोक्तरि विभौ भगवत्यनन्ते	३०
विश्रान्तरागरुषितस्य तपोऽनुभावा	३३
विषयततयो भान्त्योऽत्यन्तं	२५२
विषया इति स्पृशति वीर	१४६
विष्वग्व्याप्तः सत्यविशेषे	२०१
विष्वक्ततततोऽपि न ततोऽस्य ततोऽपि नित्य	१३
विषयं परितोऽवभासयन्	१६९
वृत्तं तत्त्वमनन्तं स्व	१३३
वैद्यस्य विश्वगुदयावलिकाः स्खलन्ती	३५
व्यतीतसंख्येष्वपि शक्त्यरक्षया	८१
व्यवहारदृशा पराश्रयः	१७०
व्यपोहितुं द्रव्यमलं न पर्यया	६५
व्यापारयद् दुःखविनोदनार्थं	९९
श	
शनैः समृद्धव्यवसायसम्पदा	७९
शब्दानां स्वयमुभयात्मिकास्ति शक्तिः	१८९
शब्दानां स्वयमपि कल्पितैर्स्थभावे	१८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ
शब्दार्थसंक्रमवितर्कमनेकधाव—	३९
शमरसकलशावलीप्रवाहैः	१७४
शुद्धोपयोगरसनिर्भरबद्धलक्ष्यः	३४
शून्योऽपि निर्भरभृतोऽतिभृतोऽपि चान्य	७
श्रितसहजतया समग्रकर्म	१७५
श्रेणी प्रवेशसमये त्वमथाप्रवृत्तं	३०
स	
स एवास्तमुपैषित्वं	९९
सततमभितो ज्ञानोन्मेषैः	२४
सतो न नाशोऽस्ति न चासदुद्भवो	२२५
सतो निरंशात् क्रमशोंऽशकल्पनात्	६२
सत्प्रत्ययः संस्पृशतीह विश्वं	९६
सत्यस्मिन् स्वपरविभेदभाजि विश्वे	१८६
समग्रशब्दानुगमाद् गभीरया	५८
समग्रसामान्यमुपैति वस्तुतां	२२९
समस्तनिस्तीर्णचरित्रभारः	१०५
समन्ततो दृष्टिरवारितेयं	१०९
समन्ततः सौरभमातनोति	११७
समस्तमन्तः स्पृशतापि विश्वं	९४
समस्तमन्तश्च बहिश्च वैभवं	६६
समस्तावरणोच्छेदात्	१२५
समन्ततश्चिद्भरनिर्भरो भवान्	९०
समन्ततः स्वावयवैस्तव प्रभो	२१४
समन्तमन्तश्च बहिश्च वस्तु तत्	२२१
समन्ततोऽनन्तगुणाभिरद्भुतः	७१
समस्तमेतद् भ्रम एव केवलं	२२१
समामृतक्षालनगाढकर्मणा	८३
समामृतानन्दभरेण पीडिते	७२
समामृतस्वादविदां मुनीनां	१००
समा विशेषा भवतो भवन्ति ये	२२८
समपतितया स्फीत	२५०
समुच्छलत्यत्र तदा द्वितीये	११३
समुदेति विनैव पर्ययैः	१६५
सममुदयतः शान्तातङ्कैः	२५१
सम्प्रत्यनन्तसुखदर्शनबोधवीर्यं	४१

पद्य	पृष्ठ
संक्रामसीव लिखसीव विकर्षसीव	४२
सदैक एवायमनेक एव वा	५१
सदोदितानन्दविभूतितेजसा	४४
संप्रत्यसंकुचितपुष्कलशक्तिचक्र	२९
सन्नप्यसन्स्फुटमसन्नपि	८
संरक्षतस्तेऽस्खलितार्थदृष्टेः	१०१
संविद्वीच्यस्तव तत इतो	२४२
स विभाति विभामयोऽस्ति यो	२१०
सर्वं विदित्वैक्यमपि प्रमार्ष्टुं	९७
सर्वं सददित्यैक्यमुदाहरन्ती	९६
सर्वं वाच्यं द्वयात्मक	१९८
सर्वत्राप्यप्रतिघमहिमा	२४५
सर्वा क्रिया कारककश्मलैव	११९
सर्वात्मकोऽसि न च जातु—	९
सर्वे भावाः सह[illegible]नियता	२३९
सहजप्रमार्जितचिदच्छरूपता	१४१
सहजा सततोदिता समा	२१०
सहजा सदा स्फुरति शुद्धचेतना	१४८
साक्षादसंख्यगुणनिर्जरणस्रजत्व	४०
साक्षादनित्यमप्येत	१३७
साक्षात्कषायक्षपणक्षणेऽपि	९३
सापेक्षो यदि न विधीयते विधि	१८८
सामान्यस्योल्लसति महिमा	२३६
सामान्यं क्षणमुन्नमय्य सपदि	२८३
सुचरितशितसंविदस्त्रपातात्	१७४
सुनिष्तुषान्तावधिशुद्धमूलतो	२२३
सुविशुद्धैश्चिदुद्गारै	१२२
सूर्यांशुजाः पावकविप्रुषस्ते	१०२
सोऽयं भावः कर्म यदेतत्	१९९
स्यात्कारः किमु कुरुतेऽसतीं सतीं वा	१८८
स्वद्रव्याद्यैः स्फूर्जसि	१९७
स्वयमेकमनेकमप्यदस्	१६७
स्वयमेव देवभुवनं प्रमेयतां	१४७
स्वयमेव देवभुवनं प्रकाश्यतां	१४७
स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान्	२१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्य	पृष्ठ	पद्य	पृष्ठ
स्वयं प्रबुद्धाखिलवास्तवंस्थितिः	७२	स्वं सूक्ष्मकिट्टहठघट्टनयावशिष्ट	३८
स्वयमपि परात्प्राप्याकारं	२५६	स्पष्टीकृत्य हठात्कथं कथमपि	२७४
स्वयं समानैरिह भूयते हि यत्	२२८	स्वान्तःकुड्मलितेऽपि केवल	२६८
स्वयं दृग्ज्ञप्तिरूपत्वात्	१२६	स्वायंभुवं मह इहोच्छलदच्छमीडे	१
स्वपरोभयभासि ते दिशां	१६९	स्वैरेवोल्लसितैरनन्तवितत	२७०
स्वपराकृतिसङ्कुलनाकुलिता	१५७	स्पृशन्नपि स्वांशुभरेण भूयसा	८६
स्वरूपपररूपाभ्यां	१३२	स्पृशदपि परमोद्गमनविश्वं	१८१
स्वरूपगुप्तस्य निराकुलात्मनः	७७	स्फुटभावमात्रमपि वस्तु ते भवत्	१४८
स्वरूपसत्तावष्टम्भ	१३५	स्फुरति परितो बाह्यार्थानां	२५३
स्ववीर्यसाचिव्यबलाद् गरीयसीं	७३	स्फुरत्यभावः सकलस्य यः प्रभौ	२३१
स्वभावबद्धाचलितैकदृष्टेः	११५	**ह**	
स्वभावसीमानमनन्यवाधितां	८६	हठघट्टनयानया तव	२७१
स्वस्मै स्वतः स्वःस्वमिहैक भावं	११९	हठस्फुटच्चित्कलिकोच्छलन्महो	९०
स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः	१९१	हेतुरेव समग्रोऽसि	१३८
स्ववैभवस्य ह्यनभिज्ञतेजसो	४६	ह्रियते हि परैर्विषयै	१६०
स्वस्मिन्निरुद्धमहिमा भगवंस्त्वयायं	२५		

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	शक्तिगणितकोश	शक्तिमणितकोश
१	५	स्वयंभुवं	स्वायंभुवं
१२	८	निभाग	निर्भाग
२१	६	नैवोच्छूसन्तिः	नैवोच्छवसन्ति,
३९	२३	एकाग्ररुद्धमनस्तव	एकाग्ररुद्धमनसस्तव
४५	२४	घारिता	धारिता
४७	२१	पत्र जिसके	पत्र जिनके, ऐसी
४७	२२	तथा उनमें स्वकीय शुद्ध	स्वकीय शुद्ध
५०	१४	मभू	ममू
५२	१	त्वमेकनित्यत्वनिखत	त्वमेकनित्यत्वनिखात
५३	३२	बोघ	बोध
५६	७	सब आर	सब ओर
५६	२०	मोक्ष को	क्षोभ को
५८	३३	पदार्थों के	पदार्थों को
६०	१९	चार्वाक्	चार्वाक
६२	२०	पुद्गल संख्यात	पुद्गल के संख्यात
६४	११	मिभ्रतः	मियूतः
६४	१४	इभ्रतः	इयूतः
६८	१२	परिणतियां	परिणतियों
६८	२८	नहीं	वही
६९	१२	विरहन्त	विहरन्त
६९	२३	भवानकर्षीत्	भवानकार्षीत्
७३	१	तदन्तर	तदनन्तर
७५	८	वीरुघः	वीरुधः
७७	५	पुन पुनः	पुनः पुनः
७९	३	विधायिनः	विधायिन
८२	४	कर रहा है	कर कह रहा है
८९	१४	अकुलतासे	आकुंलतासे
१०१	१	उपजातवृत्तम्	उपजातिवृत्तम्
११७	१३	त्वमेक	त्वंमेक
१३२	७	ज्ञानभूप	ज्ञानरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३३	२	अकुलतासे	आकुलतासे
	६	अज्ञान	अज्ञात
	७	अकुशलतासे	आकुलतासे
१३४	१८	पहुँचते हुए	पहुँचाते हुए
१३७	१६	भाव भी नहीं है	भाव है। उस प्रकार गुण सादृश्यकी अपेक्षा अन्य जीव द्रव्योंमें नहीं है इसलिये आपमें अत्यन्ताभाव भी नहीं है।
१३८	७	मनाद्यनन्तो	मनाद्यन्तो
१४२	२१	तवमतन्त	त्वमनन्त
	३३	आस्तित्व	अस्तित्व
१४५	५	रचनासे	रञ्जनासे
	१५	नितरां किल	नितरां दृगेव किल
	२३	जानना है	जानता है
	२६	सात्र (य)	सान्यकरणान्यपेक्षते
१४६	२९	आत्माके विषयी	आत्मा-विषयी के
१४८	४	चिदेक नियतः	चिदेकनियतः
	१९	अभेदकारक चकको	अभेदकारक चक्रको
	१९	भेदकारक चकको	भेदकारक चक्रको
	३०	स्वाकार्यं	स्वीकार
१४९	२१	बृहतोदयः	बृंहितोदयः
१५०	२३	केकल ज्ञान में	केवलज्ञानमें
१६३	१३	जीवनमुयत	जीवन्मुक्त
१६५	३०	पर्याय आश्रम	पर्याय आश्रयी
१६६	७	पर तु	परन्तु
१९३	२१	एकत्ववितर्क वीचार	एकत्ववितर्क
१९४	८	एनेकात्मक	अनेकात्मक
	९	एक और इन	एक और अनेक इन
१९५	६	एकानेक प्रतिभासि	एकानेकः प्रतिभासि
	२०	एक भी	अनेक भी
	२०	जो अनेक के बिना	जो एम के बिना
	२८	नामक धर्म	नामक दो धर्म
१९६	१०	अनित्यवत्व	अनित्यत्व
	१४	आपके मनमें	आपके मतमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०४	२०	अन्य भावोंका संकर	न अन्य भावोंका संकर
२१३	४	प्राणिधान	प्रणिधान
२२९	२४	मञ्जसा	मञ्जसा
	२७	मज्जसा	,,
२३०	२२	सहैवापपतो	सहैवापतती
२३३	४	मज्जयनन्त	मज्जयन्नन्त
	५	मानन्द्रवाहः	मानन्दवाहः
२३९	३३	भावदात्मा	यावदात्मा
२५९	२२	आपहो	आप ही
	३१	मिलितामन्दानन्दाः	मिलिततमामन्दानन्दाः
२७३	२१	वैश्ववर्ग	वैश्यवर्गं

■

5542

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

मुद्रक :
एन. एस. इन्टरप्राइजिस
एच-2/16, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : मो. 09811725356, 9810035356
e-mail : swaneeraj@rediffmail.com

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi